भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर प्रकाशित

प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ

डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन

*



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला ग्रन्थांक ३७९
सम्पादक एव नियोजक
लक्ष्मीचन्द्र जैन
जगदीश



Lokodaya Ser es T tle No 3 9
PRAMUKH AITIHASIK
JAIN PURUSH AUR MAHILAEN
(Biographical)
DR JYOTIPRASAD JAIN
F rst Ed t on February 1975
Price Rs 20 00



BHARATIYA JNANPITH
B/45 47 Connaught Place
NEW DELHI 110001

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/४५ ४७ कॅनॉट प्लेस नयी दिल्ली ११०००१
प्रथम सस्करण फ़रवरी १९७५
मूल्य बीस रुपये

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग वाराणसी-२२१००५

आमुख

श्रमण जैन परम्परा के अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर उन सार्वभौमिक एव सार्वकालीन महान् विभूतियो में से हैं जिनसे मानवता गौरवान्वित है। आत्मौपम्य, त्याग और अनेकान्त दृष्टि के प्रस्तोता, अहिंसा के अवतार, करुणा की मूर्ति, शान्ति के दूत, इन विश्वोपकारक महामानव का परिनिर्वाण विक्रम-पूर्व ४७०, शक पूर्व ६०५ और ईसा-पूर्व ५२७ की कार्तिक कृष्ण अमावस्या को हुआ था, जिसे गत १९७३ ई की दीपावली को पूरे २५०० वर्ष हो गये। इस उपलक्ष्य में देश-विदेश की जनता ने अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, प्रादेशिक, क्षेत्रीय, सम्भागीय, स्थानीय आदि विभिन्न स्तरो पर दीपावली १९७४ से दीपावली १९७५ पर्यन्त पूरे एक वर्ष श्री महावीर निर्वाण महोत्सव की रजत शताब्दी सोल्लास मनाने का निर्णय किया।

इस अवसर के उपयुक्त अपने प्रकाशन कार्यक्रम में श्री साहु शान्तिप्रसादजी की प्रेरणा से भारतीय ज्ञानपीठ ने 'प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ विषय पर एक पुस्तक प्रकाशित करने का निर्णय किया और यह दायित्व मुझे दिया। इस पुस्तक मे गत २५०० वर्षों मे हुए जैन सम्राटो, राजा-महाराजाओ, सामन्त-सरदारो, मन्त्रियो और राजपुरुषो, सेनानियो और योद्धाओ, सेठ-साहूकारो, उद्योगपतियो, व्यवसायियो और व्यापारियों आदि लौकिक क्षेत्र के कर्मवीरो में से कतिपय प्रमुख प्रभावक पुरुषो एव महिलाओं का यथासम्भव कालक्रमिक परिचय दिया जाना अपेक्षित रहा है। धर्माचार्यों, साधुओ और साध्वियो, त्यागियो और सन्तो तथा साहित्यकारो और कवियो आदि के परिचय धार्मिक, सास्कृतिक एव साहित्यिक इतिहास के विषय हैं, अत उन्हें इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर रखा गया। पुस्तक के निर्माण का सौभाग्य लेखक को प्रदान किया गया।

श्री साहूजी की प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रेरणा तथा भारतीय ज्ञानपीठ के स्वनाम-धन्य मन्त्री बन्धुवर लक्ष्मीचन्द्र जी के अथक तकाजो को ही इस पुस्तक के आविर्भाव का मुख्य श्रेय है।

यद्यपि जैन इतिहास से सम्बन्धित पचीसियो छोटी-बडी पुस्तकें तथा सैकडो लेख-निबन्ध आदि प्रकाशित हो चुके हैं, तथापि जैन इतिहास-विद्या अभी भी बहुत कुछ अविकसित एव प्रारम्भिक अवस्था में है। सामग्री विपुल है, किन्तु इतस्तत इतनी

बिखरी हुई है कि उस सबको एकत्रित करना, शोध-खोजपूर्वक उसे व्यवस्थित करना और इतिहास निर्माण में उसका सम्यक् उपयोग करना एक-दो व्यक्तियों का कार्य नहीं है, वरन् किसी साधन-सम्पन्न संस्था में कार्यकर्ताओं के सुगठित दल द्वारा कई दशकों में सम्पादित होनेवाला कार्य है। कई दिशाओं से सहयोग के आश्वासन मिले थे, किन्तु सहयोग प्राप्त न हो सका। कार्य का विस्तार बहुत था और यह समझ में नहीं आ रहा था कि किस प्रकार और किस-किस दिशा में संकोच किया जाये। अन्ततः समय की सीमा को ध्यान में रखते हुए उपलब्ध साधनों के आधार पर ही पुस्तक लिखी गयी। आशा है कि इसमें, संक्षेप से ही सही, पाठकों को बहुत कुछ रोचक, प्रेरक एवं नवीन भी सामग्री मिलेगी। पुस्तक के अन्त में जैन इतिहास विषयक अद्यतन प्रकाशित पुस्तकों आदि की सूची तथा नामानुक्रमणिका दे दी गयी है।

पुस्तक के निर्माण में जिन पूर्व लेखकों की कृतियों का उपयोग किया गया है तथा इसके निर्माण, प्रकाशन, मुद्रण आदि में जिन महानुभावों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष योग दिया है, उन सबका लेखक हृदय से आभारी है। पुस्तक जैसी कुछ है पाठकों के सन्मुख है। उसमे जो दोष या त्रुटियाँ रह गयी हों, उनके लिए लेखक ही मुख्यतया उत्तरदायी है। उसमें जो कुछ अच्छाइयाँ है वे उपरोक्त अन्य सज्जनों की कृपा का फल है। पाठकों के सुझाव प्राप्त होंगे तो अपने को कृतज्ञ मानूँगा।

ज्योति निकुंज
चारबाग, लखनऊ।
दीपावली, १३ नवम्बर, १९७४

—ज्योतिप्रसाद जैन

विषयानुक्रम

श्रावक नाथशर्मा, राजर्षि देवगुप्त। कन्नौज के मौखरि और वर्धन। सम्राट् हर्षवर्धन। कन्नौज का यशोवर्मन। कन्नौज का आयुधवंश। गुर्जर-प्रतिहार नरेश—वत्सराज, नागभट द्वितीय आम, मिहिरभोज। साँभर के चाहमान—सोमेश्वर चौहान, श्रेष्ठि लोलाक, अन्य चौहानवंश। दिल्ली के तोमर। अनंगपाल तृतीय, नट्टलसाहु, मदनपाल तोमर। धारा के परमार। पण्डितप्रवर आशाधर। ग्वालियर के कच्छपघातराजे—वज्रदामन कच्छपघात, विक्रमसिंह कच्छपघात, श्रेष्ठि दाहड। बयाना के यादव। अलवर के बड़गूजर। श्रावस्ती के ध्वजवंशी राजे। अयोध्या के श्रीवास्तव राजे। अवध आदि के भर राजे। मेवाड़ के गुहिलौत। हथूण्डी के राठौड़। अर्थूणा का भूषण सेठ। सिन्ध देश। बंगाल। कलिंगदेश। राजा हिमशीतल, उद्योतकेसरी ललाटेन्दु। महाकोशल के कलचुरि राजे। जेजाकभुक्ति के चन्देल राजे—श्रेष्ठि पाहिल, ठाकुर देवघर, श्रेष्ठि पाणिधर, श्रेष्ठि महीपति, श्रेष्ठि बीबतसाह और सेठानी पद्मावती, साहु साल्हे, साहु रत्नपाल, पाड़ाशाह (भैंसा शाह)। गुजराज-सौराष्ट्र—वनराज चावड़ा, मन्त्री विमलशाह, जयसिंह सिद्धराज, सम्राट् कुमारपाल सोलंकी, पं. सालिवाहन ठाकुर, सेनापति सज्जन, मन्त्रीश्वर वस्तुपाल, तेजपाल, जगडूशाह, शाह समरा और सालिग।

मध्यकाल पूर्वार्ध (ल. १२००–१५५० ई.) २३८–२७६

दिल्ली सल्तनत। बीसल साहु, सेठ पूरणचन्द्र, पेथडशाह, सेठ दिवराय, ठक्कुर फेरु, सूर और वीर, श्रावक रयपति, समराशाह, साहु वाघू। सा. महीपाल, सा. सागिया, सा. हेमराज, दिउढासाहु, सा. थील्हा, गढ़ासाव; दीवान दीपग और सं. कुलचन्द्र, चौ. देवराज, चौ. टोडर-मल्ल, सं. साधारण, वैद्य रेखा। मालवा के सुलतान। संघपति होलिचन्द्र, मन्त्रीश्वर मण्डन, संग्रामसिंह सोनी, गुजरात के सुलतान, सं. मण्डलिक, सं. सहसा। महासार-नरेश राजनाथदेव। चन्द्रवाड़ के चौहाननरेश और उनके जैन मन्त्री। ग्वालियर के तोमरनरेश। मन्त्री कुशराज, महाराज डूँगरसिंह और कीर्तिसिंह, सं. काला, श्रीचन्द-हरिचन्द, सा. लापू, महापण्डित रइधू, ब्र. खेल्हा, सा. कमलसिंह, सा. पद्मसिंह। राजस्थान। रानी जयतल्लदेवी और समरसिंह, सा. रत्नसिंह, रणथम्भौर के राणा हम्मीरदेव, साह जीजा, राणा कुम्भा, सेठ धन्नाशाह-रतनाशाह, शाह जीवराज पापड़ीवाल, राणा साँगा, तोलाशाह, कर्माशाह, आशा-शाह और उसकी जननी, दीवान बच्छराज। विजयनगर साम्राज्य। हरिहर प्र., बुक्का प्र., हरिहर द्वि., देवराय प्र. और रानी भीमादेवी,

१

मैसूर—देवराज अरसु, महारानी रम्मा, देवचन्द्र पण्डित, कुमार वीरप्प। उदयपुर—अगरचन्द बच्छावत, देवीचन्द ब., शेरसिंह ब., गोकुलचन्द ब., पन्नालाल ब., गान्धी सोमचन्द, सतीदास, शिवदास, मालदास ड्योढ़ीवाल मेहता नाथजी, लक्ष्मीचन्द, जोरावरसिंह, जवानसिंह, चत्रसिंह। जोधपुर। राव सूरतराम, सवाईराम, सरदारमल, ज्ञानमल, नवलमल, रामदास, चैनसिंह, भण्डारी, गंगाराम, लक्ष्मीचन्द्र, पृथ्वीराज, बहादुरमल, किशनमल, सिंघवी इन्द्रराज, धनराज। बीकानेर—महाराज अमूपसिंह, अमरचन्द सुराना। जैसलमेर—मेहता स्वरूपसिंह, सालिम सिंह। जयपुर—दीवान रतनचन्द साह, आरतराम, बालचन्द छाबड़ा, नैनसुख खिन्दूका, नन्दलालगोधा, जयचन्द साह, मोतीराम गोधा, भावचन्द छा, जयचन्द छा, अमरचन्द सोगानी, जीवराज संघी, मोहन-राम संघी, श्योजीलाल पाटनी, गंगाराम महाजन, भागचन्द, भगतराम बगड़ा, रावभवानीराम जाखीराम, पं. सदासुख कासलीवाल, सं. धर्म-दास, सदासुख छाबड़ा—अगरचन्द पाटनी, रायचन्द छाबड़ा, श्योजी-लाल छाबड़ा, बखतराम, मन्नालाल, कृपाराम, लिखमीचन्द छाबड़ा, नोनदराम खिन्दूका, लीखमीचन्द गोधा, संघी झूंथाराम, हुकुमचन्द, विरधीचन्द, दीवान चम्पाराम, अमोलकचन्द खिन्दूका, सम्पतराम, मानकचन्द ओसवाल, मुंशी प्यारेलाल कासलीवाल। भरतपुर—संघई फतहचन्द। सागवाड़ा के महारावल।

आधुनिक युग—अँगरेजों द्वारा शासित प्रदेश ३४७-३६७

जगत्सेठ सुगनचन्द, शाह मानिकचन्द (हुगली), कटक के मंजु चौधरी और भवानीदास चौधरी, राजा बच्छराज नाहटा (लखनऊ), राजा हरसुखराय और राजा सुगनचन्द (दिल्ली), चौधरी हिरदै सहाय और सिंघई सभासिंह (चन्देरी), बा. शंकरलाल (आरा), साहु हारीलाल (प्रयाग), सालिगराम खजांची (दिल्ली), मथुरा के सेठ, राजा लक्ष्मणदास, राजा शिवप्रसाद, रायबद्रीदास (कलकत्ता), डिप्टी कालेराय, पं प्रभुदास (आरा), सेठ मूलचन्द सोनी (अजमेर), सेठ विनोदीराम सेठी (झालरापाटन), सेठ माणिकचन्द जे. पी. (बम्बई), राजा चन्दैया हेंगडे (धर्मस्थल मैसूर), रा. ब. द्वारकादास (नहटौर), ला. गिरधर लाल खजांची (दिल्ली), ला. ईश्वरी-प्रसाद खजांची (दिल्ली), गुरु गोपालदास बरैया (आगरा), सेठ मथुरादास टडैया (ललितपुर), सर सेठ हुकमचन्द (इन्दौर), बाबू



प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ

□ □ □

प्रावेशिक

इतिहास की उपयोगिता

सुप्रसिद्ध पुराणेतिहासकार भगवज्जिनसेनाचार्य के अनुसार 'इति इह आसीत्'— यहाँ ऐसा हुआ—इस प्रकार अतीत में घटित घटनाओं का क्रमबद्ध प्रामाणिक विवरण इतिहास, इतिवृत्त या ऐतिह्य कहलाता है। वह 'महापुरुषसम्बन्धि' तथा 'महन्महद्धा-श्रयात्' होता है, अर्थात् महापुरुषसंज्ञक उल्लेखनीय एवं चिरस्मरणीय व्यक्तियों से सम्बन्धित होता है और उन्हीं के महत्त्वपूर्ण चरित्र या कार्यकलापों पर आधारित होता है। इसी के साथ वह 'महाभ्युदयशासनम्' भी होता है, अर्थात् जो उसे पढ़ते, सुनते और गुनते हैं, उनके महान् अभ्युदय रूप लौकिक उत्कर्ष का भी कारण होता है।

वस्तुतः अतीत की कहानी मानव की स्पृहणीय निधि है। अपने पूर्वजों का चरित्र और उनकी उपलब्धियों को जानने की मनुष्य में स्वाभाविक जिज्ञासा एवं लालसा होती है। महाराज परीक्षित के मुख से महाभारतकार कहलाते हैं—

'न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत्'

मैं अपने पूर्व पुरुषों के महत् चरित्र को सुनते हुए अघाता नहीं, इच्छा होती है कि सुनता ही रहूँ, सुनता ही रहूँ। एक बात और भी है, जैसा कि एक नीतिकार ने कहा है—

स्वजातिपूर्वजानां तु यो न जानाति सम्भवम्।
स भवेत् पुंश्चलीपुत्रसदृशः पितृवेदकः॥

जो व्यक्ति अपने पूर्वजों के इतिहास से अनभिज्ञ है वह उस कुलटापुत्र के समान है जो यह नहीं जानता कि उसका पिता कौन है?

इसके अतिरिक्त, अपने पूर्व पुरुषों के गुणों एवं कार्यकलापों को जानकर मनुष्य स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता है, उनसे प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त करता है, और सबक भी लेता है—उनके द्वारा की गयी ग़लतियों को दुहराने से बचता है। इस प्रकार अतीत के पृष्ठों का सदुपयोग वर्तमान के सन्दर्भ में करके लाभान्वित हुआ जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति, संस्था, समाज या जाति अपने अतीत के आदर्शों को कार्यान्वित करने का प्रयास करते हुए ही फलती-फूलती है और प्रगतिपथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होती जाती है। अतीत से सर्वथा कटकर वर्तमान का मूल्य नगण्य रह जाता है। भावी के बीज भी तो वर्तमान में ही रोपे जाते हैं। महाकवि 'दिनकर' के शब्दों में इतिहासकार का यही उद्देश्य होता है कि—

प्रियदर्शन इतिहास कण्ठ में
आज ध्वनित हो काव्य बने ।
वर्तमान की चित्रपटी पर
भूतकाल सम्भाव्य बने ॥

वर्तमान के सन्दर्भ में ही अतीत का मूल्य है । भूतकाल में जो कुछ आदर्श और अनुकरणीय है उसे वर्तमान में सम्भाव्य बनाने में ही इतिहास की यथार्थ उपयोगिता है । इसी हेतु इतिहासकार भी यह प्रयत्न करता है कि वह—

इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना ।
सर्वलोकधृतं गर्भं यथावत्संप्रकाशयेत् ।

—इतिहासरूपी दीपक द्वारा अतीत सम्बन्धी अज्ञान एवं भ्रान्तियों के अन्धकार को दूर करके बीती हुई घटनाओं और तथ्यावलि को निष्पक्ष दृष्टि से यथावत् प्रकाशित कर दे । किन्तु इतिहासकार की भी अपनी सीमाएँ और अक्षमताएँ हैं । उसे महाकवि मैथिलीशरण की इस उक्ति से सन्तोष करना पड़ता है कि—

प्राचीन पुरुषों के गुणों को कौन कह सकता यहाँ ।
सम्पूर्ण सागर नीर यों घट मध्य रह सकता कहाँ ?

तथापि अपनी बुद्धि, शक्ति और साधनों के अनुसार वह प्रयत्न करता है । उसे यह आशा भी रहती है कि आगे आनेवाला इतिहासकार उसके कार्य से प्रेरणा लेकर प्रकृत विषय को और अधिक विकसित, विस्तृत, संशोधित और परिमार्जित करेगा ।

इस विषय में दो मत नहीं हैं कि किसी व्यक्ति, समाज या जाति की मान-मर्यादा उसके इतिहासबद्ध पूर्व-वृत्तान्त पर बहुत कुछ निर्भर करती है । जैन परम्परा की इतिहास सम्बन्धी अनभिज्ञता उसके विषय में प्रचलित अनेक भ्रान्तियों का मूल कारण है । स्वयं जैनों को अपने इतिहास में जैसा चाहिए वैसी अभिरुचि नहीं रही । इतिहास ज्ञान के बिना यदि जातीय जीवन में चेतना, स्फूर्ति, स्वाभिमान और आशा का तिरोभाव हो जाता है, तो इतिहास का सम्यक्ज्ञान सोतों को जगा देता है—

किस्सए अज़मते माज़ी को न मुहम्मिल समझो ।
क़ौमें जाग जाती हैं अक्सर इन अफ़सानों से ॥
—रवाँ

अस्तु, उक्त इतिहास ज्ञान तथा उसके प्रति रुचि के अभाव की आंशिक पूर्ति करने के उद्देश्य से आगामी पृष्ठों में पूर्वपीठिका के रूप में महावीर-पूर्वयुग के ऐतिह्य का संकेत करके द्वितीयादि परिच्छेदों में महावीर युग से लेकर वर्तमान शताब्दी के प्रायः मध्य पर्यन्त हुए प्रमुख प्रभावक जैन स्त्री-पुरुषों का संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय देने का प्रयत्न किया जा रहा है । यों—

अपने मुँह से क्या बतायें हम कि क्या ये लोग थे,
नफ़्सकुश नेकी के पुतले थे मुजस्सिम योग थे ।

तेरो तरकश के थती थे रखमगह में फ़र्द थे;
इस शुजाअत पर यह तुर्रा है, सरापा दर्द थे।

—बर्क़ देहलवी

पूर्वपीठिका

जैनों के परम्परागत विश्वास के अनुसार वर्तमान कल्पकाल के अवसर्पिणी विभाग के प्रथम तीन युगों में भोगभूमि की स्थिति थी। मनुष्य जीवन की वह सर्वथा प्रकृत्याश्रित आदिम अवस्था थी। न कोई संस्कृति थी न सभ्यता, न ही कोई व्यवस्था थी और न नियम। जीवन अत्यन्त सरल, एकाकी, स्वतन्त्र, स्वच्छन्द और प्राकृतिक था। जो थोड़ी-बहुत आवश्यकताएँ थीं उनकी पूर्ति कल्पवृक्षों से स्वतः सहज हो जाया करती थी। मनुष्य शान्त एवं निर्दोष था। कोई संघर्ष या द्वन्द्व नहीं था। आधुनिक भूतत्त्व एवं नृतत्त्व प्रभृति विज्ञान सम्मत, आदिम युगीन प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय युगों (प्राइमरी, सेकेण्डरी एवं टर्शियरी इपॅक्स) की वस्तुस्थिति के साथ उक्त जैन मान्यता का अद्भुत सादृश्य है। वैज्ञानिकों के उक्त तीनों युग करोड़ों-लाखों वर्षों के अति दीर्घकालीन थे, तो जैन मान्यता का प्रथम युग प्रायः असंख्य वर्षों का था, दूसरा उससे आधा लम्बा था, और तीसरा दूसरे से भी आधा था तथापि अनगिनत वर्षों का था। इस अनुमानातीत सुदीर्घ काल में मानवता प्रायः सुषुप्त पड़ी रही, अतएव उसका कोई इतिहास भी नहीं है। वह अनाम युग था।

तीसरे काल के अन्तिम भाग में चिरनिद्रित मनुष्य ने अँगड़ाई लेना आरम्भ किया। भोगभूमि का अवसान होने लगा। कालचक्र के प्रभाव से होनेवाले परिवर्तनों को देखकर लोग शंकित और भयभीत होने लगे। उनके मन में नाना प्रश्न उठने लगे। जिज्ञासा करवट लेने लगी। अतएव उन्होंने स्वयं को कुलों (जनों, समूहों या क़बीलों) में गठित करना प्रारम्भ किया। सामाजिक जीवन की नीव पड़ी। बल, बुद्धि आदि विशिष्ट जिन व्यक्तियों ने इस कार्य में उनका मार्गदर्शन, नेतृत्व और समाधान किया वे 'कुलकर' कहलाये। वे आवश्यकतानुसार अनुशासन भी रखते थे और व्यवस्था भी देते थे, अतः उन्हे 'मनु' नाम भी दिया जाता है। उनकी सन्तति होने के कारण ही इस देश के निवासी मानव कहलाये। उक्त तीसरे युग के अन्त के लगभग ऐसे क्रमशः चौदह कुलकर या मनु हुए, जिनमे सर्वप्रथम का नाम प्रतिश्रुति था और अन्तिम का नाभिराय। इन कुलकरों ने अपने-अपने समय की परिस्थियों में अपने कुलों या जनों का संरक्षण, समाधान और मार्गदर्शन किया। सामाजिक जीवन प्रारम्भ हो रहा था। कर्मयुग सम्मुख था। यहीं से सनाम युग प्रारम्भ हुआ।

अन्तिम कुलकर नाभिराय के नाम पर ही इस महादेश का सर्वप्राचीन ज्ञात नाम 'अजनाभ' प्रसिद्ध हुआ। वह अपनी चिरसंगिनी मरुदेवी के साथ जिस स्थान में निवास करते थे वहीं कालान्तर में अयोध्या नगरी बसी। भारतवर्ष की यह आद्यनगरी

थी। इन नाभिराय और मरुदेवी के पुत्र आदिनाथ ऋषभदेव हुए, जो जैन परम्परा के प्रथम तीर्थंकर थे और जैनेतर हिन्दुओं के विश्वासानुसार भगवान् विष्णु के एक प्रारम्भिक अवतार थे। वयस्क होते ही कुलों की व्यवस्था उन्होंने अपने हाथ में ले ली, और अपने कुशल नेतृत्व में शनैः-शनैः कर्म-प्रधान जीवन (कर्मभूमि) और मानवी सभ्यता का ॐ नमः किया। अनुश्रुति है कि इन आदिपुरुष प्रजापति पुरुदेव ने ही जनता को खेती करना, आग जलाना, आग में अन्न भूनना और पकाना, ईख का रस निकालना और उसका भोज्य पदार्थ के रूप में उपयोग करना, मिट्टी के बरतन बनाना, कपड़ा बुनना, घर-मकान बनाना, ग्राम-नगर बसाना इत्यादि कर्म सर्वप्रथम सिखाये थे। उन्होंने लोगों को असि-मसि-कृषि-वाणिज्य-शिल्प-विद्या संज्ञक षट्कर्मों द्वारा जीविकोपार्जन करने की तथा पुरुषों की बहत्तर और स्त्रियों की चौंसठ कलाओं की युगानुरूप शिक्षा दी। अपनी पुत्री ब्राह्मी के लिए अक्षर-ज्ञान एवं ब्राह्मी लिपि का आविष्कार किया और दूसरी पुत्री सुन्दरी के लिए अंकज्ञान एवं गणित का। पुत्रों को राजकाज की शिक्षा दी, और सुशासन की दृष्टि से देश को उनके मध्य विभाजित किया। इस प्रकार चिरकाल तक लौकिक क्षेत्र में जनता का मार्गदर्शन करने के पश्चात् उन्होंने धर्मतीर्थ की स्थापना के लिए उपयुक्त क्षमता प्राप्त करने के उद्देश्य से समस्त वैभव का परित्याग करके, निर्ग्रन्थ वनविहारी हो दुर्धर तपश्चरण किया। अन्ततः केवलज्ञान प्राप्त कर अर्हन्त जिन हुए और अहिंसा एवं निवृत्ति-प्रधान मानवधर्म की स्थापना करके आदि तीर्थंकर कहलाये।

इस घटना के साथ धर्म और कर्म प्रधान चौथा युग प्रारम्भ हुआ जिसमें ऋषभदेव को आदि लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र ऐसे त्रेसठ शलाका-पुरुष हुए, तथा तीर्थंकरों के माता-पिता, दश कामदेव, नव नारद, ग्यारह रुद्र, बारह प्रसिद्ध पुरुष, सोलह सतियाँ, आदि अन्य अनेक प्रसिद्ध पुराण-पुरुषों एवं महिलारत्नों ने जन्म लिया। इनमें से ऋषभ-पुत्र भरत चक्रवर्ती, जिनके नाम पर यह देश भारतवर्ष कहलाया, बाहुबलि, वेन, वसु, राम, कृष्ण, अरिष्टनेमि, पंचपाण्डव, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, तीर्थंकर पार्श्व, महाराज करकंडु आदि कई की ऐतिहासिकता वर्तमान इतिहास मे प्रायः स्वीकृत है। तथापि यह अधिकांशतः अनुश्रुतिगम्य इतिहास (प्रोटो हिस्टरी) का युग है। उसके पात्रों का चरित्र आदि इतिवृत्त यहाँ देना अभीष्ट नही है। प्रथमानुयोगाधारित पउमचरिउ, वागर्थसंग्रह, वसुदेवहिंडि, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, आदिपुराण, उत्तरपुराण, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र प्रभृति विभिन्न पुराण-ग्रन्थों एवं पौराणिक चरित्र-काव्यों में वह विस्तार के साथ निबद्ध है। केवल इतना संकेत अलम् होगा कि अयोध्यापति रामचन्द्र और रामायण की घटनाएँ बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के तीर्थकाल में हुई और महाभारत में वर्णित पाण्डव-कौरव युद्ध २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के समय में हुआ—स्वयं कृष्ण इन्ही नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) के चचेरे भाई थे, तथा यह कि तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का सुनिश्चित समय ईसापूर्व ८७७-७७७ है। पार्श्व के निर्वाण के २५० वर्ष

पश्चात् महावीर का निर्वाण हुआ था।

ईसा पूर्व ५२७ में अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण के प्राय साथ ही साथ उक्त चौथा काल, अर्थात् पुराण पुरुषो का पुराण युग भी समाप्त हो जाता है। आधुनिक दृष्टि से शुद्ध इतिहास-काल का प्रारम्भ उसके कुछ पूर्व ही हो चुका होता है। चौथे काल में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, चारो ही पुरुषार्थों की प्रवृत्ति थी, जबकि मोक्ष पुरुषार्थ पर अधिक बल था, उसकी प्राप्ति तब सम्भव थी। आनेवाले पचमकाल में, जो तभी से चल रहा है धर्म-अर्थ-काम रूप त्रिवर्ग का महत्त्व है। मोक्षाभिलाषी और मोक्ष पुरुषार्थ के साधक, तपस्वी, त्यागी, साधु आदि इस बीच में भी होते रहे हैं, वर्तमान में भी दीख पडते हैं और आगे भी यदा-कदा होते रहेंगे, किन्तु उनकी सख्या अति विरल है, और मोक्ष-प्राप्ति इस काल में सम्भव भी नही है। अतएव यह युग सामान्य दुनियावी सद्गृहस्थो का ही प्रधानतया युग है और वह अपनी सुख-शान्ति एव मनुष्य जीवन की सार्थकता के लिए शक्ति-भर त्रिवर्ग का साधन करते हैं। उन्ही मे जो आदर्श हैं, अनुकरणीय, उल्लेखनीय या स्मरणीय हैं, ऐसे ही इतिहास-सिद्ध स्त्री-पुरुषो का परिचय आगे के परिच्छेदो में दिया जा रहा है। और इस इतिवृत्त का प्रारम्भ छठी शताब्दी ईसा पूर्व के प्रारम्भ में अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के प्राय जन्मकाल से किया जा रहा है।



महावीर युग
(६००-५०० ईसा पूर्व)

समग्र जैन इतिहास की प्रधान धुरी तथा सर्वाधिक स्पष्ट पथचिह्न वर्धमान महावीर (५९९-५२७ ई. पू.) का व्यक्तित्व और जीवनचरित है। उनके पूर्व का पुरातन या पुराण युग महावीर-पूर्व युग है तो उनके उपरान्त का महावीरोत्तर काल। वह अन्तिम पुराण पुरुष थे तो प्रायः प्रथम शुद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति भी थे। इतना ही नहीं, गत ढाई सहस्र वर्ष में जितने जैन ऐतिहासिक व्यक्ति हुए हैं उनका महत्त्व इसीलिए है कि वे तीर्थंकर महावीर के अनुयायी थे, भक्त और उपासक थे, तथा उनसे सम्बन्धित एवं उनके द्वारा पोषित जैन संस्कृति के संरक्षक, पोषक और प्रभावक थे। उक्त ईसा पूर्व छठी शताब्दी में तो जितने और जो जैन इतिहासांकित स्त्री-पुरुष हुए वे सब प्रायः साक्षात् रूप में भगवान् महावीर से सम्बन्धित थे। कुछ उनके आत्मीयजन, कुटुम्बीजन या परिवार के सदस्य थे, कुछ नाते-रिश्तेदार आदि सम्बन्धी थे, अन्य अनेक उनके शिष्य, अनुयायी, उपासक भक्त सुश्रावक थे अथवा उनके व्यक्तित्व से प्रभावित थे।

महावीर के स्वजन-परिजन

वर्धमान महावीर का जन्मस्थान कुण्डलपुर (कुण्डपुर, कुण्डनगर, कुण्डग्राम, वसुकुण्ड या क्षत्रियकुण्ड) पूर्वी भारत के विदेह देश के अन्तर्गत महानगरी वैशाली से नातिदूर स्थित था। वैशाली की पहचान वर्तमान बिहार राज्य के मुज़फ़्फ़रपुर जिले में स्थित बसाढ़ नामक स्थान से की गयी है। उस काल में वैशाली भारतवर्ष की सर्वप्रधान महानगरियों में से एक थी, अत्यन्त धनजन सम्पन्न थी, और शक्तिशाली वज्जिगण-संघ की राजधानी थी। उक्त गणसंघ में लिच्छवि, ज्ञातृक, विदेह, मल्ल आदि अनेक स्वाधीनता-प्रेमी गण सम्मिलित थे। इन्हीं गणों में से एक ज्ञातृकवंशी व्रात्य क्षत्रियों का गण था, जिसका केन्द्र उपरोक्त कुण्डग्राम था। कुण्डग्राम के स्वामी और अपने गण के मुखिया राजा सर्वार्थ थे जिनकी धर्मपत्नी का नाम श्रीमती था। यह दम्पति श्रमणों के उपासक थे और तीर्थंकर पार्श्व (८७७-७७७ ई. पूर्व) की परम्परा के अनुयायी थे। वे अपने आर्हत-चैत्यों में अर्हतों की उपासना करते थे, तथा शील-सदाचार सम्पन्न थे। इनके पुत्र एवं उत्तराधिकारी राजा सिद्धार्थ थे जो एक प्रबुद्ध धार्मिक महानुभाव एवं कुशल जननेता थे। इनका ज्ञातृक वंश एवं गण उस समय इतना प्रतिष्ठित एवं शक्तिसम्पन्न था

कि वज्जिगण संघ के प्रधान, वैशाली के अधिपति, लिच्छविशिरोमणि महाराज चेटक ने अपनी पुत्री (मतान्तर से भगिनी) प्रियकारिणी त्रिशला अपरनाम विदेहदत्ता का पाणिग्रहण राजा सिद्धार्थ के साथ कर दिया। सिद्धार्थ और त्रिशलादेवी की युगल जोड़ी आदर्श समझी जाती थी। दोनों ही धीर, वीर, सुशिक्षित, प्रबुद्ध, धार्मिक वृत्ति के, उदाराशय एवं सुप्रतिष्ठित दम्पति थे, और कुलपरम्परा के अनुसार जैनधर्म के अनुयायी तथा भगवान् पार्श्वनाथ के उपासक थे। ये सौभाग्यसम्पन्न पुण्यशील दम्पति ही वर्धमान महावीर के जनक-जननी थे। यह एक विचित्र किन्तु प्रशंसनीय बात है कि उस बहु-पत्नीवादी सामन्त युग के राजन्य वर्ग के सम्भ्रान्त सदस्य होते हुए भी भगवान् के पितामह तथा पिता, सर्वार्थ और सिद्धार्थ दोनों एकपत्नीव्रत के पालक थे। राजा सिद्धार्थ के अनुज सुपार्श्व तथा ज्येष्ठ पुत्र नन्दिवर्धन का भगवान् के प्रति सहज स्नेह था। सिद्धार्थ की बहन कलिंग नरेश महाराज जितशत्रु के साथ विवाही थीं, जिनकी अत्यन्त लावण्यवती, सुशील एवं गुणागरी राजकुमारी यशोदा के साथ महावीर के विवाह सम्बन्ध की बात चली थी—मतान्तर से वह राजकुमारी यशोदा जिसके साथ महावीर के विवाह की बात चली बतायी जाती है, वसन्तपुर के महासामन्त समरवीर की पुत्री थी। महावीर की एक बहन भी थी जिसका पुत्र राजकुमार जामालि आगे चलकर भगवान् का शिष्य हुआ और विद्रोही हो गया कहा जाता है।

महाराज चेटक

विशाल एवं शक्तिशाली गणतन्त्रात्मक वज्जिसंघ के अध्यक्ष तथा वैशाली महानगरी के अधिपति, और भगवान् महावीर के मातामह, महाराज चेटक अपने समय के सम्पूर्ण भारतवर्ष के सर्वप्रधान सत्ताधीशों में से थे। वह व्रात्य क्षत्रियों की लिच्छवि जाति में उत्पन्न हुए थे—लिच्छविगण का केन्द्र भी वैशाली ही थी। कुछ ग्रन्थों में उन्हें इक्ष्वाकुवंशी और कुछ में हैहयवंशी भी लिखा है। वस्तुतः हैहयवंश भी मूलतः इक्ष्वाकु-वंश की ही एक शाखा थी, और वेदबाह्य श्रमणों के उपासक होने के कारण जिन प्रशाखाओं की व्रात्य क्षत्रियों में गणना होने लगी थी उन्हीं में से एक लिच्छवि जाति थी। राजा केक और यशोमती के पुत्र इन महाराज चेटक की महादेवी का नाम सुभद्रा था। दोनों ही परम श्रद्धालु जिनभक्त थे। मगध में राजगृह के निकट जब उनका शिविर पड़ा हुआ था तो उसमें जिनायतन भी था। रणक्षेत्र में भी वह इष्टदेव की पूजा-अर्चना करना नहीं भूलते थे। अहिंसा धर्म के अनुयायी होते हुए भी बड़े पराक्रमी और वीर योद्धा थे। कहा जाता है कि अनेक शत्रुओं को चेटी या दास बना लेने के कारण ही वह चेटक कहलाने लगे थे। जिस संघ के वह अधिनायक थे उसमें अनेक गण सम्मिलित थे तथा संघ की व्यवस्था एवं प्रशासन के हेतु उसके 'राजा' उपाधिधारी ७७०७ सदस्य थे, जिनका अभिषेक वैशाली की सुप्रसिद्ध राजपुष्करिणी पर होता था। अपने वीर्य, शौर्य, बुद्धि, सदाचार एवं सुसंगठन के लिए वैशाली के लिच्छवि सर्वत्र प्रसिद्ध थे। स्वयं महात्मा

गौतम बुद्ध ने भी अनेक बार उनके उक्त गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। जब चहुँ-ओर अनेक राजतन्त्रीय स्वेच्छाचारी नरेश शक्ति-संवर्धन की होड़ में लगे थे, महाराज चेटक ने अपनी बुद्धि, साहस, वीरता, सौजन्य एवं राजनीतिपटुत्व के बल पर उन सबके बीच वैशाली गणसंघ को धन, वैभव, शक्ति, संगठन, अनेक दृष्टियों से उक्त नरेशों की ईर्ष्या का पात्र बना दिया था। इतिहास-विदित तथ्य है कि मगध सम्राट् कुणिक अजातशत्रु और उसके अमात्य वर्षकार को वैशाली की शक्ति में सेंधें लगाने, और दरारें डालने में क्या-क्या पापड नही बेलने पडे। कुटिल कूटनीति, षड्यन्त्रों एवं अति हीन उपायों का सहारा लेकर ही वह उसे पराजित करने में समर्थ हो सका था, वह भी तब जबकि सम्भवतया महाराज चेटक संन्यस्त या स्वर्गस्थ हो चुके थे, अथवा अत्यन्त वृद्ध हो गये थे। महाराज चेटक की प्रसिद्धि केवल एक श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ, कुशल शासक और महान् योद्धा के रूप मे ही नही थी, वरन वह अत्यन्त न्यायप्रिय भी थे। अपनी सत्ता, कुटुम्ब और प्राणों पर संकट आ पड़ने पर भी उन्होंने अन्तिम श्वास तक न्याय का पक्ष लिया, अन्याय के सम्मुख सिर न झुकाया। अपनी शरण में आये हल्ल एवं विहल्ल नामक राजकुमारों को उन्होंने न केवल अभय दिया और उनकी रक्षा की वरन् उनके न्याययुक्त पक्ष का बड़ी निर्भीकता के साथ समर्थन किया।

सेनापति सिंहभद्र

चेटक के दश पुत्र थे जिनके नाम सिंहभद्र, दत्तभद्र, धन, सुदत्त, उपेन्द्र, सुकुम्भोज, अकम्पन, सुपतंग, प्रभंजन और प्रभास थे। ये सब वीर योद्धा, यशस्वी और धार्मिक थे। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध सिंह या सिंहभद्र है जो लिच्छवियों के प्रधान सेनापति थे, बड़े कुशल सेनानी, निर्भीक योद्धा, साथ ही प्रबुद्ध जिज्ञासु थे। भगवान् महावीर के वह अनन्य भक्त थे। बौद्ध साहित्य मे भी वैशाली के इन प्रख्यात सिंह सेनापति के उल्लेख आते हैं और उनसे भी यह लगता है कि यद्यपि वह भगवान् बुद्ध का भी आदर करते थे, उनके दर्शनार्थ जाते भी थे, उनका आतिथ्य भी करते थे, तथापि थे महावीर के ही अनुयायी।

महाराज चेटक की सात पुत्रियाँ थीं जो उस काल के विभिन्न प्रतिष्ठित राज्य-वंशों में विवाही गयी थी। त्रिशला देवी तो ज्ञातृकवंशी राजा सिद्धार्थ से विवाही थीं और स्वयं भगवान् महावीर की माता थीं। चेल्लणा मगधनरेश श्रेणिक बिम्बसार की पट्टमहिषी और सम्राट् कुणिक अजातशत्रु की जननी थी। भगवान् महावीर के श्राविका-संघ की वह अग्रणी थी। तीसरी पुत्री प्रभावती सिन्धु-सौवीर नरेश उदायन के साथ, चौथी मृगावती वत्सनरेश शतानीक के साथ और पाँचवीं शिवावती अवन्ति नरेश चण्डप्रद्योत के साथ विवाही गयी थीं। ज्येष्ठा और चन्दना कौमार्यकाल में ही दीक्षित हो आर्यिका बन गयी थीं। अंगदेश के शासक दधिवाहन की पत्नी पद्मावती भी चेटक की पुत्री रही बतायी जाती है और उसकी पुत्री वसुमति अपरनाम चन्दना थी, ऐसा एक

मत है। किन्तु अन्यत्र दधिवाहन की रानी का धारिणी नाम प्राप्त होता है। इस प्रकार उस काल के प्रायः महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिशाली नरेश महाराज चेटक थे और वे भगवान् महावीर के निकट सम्बन्धी थे। ये सब इतिहास प्रसिद्ध नरेश हैं। उन सबका ही कुलधर्म जैनधर्म नहीं था, सब ही ने उसे पूर्णतया अपनाया भी नहीं, तथापि भगवान् महावीर के प्रति उन सभी का समादर भाव था और वे सब ही भगवान् के व्यक्तित्व एवं उपदेशों से प्रभावित थे। जहाँतक उनकी महादेवियों, चेटक-पुत्रियों का प्रश्न है, वे सब ही भगवान् की अनन्य भक्त थीं, आदर्श-चरित्र की सुश्राविकाएँ थीं। प्रायः उन सबकी ही गणना सर्वकालीन सुप्रसिद्ध सोलह सतियों में है। उनमें से जिनका विवाह हुआ वे सब ही पति-परायणा, शीलगुण-विभूषित एवं धार्मिक वृत्ति की थीं।

महारानी मृगावती

शतानीक की मृत्यु के पश्चात् चण्डप्रद्योत ने जब वत्सदेश पर आक्रमण किया तो राजमाता मृगावती ने बड़ी धीरता, वीरता एवं बुद्धिमत्ता के साथ अपने राज्य, पुत्र एवं सतीत्व की रक्षा की थी। उसका वह राजकुमार ही लोक-कथाओं तथा भास के नाटकों का नायक, प्रद्योत पुत्री वासवदत्ता का रोमांचक प्रेमी, गजविद्या-विशारद, अपनी हस्तिकान्त वीणा पर प्रियकान्त स्वरों का अप्रतिम साधक, कौशाम्बीनरेश उदयन था, और वह भी भगवान् महावीर का समादर करता था। उसकी प्रिया, प्रद्योतदुहिता वासवदत्ता भी उनकी उपासिका थी। अपने पुत्र के जीवन, स्थिति और राज्य को निष्कण्टक करके तथा मन्त्री युगन्धर के हाथों में सौंपकर राजमाता मृगावती ने जिन-दीक्षा लेकर शेष जीवन तपस्विनी आर्यिका के रूप में व्यतीत किया। उक्त मन्त्री युगन्धर का पुत्र ही वत्सराज्य का सुप्रसिद्ध महामन्त्री यौगन्धरायण हुआ।

महासती चन्दना

चन्दना (चन्दनबाला अपरनाम वसुमति) की करुण कथा वर्तमान युग में भी अनेक सहृदय कवियों एवं जैनाजैन कथाकारों के उपन्यासों का प्रिय विषय बनी हुई है। इस महासती के जनक-जननी के विषय में कुछ मतभेद है, किन्तु उसके नाम, जीवन की घटनाओं एवं प्रेरक पुण्यचरित्र के सम्बन्ध में मतैक्य है। उस 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि,' चन्दन रस-जैसी कोमल किन्तु चन्दन काष्ठ-जैसी कठोर, अतीव सुन्दरी, कोमलांगी तथापि वीर बाला का कौमार्यकाल में आततायियों द्वारा अपहरण हुआ। अनेक मर्मान्तिक कष्टों के बीच से गुजरते हुए अन्ततः अनाम, अजाति, अज्ञात-कुला क्रीतदासी के रूप में भरे बाजार उसका विक्रय हुआ। क्रय करनेवाले कौशाम्बी के धनदत्त सेठ के स्नेह और कृपा का भाजन बनी तो सेठ-पत्नी मूला के विषम डाह और अमानुषिक अत्याचारों की शिकार हुई। अन्त में जब वह मुँड़े सिर, जीर्ण-शीर्ण अल्प वस्त्रों में, लौह शृंखलाओं से बँधी, कई दिन की भूखी-प्यासी, एक सूप में अध-उबले उड़द के कुछ बाँकले लिये, रोती-बिलखती, जीवन के कटु सत्यों की जुगाली करती

हवेली के द्वार पर खड़ी थी कि भगवान् महावीर के अति दुर्लभ दर्शन प्राप्त हो गये। दुस्साध्य अभिग्रह (आखड़ी) लेकर वह महातपस्वी साधु पूरे छह मास से निराहार विचर रहा था। अपने अभिग्रह की पूर्ति उस बाला की उपरोक्त वस्तुस्थिति में होती दीख पड़ी, और महामुनि उसके सम्मुख आ खड़े हुए। चन्दना की दशा अनिर्वचनीय थी, महादरिद्री अनायास चिन्तामणि-रत्न पा गया, भक्त को भगवान् मिल गये, वह धन्य हो गयी। हर्ष-विषाद मिश्रित अद्भुत मुद्रा से उसने वह अति तुच्छ भोज्य प्रभु को समर्पित कर दिया, उनके सुदीर्घ अनशन व्रत का पारणा हुआ, पंचाश्चर्य की वृष्टि हुई, ठठ का ठठ जनसमूह इस अद्वितीय दृश्य को देख विस्मयाभिभूत था। और चन्दना— उसका तो उद्धार हो गया। साथ ही समाज की कोढ़ उस घृणित दास-दासी प्रथा का भी उच्छेद हो गया। गुणों के सम्मुख जाति, कुल, आभिजात्य आदि की महत्ता भी समाप्त हो गयी। चन्दना तो पहले से ही भगवान् की भक्त थी अब उनकी शिष्या और अनुगामिनी भी बन गयी। यथासमय वही महावीर के संघ की प्रथम साध्वी और उनके आर्यिका संघ की जिसमें ३५,००० आर्यिकाएँ थीं, प्रधाना बनी।

चण्डप्रद्योत और शिवादेवी

पुणिक का पुत्र अवन्ति-नरेश प्रद्योत अपनी प्रचण्डता के कारण चण्डप्रद्योत कहलाता था, वैसे उसका मूलनाम महासेन प्रद्योत था। वह अत्यन्त मानी, युद्धप्रिय और निरंकुश शासक था। अंग, वत्स, सिन्धुसौवीर आदि कई राज्यों पर, सम्बन्धों की भी अवहेलना करके, उसने प्रचण्ड आक्रमण किये थे। अन्त में भगवान् महावीर के प्रभाव से ही उसकी मनोवृत्ति में कुछ सौम्यता आयी थी। अपने तपस्या काल में ही भगवान् एकदा प्रद्योत की राजधानी उज्जयिनी में पधारे थे और नगर के बाह्य भाग में स्थित अतिमुक्तक नामक श्मशान में जब वह कायोत्सर्ग से स्थित थे तो स्थाणु-रुद्र ने उनपर घोर उपसर्ग किये थे, जिनसे महावीर तनिक भी विचलित नहीं हुए थे। महारानी शिवादेवी तो उनकी मौसी भी थी और अनन्य भक्त भी। महानगरी उज्जयिनी में जब दैवी प्रकोप से आग लग गयी थी तो इन महासती शिवादेवी के सतीत्व के प्रभाव से उनके द्वारा छिड़के गये जल से ही वह शान्त हो पायी थी। जिस दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी दिन अवन्ति में प्रद्योत के पुत्र एवं उत्तराधिकारी पालक का राज्याभिषेक हुआ था।

राजर्षि उदायन और महारानी प्रभावती

भगवान् महावीर के परम भक्त उपासक नरेशों में सिन्धु-सौवीर देश के शक्तिशाली एवं लोकप्रिय महाराजाधिराज उदायन का पर्याप्त उच्च स्थान है। उनके राज्य में सोलह बड़े-बड़े जनपद थे, ३६३ नगर तथा उतनी ही खनिज पदार्थों की बड़ी-बड़ी खदानें थीं। दश छत्र-मुकुटधारी नरेश और अनेक छोटे भूपति, सामन्त-सरदार, सेठ-साहूकार एवं सार्थवाह उनकी सेवा में रत रहते थे। राजधानी रोरुक नगर अपरनाम

वीतभयपत्तन एक विशाल, सुन्दर एवं वैभवपूर्ण महानगर तथा भारत के पश्चिमी तट का महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह था। उसका नाम 'वीतभय' इसीलिए प्रसिद्ध हुआ कि महाराज उदायन के उदार एवं न्याय-नीति-पूर्ण सुशासन में प्रजा सर्व प्रकार के भय से मुक्त हो सुख और शान्ति का उपभोग करती थी। इतने प्रतापी और महान् नरेश होते हुए भी महाराज उदायन अत्यन्त निरभिमानी, विनयशील, साधुसेवी और धर्मानुरागी थे। उनकी महाराज्ञी प्रभावती उनके उपयुक्त ही सर्वगुण सम्पन्न आदर्श पत्नी थी। अभीच-कुमार नाम का इनके एक पुत्र था और केशिकुमार नामक अपने भानजे से भी महाराज पुत्रवत् स्नेह करते थे। कहा जाता है कि महारानी की उत्कट धर्मनिष्ठा से प्रभावित होकर महाराज ऐसे धर्मरसिक बन गये थे कि उन्होंने राजधानी में एक अत्यन्त मनोरम जिनायतन का निर्माण कराकर उसमें स्वयं भगवान् महावीर की एक देहाकार सुवर्णमयी प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। यह भी कहा जाता है कि उन्होंने भगवान् के कुमारकाल की एक चन्दनकाष्ठ निर्मित प्रतिमा भी बनवायी थी, जिसे बाद में 'जीवन्त स्वामी' कहा जाने लगा और जिसे एक आक्रमण में अवन्तिनरेश चण्डप्रद्योत छल से अपहृत करके ले गया था, तथा मालव देश की विदिशा नगरी में जिसका सर्वप्रथम ससमारोह रथ-यात्रोत्सव किया गया था। महाराज उदायन और महाराज्ञी प्रभावती की यह उत्कट इच्छा थी कि भगवान् उनके राज्य और नगर में भी पधारें। अस्तु, भगवान् का समवसरण वहाँ पहुँचा और नगर के बाहर मृगवन-उद्यान में प्रभु विराजे। समाचार पाते ही राजा और रानी पूरे परिवार, पार्षदों एवं प्रजाजन के साथ हर्षोत्फुल्ल हो भगवान् के दर्शनार्थ पधारे और उन्होंने उनके उपदेशामृत का पान किया। भगवान् के साक्षात् सम्पर्क से वह राजदम्पति इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने श्रावक के बारह व्रत धारण किये। धर्मध्यान तथा साधुओं की सेवा, वैयावृत्य आदि में उन्हे विशेष आनन्द आता था। निर्विचिकित्सा अंग के पालन में महाराज उदायन आदर्श माने जाते हैं—बिना किसी प्रकार की मनोग्लानि के वह विपन्न एवं रोगग्रस्त साधुओं की ही नहीं, सामान्य दीन-दुखी रोगियों का भी सहृदयतापूर्वक सेवा-परिचर्या करते थे। शीघ्र ही संसार से विरक्त होकर उन्होंने मुनि दीक्षा लेने का विचार किया। युवराज अभीचकुमार को राज्यभार लेने के लिए कहा तो उसने अस्वीकार कर दिया और उनके साथ ही दीक्षा लेने की बात कही। अतएव भानजे केशिकुमार को राज्य देकर राजर्षि उदायन पत्नी और पुत्र सहित संसार त्यागी मुनि हो गये।

श्रेणिक बिम्बसार

भगवान् महावीर के अनन्य भक्तों और उनके धर्मतीर्थ के प्रभावकों में मगधनरेश श्रेणिक बिम्बसार का स्थान सर्वोपरि है। भगवान् का जन्म और अभिनिष्क्रमण तो विदेह देशस्थ जन्मभूमि कुण्डलपुर में हुए, किन्तु उनकी साधना और तपस्या काल का अधिक भाग मगध के विभिन्न स्थानों में ही व्यतीत हुआ। वहीं द्वादशवर्षीय साधना के उपरान्त

जृम्भिक ग्राम के बाहर, ऋजुपालिका नदी के तटवर्ती एवं गृहपति श्यामाक के करषण (कृषि-क्षेत्र) के निकटस्थ वैयावृत्य चैत्योद्यान के ईशान कोण में शालवृक्ष के नीचे एक शिला पर सन्ध्याकाल में उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हुई थी। तदनन्तर मगधदेश में ही स्थित मध्यमा पावा में सोमिल ब्राह्मण के महायज्ञ में सम्मिलित गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति आदि प्रख्यात ब्राह्मणाचार्यों पर भगवान् के सम्पर्क का अद्भुत प्रभाव पड़ा। अपने सैकड़ों-सहस्रों शिष्य परिवारों सहित वे भगवान् के अनुगामी हुए। मगधराज की राजधानी राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर ही भगवान् का इतिहास विश्रुत सर्वप्रथम सार्वजनिक उपदेश हुआ, उनके धर्मचक्र का प्रवर्तन हुआ और जयघोष के साथ वीर-शासन का प्रारम्भ हुआ। आगामी तीस वर्षों के तीर्थंकर काल में भी सर्वाधिक बार भगवान् का समवसरण राजगृह में ही आया। भगवान् का निर्वाण भी अन्ततः मगध राज्य मे स्थित उक्त मध्यमा-पावा या पावापुरी में ही हुआ माना जाता है। मगध के साथ भगवान् महावीर और उनके तीर्थंकरत्व की इतनी निकटता एवं घनिष्ठता का प्रधान कारण अवश्य ही मगधाधिपति महाराज श्रेणिक और उनके प्रायः सम्पूर्ण परिवार की भगवान् के प्रति अनन्य भक्ति, श्रद्धा और प्रेम थे।

पूर्वकाल में मगध पर महाभारतकालीन बृहद्रथ के वंशजों का राज्य था, जिसका अन्त एक राज्यक्रान्ति में हुआ और मगध के सिंहासन पर काशी के नाग (उरग) वंश का शिशुनाग नामक एक वीर पुरुष आसीन हुआ। एक मत से शिशुनाग के पूर्वजों का मूल-निवास वाहीक प्रदेश था, इसलिए कहीं-कहीं इसे वाहीक कुल भी कहा गया है। शिशुनाग का पुत्र शैशुनाक था—यह वंश भी इतिहास में शैशुनाक नाम से ही अधिक प्रसिद्ध रहा है। हिन्दु पुराणों के अनुसार शैशुनाक का ही पुत्र उपरोक्त श्रेणिक था, किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में श्रेणिक के पिता का नाम भट्टि और जैन परम्परा में प्रसेनजित तथा उपश्रेणिक पाया जाता है। उस समय मगध एक साधारण-सा ही राज्य था और उसकी राजधानी राजगृह अपरनाम गिरिव्रज तथा पंचशैलपुर भी सामान्य नगर था। श्रेणिक के कुमारकाल में ही उसके पिता ने किसी कारण कुपित होकर उसे राज्य से निर्वासित कर दिया था और द्वितीय पुत्र को जिसका नाम चिलातिपुत्र था अपना उत्तराधिकार सौंप दिया था। अपने निर्वासन काल में श्रेणिक ने देश-देशान्तरों का भ्रमण करके अनुभव प्राप्त किया। जब वह सुदूर दक्षिण देशस्थ कांचीपुर में प्रवासित था तो उसने वहाँ नन्दश्री नामक एक रूप-गुण सम्पन्न विदुषी ब्राह्मण-कन्या से विवाह कर लिया, जिसका पुत्र सुप्रसिद्ध अभय राजकुमार हुआ। उसी काल में श्रेणिक कतिपय जैनेतर श्रमण साधुओं के सम्पर्क में आया, उनका भक्त हो गया और जैनधर्म से विद्वेष करने लगा, यद्यपि उसका पितृकुल तीर्थंकर पार्श्व की जैन परम्परा का अनुयायी था। श्रेणिक का भाई चिलातिपुत्र राज-काज से विरक्त रहता था और अन्ततः उसने वैभारपर्वत पर दत्त नामक जैन मुनि से दीक्षा ले ली। परिणामस्वरूप श्रेणिक को बुलाया गया और मगध के सिंहासन पर आसीन किया गया। राज्य हस्तगत

करते ही श्रेणिक ने राजधानी का पुनर्निर्माण किया, शासन की सुव्यवस्था की, अपनी राज्य-शक्ति को संगठित किया और उसका सर्वतोमुखी विकास एवं विस्तार करने में वह जुट गया। इन कार्यों में उसे अपने अत्यन्त चतुर पुत्र अभयकुमार से बड़ी सहायता मिली। श्रेणिक की महत्त्वाकांक्षा का आभास पाकर उसके पड़ोसी वज्जिसंघ के अध्यक्ष वैशाली नरेश चेटक तथा कोसलाधिपति प्रसेनजित् की संयुक्त सेनाओं ने मगध पर आक्रमण कर दिया। अवसर के पारखी श्रेणिक ने तुरन्त सन्धि कर ली। इतना ही नहीं उसने चेटक की पुत्री चेलना और कौसल की राजकुमारी कोशलदेवी (प्रसेनजित् की बहन) के साथ विवाह करके उन दोनों शक्तिशाली पड़ोसी राज्यों को स्थायी मैत्री के सूत्र में बाँध लिया। उसने भद्र की राजकुमारी खेमा के साथ भी विवाह किया। चेटक-सुता चेलना उसकी पट्टमहिषी रही। किन्हीं ग्रन्थों में श्रेणिक के दश पत्नियाँ होने का उल्लेख मिलता है। अभयकुमार, कुणिक (अजातशत्रु), वारिषेण, मेघकुमार, नन्दिषेण, अक्रूर, हल्ल, विहल्ल, जितशत्रु, दन्तिकुमार आदि उसके ग्यारह पुत्रों और दश पौत्रों के होने का उल्लेख मिलता है।

विवाह सम्बन्धों द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ़ करके श्रेणिक ने एक ओर तो काशी जनपद को अपने राज्य में मिलाया और दूसरी ओर अंगाधिपति दधिवाहन को पराजित करके उनके पूरे देश एवं राजधानी चम्पापुर पर अधिकार कर लिया और वहाँ राजकुमार कुणिक को अपना राज्य-प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया। एक सीमान्त-देशीय मित्र राजा की सहायतार्थ श्रेणिक ने सेठ-पुत्र वीर जम्बुकुमार को भेजा था जिसने अत्यन्त पराक्रमपूर्वक उक्त अभियान को सफल बनाया था। पारस्य (ईरान) के शाह के साथ भी श्रेणिक ने राजनैतिक आदान-प्रदान किया प्रतीत होता है। अपने लगभग पचास वर्ष के राज्यकाल में इस महत्त्वाकांक्षी, प्रतापी एवं यशस्वी नरेश ने छोटे से मगध राज्य को बढ़ाकर उस काल के प्रायः सर्वाधिक शक्तिशाली महाराज्य का रूप दे दिया था। इतना ही नहीं, भारतवर्ष के प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य (मगध साम्राज्य) की सुदृढ़ नींव जमा दी थी। वह कुशल शासक भी था—उसके सुराज्य में न किसी प्रकार की अनीति थी और न किसी प्रकार का भय था। प्रजा भले प्रकार सुखानुभव करती थी। देश की समृद्धि को उत्तरोत्तर वृद्धिगत करने की ओर भी उसका पूरा ध्यान था। विभिन्न व्यवसायों, व्यापारों एवं उद्योगों का उसके आश्रय एवं संरक्षण से विविध श्रेणियों एवं निगमों में संगठन हुआ, इसी कारण उसे 'श्रेणिक' नाम प्राप्त हुआ बताया जाता है। सर्वप्रकार की आन्तरिक स्वातन्त्र्य-सत्ता से युक्त इन जनतन्त्रात्मक संस्थाओं द्वारा उसने साम्राज्य के उद्योग-धन्धों, व्यवसाय और व्यापार को भारी प्रोत्साहन दिया। बीसियों कोट्यधीश श्रेष्ठि और सार्थवाह उसके राज्य के वैभव की अभिवृद्धि में संलग्न थे। उपरोक्त श्रेणियाँ ही आगे चलकर वर्तमान जातियों के रूप में धीरे-धीरे परिणत हो गयीं। सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार जनपदों का पालक एवं पिता कहा गया है। वह दयाशील एवं मर्यादाशील था, साथ ही बड़ा दानवीर और भारी निर्माता भी था। राजधानी के पुनर्निर्माण एवं

उसे सर्वप्रकार सुन्दर बनाने के अतिरिक्त उसने सिद्धाचल-सम्मेदशिखर पर जैन निषिधकाएँ तथा अन्यत्र अनेक जिनायतन, स्तूप, चैत्यादि भी निर्माण कराये बताये जाते हैं। राजगृह नगर में तो भीतर-बाहर अनेक उत्तुंग जिनालय उसने बनवाये थे। नगर के प्राचीन अवशेषों में उसके समय की मूर्तियां आदि भी मिली बतायी जाती हैं। अन्य धर्मों के प्रति भी वह सहिष्णु था—गौतम बुद्ध गृह त्याग करने के उपरान्त जब सर्वप्रथम राजगृह आये थे तो श्रेणिक ने स्नेहपूर्वक उस तरुण क्षत्रिय कुमार को तप-मार्ग से विरत करने का प्रयत्न किया था। प्रारम्भ में श्रेणिक जैनधर्म विरोधी और विशेषकर जैनमुनि विद्वेषी हो गया था। एकदा यमधर नामक मुनिराज पर उसने भयंकर उपसर्ग किये कहे जाते हैं। अनाथी नामक जैनमुनि के उपदेश से उसमें कुछ सौम्यता आयी, किन्तु मुख्यतया यह उसकी प्रिय पत्नी एवं अग्रमहिषी महारानी चेलना का सुप्रभाव था कि श्रेणिक जैनधर्म और भगवान् महावीर का अनन्य भक्त हो गया। चेलना स्वयं महावीर की मौसी (या ममेरी बहन) थी। वह अत्यन्त पति-परायणा, विदुषी और धर्मात्मा थी। तीर्थंकर महावीर का प्रथम समवसरण श्रेणिक की राजधानी के ही एक महत्त्वपूर्ण भाग विपुलाचल पर जुड़ा था और वहीं ईसा पूर्व ५५७ की श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के प्रातःकाल, अभिजित नक्षत्र में, भगवान् की सर्वप्रथम सार्वजनिक धर्मदेशना हुई थी। महाराज श्रेणिक सपरिवार एवं सपरिकर उक्त समवसरण सभा में उपस्थित हुआ था, श्रावकोत्तम कहलाया था और भगवान् के श्रावक-संघ का नेता बना था, जिसमें एक-डेढ़ लाख पुरुष श्रावक सम्मिलित थे। कहा जाता है कि राजगृह में भगवान् का समवसरण दो सौ बार आया था और इन समवसरणों में श्रेणिक ने गौतम गणधर के माध्यम से भगवान् से एक-एक करके साठ हजार प्रश्न किये थे, और उन्होंने उन सबका समाधान किया था। उक्त प्रश्नों के उत्तरों के आधार पर ही विपुल जैन साहित्य की रचना हुई। महाराज्ञी चेलना श्राविका-संघ की नेत्री हुई—उस संघ में लगभग तीन लाख श्राविकाएँ रही बतायी जाती हैं। चेलना ने स्वयं श्राविका के व्रत लिये थे और अपनी दशों सपत्नियों सहित आर्यिका संघ की अग्रणी महासती चन्दना के निकट धर्म का अध्ययन किया था। उनके पुत्र, पुत्रवधुएँ, पौत्र-पौत्रियाँ, आदि भी सब भगवान् के उपासक हुए। इस प्रकार श्रेणिक का प्रायः सम्पूर्ण परिवार ही महावीर का परम भक्त था। अनगिनत प्रजाजनों ने भी राजपरिवार का अनुकरण किया। अतः इसमे क्या आश्चर्य है जो महाराज श्रेणिक का नाम जैन इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

लगभग पचास वर्ष राज्य सुख भोगने के उपरान्त महाराज श्रेणिक ने महारानी चेलना से उत्पन्न राजकुमार कुणिक अपरनाम अजातशत्रु को राजपाट सौंपकर एकान्त में धर्मध्यानपूर्वक शेष जीवन बिताने का निश्चय किया। राज्यसत्ता हस्तगत होने पर कुणिक ने गौतम बुद्ध के चचेरे भाई देवदत्त के, जो स्वयं एक स्वतन्त्र धर्माचार्य बनने का स्वप्न देखता था, बहकाने से अपने पिता श्रेणिक को बन्दीगृह में डाल दिया। माता चेलना के भर्त्सना करने पर उसे पश्चात्ताप हुआ और वह पिता को बन्धनमुक्त करने

एवं उससे क्षमा माँगने के लिए बन्दीगृह में गया। श्रेणिक उससे अत्यधिक स्नेह करता था, परन्तु उसे इस प्रकार आता देखकर वह समझा कि कुणिक उसकी हत्या करने आया है, अतएव बन्दीगृह की दीवारों से सिर फोड़कर (मतान्तर से अँगूठी में छिपा विष भक्षण कर) श्रेणिक ने आत्मघात कर लिया। इस प्रकार इस महान् प्रतापी एवं धर्मात्मा नरेश तथा मगध के प्रथम ऐतिहासिक सम्राट् का दुखान्त हुआ।

मन्त्रीश्वर अभय

श्रेणिक बिम्बसार के सुशासन, उत्तम राज्य व्यवस्था, स्पृहणीय न्यायशासन, समृद्धि, वैभव एवं राजनयिक उत्कर्ष का श्रेय अनेक अंशों में उनके इतिहास-विश्रुत बुद्धिनिधान मन्त्रीश्वर अभयकुमार को है, जो द्रविड़देशीय ब्राह्मण पत्नी नन्दश्री से उत्पन्न स्वयं उनके ही ज्येष्ठ पुत्र थे। एक मत के अनुसार अभय की जननी नन्दा या नन्दश्री दक्षिण देश के वेण्यातट नामक नगर के धनावह नामक श्रेष्ठि की पुत्री थी। कुछ भी हो, अभय राजकुमार की ऐतिहासिकता में कोई सन्देह नहीं है। दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में ही नहीं, प्राचीन बौद्ध आगम मज्झिमनिकाय में भी निगंठनातपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र-महावीर) के एक परम भक्त के रूप में उनका उल्लेख हुआ है, और यह भी कि एक बार उन्होंने शाक्यपुत्र गौतम बुद्ध का भी आदर-सत्कार किया था। इस तथ्य से राजकुमार अभय की उदारता, सौजन्य एवं परधर्मसहिष्णुता का भी परिचय मिलता है। जैन इतिहास में तो भगवान् महावीर के परम भक्त, एक धर्मात्मा, शीलवान्, संयमी श्रावक होने के अतिरिक्त एक अत्यन्त मेधावी, अद्भुत प्रत्युत्पन्नमति, न्यायशासन दक्ष, विचक्षण बुद्धि, कूटनीति विशारद, राजनीति पटु, प्रजावत्सल, अति कुशल प्रशासक एवं आदर्श राज्यमन्त्री के रूप में उनकी ख्याति है। जब-जब राज्य पर कोई संकट आया, चाहे वह अवन्ति के चण्डप्रद्योत-जैसे प्रतिद्वन्द्वी का प्रचण्ड आक्रमण था, अथवा अन्य कोई बाह्य या आन्तरिक दुर्घटना, अभयकुमार ने अपने बुद्धि-बल से अपने राज्य के धन, जन और प्रतिष्ठा की तुरन्त और सफल रक्षा की। वेष बदलकर समय-असमय प्रजाजनों के बीच विचरकर आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त करना, उनके सन्तोष-असन्तोष को जानना, न्यायविषयक जाँच अपने ढंग से करना जिससे कि किसी के प्रति अन्याय न होने पावे, शान्ति-सुरक्षा बनाये रखना, राजमहलों के एवं बाहर के विग्रहों को शान्त करना, षड्यन्त्रों को विफल करना, इत्यादि से सम्बन्धित मन्त्रीराज अभय के विषय में अनगिनत रोचक प्रसंग एवं कहानियाँ लोक प्रचलित हैं तथा विविध प्राचीन जैन साहित्य में भी उपलब्ध हैं। आज भी दीपावली के अवसर पर पूजन करने के उपरान्त अनेक जैनीजन अपनी बहियों में लिखते हैं—''श्री गौतम स्वामी तणी लब्धि होयजो, श्री धन्ना-शालिभद्रजी तणी ऋद्धि होयजो, श्री अभयकुमारजी तणी बुद्धि होयजो'' इत्यादि।

इस प्रकार जैन परम्परा में लौकिक क्षेत्र में अपने बुद्धि बल से कठिन गुत्थियों

को क्षणमात्र में सुलझाने में मगधराज श्रेणिक के इन बुद्धिनिधान मन्त्रीश्वर अभयकुमार को आदर्श एवं अद्वितीय समझा जाता है और उन जैसी बुद्धि की प्राप्ति की भावना पायी जाती है।

सुदक्ष राजनीतिज्ञ के नाते प्रायः सभी तत्कालीन राज्यों, यहाँ तक कि पारस्य (ईरान) जैसे सुदूर विदेशों में भी अभय राजकुमार के मित्र थे। इनमें पारस्य देश के राजकुमार आर्द्रक (सम्भवतया अर्देशिर) का, जिसके नाम का भारतीयकरण आर्द्रकुमार हुआ, विशेष रूप से उल्लेख मिलता है।

इतने बड़े राज्य का शक्ति-सम्पन्न महामन्त्री तथा स्वयं महाराज का ज्येष्ठ पुत्र होते हुए भी अभय राजकुमार को राज्य-लिप्सा छू भी नहीं गयी थी। वह अत्यन्त धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे। पिता ने इन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहा तो स्पष्ट इनकार कर दिया, और माता-पिता एवं स्वजन-परिजनों की अनुमति लेकर महावीर प्रभु की शरण में जाकर मुनि-दीक्षा ले ली। मुनिरूप में उन्होंने विदेशों में विहार करके प्रभु के उपदेश को फैलाया, ऐसा भी प्रतीत होता है। जब मुनि अभयकुमार पारस्य देश पहुँचे तो इनका परम मित्र राजकुमार आर्द्रक इनके दर्शनार्थ आया और इन्हीं के रंग में रँग गया। इन्हीं के साथ वह भारत आया, भगवान् के दर्शन किये और उनका शिष्य बनकर जैन मुनि हो गया। मतान्तर से अभय ने आर्द्रक की प्रार्थना पर उसके पास भारत से सुवर्ण की एक जिन-प्रतिमा भेजी थी जिसे पाकर आर्द्रक भारत के लिए वैरागी होकर चल पड़ा। परिजनों के द्वारा रोक रखने के प्रयत्नों को विफल कर वह भारत आ गया। मार्ग में अनजाने ही वसन्तपुर की एक श्रेष्ठि-कन्या उसपर अनुरक्त हो गयी। किन्तु यह अपने गन्तव्य प्रभु की शरण में पहुँच ही गया।

महाराज श्रेणिक के अन्य पुत्रों में से कुणिक के अतिरिक्त मेघकुमार, नन्दिषेण और वारिषेण के चरित विशेष प्रसिद्ध हैं। सर्वप्रकार के देवदुर्लभ वैभव में पले वे भी विषयभोगों में मग्न थे, कि भगवान् के दर्शन और उपदेशों के प्रभाव से सब कुछ त्याग कर इन सुकुमार राजकुमारों ने कठोर तप-संयम का मार्ग प्रायः यौवनारम्भ में ही अपना लिया था। उनके श्रद्धान एवं शील की दृढ़ता अनुकरणीय मानी जाती है।

कुणिक अजातशत्रु

कुणिक महारानी चेलना से उत्पन्न श्रेणिक के पुत्रों में ज्येष्ठ था। प्रारम्भ से ही वह बड़ा चतुर, महत्त्वाकांक्षी और राजनीति-पटु था, किन्तु माता और पिता दोनों का ही विशेष लाड़ला होने के कारण कुछ उद्धत एवं स्वेच्छाचारी स्वभाव का था। पिता श्रेणिक ने स्वयं उसे विजित अंगदेश का शासक बनाया था जहाँ लगभग आठ वर्ष पर्यन्त प्रायः एकछत्र शासन करने के पश्चात् श्रेणिक ने अपने जीवनकाल में ही राज्य से अवकाश लेकर कुणिक का राज्याभिषेक कर दिया था। किन्तु उसने उसी पिता के साथ दुर्व्यवहार किया और जब उसका परिमार्जन करने के लिए वह चला तो भ्रमवश श्रेणिक

ने आत्महत्या कर ली। इस घटना से कुणिक को भारी अनुताप हुआ और वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा, सचेत होने पर भी रुदन करता रहा। राजगृह से उसका मन उचट गया और वह वापस चम्पा चला गया। क्योंकि अभयकुमार, वारिषेण, मेघकुमार, नन्दिषेण आदि कई भाई पहले ही मुनि दीक्षा ले चुके थे और हल्ल, विहल्ल आदि जो बचे थे उससे बहुत छोटे थे और अनुभवहीन किशोर ही थे, कुछ कालोपरान्त स्वस्थचित्त होकर कुणिक राजगृह वापस आया और उसने राज्य की बागडोर सम्हाली तथा लगभग तीस वर्ष तक मगध पर राज्य किया। इस अवधि मे उसने छल-बल-कौशल से अपने राज्य का अत्यधिक विस्तार किया। कोसलनरेश प्रसेनजित् के राज्य पर आक्रमण करके उसे पराजित किया, उसकी राजकुमारी के साथ विवाह किया और उसके राज्य के पर्याप्त भाग को अपने राज्य मे मिला लिया। दूसरी ओर अपने कूट-नीतिज्ञ मन्त्री वस्सकार (वर्षकार) की धूर्तता के सहारे वैशाली के लिच्छवियों में अन्त-विग्रह उत्पन्न कराकर उन्हें भी पराजित किया और उनके राज्य के एक बड़े भाग को भी अपने अधिकार में कर लिया। इस अभियान में वह अपने भोले दो भाइयो, राज-कुमारों, हल्ल और विहल्ल, को भी शतरंज की गोटी बनाने से न चूका। महाराज श्रेणिक ने इन कुमारों पर प्रसन्न होकर उनमें से एक को सेचनक नामी प्रसिद्ध गजराज तथा दूसरे को देवदिन्न नामक बहुमूल्य मणिहार दे दिया था। कुणिक ने उक्त दोनों वस्तुओं के हस्तगत करने के उपक्रम में दोनों कुमारों को वैशाली भागकर अपने मातामह के वंश की शरण लेने को बाध्य किया। अब उसने लिच्छवियों से माँग की कि वे कुमारों को हाथी तथा रत्नहार सहित उसके सुपुर्द कर दें। स्वाभिमानी लिच्छवियों ने शरणागतों को उसे देने से स्पष्ट इनकार कर दिया। अतएव कुणिक ने वैशाली पर भीषण आक्रमण कर दिया, किन्तु उसे पराजित होकर लौटना पड़ा। तब उसके मन्त्री वर्षकार ने धूर्तता और छल से वैशाली रहकर लिच्छवियों में फूट डलवा दी, उन्हे आलसी और मूर्ख बना दिया और अन्त मे कुणिक से आक्रमण करवाकर वैशाली का पतन कराया। अजात-शत्रु बड़ा युद्धप्रिय था। उसका प्रायः सारा जीवन युद्धों में ही बीता। महाशिलाकंटक और रथमूसल नामक विध्वंसक युद्ध-यन्त्रों का भी उसने आविष्कार एवं उपयोग किया था। शासन कार्य में भी वह निपुण था। गंगा और सोन के संगम पर उसने एक विशाल सुदृढ़ दुर्ग बनवाया जहाँ कालान्तर में पाटलिपुत्र नगर बसा। अजातशत्रु ने तो वहाँ अपना मुख्य स्कन्धावार (सैनिक छावनी) ही रखा था। उद्योग-धन्धों, व्यवसाय-व्यापार के सम्बन्ध में उसने पिता (श्रेणिक) की नीति को अपनाया और अपने राज्य की समृद्धि को बढ़ाया ही। अजातशत्रु ने आठ राजकन्याओं के साथ विवाह करके अपनी स्थिति और सुदृढ़ कर ली थी। इसमें सन्देह नहीं है कि वह अपने कुलधर्म जैनधर्म का ही अनु-यायी था और भगवान् महावीर का उपासक था। उसने श्रावक के व्रत भी धारण किये थे। जीवन की सन्ध्या में उसे अपने पूर्व जीवन के कार्यों पर पश्चात्ताप भी था। यों वह भगवान् बुद्ध का भी आदर करता था, किन्तु बौद्ध साहित्य में उसकी बड़ी ही निन्दा की

गयी है और उसे पितृहन्ता भी कहा गया है, जबकि जैन अनुश्रुतियों में उसकी प्रशंसा ही पायी जाती है। उसने तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के अतिरिक्त स्वयं अपनी भी मूर्ति बनवायी प्रतीत होती है। भगवान् महावीर का निर्वाण भी कुणिक अजातशत्रु के ही शासनकाल में हुआ था। उक्त निर्वाणोत्सव में मगधनरेश की उपस्थिति के संकेत भी मिलते हैं।

महाराज उदायी

कुणिक के पश्चात् उसका पुत्र उदयिन (उदायी, अजउदयी, या उदयीभट) सिंहासन पर बैठा—छठी शती ईसा पूर्व के अन्त के लगभग। वह भी राज्य प्राप्त करने के पूर्व पिता कुणिक की भाँति चम्पा (अंग देश) का प्रान्तीय शासक रहा था। जैन साहित्य में उसका वर्णन एक महान् जैन नरेश के रूप में हुआ है। वह कुणिक की पट्टरानी पद्मावती से उत्पन्न उसका ज्येष्ठ पुत्र था, सुशिक्षित, सुयोग्य और वीर राजकुमार था। शासन-भार सँभालने पर सुयोग्य शासक भी सिद्ध हुआ। उसी ने सुप्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर को, जिसे कुसुमपुर भी कहते थे, और जिसके भग्नावशेष वर्तमान बिहार राज्य की राजधानी पटना नगर के आस-पास प्राप्त हुए हैं, बसाया था और वहीं राजगृह से अपनी राजधानी स्थानान्तरित कर दी थी। तभी से वृद्धिगत विशाल मगध साम्राज्य की राजधानी उक्त पाटलिपुत्र नगर ही शताब्दियों तक बना रहा। इस राजा ने मगध के एकमात्र अवशिष्ट प्रतिद्वन्द्वी अवन्ति महाराज्य को जीतकर उसके बहुभाग को भी अपने साम्राज्य में मिला लिया। सम्राट् उदायी भी परम जैन-भक्त था। अन्त में एक शत्रु ने छल से उसकी हत्या कर दी। उदायी के उपरान्त अनुरुद्ध, मुण्ड, नागदशक या दर्शक आदि कतिपय नरेश क्रमशः गद्दी पर बैठे। वे कुल-परम्परा के अनुसार प्रायः जैनधर्म के ही अनुयायी थे, किन्तु उनके शासनकाल अल्पकालीन एवं गौण महत्त्व के रहे।

महावीर-भक्त अन्य तत्कालीन नरेश

कलिंग-नरेश जितशत्रु और चम्पा-नरेश दधिवाहन का उल्लेख हो चुका है। दोनों सपरिवार भगवान् महावीर के परम भक्त, सुश्रावक एवं अपने समय के प्रतिष्ठित नरेश थे। कोसलाधिपति महाराज प्रसेनजित् महावीर और गौतम बुद्ध का ही नहीं मक्खलि गोशाल आदि अन्य तत्कालीन श्रमण एवं ब्राह्मण धर्माचार्यों का भी समान रूप से आदर करते थे। उनकी रानी मल्लिकादेवी भी वैसी ही उदार थीं। उन्होंने राजधानी श्रावस्ती में विभिन्न धर्मों की तत्त्व-चर्चा के लिए एक विशाल सभाभवन बनवाया था। मिथिला और वाराणसी के तत्कालीन शासकों का नाम भी जितशत्रु था, और उन दोनों ने, जब-जब महावीर उनके नगर में पधारे, उनकी सेवा और भक्ति बड़ी श्रद्धा के साथ की थी। कोल्लाग-संनिवेश के स्वामी कूलनृप ने, जो सम्भवतया भगवान् का सगोत्रीय ही था, उनको प्रथम आहारदान देकर पारणा करायी थी। वसन्तपुर के राजा समरवीर पावा के हस्तिपाल और पुण्यपाल, पलाशपुर के राजा विजयसेन और राजकुमार

ऐमत्त, वाराणसी की राजपुत्री मुण्डिका, कौशाम्बी-नरेश उदयन, दशार्ण देश के राजा दशरथ, पोदनपुर के विद्रराज, कपिलवस्तु के शाक्य वप्प (गौतम बुद्ध के चाचा), मथुरा के उदितोदय और अवन्ति पुत्र तथा उनका राज्य-सेठ, पांचालनरेश जय, हस्तिनापुर के भूपति शिवराज तथा वहाँ का नगरसेठ पोत्तलि, पोत्तननगर के राजर्षि प्रसन्नचन्द्र इत्यादि राजे-महाराजे भगवान् महावीर के भक्त व्रती अथवा अव्रती श्रावक बने थे। इनके अतिरिक्त एक विशेष उल्लेखनीय नाम है हेमांगद-नरेश जीवन्धर का।

महाराज जीवन्धर

दक्षिण भारत के वर्तमान कर्णाटक (मैसूर) राज्य के एक भाग का नाम हेमांगद देश था, उसकी राजधानी का नाम राजपुरी था और उस काल में सत्यन्धर नामक जिनधर्म-भक्त राजा वहाँ राज्य करता था। उसकी अतिप्रिय एवं लावण्यवती रानी का नाम विजया था। उन्ही के पुत्र जीवन्धर थे। इनका रोचक, रोमांचक एवं साहसिक चरित्र जैन साहित्यकारों में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी में ही नहीं, तमिल और कन्नड मे भी उत्तम काव्य कृतियाँ इस विषय पर रची गयीं यथा—तमिल का जीवक-चिन्तामणि, कन्नड का जीवन्धर चम्पू एवं जीवन्धर-सांगत्य, संस्कृत के क्षत्र-चूडामणि, गद्यचिन्तामणि, जीवन्धर-चरित, आदि। पिता सत्यन्धर सज्जन थे, वैज्ञानिक यन्त्रों के बनाने में अत्यधिक पटु थे, किन्तु राजकाज में कोरे थे, अतएव दुष्ट मन्त्री काष्ठागार के षड्यन्त्र का शिकार हुए, राज्य भी गया और प्राण भी गये। उसके पूर्व ही वह आसन्नसंकट देख गर्भवती विजयारानी को स्वनिर्मित मयूरयन्त्र में बैठाकर आकाशमार्ग से बाहर भेज चुके थे। दूर एक श्मशान मे यन्त्र उतरा, वही जीवन्धर का जन्म हुआ। अनेक संकटों को झेलते हुए रानी ने पुत्र के लालन-पालन, सुरक्षा एवं उचित शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की। किशोर अवस्था से ही विभिन्न स्थानों मे भ्रमण तथा अनेक साहसिक कार्य कुमार जीवन्धर ने किये। वयस्क होने पर दुष्ट काष्ठांगार से लोहा लिया, उसे दण्डित किया और अपना राज्य पुनः प्राप्त किया। वर्षों अपने राज्य का सुशासन, प्रजा का पालन और भोगोपभोगों का रसास्वादन करने के पश्चात् भगवान् महावीर का सम्पर्क मिला तो सब कुछ तृणवत् छोड़ उनके शिष्य मुनि हो गये।

दश प्रसिद्ध उपासक

उपासक-दशांग-सूत्र में भगवान् महावीर के दश सर्वश्रेष्ठ साक्षात् उपासकों एवं परम भक्तों का वर्णन प्राप्त होता है, जो सब सद्-गृहस्थ थे और गृहस्थावस्था में रहते हुए ही धर्म का उत्तम पालन करते थे। उनके नाम हैं आनन्द, कामदेव, चूल्लिनी-पिता, सुरादेव, चुल्लशतक, गृहपति कुण्डकोलिक, सद्दाल-पुत्र, महाशतक, नन्दिनी-पिता और सालिही-पिता।

गृहपति आनन्द वाणिज्यग्राम का प्रधान धनाधीश था, वह नगरश्रेष्ठि ही नहीं जनपद तथा राज्यश्रेष्ठि भी था। स्वयं वाणिज्यग्राम व्यापार की देश विश्रुत मण्डी थी।

एक वाणिज्यग्राम बिहार के विदेह प्रान्त में वैशाली के निकट भी था, किन्तु क्योंकि आनन्द-श्रावक के विवरण से स्पष्ट है कि भगवान् महावीर उज्जयिनी से चलकर सीधे वाणिज्यग्राम पहुँचे थे, वहाँ के राजा का नाम जितशत्रु था, यह स्थान वर्तमान मालवा (या मध्य प्रदेश) में ही कहीं स्थित होना चाहिए। सम्भवतया यह उस काल में अवन्ति-नरेश के किसी उपराजा के अधिकार में रहा होगा। आनन्द की रूपवती पत्नी का नाम शिवानन्दा था। इन दम्पति का जिनधर्म से कोई परिचय नहीं था। कहा जाता है कि यह धनपति बारह करोड़ सोनइयों (स्वर्ण मुद्राओं) का स्वामी था—एक सोनइया १६ (सोलह) माशे स्वर्णमान का होता था। इसमें से चार करोड़ मुद्राएँ उसके कोषागार में सदा सुरक्षित रहती थीं, चार करोड़ ब्याज पर उधार लगी हुई थीं और चार करोड़ व्यापार-व्यवसाय में लगी थी। इसके अतिरिक्त उसके चार गोकुल थे जिनमें से प्रत्येक में दस-हज़ार गौएँ थी, पाँच सौ हलों की खेती होती थी, पाँच सौ शकट (गाड़ियाँ) देश-देशान्तर में व्यापारार्थ माल ढोया करती थीं, और नाना फल-फूलों से भरे अनेक बाग-बगीचे थे। उसका मान-सम्मान एवं लोक-प्रतिष्ठा उसके अनुरूप ही थी। जब भगवान् महावीर इस ओर पधारे और उनका समवसरण उस नगर के बाहर दुतिपलाश नामक चैत्योद्यान में लगा तो राजा और प्रजा भगवान् के दर्शनार्थ उस ओर उमड़ चले। गृहपति आनन्द और उसकी भार्या ने भी यह समाचार जाना। उत्सुकता, जिज्ञासा एवं शिष्टाचार के नाते यह दम्पति भी भगवान् के समवसरण में जा उपस्थित हुए। भगवान् के सदुपदेश के प्रभाव से अनेक व्यक्तियों ने व्रत, चरित्र, संयम और त्याग अंगीकार किये। सपत्नीक आनन्द भी भगवान् के व्यक्तित्व एवं वाणी के सुखदायी तेज से प्रभावित हो उनका परम भक्त बन गया। किन्तु जब श्रावक के व्रतों के ग्रहण करने का प्रश्न आया तो और सब व्रत तो तुरन्त ले लिये, परिग्रह का मोह परिग्रह-परिमाण में बाधक हो रहा था। शंका-समाधान में जब उन्हें यह स्पष्ट हुआ कि स्वेच्छापूर्वक शक्तितः किया गया त्याग ही सच्चा त्याग है, और यह कि श्रावक का परिग्रह-परिमाण तीन कोटि का है—आवश्यकता-भर परिग्रह रखकर शेष का परित्याग उत्तम कोटि का है, वर्तमान में जितना परिग्रह है उससे जितना अधिक उपार्जित हो उसका त्याग मध्यम कोटि का और जितना है उसके दुगुने, चौगुने आदि पर कहीं भी मर्यादा स्थिर करके शेष का त्याग जघन्य कोटि का है, तो विचारशील आनन्द श्रावक ने मध्यम कोटि का परिग्रह-परिमाण अंगीकार किया। उनकी भार्या शिवानन्दा ने भी श्राविका के व्रत ग्रहण किये। श्रेष्ठि दम्पति ने स्वस्थान पर आकर भगवान् के आदर्श उपासक बनने के प्रयास में सहर्ष चित्त दिया। दूसरे दिन से ही नवीन-नवीन समस्याएँ सामने आने लगी। गोकुलों से गायों का दुहा दूध सहस्रों घड़ों में भरकर आया। पहले तो आवश्यकता से जितना अधिक होता था, बेच दिया जाता था। किन्तु अब तो सेठ नवीन उपार्जन का त्याग कर चुका था, अतः सेवकों को आदेश दिया कि आज से दूध बेचा नहीं जायेगा, जिन लोगों के यहाँ बाल-बच्चे हैं या अन्य रोगादि कारण से दूध की आवश्यकता है उनमें

बिना मूल्य वितरित कर दिया जाया करे। इसी प्रकार फल, शाक, अन्न, धान्य आदि के विविध उत्पादन अभावग्रस्त जनता में वितरित किये जाने लगे। उधार में लगी पूँजी का जो लाखों रुपया ब्याज में आता था वह भी जिन्हें व्यापार आदि किसी कार्य के लिए आवश्यकता होती बिना ब्याज लिये दे दिया जाने लगा। पशुधन में बच्चे (बछड़े, बछिया आदि) होने से जो वृद्धि होती उन मर्यादा से अधिक पशुओं को भी ज़रूरत-मन्दों को दे दिया जाने लगा। व्यापार आदि के अतिरिक्त आय होती तो उसे सार्व-जनिक लाभ के कार्यों, पाठशाला, धर्मशाला, अनाथालय, चिकित्सालय, कुएँ-बावड़ी, धर्मायतन आदि के निर्माण एवं संचालन में व्यय किया जाने लगा। गृहपति आनन्द श्रावक के इस परिग्रह-परिमाण व्रत के आदर्श पालन के फलस्वरूप जनपद के सभी निवासी अभावमुक्त हो सुख-शान्ति का उपभोग करने लगे। आनन्द ने सर्वत्र आनन्द ही आनन्द का विस्तार कर दिया। और उस महावीर के उपासक सद्गृहस्थ की दिग्-दिगन्त-व्यापी कीर्ति गत ढाई सहस्र वर्षों में अनगिनत धनसम्पन्न जैन श्रावकों को प्रेरणा देती रही है।

पलाशपुर में शब्दालपुत्र (सद्दालपुत्त) जाति से शूद्र और कर्म से कुम्भकार (कुम्हार) था। उसकी पत्नी का नाम अग्निमित्रा था। वह तीन-कोटि स्वर्ण का धनी था। नगर के बाहर मिट्टी के बरतनों का विक्रय करने की उसकी पाँच सौ बड़ी बड़ी दुकानें चलती थीं। वह मक्खलिपुत्र-गोशाल के आजीविक सम्प्रदाय का अनुयायी था। भगवान् महावीर के दर्शन करके और उपदेश सुनकर वह भी सपत्नीक उनका दृढ़ श्रद्धानी उपासक और व्रती-श्रावक बन गया। इसी प्रकार चम्पापुर में श्रावक कामदेव अपर नाम कुलपति और उसकी भार्या श्राविका भद्रा, जिनकी हैसियत अठारह-कोटि मुद्राओं की थी, वाराणसी में चौबीस-कोटि मुद्राओं का धनी श्रावक चूलिनिपिता और उसकी पत्नी श्राविका श्यामा, काशी में ही श्रावक सुरादेव और उसकी सहधर्मिणी धन्या, आलम्भिका नगरी में श्रावक चुल्लशतक जिसकी पत्नी बहुला नाम्नी थी, काम्पिल्य नगर (कम्पिला) में गृहपति कुण्ड-कोलित अपनी भार्या पुष्पा सहित, राजगृह का श्रावक महाशतक धर्मपत्नी विजया सहित, और श्रावस्ती के सेठ नन्दिनीपिता एवं सालिहि-पिता, जिनकी पत्नियाँ क्रमशः अश्विनी और फाल्गुणी नामों की थीं, महावीर के परम श्रद्धानी व्रती श्रावक-श्राविका बने थे। श्रावस्ती का ही धनाधीश अनाथपिण्डक, जिसकी पुत्रवधू विशाखा भगवान् बुद्ध की भक्त थी और उनके लिए उसने राजकुमार जेत से स्वर्णमुद्राएँ बिछाकर उसका जेतवन नामक प्रसिद्ध उद्यान खरीदकर उसमें जेतवन विहार बनवाया था, स्वयं भगवान् महावीर का उपासक रहा बताया जाता है। चार अन्य नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—सुदर्शन सेठ, धन्नासेठ, श्रेष्ठिपुत्र शालिभद्र और जम्बुकुमार।

सुदर्शन सेठ

इस नाम के कई व्यक्तियों के उस युग में होने का पता चलता है। एक सुदर्शन सेठ तो मगध की राजधानी राजगृह के प्रसिद्ध श्रेष्ठिपुत्र थे, भगवान् महावीर के परम

भक्त और बड़े दृढ़ श्रद्धानी धर्मात्मा श्रावक थे। अर्जुनमाली नामक एक व्यक्ति यक्षाविष्ट होकर नगर के बाह्य भाग मे बड़ा उपद्रव मचा रहा था, जिसे देख पाता, मार डालता था। उधर से रास्ता चलना बन्द हो गया। भगवान् का समवसरण आया तब भी उस भूत के भय से लोग वहाँ नहीं जा रहे थे। स्वयं राजा श्रेणिक ने मुनादी करा दी थी। किन्तु दृढ़-निश्चयी एवं प्रभुभक्त सुदर्शनसेठ किसी के रोके न रुके और भगवान् के दर्शनार्थ चल दिये। मार्ग में अर्जुनमाली मिला, और इनपर प्रहार करने के लिए झपटा, किन्तु इनका स्पर्श होते ही यक्ष उसके शरीर से निकलकर भाग गया। अर्जुनमाली अपने होश में आ गया। सेठ के चरणों में गिर पड़ा और इन्हीं के साथ प्रभु-दर्शन करके कृतार्थ हुआ। दीक्षा लेकर उसने आत्म-कल्याण किया। एक सुदर्शनसेठ चम्पा का प्रसिद्ध धनी रहा बताया जाता है जो एक-पत्नी-व्रती, ब्रह्मचर्याणुव्रत का दृढ़ पालक, परदारा-विरत एवं स्वदार-सन्तोषी था। उसके मित्र पुरोहित की पत्नी उसपर आसक्त हुई, किन्तु विफल प्रयत्न होने पर उसने वहाँ की एक रानी को सेठ पर डोरे डालने के लिए प्रेरित किया। रानी के छलबल भी विफल हुए तो सेठ पर झूठे अपवाद लगाकर उसे शूली का दण्ड दिये जाने का आदेश दिलाया गया। किन्तु सुदर्शनसेठ के पुण्य के प्रभाव से शूली भी सिंहासन बन गयी। कुछ ग्रन्थों में इन घटनाओं का सम्बन्ध पाटलिपुत्र नगर से जोड़ा जाता है। वर्तमान पटना के गुलजारबाग मोहल्ले में आज भी धर्मात्मा सुदर्शनसेठ का स्मारक है, जहाँ वार्षिक मेला भी लगता है। एक सुदर्शनसेठ को वैशाली के निकटस्थ वाणिज्यग्राम का प्रसिद्ध व्यापारी बताया गया है, जिसने भगवान् महावीर के समवसरण में कालचक्र के विषय में प्रश्न किये थे और समाधान होने पर मुनि-दीक्षा ले ली थी। सम्भव है कि उपरोक्त चारो व्यक्ति अभिन्न हों। एक सुदर्शनसेठ के विभिन्न प्रसंगों को अनुश्रुतियों मे ऐसा रूप दे दिया गया कि वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगे। यह भी सम्भव है कि इस नाम के उस काल में एकाधिक व्यक्ति भी रहे हों। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि महावीरयुग में पूर्वी भारत (वर्तमान बिहार प्रान्त) में सुदर्शनसेठ नामका एक अनन्य महावीर-भक्त, सदाचारी एवं धर्मात्मा श्रावक था, जिसकी प्रसिद्धि विभिन्न साहित्यिक अनुश्रुतियों के माध्यम से आज तक चली आयी है।

धन्ना-शालिभद्र

धन्ना और शालिभद्र दो विभिन्न व्यक्ति थे। धन्नाजी शालिभद्र के बहनोई एवं परम मित्र थे। दोनों ही धनाढ्य थे, सर्वसुखी थे, और दोनों के ही जीवन में प्रायः एक साथ धार्मिक क्रान्ति आयी। दोनों का संयुक्त नाम जैन परम्परा मे ऋद्धि-सिद्धि-दायक मंगल स्मरण के रूप में प्रचलित हो गया, यह उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनके धार्मिक महत्त्व का ही सूचक है। राजगृह के धनकुबेर गोभद्र की भार्या भद्रा की कुक्षि से शालिभद्र का जन्म हुआ था। इनकी बहन का नाम सुभद्रा था जो धन्नाजी के साथ विवाहित थी। वयस्क होने पर कुमार शालिभद्र का विवाह अनुपम सुन्दरी बत्तीस

कन्याओं के साथ किया गया। पिता की मृत्यु हो गयी थी, माता के अभिभावकत्व में ही सब कार्य चलता था। सेवकों, सेविकाओं, विविध कर्मचारियों की भीड़ थी। अनुमानातीत धन-सम्पत्ति तथा नित्य की आय थी। सुकोमल कुमार सतखने महल के अपने कक्ष से कभी बाहर भी न निकलते और न नीचे उतरते, अपनी सुन्दरी पत्नियों के साथ भोग-विलास में मग्न रहते। एकदा दूर देश के कुछ व्यापारी सोलह बहुमूल्य रत्न-कम्बल बेचने के लिए राजगृह आये। एक-एक कम्बल का मूल्य सवा लाख सोनइया (स्वर्ण मुद्रा) था। नगर में किसी का भी, यहाँ तक कि महाराज श्रेणिक का भी साहस इतने मूल्यवान कम्बलों को खरीदने का न हुआ। हताश व्यापारी एक पनघट पर खड़े नगर के दारिद्रय की चर्चा कर रहे थे कि वहाँ शालिभद्र की कुछ सेविकाएँ पानी भर रही थीं। उन्होंने व्यापारियों से कहा कि हमारे सेठ के यहाँ जाओ तो सब माल बिक जायेगा। व्यापारियों को विश्वास न हुआ, किन्तु वे गये और जब शालिभद्र की माता सेठानी भद्रा ने बिना चूँचरा किये मुँह-माँगे दामों पर वे रत्न-कम्बल खरीद लिये और तत्काल प्रत्येक के दो-दो टुकड़े करके, एक-एक टुकडा अपनी प्रत्येक पुत्र-वधू को पाँव पोंछने के लिए भिजवा दिया तो वे व्यापारी आश्चर्यचकित रह गये। शालिभद्र के घर की परम्परा थी कि जिस वस्त्रादि का सेठ-वधुएँ एक बार उपयोग कर लेती थीं उसे दोबारा अपने उपयोग में न लातीं और वह सेवक-सेविकाओं आदि को दे दिया जाता था। अतएव दूसरे दिन वे रत्न-कम्बल भी इसी प्रकार बँट गये और उनमें से एक हवेली की मेहतरानी को मिला। वही मेहतरानी राजमहल में भी जाती थी। एक दिन वह रत्न-कम्बल ओढ़कर वहाँ चली गयी और सबकी चर्चा का विषय बन गयी। महाराज श्रेणिक ने जब पूरा वृत्तान्त सुना तो आश्चर्यचकित हो गये और शालिभद्र को बुला भेजा। सेठानी भद्रा ने महाराज की सेवा में निवेदन भेजा कि क्योंकि उसका पुत्र अत्यन्त कोमल है, सूर्य का ताप व प्रकाश वह सहन नहीं कर सकता, घर के भीतर मणिदीपकों के प्रकाश में ही सदा रहता है, महाराज स्वयं उसके घर को पवित्र करने का अनुग्रह करें। महाराज गये, शालिभद्र बुलाये गये। माता ने कहा, महाराज हमारे स्वामी हैं, प्रभु हैं, इन्हें उचित सम्मानपूर्वक प्रणाम किया जाये। कुमार ने माता की आज्ञा का पालन तो किया, किन्तु मन में एक खटक हो गयी कि यह अपार वैभव और धन-सम्पत्ति किस काम की, यदि हमसे भी कोई बड़ा है और हमें उसके सामने झुकना है ? विचार करते रहे और अन्त में इस निर्णय पर पहुँचे कि सब परित्याग करके वीर प्रभु की शरण में जाया जाये और मुनि-दीक्षा ली जाये। माता ने बहुत समझाया, पत्नियों ने बहुतेरी अनुनय-विनय की, किन्तु शालिभद्र का निश्चय अडिग रहा। इतना संशोधन कर लिया कि धन-सम्पत्ति से तो विशेष मोह नहीं है, कभी उसका कोई अभाव अतएव कोई मूल्य ही नहीं समझा, किन्तु प्रिय पत्नियों में जो प्रेम और आसक्ति है वही सबसे बड़ी बाधा बनी हुई है, और इसका उपाय यह है कि एक-एक दिन एक-एक करके उक्त पत्नियों से आसक्ति हटायी जाये।

उधर उनके बहनोई धन्नाजी भी बड़े धनाढ्य थे और अपनी पत्नी के साथ सांसा-

रिक सुखों और वैभव का उपभोग करते थे। प्रारम्भ में इनके पिता अच्छे धनी थे, किन्तु व्यापार में घाटा आने से स्थिति दुर्बल हो गयी थी। धन्नाजी बाल्यावस्था से ही बड़े चपल, चतुर और दृढ़ निश्चयी थे। इनके तीन अन्य भाई थे जो इनसे ईर्ष्या करते और लड़ते-झगड़ते रहते थे। जो कुछ सम्पत्ति थी उसका बँटवारा हुआ और धन्नाजी ने अपनी बुद्धि और सूझ-बूझ के बल पर अपनी स्थिति शनैः-शनैः राजधानी के प्रमुख धनपतियों में बना ली। किसी प्रकार का कोई अभाव न था। एकदा अपने महल के एक ऊपर के खन में स्थित पुष्पवाटिका में बैठे वह स्नान कर रहे थे, पत्नी सुभद्रा पास में खड़ी थी। उसे नीचे मार्ग पर जाते हुए एक साधु दिखाई पड़े और यह ध्यान आया कि उसका अत्यन्त सुकुमार भाई शालिभद्र जो साधु बनने जा रहा है कैसे साधु-जीवन के कष्ट सह पायेगा। इस दुःखद विचार से उसके आँसू आ गये और दो-एक धन्नाजी के शरीर पर गिरे। तप्त अश्रु-बिन्दु के अनुभव से उन्होंने मुख उठाकर पत्नी की ओर देखा और कारण पूछा। समस्त वृत्तान्त सुनकर धन्नाजी बोले, बात तो ठीक है। जीवन क्षणभंगुर है, शरीर नाशवान् है, लक्ष्मी चंचला है और आत्म-कल्याण का मार्ग मुनि-दीक्षा ही है। समय भी उसके लिए वर्तमान से अधिक उत्तम कोई नही होता। तुरन्त-निर्णयी और दृढ़-निश्चयी धन्नाजी पत्नी से विदा हो श्वसुरालय पहुँचे। बाहर से ही साले शालिभद्र को पुकारा कि शुभकार्य मे इतना विलम्ब क्यों, छोड़ना है तो सब एकदम छोड़ो, चलो दोनों प्रभु की शरण मे चलते हैं। और दोनों धर्मवीर चल दिये। समवसरण में उपस्थित हो मुनि-दीक्षा ले ली। इन्ही युगल धर्मवीरों की स्मृति मे आज भी जैन गृहस्थ यह भावना करते हैं कि "धन्ना-शालिभद्रजी तणी ऋद्धि होय जो।"

जम्बू कुमार

महाराज श्रेणिक की राजधानी राजगृही के प्रसिद्ध सेठ ऋषभदत्त (मतान्तर से अर्हद्दास) के इकलौते पुत्र थे। माता का नाम धारिणीदेवी या जिनदासी था। कही-कही इनके पिता को चम्पानगर का कोट्यधीश बताया है। माता-पिता ने कुमार के लालन-पालन एवं समुचित शिक्षा-दीक्षा की उत्तम व्यवस्था प्रारम्भ से कर दी थी। अतएव किशोरावस्था तक पहुँचते-पहुँचते जम्बूकुमार सम्भ्रान्त भद्रोचित समस्त विद्याओ और कलाओं मे निपुण हो गये। वणिक्-पुत्र होते हुए भी अस्त्र-शस्त्र एवं सैन्य-संचालन मे भी उनकी ऐसी प्रसिद्धि हुई कि स्वयं महाराज श्रेणिक ने उस अल्पवय में ही कुमार जम्बू को एक सैनिक अभियान में भेजा। सीमान्तवर्ती एक मित्र राजा पर किसी शत्रु ने चढाई की थी, और उक्त राजा ने महाराज श्रेणिक से सहायता की याचना की थी। जम्बूकुमार के कुशल नेतृत्व में वह अभियान सफल हुआ, विजयश्री प्राप्त करके वह राजगृह लौटे और महाराज द्वारा प्रशंसित एवं सम्मानित हुए। कुछ ही समय पश्चात् महाराज की मृत्यु हो गयी। तदनन्तर जम्बूकुमार ने राजकार्यों मे विशेष योग नहीं दिया प्रतीत होता और अपने पिता के व्यवसाय में ही योग दिया। भगवान् का उपदेश सुनने का उन्हें अवसर

मिला था और सुधर्मा स्वामी (गौतम गणधर के उत्तराधिकारी) का वह विशेष मान करते थे। उनकी बढ़ती हुई धार्मिक मनोवृत्ति देखकर माता-पिता ने विभिन्न श्रेष्ठियों की रूप-गुण-सम्पन्न चार (मतान्तर से आठ) कन्याओं के साथ उनकी मँगनी कर दी। एक दिन गुरुमुख से धर्मश्रवण करके जब वह स्वगृह वापस आ रहे थे तो नगर-द्वार एकाएक गिर पड़ा और यह बाल-बाल बचे। इस घटना से इनका निर्वेद और तीव्र हुआ और इन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया। माता-पिता ने बहुत समझाया। उक्त कन्याओं को तथा उनके अभिभावकों को भी स्थिति स्पष्ट कर दी। सबका मत यही रहा कि इन्हें विवाह-बन्धन में बाँध दिया जाये। जम्बू भी इसपर सहमत हो गये कि विवाह के दो दिन पश्चात् दीक्षा लेंगे। विवाह सम्पन्न हुआ, सुहागरात में सोलहों शृंगार से सुसज्जित उन अनिन्द्य सुन्दरी बधुओं ने कुमार को रिझाने और अपने निश्चय से चलायमान करने का अथक प्रयत्न किया। परस्पर पूरा शास्त्रार्थ चला, जो ज्ञान-वर्धक होने के साथ-साथ रोचक भी है। कुमार की माता भी पुत्र के सम्भाव्य बियोग और सद्यः विवाहिता पुत्र-वधुओं के तज्जनित दुख के स्मरण से निद्रा को आँखों में समाये पुत्र के शयनकक्ष के बाहर अलिन्द में शोकमग्न बैठी थी। किन्तु वह अकेली नहीं थी। उसके अनजाने एक अन्य व्यक्ति वहाँ उपस्थित था। पोदनपुर-नरेश विद्रदाज का पुत्र राजकुमार प्रभव कुमार्ग-गामी हो चोरी के व्यसन मे पड़ गया था। शीघ्र ही चौर्यकला में वह एक विद्यासिद्ध अत्यन्त दक्ष चोर हो गया, विद्युच्चर नाम से प्रसिद्ध हुआ और पाँच सौ अन्य चोरों का सरदार बनकर बडे-बड़े राजा-महाराजाओं और धनकुबेर सेठों के यहाँ छापे मारने लगा। वही विद्युच्चर अपने सभी साथियों सहित आज श्रेष्ठि-पुत्र जम्बूकुमार के प्रासाद में घुसा था—अपने अपार धन के अतिरिक्त उक्त नववधुओं के साथ जो भारो दहेज उसी दिन सेठ के घर आया था, दस्युराज के लिए अच्छा प्रलोभन था। घर के अन्य सब व्यक्तियों, सेवकों आदि को तो उसने बेहोश कर दिया था, किन्तु स्वयं कुमार, नववधुओं और कुमार की माता पर उसका वश न चल पाया था। वह भी अपना चौर-कर्म भूलकर कक्ष के भीतर हो रही विवाद-वार्ता को तन्मय होकर सुन रहा था। कुमार की माता का ध्यान उसकी ओर गया तो वह चौंक पड़ी और पूछा कि वह कौन है और वहाँ कैसे आया। विद्युच्चर ने अपना सब वृत्तान्त निष्कपट कह दिया। कुमार की वार्ता सुनकर उसे स्वयं अनुताप हो रहा था और अपने कर्म से विरक्ति हो रही थी। उसने सेठानी से कहा कि वह भी कुमार को अपने निश्चय से विरत करने का प्रयास करेगा। प्रातःकाल समीप था। कुमार का मातुल (मामा) बनकर उसने द्वार खुलवाया और कुमार को अपने विचार को स्थगित करने के लिए यथाशक्ति नाना प्रकार के तर्क और युक्तियाँ प्रस्तुत कीं। किन्तु विफल प्रयत्न हुआ। प्रातःकाल नित्यकर्मों से निपटकर और सबसे विदा लेकर जम्बूकुमार ने दीक्षार्थ वन की राह ली, परन्तु वह अकेले नहीं थे। पीछे-पीछे अपने पाँच सौ साथियों सहित दस्युराज विद्युच्चर भी दीक्षा लेने के लिए दृढ़ संकल्प हो चल रहा था, कुमार की समस्त नव-विवाहिता पत्नियाँ उसी उद्देश्य से उनका

अनुगमन कर रही थीं, और स्वयं कुमार के माता-पिता तथा उक्त वधुओं के माता-पिता भी उसी उद्देश्य से साथ चल रहे थे। कहते हैं कि जहाँ केवल एक दीक्षार्थी था, अब उसके सहित ५२७ स्त्री-पुरुष दीक्षार्थी थे, जिन्होंने गणनायक सुधर्मा स्वामी से जैनेश्वरी दीक्षा ली। भगवान् महावीर का निर्वाण होने के एक वर्ष पश्चात् यह घटना घटी बतायी जाती है और उस समय गौतम गणधर केवली हो चुके थे, अतएव सुधर्मा स्वामी ही तत्कालीन प्रधान संघाचार्य थे। ईसा पूर्व ५०३ में सुधर्मा स्वामी के निर्वाण को प्राप्त होने पर जम्बूस्वामी ही महावीर के जैन संघ के नायक हुए, जिस पद पर वह अड़तीस वर्ष, अपने निर्वाण पर्यन्त बने रहे। जम्बू-स्वामी इस परम्परा के अन्तिम केवली थे। उनके पश्चात् कोई केवल-ज्ञानी नहीं हुआ। मथुरा का चौरासी नामक स्थान (मतान्तर से राजगृह का विपुलाचल) उनका निर्वाण-स्थान माना जाता है। मथुरा में ही उनके शिष्य विद्युच्चर तथा उसके पाँच सौ साथियों ने मुनि रूप में तपस्या करके सद्गति प्राप्त की थी, और वहाँ उनकी स्मृति में साधिक पाँच सौ स्तूप बनवाये गये थे।

उपर्युल्लिखित राजा-महाराजाओं, सामन्त-सरदारों, मन्त्रियों और सेनापतियों, धनकुबेर सेठों, तथा विभिन्न वर्गीय महिलाओं के अतिरिक्त भी अनेक उल्लेखनीय स्त्री-पुरुष महावीर के भक्त अनुयायी बने थे, यथा देवानन्दा, रेवती, सुलभा और विदुषी जयन्ती-जैसी गृहिणियाँ, स्कन्धक, सोमल, अम्बड़-जैसे विद्वान् ब्राह्मण पण्डित, आत्मा के प्रति सदा जागरूक रहनेवाला शंख श्रावक, मेतार्य, और हरिकेशी-जैसी शूद्र। इतना ही नहीं, कम्भार संनिवेश निवासी कुपन कुम्हार-जैसा अत्यन्त मद्यपायी नरपशु, अर्जुनमाली-जैसा भयंकर हत्यारा विद्युच्चर, रौहिणेय, अंजनचोर, रूपसुर एवं स्वर्णसुर-जैसे कुख्यात दस्युराज, लुटेरे और मँजे हुए चोर तथा तत्प्रभृति अन्य अनेक पतित जन भगवान् का उपदेशामृत पान करके अपने जीवन मे क्रान्ति लाने और उसे कुमार्ग से मोड़कर सन्मार्ग मे लगाने मे सफल हुए थे। उस पतितपावन ने न जाने कितने पतितों को पावन कर दिया था।

उपरोक्त विवरणों में सम्भव है कि कहीं-कहीं अतिशयोक्ति का आभास लगे। उनकी आधारभूत विभिन्न साहित्यिक अनुश्रुतियों में कहीं-कहीं कुछ मतभेद भी लगते है। श्रेष्ठियों की धन-सम्पदा के वर्णन भी अत्युक्तिपूर्ण लग सकते है। किन्तु इस विषय मे कोई सन्देह नहीं है कि उनमे से अधिकांश व्यक्ति सर्वथा ऐतिहासिक हैं। भारतवर्ष की धन-सम्पत्ति और उसके सेठों की समृद्धि एवं वैभव उस काल में तथा उसके भी सैकड़ों वर्ष पश्चात् तक विदेशों की ईर्ष्या एवं लुब्धता के पात्र रहे हैं। किसी श्रेष्ठि की हैसियत छप्पन, चौबीस, अठारह या बारह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं की यदि बतायी गयी है और वह अक्षरशः ठीक न भी हो, तो इस तथ्य में शंका नहीं है कि अनेक यथेष्ट वैभव-सम्पन्न एवं समस्त सम्भव लौकिक सुखों का उपभोग करनेवाले स्त्री-पुरुष तीर्थंकर के उपदेश से प्रभावित होकर समस्त धन-सम्पत्ति को तिनके के समान क्षण-भर में परित्याग करके आत्म-साधना एवं स्वपर कल्याण के दुर्गम, दुष्कर एवं अत्यन्त

कष्टकारक मार्ग पर निकल पडते थे। यदि गृही श्रावक-श्राविका के रूप में भी रहते तो अपनी स्वय की इच्छाओ और आवश्यकताओ को सीमित करके तथा अपने परिग्रह का परिमाण करके, अपनी उत्पादन सामर्थ्य तनिक भी व्यर्थ किये बिना, शेष धन एव आय को लोक सेवा मे लगा देते थे। महावीर के साक्षात् भक्त श्रावक-श्राविकाएँ ही परवर्ती काल के जैन गृहस्थ स्त्री-पुरुषो के लिए, चाहे वे किसी वर्ण, जाति या वर्ग के, किसी व्यवसाय या वृत्ति के, और किसी भी क्षेत्र अथवा काल मे हुए, प्रेरणा के सतत स्रोत तथा अनुकरणीय आदर्श बने रहे हैं।



नन्द-मौर्य युग

(लगभग ५०० २०० ई पू)

नन्दवशी नरेश

महावीर निर्वाण सवत ६० (ईसा पूर्व ४६७) म मगध महाराज्य की राजधानी पाटलिपुत्र म बिम्बसार श्रणिक के वश का अन्त हुआ और उसी शैशुनाक वश की एक लघु शाखा म उत्पन्न व्रात्यनन्दि नामक एक साहसी युवक न सिहासन पर अपना अधिकार कर लिया। उसी वष अवन्ति म प्रजापीडक पालक के साथ ही साथ चण्ड-प्रद्योत के वश का अन्त हो गया और उस राज्य का बहुभाग मगध-साम्राज्य म मिला लिया गया। अवन्ति की राजधानी उज्जयिनी भी प्राय तभी से मगध साम्राज्य की एक उपराजधानी बन गयी। इस सफलता क कारण व्रात्यनन्दि अवन्ति वमन भी कहलान लगा। पटना के निकट पाटलिपुत्र के खण्डहरा म उसकी एक मूर्ति भी मिली बतायी जाती है जिसपर उसका नाम (वार्ता या व्रात्यनन्दि) उत्कीण रहा बताया जाता ह। यह नाम उसके व्रात्य क्षत्रिय एव श्रमण तीर्थंकरो का उपासक होन का समथक ह।

व्रात्यनन्दि अवन्तिवधन शैशुनाक का उत्तराधिकारी नन्दिवधन काकवण काला शोक (लगभग ४४९ ४०७ ई पू) था जो इस वश का प्राय सवमहान एव प्रतापी नरश था। महावीर नि. स १०३ (ई प ४२४) म उसन कलिंग देश की विजय की थी और उस राष्ट्र के इष्टदेवता कलिंग जिन (या अग्रजिन अर्थात आदि तीथकर ऋषभदेव) की प्रतिमा को वहाँ से ले लाया था तथा उस अपनी राजधानी पाटलिपुत्र म प्रतिष्ठित किया था। नन्दिवधन न इक्ष्वाकुओ शौरसनो आदि अवशिष्ट परातन राज्यो को भी पराजित करके अपन साम्राज्य म मिला लिया और उक्त वशा को समाप्त कर दिया। दक्षिण भारत के नागरखण्ड प्रदेश का भी इसी नरेश न विजय किया प्रतीत होता है। उसके समय के म नि स ८४ (ई पू ४४३) के बडली शिलालेख से प्रतीत होता है कि उस काल म राजस्थान की माध्यमिका नामक प्रसिद्ध नगरी जैनधम का एक प्रमुख केन्द्र थी और वहाँ महावीर के उपासको की इतनी बहुलता थी कि कालगणना म वहाँ महावीर निवाण सवत का व्यवहार होन लगा था। भारतवष म सन सवतो के प्रचलन का यह सवप्रथम शिलालेखीय साक्ष्य है। नन्दिवधन की हत्या किसी शत्रु द्वारा कटार मारकर की गयी बतायी जाती है।

उसका पुत्र एव उत्तराधिकारी महानन्दिन भी अपन पिता के समान प्रतापी

एवं शक्तिशाली नरेश था। उसने लगभग बवालीस वर्ष राज्य किया। कुल परम्परानुसार वह स्वयं जैन धर्मानुयायी था तथा उसके अनेक मन्त्री और कर्मचारी भी जैन थे। मन्त्रियों में जो प्रधान थे उनके कुल में कई पीढ़ियों से राज्य मन्त्रित्व चला आता था। उन्हीं के पुत्र कुमार स्थूलिभद्र थे जो अत्यन्त सुशिक्षित, सुदर्शन, वीर और कला-प्रेमी थे। वह राजकाज में भी पिता को सहयोग देते थे, किन्तु राजधानी पाटलिपुत्र की कोषा नामक अनिन्द्य रूपवती एवं कलानिपुण वेश्या-पुत्री के प्रेम में सब कुछ भूल बैठे, यहाँ तक कि घरबार छोड़कर उसी के विलास भवन में पड़े रहने लगे। पिता तथा अन्य परिजनों ने बहुतेरा प्रयत्न किया, किन्तु किसी की न चली। एकदा स्वयं ही अपनी स्थिति का भान हुआ, चित्त में वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह अशान्ति के समस्त बन्धनों को तोड़कर चल पड़े तथा साधु हो गये। पूर्णतया इन्द्रिय विजय करने के उद्देश्य से गुरु की अनुमति लेकर उन्होने उक्त कोषा गणिका के प्रासाद में ही चातुर्मास किया। परीक्षा में सफल हुए, और उनके चरित्र से प्रभावित होकर कोषा ने भी समस्त रागरंग और भोग-विलास का परित्याग कर दिया। वह भी एक सच्चरित्र साध्वी स्त्री की भाँति अपना जीवन व्यतीत करने लगी। प्रायः उसी काल में, महाराज महानन्दिन के शासन काल के अन्तिम वर्षों में, वह अनुश्रुति-प्रसिद्ध द्वादश-वर्षीय भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था जिसकी पूर्व सूचना का आभास पाकर तत्कालीन संघाचार्य अन्तिम श्रुत-केवली भद्रबाहु कई सहस्र शिष्यों के साथ दक्षिणापथ को विहार कर गये थे। सम्भवतया यह राजा भी उनका भक्त एवं शिष्य होने के कारण उन्ही के साथ मुनि बनकर दक्षिण देश चला गया था। महावीर नि. सं. १६२ (ई. पू. ३६५) में कर्णाटक देशस्थ श्रवणबेलगोल के कटवप्र पर्वत पर आचार्य भद्रबाहु ने काल किया था। उपरोक्त दुर्भिक्ष काल में ही जैन संघ मे प्रथम बार फूट पड़ने के बीज पड़े। दुर्भिक्ष की उपशान्ति के पश्चात् मगध या उत्तरी शाखा के आचार्य स्थूलिभद्र हुए, और उन्ही के नेतृत्व में श्वेताम्बर अनुश्रुति का पहला जैन मुनि सम्मेलन तथा परम्परागत श्रुतागम की वाँचना पाटलिपुत्र नगर में हुई। प्रायः उसी काल मे बौद्धों की द्वितीय संगीति भी पाटलिपुत्र में हुई। उसी काल में सिंघल द्वीप (लंका) के नरेश पाण्डुकाभय (ई. पू. ३६७-३०७) ने अपनी राजधानी अनुराधापुर में जैन मन्दिर और मठ बनवाये तथा दो जैन मुनियों का आदर-सत्कार किया था।

महानन्दि के उपरान्त मगध में फिर एक घरेलू राज्य-क्रान्ति हुई। उसके राज्यकाल के अन्तिम वर्षों में देश भीषण दुष्काल से पीड़ित रहा था और उस संकटकाल में राज्य शासन भी अव्यवस्थित हो गया था। स्वयं वृद्ध राजा राज्य का परित्याग कर मुनि हो गया था और विदेश चला गया था। इस परिस्थिति का लाभ उठाकर एक साहसी एवं चतुर युवक महापद्म ने राज्य सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया। इस नये राजा के अन्य नाम सर्वार्थसिद्धि और उग्रसेन (यूनानी लेखकों का एग्रेमेज) प्राप्त होते हैं। कभी-कभी भ्रम से उसे घननन्द, धनानन्द या धनानन्द भी कहा जाता है, किन्तु

यह नाम उसका नहीं, उसके ज्येष्ठ पुत्र युवराज हिरण्यगुप्त (या हरिगुप्त) का अपरनाम रहा प्रतीत होता है। महापद्मनन्द के जन्म के विषय में विभिन्न किंवदन्तियाँ हैं। कुछ लोग उसे पूर्व राजा का दासी-पुत्र अथवा गणिका-पुत्र कहते हैं तो कुछ उसे दिवाकीर्ति नामक नापित (नाई) के सम्बन्ध से राजा की एक रानी द्वारा उत्पन्न हुआ बताते हैं। ब्राह्मणीय साहित्य में उसे शूद्र या शूद्रजात कहा है, किन्तु जैन साहित्य में सर्वत्र उसे और उसके वंशजों को क्षत्रिय कहा है। इसमें सन्देह नहीं है कि वह राज्यवंश से ही सम्बन्धित था, यद्यपि महाराज महानन्दिन का न्याय उत्तराधिकारी नहीं था। सिंहासन को उसने छल-बल-कौशल से ही हस्तगत किया था। इतिहास में व्रात्यनन्दि से महानन्दि पर्यन्त राजे पूर्वनन्द कहलाते हैं और महापद्म तथा उसके वंशज उत्तरनन्द या नवनन्द। महापद्म के आठ पुत्र थे, और क्योंकि अपने अन्तिम वर्षों मे उसने राज्य कार्य अपने उन धनानन्द आदि पुत्रों को ही प्रायः सौंप दिया था, इसलिए भी इस वंश के लिए 'नवनन्द' नाम प्रयुक्त होता है।

महापद्मनन्द चतुर राजनीतिज्ञ, कुशल शासक और सफल विजेता था। उसने शीघ्र ही शासन को सुव्यवस्थित कर लिया, साम्राज्य की स्थिति सुदृढ़ और सीमाओं को सुरक्षित कर लिया, और दक्षिणापथ पर आक्रमण करके उस दिशा में भी अनेक प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। तमिल भाषा के प्राचीन संगम साहित्य, अन्य दक्षिणी अनुश्रुतियों तथा 'नवनन्द देहरा' प्रभृति नामों से दक्षिण भारत में नन्दों के प्रवेश एवं अधिकार का समर्थन होता है। मगध का यह नन्द राजा अब बहुभाग भारत का एकछत्र सम्राट् था। उसने 'सर्वक्षत्रान्तक एकराट्' विरुद भी धारण किया था। उत्तर-पश्चिम में पंचनद पर्यन्त प्रायः समस्त प्रदेश तथा दक्षिण में कुन्तल-जैसे विशाल भूभाग उसके साम्राज्य के अंग थे। पाटलिपुत्र उसकी प्रधान राजधानी थी और उज्जयिनी उप-राजधानी थी। यूनानी सम्राट् अलक्षेन्द्र (सिकन्दर महान्) के साथ आनेवाले लेखकों का कथन है कि व्यास नदी के उस पार पूर्व की ओर का सम्पूर्ण प्रदेश पालिबोथ्रा (पाटलिपुत्र) के इस अत्यन्त शक्तिशाली नन्दराजा के अधीन था, उसके पास विपुल सैन्य शक्ति थी और उसके कोषागार अपरिमित धन से भरे थे। नन्दराज के बल का इतना आतंक था कि सर्वप्रकार प्रयत्न करने पर भी सिकन्दर (ई. पू. ३२६) अपनी विश्वविजयी सेना को नन्द के साम्राज्य की सीमा में प्रवेश करने के लिए तत्पर न कर सका, और भारत विजय का अपना स्वप्न पूरा किये बिना ही उसे वापस स्वदेश लौट जाना पड़ा। नन्दराज का धन-वैभव देश-विदेश की ईर्ष्या का पात्र था—तो उसका अतुल बल सबके हृदय में भय का संचार करता था। दुर्भिक्ष के परिणाम से प्रभावित होकर उसने गंगा नदी से कृषि की सिंचाई के लिए एक नहर निकाली थी जो भारतवर्ष की सम्भवतया सर्वप्रथम नहर थी। राजधानी के निकट गंगा के गर्भ में उसका विशाल कोषागार था। उसने पाँच स्तूप भी निर्माण कराये थे जिनके भीतर विपुल धनराशि सुरक्षित रखी गयी थी। तौलने के बाँटों व मापों आदि के व्यवस्थीकरण का श्रेय भी

इसी नन्द सम्राट् को है। वह दानी भी बड़ा था। एक विद्वान् संघ-ब्राह्मण की अध्यक्षता में उसका दान-विभाग संचालित होता था और उसकी दानशाला में विभिन्न याचकों को विपुल द्रव्य दान दिया जाता था। नन्दीश्वर विधान के उपरान्त कार्तिकी अष्टाह्निका नामक जैन पर्व के अन्तिम दिन (कार्तिकी पूर्णिमा को) सर्वाधिक दान किया जाता था। उसका प्रधान मन्त्री शकटाल था। राजा का कोपभाजन होने पर उसने अपने पुत्र से ही अपनी हत्या करा ली थी। उसके पश्चात् स्वामिभक्त राक्षस प्रधानामात्य हुआ। महापद्म विद्वानों का भी आदर करता था। अनेक विद्वान् उसके दरबार में आश्रय पाते थे। शास्त्रार्थों में भी वह रस लेता था। पूर्वनन्दों की भाँति सम्राट् महापद्म और उसके पुत्र एवं अन्य परिजन भी जैनधर्म के अनुयायी थे, इस विषय में विद्वानों को प्रायः कोई सन्देह नहीं है। लगभग चौतीस वर्ष राज्य करने के उपरान्त ई. पू. ३२९ के लगभग महापद्म ने राज्यकार्य से प्रायः अवकाश ले लिया था और राज्याधिकार धननन्द आदि आठों पुत्रों को संयुक्त रूप में सौंप दिया था, यद्यपि समस्त कार्य अब भी नाम से उसी के चलता था। सम्भव है कि राजा प्रतिमाधारी व्रती श्रावक के रूप में रहने लगा हो। इस काल की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रथम घटना यूनानी सम्राट् सिकन्दर महान् का पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण था, जिसके अनेक अच्छे और बुरे परिणाम हुए। इन यूनानियों को सीमान्त के गान्धार, तक्षशिला आदि नगरों के निकटवर्ती अन्य प्रदेशों में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण पंजाब और सिन्ध में यत्र-तत्र अनेकों नग्न (दिगम्बर) निर्ग्रन्थ साधु मिले थे जिनका उन्होंने जिम्नोसोफ़िस्ट, जिम्नेटाइ, जेनोइ आदि नामों से उल्लेख किया है। इस विषय में प्रायः मतभेद नहीं है कि इन शब्दों से आशय तत्कालीन एवं तत्प्रदेशीय दिगम्बर जैन मुनियों का है। सिन्धु-घाटी में ऐसे ही कुछ साधुओं का उन्होंने ओरेटाइ और व्रैटाइ शब्दों से उल्लेख किया है। ये दोनों शब्द भी जैन हैं। ओरेटाई से अभिप्राय आरातीय का है जो प्राचीन काल में जैन मुनियों के एक वर्ग के लिए प्रयुक्त होता था और व्रैटाइ का भारतीय रूप 'व्रात्य' (व्रतधारी) है, जो ब्राह्मण विरोधी श्रमणोपासक के लिए प्रयुक्त होता था। उपर्युक्त जैन साधुओं में से कुछ के 'हिलोबाई' (वनवासी) नाम दिया गया है और उन्हें सर्वथा निस्पृह, दिगम्बर, अपरिग्रही, पाणितल-भोजी, शुद्ध शाकाहारी, ज्ञानी-ध्यानी-तपस्वी सूचित किया गया है। ऐसे ही मण्डन एवं कल्याण नामक दो मुनियों से स्वयं सम्राट् सिकन्दर ने भी साक्षात्कार एवं चर्चा-वार्ता की थी। सम्राट् के आग्रह पर कल्याण मुनि तो उसके साथ बाबुल भी गये थे जहाँ उन्होंने समाधिमरण किया था। यूनानी लेखकों ने ऐल्लक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी, प्रभृति खण्ड या अल्पवस्त्रधारी व्रती श्रावकों का भी उल्लेख किया है। उन यूनानी लेखकों ने तीर्थंकर आदिनाथ और उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती से सम्बन्धित लोक-प्रचलित अनुश्रुतियों का भी उल्लेख किया है। नन्द उग्रसेन, चन्द्रगुप्त मौर्य, अमित्रघात, बिन्दुसार आदि के सम्बन्ध में उनके वृत्तान्त जैन अनुश्रुति से जितने समर्थित होते हैं, उतने अन्य किसी अनुश्रुति से नहीं। महत्त्वपूर्ण घटनाओं की जो कोई तिथि आदि उन्होंने दी

हैं वे भी विद्वानों के मतानुसार उन्हें जैनों से ही प्राप्त हुई थीं। जैन विचार का प्रभाव एवं प्रसार भी इतना व्यापक था कि यूनानी लेखकों ने हिंसक यज्ञों का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया और यह प्रकट किया है कि ब्राह्मण साधु और पण्डित भी शाकाहारी थे। दूसरी महान् घटना इस काल की वह राज्य क्रान्ति थी जिसमें नन्दवंश प्रायः समाप्त हो गया और उसके स्थान में मौर्य वंश स्थापित हुआ।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य और मन्त्रीश्वर चाणक्य

आधुनिक दृष्टि से भारतवर्ष के शुद्ध व्यवस्थित राजनैतिक इतिहास का जो प्राचीन युग है उसके प्रकाशमान नक्षत्रों में प्रायः सर्वाधिक तेजपूर्ण नाम चन्द्रगुप्त और चाणक्य हैं। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के अन्तिम पाद के प्रारम्भ के लगभग जिस महान् राज्यक्रान्ति ने शक्तिशाली नन्दवंश का उच्छेद करके उसके स्थान में मौर्य वंश की स्थापना की थी, और उसके परिणामस्वरूप थोड़े ही समय में मगध साम्राज्य को प्रथम ऐतिहासिक भारतीय साम्राज्य बनाकर अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया था, उसके प्रधान नायक यही दोनों गुरु-शिष्य थे। एक यदि राजनीति विद्या-विचक्षण एवं नीति-विशारद ब्राह्मण पण्डित था तो दूसरा परम पराक्रमी एवं तेजस्वी क्षत्रिय वीर था। इस विरल मणि-कांचन संयोग को सुगन्धित करनेवाला अन्य दुर्लभ सुयोग यह था कि वह दोनों ही अपने-अपने कुल की परम्परा तथा व्यक्तिगत आस्था की दृष्टि से जैनधर्म के प्रबुद्ध अनुयायी थे।

प्राचीन यूनानी लेखकों के वृत्तान्तों, शिलालेखीय एवं उत्तरवर्ती साहित्यिक आधारों और प्राचीन भारतीय अनुश्रुति की ब्राह्मण एवं बौद्ध धाराओं से यह तो पता चल जाता है कि मगध के नन्द राजा के बरताव से कुपित होकर ब्राह्मण चाणक्य ने नन्दवंश का नाश करने की प्रतिज्ञा की थी, वीर चन्द्रगुप्त के सहयोग से युद्ध नीति का आश्रय लेकर वह सफल मनोरथ हुआ था, और यह कि उन दोनों के प्रयत्नों से साम्राज्य विस्तृत, सबल और सुदृढ हुआ, शासन व्यवस्था उत्तम हुई तथा राष्ट्र सुखी, समृद्ध, सुप्रतिष्ठित एवं समुन्नत हुआ था। गत सार्थक एक सौ वर्षों की शोध-खोज ने यह तथ्य भी प्रायः निर्विवाद सिद्ध कर दिया है कि भारतवर्ष के प्रायः सभी महान् ऐतिहासिक सम्राटों की भाँति सर्व-धर्म-सहिष्णु एवं अति उदाराशय होते हुए भी व्यक्तिगतरूप से चन्द्रगुप्त मौर्य जैनधर्म का अनुयायी था। तथापि मगध की राजनीति में अवतीर्ण होने के पूर्व चाणक्य और चन्द्रगुप्त कौन थे, क्या थे, उनका व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवन क्या था और उन दोनों का अन्त क्या और कैसे हुआ, इन तथ्यों पर उपरोक्त ऐतिह्य साधन कोई प्रकाश नहीं डालते।

चाणक्य के नाम से प्रचलित 'अर्थशास्त्र' विश्वविश्रुत ग्रन्थ है, किन्तु उस ग्रन्थ के तथा स्वयं चाणक्य के विषय में भी तत्कालीन यूनानी लेखक सर्वथा मौन हैं। पाटलि-पुत्र के दरबार में कई वर्ष पर्यन्त रहनेवाला यूनानी राजदूत मेगेस्थनीज़ भी उनका कोई

उल्लेख नहीं करता। अर्थशास्त्र का जो उपलब्ध संस्करण है वह चाणक्य के समय से कई सौ वर्ष बाद का पर्याप्त प्रक्षिप्त, त्रुटित एवं विकृत संस्करण है। बहुत बाद के लिखे हुए मुद्राराक्षस नाटक, कथा-सरित्-सागर, प्रभृति कथा-ग्रन्थों के अनुसार चाणक्य के अपरनाम विष्णुगुप्त और कौटिल्य थे। वह कुटिल कूटनीति का उपासक, अत्यन्त क्रोधी, मानी और दरिद्र वेदानुयायी ब्राह्मण था। इन्हीं कथाओं में चन्द्रगुप्त को मुरा नामक शूद्रा दासी से उत्पन्न स्वयं राजा नन्द का पुत्र बताया है। बौद्ध साहित्य में उसे मोरिया नामक व्रात्यक्षत्रिय जाति का युवक सूचित किया है। सौभाग्य से जैन साहित्य में, कई विभिन्न द्वारों से, इन दोनों ऐतिहासिक विभूतियों का अथ से अन्त तक सटीक इतिवृत्त प्राप्त हो जाता है, जो अन्य ऐतिहासिक साधनों से भी अनेक अंशों में समर्थित होता है, अथवा बाधित नहीं होता।

अस्तु, चाणक्य का जन्म ईसा पूर्व ३७५ के लगभग गोल्ल विषय के अन्तर्गत चणय नाम के ग्राम में हुआ था। इस स्थान की स्थिति अज्ञात है। कहीं-कहीं उसे कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) और कहीं-कहीं तक्षशिला का निवासी भी बताया है। उसकी माता का नाम चणेश्वरी और पिता का चणक था। चणक का पुत्र होने से उसका नाम चाणक्य हुआ। यह लोग जाति-वर्ण की अपेक्षा ब्राह्मण थे, किन्तु धर्म की दृष्टि से धर्मभीरु जैन श्रावक थे। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है, आज भी कर्णाटक आदि में अनेक ब्राह्मण कुल-परम्परा से जैन धर्मानुयायी हैं। शिशु चाणक्य के मुँह में जन्म से ही दाँत थे, यह देखकर घर के लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। प्रायः तभी कोई जैन साधु चणक के घर पधारे तो उसने नवजात शिशु को गुरु चरणों में डालकर उनसे इस अद्भुत बात का उल्लेख किया। देख-सुनकर साधु ने कहा कि यह बालक बड़ा होने पर एक शक्तिशाली नरेश होगा। ब्राह्मण चणक श्रावकोचित सन्तोषी वृत्ति का धार्मिक व्यक्ति था। वैसी ही उसकी सहधर्मिणी थी। राज्य वैभव को वे लोग पाप और पाप का कारण समझते थे, अतएव चणक ने शिशु के दाँत उखाड़ डाले। इसपर साधुओं ने भविष्य-वाणी की कि अब यह बालक स्वयं तो राजा नहीं होगा, किन्तु किसी अन्य व्यक्ति के उपलक्ष्य या माध्यम से राज्य-शक्ति का उपभोग और संचालन करेगा। वय प्राप्त होने पर तत्कालीन ज्ञान-केन्द्र तक्षशिला तथा उसके आसपास निवास करनेवाले आचार्यों के निकट चाणक्य ने छह अंग, चतुरानुयोग, दर्शन, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र ऐसे चौदह विद्यास्थानों का अध्ययन किया और अपने अध्यवसाय से योग्य समय में समस्त विद्याओं एवं शास्त्रों में वह पारंगत हो गया। यशोमति नाम की एक श्यामा सुन्दरी के साथ उसका विवाह भी हो गया। और वह ब्राह्मणोचित शिक्षावृत्ति से आपेक्षिक दरिद्रता के साथ जीवन-यापन करने लगा। एक बार उसकी पत्नी अपने भाई के विवाह में सम्मिलित होने के लिए अपने मायके गयी। वहाँ उसकी निराभरण एवं अति साधारण वेश-भूषा देखकर उसकी और उसके पति की दरिद्रता का उसकी सम्पन्न बहनों, बहनोइयों तथा अन्य लोगों ने उपहास किया, जिससे वह बड़ी दुखी हुई। स्वाभिमानी

चाणक्य ने जब यह वृत्तान्त सुना तो उसे बड़ी आत्मग्लानि हुई और धनोपार्जन का दृढ़ निश्चय करके वह परदेश के लिए घर से निकल पड़ा। महाराज सर्वार्थसिद्धि महापद्मनन्द विद्वानों का बड़ा आदर करता है और उन्हें पुष्कल दानादि से सन्तुष्ट करता है, यह बात जब चाणक्य ने स्थान-स्थान में सुनी तो वह पाटलिपुत्र जा पहुँचा। वहाँ उसने राजसभा के समस्त पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित करके महाराज के दान-विभाग (दाणग्ग) के अध्यक्ष का पद प्राप्त कर लिया, जिसे संघ-ब्राह्मण भी कहते थे। किन्तु उसकी कुरूपता, अभिमानी प्रकृति एवं उद्धत स्वभाव के कारण युवराज सिद्धपुत्र हिरण्यगुप्त धननन्द चाणक्य से रुष्ट हो गया और उसने उसका अपमान किया। कोई कहते हैं कि चाणक्य का यह अपमान महाराज नन्द और युवराज की उपस्थिति में दानशाला की परिचारिका द्वारा उनकी प्रथम भेंट के अवसर पर ही किया गया था। जो हो, अपमान से क्षुब्ध और कुपित चाणक्य ने भरी सभा में यह भी प्रतिज्ञा की कि, "जिस प्रकार उग्रवायु का प्रचण्ड वेग अनेक शाखा समूह सहित विशाल एवं उत्तुंग वृक्षों को जड़ से उखाड़ फेंकता है उसी प्रकार हे नन्द ! मैं तेरा, तेरे पुत्रों, भृत्यों, मित्रादि का समस्त वैभव सहित समूल नाश करूँगा।

क्रोध से तप्तायमान चाणक्य ने पाटलिपुत्र का तत्काल परित्याग कर दिया। इस समय उसे उस भविष्यवाणी का स्मरण हुआ जो उसके जन्मकाल में जैन मुनियों ने की थी, कि वह बड़ा होकर किसी अन्य व्यक्ति के मिस मनुष्यों पर शासन करेगा (एत्ताहे वि बिंबान्तरियो राया भविस्सई त्ति)। अतएव परिव्राजक के भेष में अब चाणक्य एक ऐसे व्यक्ति की खोज में फिरने लगा जो एक बड़ा राजा होने के सर्वथा उपयुक्त हो।

तराई प्रदेश में नन्द के साम्राज्य के ही भीतर पिप्पलीवन के मोरियों का गणतन्त्र था। यह लोग श्रमणोपासक व्रात्य क्षत्रिय थे। स्वयं महावीर के एक गणधर मोरियपुत्र इसी जाति के थे और इस जाति में जैनधर्म की प्रवृत्ति थी। इनका एक पूरा ग्राम मयूरपोषकों का ही था। मुनि, आर्यिका, एल्लक, क्षुल्लक आदि समस्त जैन साधु-साध्वियाँ मयूरपिच्छधारी होते थे और उस काल में उनकी संख्या सहस्रों में थी। अतएव मयूरपोषक एवं मयूर-पिच्छी निर्माण का व्यवसाय पर्याप्त महत्त्वपूर्ण था। बौद्ध ग्रन्थ महावंश की प्राचीन टीका के अनुसार कोसल के युवराज विडुडभ के अत्याचारों से पीड़ित होकर शाक्य प्रदेश से भागे हुए मौर्य जाति के कुछ लोगों ने यह मयूरग्राम या नगर बसाया था। सघन वृक्षों के मध्य स्वच्छ जलाशय के निकट केकाध्वनि से गुंजायमान यह एक अत्यन्त रमणीक स्थान था और उस बस्ती के घर मयूराकृति तथा मोरपंखी रंगों से चित्र-विचित्रित थे। इस उल्लेख से भी जैन अनुश्रुतियों का ही समर्थन होता है। शूद्रादासी मुरा के नाम से मौर्य शब्द की व्युत्पत्ति की बात बहुत बाद की मनगढ़न्त है। घूमते-घूमते चाणक्य एक बार इसी ग्राम में आ पहुँचा और उसके मौर्यवंशी मयहर (मुखिया) के घर ठहरा। मुखिया की इकलौती लाड़ली पुत्री गर्भवती थी और उसी

समय उसे चन्द्रपान का विलक्षण दोहला उत्पन्न हुआ, जिसके कारण घर के लोग चिन्तित थे। किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि दोहला कैसे शान्त किया जाये। चाणक्य ने आश्वासन दिया कि वह गर्भिणी को चन्द्रपान कराके उसका दोहला शान्त कर देगा किन्तु शर्त यह है कि उत्पन्न होनेवाले शिशु पर, यदि वह पुत्र हुआ तो, चाणक्य का अधिकार होगा और वह जब चाहेगा उसे अपने साथ ले जायेगा। अन्य चारा न देखकर शर्त मान ली गयी और चाणक्य ने एक थाली में जल (अथवा क्षीर—दूध) भरकर और उसमें आकाशगामी पूर्णचन्द्र को प्रतिबिम्बित करके गर्भिणी को इस चतुराई से पिला दिया कि उसे विश्वास हो गया कि उसने चन्द्रपान कर लिया है। दोहला शान्त हो गया। परिव्राजकवेषी चाणक्य अन्यत्र के लिए प्रस्थान कर गया। कुछ मास पश्चात् मुखिया की पुत्री ने एक चन्द्रोपम सुदर्शन, सुलक्षण एवं तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उक्त विचित्र दोहले के कारण उसका नाम चन्द्रगुप्त रखा गया (चन्द्रगुत्तो से नामं कयं) और चाणक्य से की गयी प्रतिज्ञा के अनुसार उसे परिव्राजक का पुत्र कहा जाने लगा। सम्भवतया उसके अपने पिता को किसी युद्ध आदि में वीरगति प्राप्त हो चुकी थी। नन्द द्वारा चाणक्य का अपमान और चन्द्रगुप्त का जन्म आदि घटनाएँ ईसा पूर्व ३४५ के लगभग हुई प्रतीत होती हैं।

विशाल साम्राज्य के स्वामी शक्तिशाली नन्दों को जड़ से उखाड़ फेंकना कोई हँसीखेल नहीं था। चाणक्य इस बात को अच्छी तरह जानता था, किन्तु वह अपनी धुन का भी पक्का था, अतएव धैर्य के साथ अपनी तैयारी में संलग्न हो गया। अगले कई वर्ष उसने धातु विद्या की सिद्धि एवं स्वर्ण आदि धन एकत्र करने में व्यतीत किये बताये जाते हैं। आठ-दस वर्ष पश्चात् पुनः चाणक्य उसी मयूरग्राम में अकस्मात् आ निकला। वह ग्राम के बाहर थकान मिटाने के लिए एक वृक्ष की छाया में बैठ गया और उसने देखा कि सामने मैदान मे कुछ बालक खेल रहे हैं। एक सुन्दर चपल तेजस्वी बालक राजा बना हुआ था और अन्य सबपर शासन कर रहा था। कुछ देर तो चाणक्य मुग्ध हुआ बालकों के उस कौतुक को देखता रहा, विशेषकर बाल राजा के अभिनय ने उसे अत्यधिक आकृष्ट किया। समीप जाकर ध्यान से देखा तो उसे उस बालक में सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार एक चक्रवर्ती सम्राट् के सभी लक्षण दीख पड़े। और अधिक परीक्षा करने के लिए उसने बाल राजा के सम्मुख याचक बनकर भिक्षा माँगी। बालक ने तत्परता से कहा 'बोलो क्या चाहते हो, जो चाहो अभी मिलेगा'। चाणक्य ने कहा, 'मैं गोदान चाहता हूँ, किन्तु मुझे भय है कि तुम मेरी माँग पूरी न कर सकोगे, अन्य लोग इसका विरोध करेंगे' बाल राजा ने तुरन्त त्वैष के साथ प्रत्युत्तर दिया, 'यह आप क्या कहते है ? राजा के सामने से कोई याचक बिना इच्छित दान लिये चला जाये, यह कैसे हो सकता है ? पृथ्वी वीरों के ही उपभोग के लिए है (वीर भोज्जा पुहइ)'। बालक के इस उत्तर से उसकी राज्योचित उदारता, अन्य सद्गुणों एवं व्यक्तित्व का चाणक्य पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उसके साथियों से उसका परिचय प्राप्त करने का लोभ संवरण

न कर सका। बालकों ने जब उसे बताया कि वह ग्राम-मयहर मोरिय का दौहित्र है, नाम चन्द्रगुप्त है और एक परिव्राजक का पुत्र कहलाता है, तो चाणक्य को यह समझने में देर न लगी कि यह वही बालक है जिसकी माता का दोहला उसने युक्ति से शान्त किया था। वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बालक के अभिभावकों से मिलकर, उन्हें उनके वचन का स्मरण कराके बालक को अपने साथ लेकर उस स्थान से पलायन कर गया। उसने प्रतिज्ञा की कि इस चन्द्रगुप्त को ही राजा बनाकर वह अपने स्वप्नों को साकार करेगा।

कई वर्ष तक उसने चन्द्रगुप्त को विविध अस्त्र-शस्त्रों के संचालन, युद्ध-विद्या, राजनीति तथा अन्य उपयोगी ज्ञान-विज्ञान एवं शास्त्रों की समुचित शिक्षा दी। धन का उसे अब कोई अभाव था नहीं। धीरे-धीरे उसके लिए बहुत से युवक वीर साथी भी जुटा दिये। ई. पू. ३२६ में भारतभूमि पर जब युनानी सम्राट् सिकन्दर महान् ने आक्रमण किया तो उससे स्वदेश-भक्त चाणक्य का हृदय बहुत दुखी हुआ, किन्तु विश्व-विजयी सिकन्दर की प्रसिद्धि से भी वह प्रभावित हुआ। उसने शिष्य चन्द्रगुप्त को सलाह दी कि वह यूनानियों की सैनिक पद्धति, सैन्य-संचालन और युद्ध कौशल का उनके बीच कुछ दिनों रहकर प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करे। यूनानी शिविर में रहते हुए चन्द्रगुप्त पर गुप्तचर होने का सन्देह किया गया और उसे बन्दी बनाकर सम्राट् के सम्मुख उपस्थित किया गया। किन्तु उसकी निर्भीकता एवं तेजस्विता से सिकन्दर इतना प्रसन्न हुआ कि उसने उसे मुक्त ही नहीं कर दिया वरन् पुरस्कृत भी किया। सिकन्दर के ससैन्य देश की सीमान्त के बाहर निकलते ही चन्द्रगुप्त ने पंजाब के वाह्लीकों को उभाड़कर यूनानी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, यूनानियों द्वारा अधिकृत प्रदेश के बहुभाग को स्वतन्त्र कर लिया, और ई. पू. ३२३ के लगभग चाणक्य के पथ-प्रदर्शन में मगध-राज्य की सीमा पर अपना एक छोटा-सा स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में भी सफल हो गया।

ई. पू. ३२१ के लगभग चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने एक छोटे से सैन्यदल के साथ छद्मवेष में नन्दों की राजधानी पाटलिपुत्र में प्रवेश किया और दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। चाणक्य के कूट कौशल के बावजूद भी नन्दों की असीम सैन्यशक्ति के सम्मुख ये बुरी तरह पराजित हुए और जैसे-तैसे प्राण बचाकर भाग निकले। नन्द की सेना ने इनका दूर तक पीछा किया। दो बार ये पकड़े जाने से बाल-बाल बचे। चाणक्य की तुरत-बुद्धि और चन्द्रगुप्त के साहस तथा गुरु के प्रति अटूट विश्वास ने ही इनकी रक्षा की। इस भाग-दौड़ में एक बार चन्द्रगुप्त भूख से मरणासन्न हो गया था, उस अवसर पर भी चाणक्य ने ही उसकी प्राणरक्षा की। एक दिन रात्रि के समय किसी गाँव में एक वृद्धा के झोंपड़े के बाहर खड़े हुए इन दोनों ने उस वृद्धा द्वारा अपने पुत्रों को डाँटने के मिस यह कहते सुना कि चाणक्य अधीर एवं मूर्ख है, उसने सीमावर्ती प्रान्तों को हस्तगत किये बिना ही एकदम साम्राज्य के केन्द्र पर धावा बोलकर भारी भूल की है। वृद्धापुत्र थाली में परोसी गरम-गरम खिचड़ी (या दलिया) खाने बैठे थे और एकदम उसके बीच में हाथ डालकर उन्होंने अपने हाथ जला लिये थे, वृद्धा चाणक्य का दृष्टान्त देकर उन्हें इस

मूर्खता के लिए बरज रही थी और कह रही थी कि पहले किनारे-किनारे से खाना प्रारम्भ किया जायेगा तो शनैः-शनैः बीच के भाग पर भी बिना हाथ जलाये सहज ही पहुँचा जा सकता है। चाणक्य को अपनी भूल मालूम हो गयी, और उन दोनों ने अब नवीन उत्साह एवं कौशल के साथ तैयारी आरम्भ कर दी। विन्ध्य अटवी में पूर्व-संचित अपने विपुल धन की सहायता से उन्होंने सुदृढ़ सैन्य संग्रह करना शुरू कर दिया। पश्चिमोत्तर प्रदेश के यवन, काम्बोज, पारसीक, खस आदि तथा अन्य सीमान्तों की पुलात, शबर आदि म्लेच्छ जातियों की भी एक बलवान् सेना बनायी। वाह्लीक उनके अधीन थे ही, पंजाब के मल्ल (मालव) गणतन्त्र को भी अपना सहायक बनाया और हिमवतकूट अथवा गोकर्ण (नेपाल) के किरात वंश के ग्यारहवें राजा पंचम उपनाम पर्वत या पर्वतेश्वर को भी विजित साम्राज्य का आधा भाग दे देने का प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया। अब चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने नन्द साम्राज्य के सीमावर्ती प्रदेशों पर अधिकार करना शुरू किया। एक के पश्चात् एक ग्राम, नगर, दुर्ग और गढ़ छल-बल-कौशल से जैसे भी बना वे हस्तगत करते चले। विजित प्रदेशों एवं स्थानों को सुसंगठित एवं व्यवस्थित करते हुए तथा अपनी शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए अन्ततः वे राजधानी पाटलिपुत्र तक जा पहुँचे।

नगर का घेरा डाल दिया गया और उसपर अनवरत भीषण आक्रमण किये गये और उसके भीतर फूट एवं षड्यन्त्र भी रचाये गये। चन्द्रगुप्त के पराक्रम, रणकौशल एवं सैन्य-संचालन-पटुता, चाणक्य की कूटनीति एवं सदैव सजग गृद्ध-दृष्टि तथा पर्वत की दुस्साहसपूर्ण बर्बरयुद्ध प्रियता, तीनों का संयोग था। नन्द भी वीरता के साथ डटकर लड़े, किन्तु एक-एक करके सभी नन्दकुमार लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुए। अन्ततः वृद्ध महाराज महापद्मनन्द ने हताश होकर धर्मद्वार के निकट हथियार डाल दिये और आत्मसमर्पण कर दिया। अर्थशास्त्र में जिसे ब्रह्मणद्वार और निदानकथा-जातक में महाद्वार कहा है, सम्भवतया यह धर्मद्वार नगर प्राचीर का वही प्रमुख द्वार था। वृद्धनन्द ने चाणक्य को धर्म की दुहाई देकर याचना की कि उसे सपरिवार सुरक्षित अन्यत्र चला जाने दिया जाये। चाणक्य की अभीष्ट सिद्धि हो चुकी थी, उसकी भीषण प्रतिज्ञा की लगभग पचीस वर्ष के अथक प्रयत्न के उपरान्त प्रायः पूर्ति हो चुकी थी और वह क्षमा का महत्त्व भी जानता था, अतएव उसने नन्दराज को सपरिवार नगर एवं राज्य का परित्याग करके अन्यत्र चले जाने की अनुमति उदारतापूर्वक प्रदान कर दी और यह भी कह दिया कि जिस रथ में वह जाये उसमें जितना धन वह अपने साथ ले जा सके वह भी ले जाये। अस्तु नन्दराज ने अपनी दो पत्नियों और एक पुत्री के साथ कुछ धन लेकर रथ में सवार हो नगर का परित्याग किया। किन्तु जैसे ही नन्द का रथ चलने को हुआ नन्द-सुता दुरधरा अपरनाम सुप्रभा ने शत्रु सैन्य के नेता विजयी वीर चन्द्रगुप्त के सुदर्शन रूप को जो देखा तो प्रथम दृष्टि में ही वह उसपर मोहित हो गयी और प्रेमाकुल दृष्टि से पुनः-पुनः उसकी ओर देखने लगी। इधर चन्द्रगुप्त की भी वही दशा हुई और

वह भी अपनी दृष्टि उस रूपसी राजनन्दिनी की ओर से न हटा सका। इन दोनों की दशा को लक्ष्य करके नन्दराज और चाणक्य दोनो ने ही उनके स्वयंवरित परिणय की सहर्ष स्वीकृति दे दी। तत्काल सुन्दरी सुप्रभा पिता के रथ से कूदकर चन्द्रगुप्त के रथ पर आ चढी। किन्तु इस रथ पर उसका पग पडते ही उसके पहिये के नौ आरे तडाक से टूट गये (नव अरगा भग्गा)। सबने सोचा कि यह अमगल सूचक अपशकुन है, किन्तु समस्त विद्याओ में पारगत चाणक्य ने उन्हे समझाया कि भय की कोई बात नहीं है, यह तो एक शुभ शकुन है और इसका अर्थ है कि इस नव-दम्पति की सन्तति नौ पीढ़ी तक राज्यभोग करेगी।

अब वीर चन्द्रगुप्त मौर्य नन्ददुहिता राजरानी सुप्रभा को अग्रमहिषी बनाकर मगध के राज्य सिहासन पर आसीन हुआ और नन्दो के धन-जनपूर्ण विशाल एवं शक्तिशाली साम्राज्य का अधिपति हुआ। इस प्रकार लगभग चार वर्षों के अनवरत युद्ध-प्रयत्नो एव सघर्षो के फलस्वरूप ई पू ३१७ मे पाटलिपुत्र मे नन्दवश का पतन और उसके स्थान म मौर्यवश की स्थापना हुई। चन्द्रगुप्त को सम्राट् घोषित करने के पूर्व चाणक्य ने नन्द के स्वामिभक्त मन्त्री राक्षस के षड्यन्त्रो को विफल किया और उसे चन्द्रगुप्त की सेवा मे कार्य करने के लिए राजी कर लिया। उसने किरातराज पर्वतश्वर को भी राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त की हत्या के लिए भेजी गयी विषकन्या के प्रयोग से मरवा डाला और चन्द्रगुप्त का मार्ग सब ओर से निष्कण्टक कर दिया। अन्य पुराने योग्य मन्त्रियो, राजपुरुषो एव कर्मचारियो को भी उसने साम-दाम-भय-भेद से नवीन सम्राट के पक्ष मे कर लिया। वह स्वय महाराज का प्रधानामात्य रहा। मन्त्रीश्वर चाणक्य के सहयोग से सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने साम्राज्य का विस्तार एव सुसगठन किया और उसके प्रशासन की सुचारु व्यवस्था की। इस नरेश के शासनकाल मे राष्ट्र की शक्ति और समृद्धि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। ई पू. ६१२ मे उसने अवन्ति को विजय करके उज्जयिनी को फिर से साम्राज्य की उपराजधानी बनाया। मगध से नन्दो का उच्छेद हो जाने पर भी उज्जयिनी मे उनके कुछ वशज या सम्बन्धी स्वतन्त्र बने रहे प्रतीत होते है। यह भी सम्भव है कि वृद्ध महापद्म नन्द को इसी नगर मे रहने की अनुमति द दी गयी हो और अब उसकी मृत्यु हो गयी हो। स्यात् यही कारण है कि कुछ जैन अनुश्रुतियो मे नन्दवश का अन्त महावीर नि स. २१० (ई पू ३१७) में और कुछ म म नि. स २१५ (ई पू ३१२) में हुआ कथन किया गया है।

उज्जयिनी पर अधिकार करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने दक्षिण भारत की दिग्विजय के लिए प्रयाम किया। मालवा से सुराष्ट्र होते हुए उसने महाराष्ट्र मे प्रवेश किया। सुराष्ट्र मे उसने गिरिनगर (उर्ज्जयन्त-गिरि) भगवान् नेमिनाथ की वन्दना की और पर्वत की तलहटी मे सुदर्शन नामक एक विशाल सरोवर का उस प्रान्त के अपने राज्यपाल वैश्य पुष्पगुप्त की देख-रेख में निर्माण कराया। उक्त सुदर्शन सरोवर के तट पर निर्ग्रन्थ मुनियो के निवास के लिए गुफाएँ (लेण) भी बनवायी, जिनमें से

प्रधान लेण चन्द्रगुफा के नाम से प्रसिद्ध हुई। महाराष्ट्र, कोंकण, कर्णाटक, आन्ध्र एवं तमिल देश पर्यन्त चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपनी विजय-वैजयन्ती फहरायी। प्राचीन तमिल साहित्य, दाक्षिणात्य अनुश्रुतियों एवं कतिपय शिलालेखों से मौर्यों का उक्त दक्षिणीय प्रदेशों पर अधिकार होना पाया जाता है। दक्षिण देश की इस विजय-यात्रा में एक अन्य प्रेरक कारण भी था। चन्द्रगुप्त का निज कुल मोरिय आचार्य भद्रबाहु-श्रुतकेवली का भक्त था। पूर्वोक्त दुष्काल के समय इन आचार्य के ससंघ दक्षिण देश को विहार कर जाने पर भी वे लोग उन्हीं की आम्नाय के अनुयायी रहे और मगध में रह जानेवाले स्थूलिभद्र आदि साधुओं तथा उनकी परम्परा को उन्होंने मान्य नहीं किया। भद्रबाहु की शिष्य परम्परा में जो आचार्य इस बीच में हुए वह दक्षिण देश में ही रहे तथापि उत्तरभारत (मगध आदि) के अनेक जैनीजन स्वयं को आचार्य भद्रबाहु-श्रुतकेवली का ही अनुयायी मानते और कहते रहे। चन्द्रगुप्त, चाणक्य आदि इसी आम्नाय के थे। अतएव आम्नाय-गुरु भद्रबाहु ने कर्णाटक देश के जिस कटवप्र अपरनाम कुमारीपर्वत पर समाधिमरणपूर्वक देहत्याग किया था पुण्य-तीर्थ के रूप में उसकी वन्दना करना तथा उक्त आचार्य की शिष्य परम्परा के मुनियों से धर्म-लाभ लेना और उनकी साता-सुविधा आदि की व्यवस्था करना ऐसे कारण थे जो सम्राट् की इस दक्षिण यात्रा में प्रेरक रहे प्रतीत होते हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल की एक अन्य अति महत्त्वपूर्ण घटना ई. पू ३०५ में मध्य एशिया के महाशक्तिशाली यूनानी सम्राट् सेल्युकस निकेतर द्वारा भारतवर्ष पर किया गया भारी आक्रमण था। चन्द्रगुप्त-जैसे नरेन्द्र और चाणक्य-जैसे मन्त्रीराज असावधान कैसे रह सकते थे। उनका गुप्तचर-विभाग भी सुपुष्ट था। मौर्य सेना ने तुरन्त आगे बढ़कर आक्रमणकारी की गति को रोका। स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त ने सैन्य संचालन किया। वह यूनानियों की युद्ध प्रणाली से भली भाँति परिचित था, उनके गुणों को भी जानता था और दोषों को भी। भीषण युद्ध हुआ। परिणामस्वरूप यूनानी सेना बुरी तरह पराजित हुई और स्वयं सम्राट् सेल्युकस बन्दी हुआ। उसकी याचना पर मौर्य सम्राट् ने सन्धि कर ली, जिसके अनुसार सम्पूर्ण पंजाब और सिन्ध पर ही नहीं वरन् काबुल, हिरात, कन्दहार, बिलोचिस्तान, कम्बोज (बदख्शां) और पामीर पर भी मौर्य सम्राट् का अधिकार हो गया और भारत के भौगोलिक सीमान्तों से भी यूनानी सत्ता तिरोहित हो गयी। सेल्युकस ने अपनी प्रिय पुत्री हेलन का विवाह भी मौर्य नरेश के युवराज के साथ कर दिया। प्रायः यह कहा जाता है कि यवन राजकुमारी का विवाह स्वयं चन्द्रगुप्त के साथ हुआ, किन्तु अधिक सम्भावना युवराज बिन्दुसार के साथ होने की है। मैत्री के प्रतीक-स्वरूप मौर्य सम्राट् ने भी यवनराज को पाँच सौ हाथी भेंट किये। इस प्रकार सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने पराक्रम एवं राजनीतिक सूझ-बूझ से अपनी स्वभाव-सिद्ध प्राकृतिक सीमाओं से बद्ध प्रायः सम्पूर्ण भारत महादेश पर अपना एकछत्र आधिपत्य स्थापित कर लिया। इतनी पूर्णता के साथ समग्र भारतवर्ष पर आज पर्यन्त सम्भवतया अन्य किसी

सम्राट् या एकराट् राज्यसत्ता का, मुग़लों और अँगरेज़ों का भी, अधिकार नहीं हुआ।

इसी युद्ध के परिणामस्वरूप यवनराज का मेगेस्थनीज़ नामक यूनानी राजदूत पाटलिपुत्र की राजसभा में ई. पू. ३०३ में आया, कुछ समय यहाँ रहा, और उसने मौर्य साम्राज्य का विविध विवरण लिखा, जो कि भारत के तत्कालीन इतिहास का बहुमूल्य साधन बना। उसने भारतवर्ष के भूगोल, राजनीतिक विभागों, प्राचीन अनुश्रुतियों, धार्मिक विश्वासों एवं रीतिरिवाजों, जनता के उच्च चरित्र एवं ईमानदारी, राजधानी की सुन्दरता, सुरक्षा एवं सुदृढता, सम्राट् की दिनचर्या एवं वैयक्तिक चरित्र, उसकी न्यायप्रियता, राजनीतिक पटुता और प्रशासन कुशलता, विशाल चतुरंगिणी सेना जिसमें चार लाख वीर सैनिक, नौ हजार हाथी तथा सहस्रों अश्व, रथ आदि थे और जिसका अनुशासन अत्युत्तम था, प्रजा के दार्शनिक (या पण्डित), शिल्पी, व्यवसायी एवं व्यापारी, व्याध एवं पशुपालक, सिपाही, राज्यकर्मचारी, गुप्तचर व निरीक्षक, मन्त्री एवं अमात्य आदि, सात वर्गों का, सेना के विभिन्न विभागों का, राजधानी एवं अन्य महानगरियों के नागरिक प्रशासन के लिए छह विभिन्न समितियों का, इत्यादि अनेक उपयोगी बातों का वर्णन किया है। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ था कि भारतवर्ष में दास-प्रथा का अभाव है। उसने यह भी लिखा है कि भारतवासी लेखनकला का विशेष आश्रय नहीं लेते और अपने धर्मशास्त्रों, अनुश्रुतियों तथा अन्य दैनिक कार्यों में भी अधिकतर मौखिक परम्परा एवं स्मृति पर ही निर्भर रहते हैं। प्रजा की जन्म-मृत्यु गणना का विवरण, विदेशियों के गमनागमन की जानकारी, नाप-तौल एवं बाज़ार का नियन्त्रण, अतिथिशालाएँ, धर्मशालाएँ, राजपथों आदि का संरक्षण, सभी की उत्तम व्यवस्था थी। देश का देशी एवं विदेशी व्यापार बहुत उन्नत था। बड़े-बड़े सेठ और सार्थवाह थे, नाना प्रकार के उद्योग-धन्धे थे, राजा और प्रजा दोनों ही अत्यन्त धन-वैभव सम्पन्न थे, विद्वानों का देश में आदर था। स्वयं सम्राट् श्रमणों एवं ब्राह्मणों को राज-प्रासाद में आमन्त्रित करके अथवा उसके पास जाकर आवश्यक परामर्श लेते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण भारतवर्ष के रूप में चक्रवर्ती क्षेत्र की जो परिभाषा है वही समुद्र पर्यन्त, आसेतु-हिमाचल भूखण्ड इस मौर्य सम्राट् के अधीन था, जो विजित, अन्त और अपरान्त क्षेत्रों के भेद से तीन वर्गों में विभक्त था। जो भाग सीधे केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत था वह विजित कहलाता था और अनेक चक्रों में विभाजित था। त्रिरत्न, चैत्यवृक्ष, दीक्षावृक्ष आदि जैन सांस्कृतिक प्रतीकों से युक्त कुछ सिक्के भी इस मौर्य सम्राट् के प्राप्त हुए हैं।

व्यक्तिगत रूप से सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य धार्मिक भी था और साधु-सन्तों का विशेष आदर करता था। जबकि ब्राह्मणीय साहित्य में उसे वृषल या शूद्र तथा दासी-पुत्र कहा है, जैन अनुश्रुतियों में उसे सर्वत्र शुद्ध क्षत्रिय-कुलोत्पन्न कहा है। ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों के प्राचीन सिद्धान्त-शास्त्र तिलोयपण्णत्ति में चन्द्रगुप्त को उन मुकुट-बद्ध माण्डलिक सम्राटों में अन्तिम कहा गया है जिन्होंने दीक्षा लेकर अन्तिम जीवन जैन मुनि के रूप में व्यतीत किया था। वह आचार्य भद्रबाहु-श्रुतकेवली की आम्नाय का

उपासक था और उनका ही पदानुसरण करने का अभिलाषी था, अतएव लगभग पचीस वर्ष राज्यभोग करने के उपरान्त ईसापूर्व २९८ में, पुत्र बिन्दुसार को राज्यभार सौंपकर और उसे गुरु चाणक्य के ही अभिभावकत्व में छोड़ दक्षिण की ओर प्रयाण कर गया। मार्ग में सुराष्ट्र के गिरिनगर की जिस गुफा में उसने कुछ दिन निवास किया, वह तभी से चन्द्रगुफा कहलाने लगी। सम्भवतया वहीं उसने मुनि-दीक्षा ली थी। वहाँ से चलकर यह राजर्षि कर्णाटकदेशस्थ श्रवणबेलगोल पहुँचा जहाँ आचार्य भद्रबाहु दिवंगत हुए थे। उस स्थान के एक पर्वत पर मुनिराज चन्द्रगुप्त ने तपस्या की और वहीं कुछ वर्ष उपरान्त सल्लेखनापूर्वक देह त्याग किया। उनकी स्मृति में ही वह पर्वत चन्द्रगिरि नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसकी जिस गुफा में उन्होंने समाधिमरण किया था उसमें उनके चरण-चिह्न बने है और वह स्थान चन्द्रगुप्त-बसति के नाम से प्रसिद्ध रहता आया है। वहीं आस-पास लगभग डेढ़ हज़ार वर्ष प्राचीन कई शिलालेख भी अंकित हैं जिनमें इस राजर्षि के जीवन की उक्त महान् अन्तिम घटना के उल्लेख प्राप्त होते हैं। मूलसंघी मुनियों का चन्द्रगुप्त-गच्छ या चन्द्रगच्छ इन्हीं चन्द्रगुप्ताचार्य के नाम पर स्थापित हुआ माना जाता है। इस महान् जैन सम्राट् के समय मे ही भारतवर्ष प्रथम बार तथा अन्तिम बार भी, यदि उसके स्वयं के पुत्र बिन्दुसार एवं पौत्र अशोक को छोड़ दें, अपनी राजनीतिक पूर्णता एवं साम्राज्यिक एकता को प्राप्त हुआ और मगध साम्राज्य के रूप में भारतीय साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष को पहुँचा था।

चाणक्य भी पर्याप्त वृद्ध हो चुके थे और राजकार्य से विरत होकर आत्म-कल्याण करने के इच्छुक थे। महाराज चन्द्रगुप्त के अत्यन्त अनुरोधवश उन्होंने युवक सम्राट् बिन्दुसार का पथ-प्रदर्शन करने के लिए वह विचार स्थगित कर दिया, किन्तु दो-तीन वर्ष बाद ही वह भी मन्त्रित्व का भार अपने शिष्य राधागुप्त को सौंप कर मुनिदीक्षा लेकर तपश्चरण के लिए चले गये थे। भगवती-आराधना आदि अत्यन्त प्राचीन जैन ग्रन्थों में मुनीश्वर चाणक्य की दुर्धर तपस्या और घोर उपसर्ग सहते हुए सल्लेखनापूर्वक देह-त्याग करने के वर्णन मिलते है। भारत के उस महान् मौर्य साम्राज्य के कुशल शिल्पी, नियामक और संचालक तथा राजनीति के विश्वविश्रुत ग्रन्थ, 'अर्थशास्त्र' के मूल प्रणेता, नीति के आचार्य जैन मन्त्रीश्वर चाणक्य और उनके सुशिष्य जैन सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य की अद्वितीय जोड़ी, जैन इतिहास की ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय इतिहास की अमर उपलब्धि है।

इन दोनों राजनैतिक विभूतियों की सर्वोपरि विशेषता यह थी कि उन्होंने व्यक्तिगत धार्मिक विश्वासों को राजनीति एवं प्रशासन से सर्वथा असम्पृक्त रखा। एक शस्त्रवीर क्षत्रिय था तो दूसरा शास्त्रवीर ब्राह्मण, और निजी धार्मिक आस्था की दृष्टि से दोनों ही परम जैन थे, ऐसे कि अन्तिम जीवन दोनों ने ही आदर्श निर्ग्रन्थ तपस्वी जैन मुनि के रूप में व्यतीत किया। तथापि एक विशाल साम्राज्य के सम्राट् एवं प्रधानामात्य के रूप मे उनका समस्त लोकव्यवहार पूर्णतया व्यावहारिक, नीतिपूर्ण,

असाम्प्रदायिक एवं धर्मनिरपेक्ष था। साम्राज्य का उत्कर्ष और प्रतिष्ठा तथा प्रजा का हित और मंगल जैसे बने सम्पादन करना ही उनका एक मात्र ध्येय था। यह आदर्श आधुनिक युग के राजनीति जो शासकों और जन-नेताओं के लिए भी स्पृहणीय है—सहज साध्य नहीं है।

बिन्दुसार अमित्रघात

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के उनकी पट्टमहिषी नन्दसुता सुप्रभा से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र युवराज बिन्दुसार अमित्रघात (यूनानी लेखकों के एमिट्रोचेटिस) ने पिता के जीवन में ही उत्तराधिकार प्राप्त कर लिया था। सिंहसेन, भद्रसार आदि उसके कई अन्य नाम भी बताये जाते हैं। ई. पू. २९८ में वह सिंहासनारूढ़ हुआ और लगभग पचीस वर्ष पर्यन्त विशाल एवं शक्तिशाली मौर्य साम्राज्य का एकाधिपति बना रहा। प्रारम्भ में महामन्त्री चाणक्य ही उसके पथ-प्रदर्शक रहे। युवक सम्राट् उनका यथोचित आदर-सम्मान तो करता था, परन्तु उनके प्रभाव से असन्तुष्ट भी था। राज्यकार्य मे तो आर्य चाणक्य अब कोई सक्रिय भाग प्रायः लेते नही थे, किन्तु उनके असीम अधिकार अब भी पूर्ववत् थे। बिन्दुसार का यह असन्तोष उनसे छिपा नहीं रहा, अतएव वह संसार का त्याग करके मुनि हो गये। जाने के पूर्व अमात्य पद का भार वह अपने प्रशासन-कुशल एवं सुयोग्य शिष्य राधागुप्त को सौप गये थे। बिन्दुसार अब पूर्णतया स्वाधीन-स्वच्छन्द था, किन्तु चन्द्रगुप्त और चाणक्य के अभिभावकत्व में जिसकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी, वह निकम्मा था। अशक्त शासक नहीं हो सकता था। उसका शासनकाल शान्तिपूर्ण एवं सुव्यवस्थित ही रहा। मध्य एशिया आदि के यूनानी एवं भारतीय-यूनानी (यवन) नरेशों के साथ भी उसके राजनैतिक आदान-प्रदान हुए। सेल्यूकस के उत्तराधिकारी अन्तियोकस सोतर ने उसके दरबार में डेइमेकस नामक राजदूत भेजा था और मिस्रदेश के राजा टालेमी ने डायनिसयोनाम का दूत भेजा था। इन नरेशों के साथ उसका नानाविध भेंटों और उपहारो का भी मैत्रीपूर्ण आदान-प्रदान हुआ था। बिन्दुसार ने कई यूनानी दार्शनिकों को भी भारत आने का निमन्त्रण दिया था। चन्द्रगुप्त ने दक्षिण विजय तो की थी किन्तु उसे सुसंगठित एवं स्थायी करने का पर्याप्त अवसर उसे नहीं मिला था। अतएव बिन्दुसार ने दक्षिण यात्रा की। अपने माता-पिता की भाँति वह भी जैनधर्म का अनुयायी था। कुलगुरु आचार्य भद्रबाहु के समाधिस्थान तथा स्वपिता मुनि चन्द्रगुप्त के दर्शन करने, अथवा सम्भव है उनके स्वर्गवास के उपरान्त उनकी तपःस्थलो तथा समाधि का दर्शन करने के लिए उस ओर जाना उसके व्यक्तिगत उद्देश्य थे, और पूर्व-विजित प्रदेशों को भी विजय करके सागर से सागर पर्यन्त सम्पूर्ण दक्षिण भारत पर अधिकार करना उसके राजनैतिक लक्ष्य थे। दोनों में ही वह सफल हुआ। भद्रबाहु एवं चन्द्रगुप्त की तपोभूमि श्रवणबेलगोल में उसने कई जिन-मन्दिर आदि भी निर्माण कराये बताये जाते हैं। बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान में इस प्रतापी मौर्य सम्राट् को क्षत्रिय

मूर्धाभिषिक्त कहा है और तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने उसे सोलह राजधानियों एवं उनके मन्त्रियों का उच्छेद करनेवाला बताया है। पिता के साम्राज्य में उसने कुछ वृद्धि ही की थी। सम्पूर्ण भारतवर्ष पर उनका निष्कण्टक आधिपत्य था। बिन्दुसार के कई (एक मत से सोलह) पत्नियाँ थीं, जिनमें एक सम्भवतया यवनराज सेल्युकस की दुहिता हेलन थी, तथा अनेक पुत्र थे। किन्हीं के अनुसार उसके पुत्रों की संख्या एक-सौ-एक थी। उसके अन्तिम दिनों में तक्षशिला के प्रान्तीय शासक के अत्याचारों के कारण वहाँ की प्रजा ने विद्रोह कर दिया था। सम्राट् के आदेश पर राजकुमार अशोक ने वहाँ जाकर बड़ी चतुराई और सूझ-बूझ के साथ विद्रोह का शमन किया और दोषी अधिकारी को दण्डित किया। ई. पू. २७३ के लगभग इस द्वितीय मौर्य सम्राट् बिन्दुसार का देहान्त हुआ।

अशोक महान्

श्री अशोक, अशोकचन्द्र, अशोकवर्धन, चण्डाशोक आदि नामों से विभिन्न अनुश्रुतियों में उल्लेखित अशोक मौर्य की गणना आधुनिक इतिहासकार भारतवर्ष के ही नहीं, विश्व के सर्वमहान् सम्राटों में करते हैं। देवानां-प्रिय और प्रिय-दर्शी उसकी उपाधियाँ थी, जो सम्भवतया उसके पिता तथा अन्य कई भारतीय नरेशों की भी रहीं। वह सम्राट् बिन्दुसार का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था, किन्तु सुसीम, सुमन आदि अनेक पुत्रों में सर्वाधिक योग्य एवं पराक्रमी था। पिता के शासनकाल में वह उज्जयिनी का शासक रहा था और उस समय उसने निकटस्थ विदिशा के एक जैन श्रेष्ठी की रूप-गुण-सम्पन्ना असन्ध्यमित्रा नाम्नी कन्या से विवाह कर लिया था, जिससे कुणाल नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था। तक्षशिला के विद्रोह का सफलतापूर्वक दमन करके उसने उस प्रान्त का शासन-भार भी कुछ काल सम्हाला था। इन्हीं सब कारणों से पूर्व सम्राट् ने अशोक को ही युवराज घोषित कर दिया था, अतएव पिता की मृत्यु होते ही अशोक ने राज्य-सत्ता अपने हाथ में ले ली। उसके कई भाइयों ने विद्रोह किया, जिसका उसने दृढ़ता के साथ दमन किया। मन्त्रीवर्ग और जनता भी उसके अनुकूल थी। तथापि पिता की मृत्यु के कई वर्ष पश्चात् ही वह विधिवत् सिंहासनारूढ़ हो सका। उसके एक शिलालेख में २५६ संख्या का उल्लेख मिलता है जिसका विभिन्न विद्वान् विभिन्न अर्थ लगाते हैं। यह सम्भव है कि उक्त संख्या ततः प्रचलित महावीर निर्वाण संवत् का वह वर्ष हो जब अशोक का विधिवत् राज्याभिषेक हुआ था और जिसके अनुसार उक्त घटना की तिथि ई. पू. २७१-२७० आती है। अधिकांश विद्वान् भी उसके लिए ई. पू. २७०-२६९ अनुमान लगाते हैं। बौद्ध अनुश्रुतियों का यह कथन कि अशोक ने अपने ९९ भाइयों की हत्या करके अपना चण्डाशोक नाम सार्थक किया था, अतिशयोक्तिपूर्ण ही नहीं वरन् असत्य माना जाता है। यह ठीक है कि प्रारम्भ में वह उग्र प्रकृति का दृढ़-निश्चयी एवं कठोर शासक था तथा उसने अपने मार्ग के समस्त कण्टकों को निर्ममता के साथ उखाड़

फेंका था और अनुशासन को ढीला नहीं होने दिया था। कलिंग देश की विजय नन्दिवर्धन ने ई. पू. ४२४ के लगभग की थी। तभी से वह राज्य मगध के अधीन रहता आया था। नन्द-मौर्य संघर्ष के समय सम्भवतया कलिंग के राजे अर्धस्वतन्त्र-से हो गये थे, यद्यपि चन्द्रगुप्त एवं बिन्दुसार के समय में उन्हें सिर उठाने का साहस नहीं हुआ। बिन्दुसार की मृत्यु के उपरान्त होनेवाली अन्तःकलह का लाभ उठाकर उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी प्रतीत होती है। इस समय कलिंग का राजा चण्डराय रहा प्रतीत होता है। ये राजे सम्भवतया महावीर-कालीन कलिंगनरेश जितशत्रु के वंशज थे। किन्हीं का अनुमान है कि जितशत्रु के वंश की समाप्ति पर वहाँ वैशालीनरेश चेटक के किसी वंशज ने अधिकार कर लिया था और उसी का वंश अब कलिंग में चल रहा था। जो हो, इसमें सन्देह नही है कि कलिंग के राज्यवंश मे जैन धर्म की प्रवृत्ति थी और उक्त चण्डराय भी जैनधर्म का अनुयायी था। अस्तु, ई. पू. २६२ के लगभग अपने राज्य के आठवें वर्ष में एक विशाल सेना लेकर अशोक ने कलिंग राज्य पर आक्रमण कर दिया, भीषण युद्ध हुआ, लाखों सैनिक मृत्यु के घाट उतार दिये गये, कलिंगराज पराजित हुआ, प्रचण्ड अशोक का दबदबा सर्वत्र बैठ गया। अब पचासो वर्ष तक मौर्य सम्राट् के विरुद्ध सिर उठाने का साहस किसी को भी नहीं हो सकता था। परन्तु इस भयंकर नरसंहार को देखकर अहिंसामूलक जैनधर्म के संस्कारों मे पले मौर्य अशोक की आत्मा तिलमिला उठी, भले ही वह 'प्रचण्ड' कहलाता था। उसने प्रतिज्ञा कर ली कि भविष्य में वह रक्तपातपूर्ण युद्धो से सर्वथा विरत रहेगा। उसकी अब वैसी आवश्यकता भी नहीं थी। सीमान्त प्रदेशों सहित सम्पूर्ण भारतवर्ष पर उसका पूर्ण एकाधिपत्य था। शासन व्यवस्था सुचारु थी। साम्राज्य मे सर्वत्र शान्ति और समृद्धि थी। अब सम्राट् ने अपना ध्यान शान्तिपूर्ण कार्यों की ओर अधिकाधिक दिया। मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालय खुलवाये, पुराने राजपथों की मरम्मत और नयों का निर्माण कराया, सड़कों के किनारे छायादार वृक्ष लगवाये, विश्रामशालाएँ बनवायी इत्यादि अनेक जनोपयोगी कार्य किये। जनता के नैतिक चरित्र को उन्नत करने का भी उसने प्रयत्न किया और उनमें असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति पैदा करने के लिए एक ऐसे राष्ट्रधर्म का प्रचार किया जो व्यावहारिक एवं सर्वग्राह्य था। उसने श्रमणों और ब्राह्मणो दोनो ही वर्गो के विद्वानो का आदर किया, और उनका सत्सग किया। धर्मयात्राओं और धर्मोत्सवों की भी योजना की। विभिन्न स्थानो की यात्रा करके जैन, बौद्ध, आजीविक एवं ब्राह्मण तीर्थ और दर्शनीय स्थानो को देखा। जिसमे जहाँ जिस सुधार की आवश्यकता देखी उसे प्रेरणा द्वारा अथवा राजाज्ञा द्वारा कराने का प्रयत्न किया। जीव-दया और व्यावहारिक अहिंसा को उसने अपना मूलमन्त्र बनाया। अपने मन्तव्यों का प्रचार करने के लिए प्रसिद्ध तीर्थस्थानो एवं केन्द्रों मे उसने शिलाखण्डो एवं कलापूर्ण स्तम्भों पर अपनी विज्ञप्तियाँ उत्कीर्ण करायी। ये अभिलेख उसने ई. पू. २५५ के उपरान्त भिन्न-भिन्न समयों मे अंकित कराये प्रतीत होते है। गंगा के निकट बराबर नाम की

पहाड़ियों पर उसने आजीविक सम्प्रदाय के साधुओं के लिए लेणें बनवायीं, और गिरिनगर की तलहटी में अपने पिता चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मापित सुदर्शन ताल का भी अपने यवन अधिकारी तुहषास्फ़ की देख-रेख में जीर्णोद्धार कराया। कश्मीर के श्रीनगर और नेपाल के ललितपट्टन नामक नगरों को बसाने का श्रेय भी अशोक को ही दिया जाता है। उसकी पुत्री चारुमित्रा एवं जामाता देवपाल नेपाल में ही जा बसे थे। सम्भवतया देवपाल को उसने नेपाल का शासन-भार सौंप दिया था। यह दम्पति जैन रहे प्रतीत होते है। नेपाल में उस काल में जैनधर्म प्रविष्ट हो चुका था। कर्णाटक के श्रवणबेलगोल में कुछ जिन-मन्दिरों का निर्माण भी अशोक ने कराया बताया जाता है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि अशोक बौद्धधर्म का अनुयायी था और उस धर्म के प्रचार-प्रसार एवं उन्नति के लिए जो कुछ इस मौर्य सम्राट् ने किया वह कोई अन्य उसके पूर्व या पश्चात् नही कर सका। किन्तु बौद्ध साहित्य एवं परवर्ती काल की बौद्ध अनुश्रुतियों में अशोक से सम्बन्धित जो अनेक कथाएँ मिलती है उनमें से अधिकतर को अतिरंजित अथवा कपोलकल्पित माना जाता है। ब्राह्मण अनुश्रुतियाँ इस सम्राट् के विषय में मौन है और जैन अनुश्रुतियों में उसके जो कुछ उल्लेख या विवरण मिलते हैं उनसे बौद्ध अनुश्रुतियों का बहुत कम समर्थन होता है। अशोक के सम्बन्ध में जो सबसे बड़ा ऐतिहासिक आधार है, वह वे शिलालेख है जो उसके नाम से प्रसिद्ध हो रहे है। मुख्यतया उन्ही के आधार से सम्राट् अशोक के व्यक्तिगत चरित्र, विचारों, धार्मिक विश्वासों, अन्य कार्यकलापों, राज्यकाल एवं प्रशासन आदि के इतिवृत्त का निर्माण और उसकी महत्ता का मूल्याकन किया गया है। परन्तु ऐसे भी कई विद्वान् हैं जो इन सब शिलालेखों को केवल अशोक द्वारा ही लिखाये गये नहीं मानते, बल्कि उन में से कुछ का श्रेय उसके पौत्र सम्प्रति को देते है। इन लेखों से अशोक को बौद्धधर्म का सर्वमहान् प्रतिपालक एवं भक्त चित्रित करनेवाली बौद्ध अनुश्रुतियों का भी विशेष समर्थन नहीं होता। वस्तुतः उक्त अभिलेखों के आधार पर अशोक के धर्म को लेकर विद्वानों मे सर्वाधिक मतभेद है—कुछ उनसे यह निष्कर्ष निकालते है कि वह बौद्ध था और बौद्धधर्म के प्रचार के लिए ही उसने लेख अंकित कराये थे, तो कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार लेखों का भाव और तद्‌गत विचार बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म के अधिक निकट हैं, और क्योंकि उसका कुलधर्म जैन था, अशोक स्वयं भी यदि पूरे जीवन-भर नहीं तो कम से कम उसके पूर्वार्ध में अवश्य जैन था। ऐसे ही विद्वान् हैं, और उनकी बहुलता होती जाती है, जो यह मानते है कि अशोक न मुख्यतया बौद्ध था और न जैन, वरन् एक नीतिपरायण प्रजापालक सम्राट् था जिसने अपनी प्रजा के नैतिक उत्कर्ष करने के हेतु एक नवीन समन्वयात्मक, असाम्प्रदायिक एवं व्यावहारिक धर्म लोक के सम्मुख प्रस्तुत किया था। वस्तुतः वह भी व्यवहार एवं प्रशासन में अपने पूर्वजों की धर्म-निरपेक्ष नीति का ही अनुसर्ता था। यों, उसने पशुवध का निवारण एवं मांसाहार का निषेध करने के लिए कड़े नियम बनाये थे। वर्ष के ५६ दिनों में उसने प्राणिवध सर्वथा एवं सर्वत्र बन्द

रखने की आज्ञा जारी की थी वे दिन कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दिये गये पवित्र दिनों तथा जैन परम्परा के पर्व दिनों के साथ प्रायः पूरी तरह मेल खाते हैं। उपरोक्त शिलालेखों में उसके द्वारा निर्ग्रन्थों (नग्न जैन मुनियों) का विशेष रूप से आदर करने के भी कई उल्लेख है। जबकि सामान्य श्रमण शब्द से सर्वप्रकार के जैन साधुओं का बोध होता ही था, जिनमें उस काल में मगध आदि उत्तरी प्रदेशों में बहुलता से पाये जानेवाले आचार्य स्थूलिभद्र की परम्परा के खण्डवस्त्रधारी साधुओं का समावेश था। राजतरंगिणी एवं आईने अकबरी के अनुसार अशोक ने कश्मीर में जैनधर्म का प्रवेश किया था और इस कार्य में उसने अपने पूर्वजों चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार का अनुकरण किया था। कहीं-कहीं अशोक के पुत्र जालोक को कश्मीर में जैनधर्म के प्रवेश का श्रेय दिया जाता है, जो उसने सम्भवतया पिता की स्वीकृति से ही किया था।

ऐसा लगता है कि कलिंग-युद्ध के आस-पास अशोक ने तिष्यरक्षिता नाम की एक बौद्ध सुन्दरी से विवाह कर लिया था। अधेड़ सम्राट् अपनी युवा बौद्ध पत्नी को प्रसन्न करने के लिए बौद्धधर्म में सम्भवतया कुछ विशेष दिलचस्पी लेने लगा। मथुरा के बौद्ध आचार्य उपगुप्त के भी सम्पर्क और प्रभाव में प्राय. इसी समय वह आया। कुछ ही समय पश्चात् पाटलिपुत्र में तीसरी बौद्ध संगीति भी हुई। सम्राट् ने बुद्ध-जन्मस्थान पर लगे राज्यकर को भी माफ़ कर दिया तथा अन्य भी कुछ कार्य बौद्धों के अनुकूल किये। अपने अन्तिम दिनो मे वह राज्यकार्य से विरत होकर एक त्यागी गृहस्थ या व्रती श्रावक के रूप मे रहने लगा प्रतीत होता है। उस काल में उसकी दानशीलता अतिशय को पहुँच गयी बतायी जाती है, और सम्भव है कि उसका अधिकतर लाभ बौद्धों को हुआ हो। इन्हीं सब कारणों से बौद्धों की अनुश्रुतियों में वह परम प्रभावक बौद्ध-नरेश के रूप में चित्रित किया गया प्रतीत होता है। ई. पू. २३४ या २३२ के लगभग अशोक मौर्य की मृत्यु हुई। इसमे सन्देह नही कि उसकी गणना विश्व के सार्वकालीन महान् नरेशों मे उचित ही की जाती है।

करुण कुणाल

सम्राट् अशोक की सम्भवतया प्रथम पत्नी विदिशा की श्रेष्ठिकन्या असन्ध्यमित्रा की कुक्षि से उत्पन्न राजकुमार कुणाल अपरनाम सुयश अत्यन्त सुन्दर, सुशिक्षित, सुसंस्कृत, कलारसिक, संगीत-विद्या-निपुण एवं भद्र-प्रकृति का पुरुष-पुंगव था। विशेषकर उसको कुणाल पक्षी सदृश आँखों ने उसके रूप को अत्यन्त आकर्षक बना दिया था। उसका वह देवोपम रूप और अप्रतिम आँखें ही उसका दुर्भाग्य बन गयीं। उसकी विमाता, सम्राट् की युवा बौद्ध रानी तिष्यरक्षिता ने अपनी मर्यादा भूल कुमार को अपने वश में करने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु राजकुमार शीलवान् और सदाचारी था, अतः रानी अपनी कुचेष्टाओं में सफल न हो पायी, विफल-मनोरथ रानी ने प्रतिशोध की ज्वाला में दग्ध हो एक घृणित षड्यन्त्र रचा। सम्राट् ने राजकुमार को उज्जयिनी का प्रान्तीय

शासक नियुक्त कर दिया था और उसने भी पिता की ही भाँति उसी प्रदेश की एक रूपगुण-सम्पन्ना श्रेष्ठिकन्या कंचनमाला से विवाह कर लिया था। वह एकपत्नीव्रती था और अपनी प्रिया से अत्यन्त प्रेम करता था। उसी से उसका सम्प्रति नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। इधर दुष्टा रानी का कुचक्र चला। उसने राजकुमार के नाम सम्राट् से एक आदेशपत्र लिखवाया, जिसमें राजकुमार को पुरस्कृत करने की बात कही गयी थी। रानी ने पत्र को राजमुद्रांकित करके अपने विश्वस्त भृत्य के हाथ राजकुमार के पास भिजवा दिया, किन्तु भेजने से पूर्व उसमें लिखे 'अधीयताम्' शब्द को 'अन्धीयताम्' कर दिया। वह जानती थी कि राजकुमार कुणाल अत्यन्त पितृभक्त एवं राज्यभक्त है। वही हुआ—कुमार ने पत्र देखते ही, सम्राट् पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके अपनी दोनों आँखें फोड़ लीं। शीघ्र ही उसे विमाता के कुचक्र का पता भी लग गया। अन्य विपत्ति की भी आशंका थी, अतएव पत्नी और पुत्र को सुरक्षित स्थान में रख, भिखारी के भेष में वह राजधानी पाटलिपुत्र के लिए चल पड़ा। वहाँ पहुँचकर वह सम्राट् के महल के नीचे गाने लगा। गीत के बोलों में उसने अपना परिचय तथा अपने पर किये गये अत्याचार का भी संकेत कर दिया। अशोक पुत्र के मधुर कण्ठ को पहचानता था। उसने भिखारी गायकवेषी राजकुमार को तुरन्त अपने पास बुलवाया और पूरा वृतान्त जानकर दुष्टा तिष्यरक्षिता को जीते जी अग्नि में जलवा दिया। उसके साथियों और सहयोगियों को भी कठोर दण्ड दिया। अपने ज्येष्ठ पुत्र की दुर्दशा का कारण एक प्रकार से वह स्वयं ही बना था, इसलिए सम्राट् को स्वयं भारी पश्चात्ताप हुआ। उसने पुत्र-वधू और पौत्र को भी बुला लिया और उन तीनों को अब अपने ही पास रखा। इतना ही नहीं, अन्य पुत्रों के होते हुए भी उसने कुणाल-पुत्र सम्प्रति को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। अशोक के जीवन के अन्तिम कई वर्षों में तो समस्त राजकार्य युवराज कुणाल ही करता था और उसकी मृत्यु के बाद वही साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। किन्तु क्योंकि वह नेत्रविहीन था, उसका पुत्र सम्प्रति जो अब वयस्क हो चला था, पिता के नाम से राज्य-कार्य का संचालन करता था। कुणाल का कुलधर्म तो जैन था ही, उसकी माता और पत्नी भी परम जिन-भक्त थीं। स्वभावतः राजकुमार कुणाल एक उत्तम जैन था। उसकी करुण कहानी हेमचन्द्राचार्य आदि जैन कथाकारों का प्रिय विषय रही है।

सम्राट् सम्प्रति

सम्राट् सम्प्रति मौर्य जिसके अपरनाम इन्द्रपालित, संगत एवं विगताशोक भी थे, ई. पू. २३० के लगभग स्वतन्त्र रूप से सिंहासनासीन हुआ। इसके लगभग दस वर्ष पूर्व से ही राज्यकार्य का वस्तुतः संचालन वही कर रहा था। पहले वृद्ध पितामह अशोक के अन्तिम वर्षों में अपने पिता कुणाल के यौवराज्य काल में, तदनन्तर अशोक की मृत्यु के उपरान्त महाराज कुणाल के प्रतिनिधि के रूप में। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक की मृत्यु के कुछ पूर्व ही एक ऐसा पारस्परिक आन्तरिक समझौता हो गया था जिसके

अनुसार सम्प्रति और उसके चचेरे भाई दशरथ के बीच साम्राज्य का विभाजन हो गया था। सम्राट् का पद और उत्तराधिकार सम्प्रति को प्राप्त हुआ और उसकी इच्छानुसार उज्जयिनी प्रधान राजधानी बनी जहाँ से उसने साम्राज्य का आधिपत्य किया। दशरथ को साम्राज्य का पूर्वोत्तर भाग मिला, उसकी राजधानी पाटलिपुत्र रही और वह नाम के लिए साम्राज्य के अन्तर्गत एवं सम्राट् सम्प्रति के अधीन, किन्तु वास्तव में प्रायः सर्वथा स्वतन्त्र शासक रहा। यही कारण है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् हम दशरथ को पाटलिपुत्र मे और सम्प्रति को उज्जयिनी में राज्य करते पाते हैं। अशोक के तत्काल उत्तराधिकारियो मे भी इन दोनो का नाम पाते हैं, किन्तु अधिकतर स्रोतों में अशोक महान् के उत्तराधिकारी के रूप में सम्राट् सम्प्रति का ही नामोल्लेख है। अपने पितामह अशोक के समान ही सम्प्रति एक महान् प्रजावत्सल, शान्तिप्रिय एवं प्रतापी सम्राट् था। साथ ही अपने पिता कुणाल और माता कंचनमाला से उसे दृढ़ धार्मिक संस्कार तथा भद्र एवं सौम्य परिणाम मिले थे। जैनसंघ की मागधी-शाखा के नेता आचार्य सुहस्ति सम्प्रति के धर्मगुरु थे। उनके उपदेश से इसने एक आदर्श जैन नरेश की भाँति जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न किया। इसी समय जैनसंघ की इस शाखा ने भी मगध का परित्याग करके उज्जयिनी को अपना प्रधान केन्द्र बनाया, जहाँ उसे सम्प्रति-जैसे शक्तिशाली सम्राट् का साक्षात् एवं यथेच्छ आश्रय प्राप्त था, जबकि मगध पर आजीविक सम्प्रदाय के भक्त दशरथ मौर्य का शासन था। सम्प्रति का पारिवारिक जीवन भी सुखी था। उसके कई रानियाँ एवं अनेक पुत्र-पुत्रियाँ थीं। परिशिष्टपर्व, सम्प्रतिकथा, प्रभावकचरित आदि जैन ग्रन्थो में इस सम्राट् के बड़े प्रशंसनीय वर्णन प्राप्त होते है। बौद्ध अनुश्रुतियों में भी उसके उल्लेख प्राप्त होते हैं। जिनेन्द्र की भक्ति, जैन गुरुओ का सेवा-सम्मान, जैन स्मारकों का निर्माण और जैनधर्म की प्रस्तावना एवं प्रचार के लिए सम्राट् सम्प्रति ने जो अथक प्रयत्न किये, उनके लिए उसे श्रावकोत्तम श्रेणिक बिम्बिसार की कोटि मे रखा जाता है और सर्वमहान् जैन नरेशों में उसकी गणना की जाती है। वास्तव में बौद्ध अनुश्रुति मे बौद्धधर्म के लिए अशोक ने जितना कुछ किया बताया जाता है, जैन अनुश्रुति मे जैनधर्म के लिए सम्प्रति ने उससे कुछ अधिक ही किया बताया जाता है। अनेक जैन तीर्थस्थानों की वन्दना, पुराने जिनायतनों एवं तीर्थों का जीर्णोद्धार, अनगिनत नवीन जिनमन्दिरों एवं मूर्तियों का विभिन्न स्थानों में निर्माण एवं प्रतिष्ठा, विदेशों मे जैनधर्म के प्रचार के लिए साधु एवं गृहस्थ विद्वान् प्रचारकों को भेजना, धर्मोत्सवों का मनाना, साम्राज्य-भर में अहिंसा प्रधान जैनाचार का प्रसार करना, इत्यादि अनेक कार्यों का श्रेय इस सम्राट् को दिया जाता है। विन्सेण्ट स्मिथ के अनुसार सम्प्रति ने अरब, ईरान, आदि यवन देशों में भी जैन संस्कृति के केन्द्र या संस्थान स्थापित किये थे। आचार्य हेमचन्द्र के परिशिष्टपर्व प्रभृति जैन ग्रन्थों के आधार से प्रो. सत्यकेतु विद्यालंकार का कहना है कि "एक रात्रि में सम्प्रति के मन मे यह विचार पैदा हुआ कि अनार्य देशों में भी जैनधर्म का प्रचार

हो और जैन साधु स्वच्छन्द रीति से विचर सकें। इसके लिए उसने इन देशों में जैन साधुओं को धर्म प्रचार के लिए भेजा। साधु लोगों ने राजकीय प्रभाव से शीघ्र ही जनता को जैनधर्म और जैनाचार का अनुगामी बना लिया। इस कार्य के लिए सम्प्रति ने बहुत से लोकोपकारी कार्य भी किये। गरीबों को मुफ्त भोजन बाँटने के लिए दान-शालाएँ खुलवायीं। इन लोकोपकारी कार्यों से भी जैनधर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली। सम्प्रति द्वारा अनार्य देशों में प्रचारक भेजे गये, इसके प्रमाण अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं। सम्प्रति ने बहुत से जैन बिहारों का भी निर्माण कराया था। ये बिहार अनार्य देशों में भी बनवाये गये थे।" प्रो. जयचन्द्र विद्यालंकार का कथन है कि "चाहे चन्द्रगुप्त के चाहे सम्प्रति के समय में जैनधर्म की बुनियाद तमिल भारत के नये राज्यों में भी जा जमी, इसमे सन्देह नहीं। उत्तर-पश्चिम के अनार्य देशों में भी सम्प्रति के समय में जैन प्रचारक भेजे गये और वहाँ जैन साधुओं के लिए अनेक बिहार स्थापित किये गये। अशोक और सम्प्रति दोनों के कार्य से भारतीय संस्कृति एक विश्व संस्कृति बन गयी और आर्यावर्त का प्रभाव भारत की सीमाओं के बाहर तक पहुँच गया। अशोक की तरह उसके इस पोते ने भी अनेक इमारतें बनवायीं। राजपूताने की कई जैन कलाकृतियाँ उसके समय की कही जाती है। जैन लेखकों के अनुसार सम्प्रति समूचे भारत का स्वामी था।" राजस्थान के अपने सर्वेक्षण में, अब से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व, कर्नल जेम्स टाड को उस प्रदेश मे कई ऐसे प्राचीन भग्नावशेष मिले थे जो सम्प्रति द्वारा बनवाये गये मन्दिरों के अनुमान किये गये। कमलमेर-दुर्ग के निकट एक ऐसे ही प्राचीन जैन मन्दिर के अवशेषों को देखकर कर्नल टाड ने कहा था, "भारतवर्ष के बहुत से देवार्चक और शैव लोगों की कारीगरी-बहुल मन्दिरावलि के साथ इस जैन मन्दिर की तुलना करने से उसकी अधिक विभिन्नता एवं सरल गठन तथा अनाडम्बरत्व दृष्टिगत होते हैं। मन्दिर की अत्यन्त प्राचीनता उसमें कारीगरी की अल्पता से ही प्रकट है। और इसी सूत्र से हम स्थिर कर सकते है कि जिस समय चन्द्रगुप्त के वंशधर सम्प्रति इस देश के सर्वोपरि राजा थे (ईसा के जन्म के दो सौ वर्ष पूर्व) उस समय का बना हुआ यह मन्दिर है। किंवदन्ती से ज्ञात होता है कि राजस्थान और सौराष्ट्र में जितने भी प्राचीन (जैन) मन्दिर विद्यमान हैं, उन सबके निर्माता सम्प्रति हैं। यह मन्दिर पर्वत के ऊपर बना हुआ है और वह पर्वत पृष्ठ ही इसकी भित्तिस्वरूप होने से यह काल के कराल दाँतों से चूर-चूर न होकर अबतक खड़ा है। इसके पास ही जैनों का एक और पवित्र देवालय दिखाई देता है किन्तु वह बिलकुल दूसरी रीति से बनाया गया है।"

कई विद्वानों का यह भी मत है कि अशोक के नाम से प्रचलित शिलालेखों में से अनेक सम्प्रति द्वारा उत्कीर्ण कराये गये हो सकते हैं। अशोक को अपने इस पौत्र से अत्यधिक स्नेह था; अतएव जिन अभिलेखों में 'देवानापियस्स पियदस्सिन लाजा' (देवता का प्रियदर्शिन् राजा) द्वारा उनके अंकित कराये जाने का उल्लेख है वे अशोक के न होकर सम्प्रति के हों यह अधिक सम्भव है क्योंकि 'देवानांप्रिय' तो अशोक को स्वयं

की उपाधि थी, अतएव सम्प्रति ने अपने लिए 'देवानांप्रियस्य-प्रियदर्शिन' उपाधि का प्रयोग किया। विशेषकर जो अभिलेख जीवहिंसा निषेध और धर्मोत्सवों से सम्बंधित हैं उनका सम्बन्ध सम्प्रति से जोड़ा जाता है। जो हो, प्रियदर्शी राजा के नामांकित उक्त अभिलेखों के आधार पर उनके प्रस्तोता नरेश द्वारा धर्मराज्य के सर्वोच्च आदर्शों के अनुरूप एक सदाचारपूर्ण राज्य स्थापित करने के प्रयत्नों के लिए उस राजर्षि की तुलना गौरव के सर्वोच्च शिखर पर आसीन इजराइली सम्राट् दाऊद और सुलेमान के साथ और स्वधर्म को क्षुद्र स्थानीय सम्प्रदाय की स्थिति से उठाकर विश्वधर्म बनाने के प्रयास के लिए ईसाई सम्राट् कान्स्टेन्टाइन के साथ की जाती है। अपनी दार्शनिकता एवं पवित्र विचारों के लिए वह रोमन सम्राट् मारकस ओरेलियस का स्मरण दिलाता है तो साम्राज्य विस्तार एवं शासन प्रणाली की दृष्टि से शार्लमन का। उसकी सीधी सरल पुनरुक्तियों से पूर्ण प्रज्ञप्तियों में क्रामवेल की शैली ध्वनित होती है तो अन्य अनेक बातों में वह खलीफा उमर और अकबर महान् की याद दिलाता है। विश्व के सर्वकालीन महान् नरेन्द्रों की कोटि में इस प्रकार परिगणित यह भारतीय सम्राट्, चाहे वह अशोक हो या सम्प्रति, अथवा दादा-पोते दोनों ही संयुक्त या समानरूप से हों, भारतीय इतिहास के गौरव हैं और रहेंगे। जैनधर्म के साथ उन दोनों का ही निकट एवं घनिष्ठ सम्बन्ध था, और यदि हम सम्प्रति को जीवन-भर जैनधर्म का परम उत्साही भक्त रहा पाते हैं, तो अशोक को भी सर्वथा अजैन तो कह ही नहीं सकते।

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार सम्राट् सम्प्रति का शासनकाल पचास वर्ष रहा। तिब्बती तारानाथ ५४ वर्ष बताता है। ऐसा लगता है कि उसने लगभग चालीस वर्ष स्वतन्त्र शासन किया और लगभग दस वर्ष पितामह तथा पिता के शासन में योग दिया था। ई. पू. १९० के लगभग साधिक साठ वर्ष की आयु में इस धर्मात्मा नरेश का देहान्त हो गया।

शालिशुक मौर्य

सम्प्रति का ज्येष्ठ पुत्र शालिशुक उज्जयिनी में सम्प्रति का उत्तराधिकारी हुआ। वह भी अपने पिता एवं अधिकांश पूर्वजों की भाँति जैनधर्म का अनुयायी था। उसने भी दूर-दूर तक जैनधर्म का प्रचार किया बताया जाता है। वह पराक्रमी भी था। सौराष्ट्र एवं गुजरात प्रदेश सम्भवतया विद्रोही हो गया था, उसने उसे पुनः विजित किया। इसका शासन अपेक्षाकृत अल्पकालीन ही था। उसके पश्चात् आनेवाले नरेशों, वृषसेन, पुष्पधर्मन आदि और भी अल्पकालीन रहे। ई. पू. १६४ के लगभग उज्जयिनी में १४८ वर्ष शासन करने के उपरान्त वहाँ मौर्य वंश और मौर्यों के अधिकार का अन्त हुआ। मगध में उसके लगभग बीस वर्ष पूर्व ही दशरथ मौर्य के अन्तिम वंशज की हत्या करके उसका ब्राह्मण मन्त्री पुष्यमित्र शुङ्ग राज्य हस्तगत कर चुका था। शुङ्गों की यह राज्यक्रान्ति ब्राह्मण-धर्म पुनरुद्धार की सूचक एवं प्रबल पोषक थी। इसके पश्चात् उत्तर भारत में जैनधर्म को सम्भवतया फिर कभी इसके पूर्व-जैसा राज्याश्रय प्राप्त नहीं हुआ।

●

खारवेल-विक्रम युग

(लगभग ई. पू. २००—सन् ईसवी २००)

सम्राट् खारवेल

कलिंग-चक्रवर्ती सम्राट् महामेघवाहन ऐल खारवेल दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व का सर्वाधिक शक्तिशाली, प्रतापी एवं दिग्विजयी नरेन्द्र था, साथ ही यह राजर्षि परमजिन-भक्त था। अपने समय मे यदि उसने कलिंग देश को भारतवर्ष की सर्वोपरि राज्यशक्ति बना दिया था तो लोकहित और जैनधर्म की प्रभावना के भी अनेक चिरस्मरणीय कार्य किये थे।

पूर्वी भारत में, उत्तर में गंगा नदी के मुहाने से लेकर दक्षिण मे गोदावरी नदी के मुहाने तक विस्तृत बंगाल की खाड़ी का तटवर्ती भूभाग जंगम, कलिंग और कोसल नाम के तीन भागों मे विभक्त था, अतएव कभी-कभी त्रिकलिंग भी कहलाता था, और सामान्यतया संयुक्त रूप से कलिंग कहलाता था। वर्तमान में उसे ही उड़ीसा कहते है।

जैनधर्म के साथ कलिंग देश का अत्यन्त प्राचीन सम्बन्ध रहा है। प्रथम तीर्थंकर आदिजिन ऋषभदेव का यहाँ समवसरण आया था। तभी से उस देश में उनकी पूजा प्रचलित हुई। अठारहवें अरनाथ का प्रथम पारणा जिस रायपुर में हुआ था उसकी पहचान महाभारत में उल्लेखित कलिंग देश की राजधानी राजपुर से की जाती है। तीर्थंकर पार्श्व का सम्पर्क भी कलिंग देश से पर्याप्त रहा था। स्वयं भगवान् महावीर का पदार्पण वहाँ हुआ था। तत्कालीन कलिंग नरेश जितशत्रु के साथ राजा सिद्धार्थ की छोटी बहन यशोदया विवाही थी और उन्ही की पुत्री राजकुमारी यशोदा के साथ महावीर के विवाह की बात चली थी। जितशत्रु इस प्रकार महावीर के फूफा थे और भगवान् के जन्मोत्सव के अवसर पर भी कुण्डलपुर पधारे थे। उनके समय में ही भगवान् का समवसरण कलिंग के कुमारी-पर्वत पर आया था और तभी जितशत्रु ने मुनिदीक्षा ले ली थी तथा भगवान् के जीवनकाल में ही उन्हें केवलज्ञान भी प्राप्त हो गया था। यह जितशत्रु हरिवंश में उत्पन्न हुए थे। नन्दिवर्धन के कलिंग पर आक्रमण के समय उनका ही एक वंशज कलिंग नरेश था। इसके पश्चात् उनका वंश समाप्त हो गया लगता है तथा उसी की किसी अन्य शाखा का उस देश पर अधिकार हो गया प्रतीत होता है। इस नवीन वंश के राजा चण्डराय के समय में अशोक मौर्य का कलिंग पर इतिहास-प्रसिद्ध विध्वंसकारी आक्रमण हुआ था। तदनन्तर सम्भवतया चेतिराज ने नये वंश की स्थापना की थी। कलिंग के

इस तृतीय राज्यवंश के संस्थापक चेतिराज के पुत्र या पौत्र क्षेमराज ने सम्राट् सम्प्रति के शासन काल में कलिंग को पुनः स्वतन्त्र कर लिया। कुछ विद्वानों के मतानुसार कलिंग के ये राजे हैहयवंशी थे। खारवेल स्वयं को ऐल, चैत्र, चेति या चेदिवंशी कहता है। यों चेदि भी हैहयवंश की ही शाखा थी और स्वयं हैहयवंश हरिवंश की शाखा थी। जो हो, कम से कम भगवान् पार्श्वनाथ के समय से ही कलिंग देश के राजागण जैनधर्म के अनुयायी रहते आये थे। सम्भवतया यही कारण है कि बौधायनसूत्र, महाभारत, आदित्यपुराण आदि ब्राह्मणीय ग्रन्थों में कलिंग देश को अनार्य देश कहा है, वहाँ के निवासियों को वेदबाह्य, यज्ञविरोधी एवं धर्म-कर्म-विहीन कहा है तथा आर्य देश के द्विजों को उस देश मे जाने का निषेध किया है, और यदि वहाँ गये तो उन्हें धर्म-भ्रष्ट, जातिच्युत एवं पतित हो जाने का भय दिखाया है। इसके विपरीत जैन साहित्य में कलिंग की २५½ आर्य देशो मे गणना की गयी है और उसे धर्म-क्षेत्र सूचित किया है।

उपरोक्त क्षेमराज का पुत्र वृद्धिराज था और वृद्धिराज का पुत्र भिक्षुराज खारवेल था। वृद्धिराज की मृत्यु अपने पिता के जीवन काल मे ही हो गयी थी, अतएव क्षेमराज का उत्तराधिकारी उसका पौत्र खारवेल हुआ। खारवेल का जन्म ईसा पूर्व १९० के लगभग हुआ प्रतीत होता है, पन्द्रह वर्ष की आयु मे उसे युवराज-पद प्राप्त हुआ और चौबीस वर्ष की आयु मे उसका राज्याभिषेक हुआ। उसके राज्यकाल के तेरह-चौदह वर्ष का विशद वर्णन उसके स्वयं के शिलालेख में प्राप्त है, जिसके (ई. पू. १५२ के) उपरान्त यह नरेश कितने वर्ष और जीवित रहा तथा उसने क्या-क्या किया, यह जानने का कोई साधन उपलब्ध नही है। सम्राट् खारवेल का यह विश्वविश्रुत शिलालेख वर्तमान उड़ीसा राज्य के पुरी जिले मे भुवनेश्वर से तीन मील की दूरी पर स्थित खण्डगिरि-पर्वत के उदयगिरि नामक उत्तरी भाग पर बने हुए हाथीगुम्फा नाम के एक विशाल एवं प्राचीन कृत्रिम गुहामन्दिर के मुख एवं छत पर सत्रह पंक्तियों मे लगभग चौरासी वर्गफ़ीट के विस्तार मे उत्कीर्ण है। लेख की लिपि ब्राह्मी है और भाषा अर्धमागधी तथा जैन प्राकृत मिश्रित अपभ्रंश है। स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, अशोकवृक्ष, मुकुट आदि विविध जैन सास्कृतिक मंगल-प्रतीकों से युक्त इस ऐतिहासिक अभिलेख का भाव इस प्रकार है—अरहन्तो और सर्व सिद्धों को नमस्कार करके चैत्र (चेति) राजवंश की प्रतिष्ठा के प्रसारक, प्रशस्त एवं शुभ लक्षणों से युक्त, चारो दिशाओं के आधारस्तम्भ, अनेक गुणो से विभूषित, कलिंगदेश के अधिपति, महाराज महामेघवाहन ऐल (आर्य) खारवेलश्री द्वारा यह लेख अंकित कराया गया, जिन्होंने अपने कान्त प्रतापी पिंगलवर्ण (स्वर्णाभ) किशोर शरीर द्वारा पन्द्रह वर्ष पर्यन्त कुमार क्रीडाएँ की, तदनन्तर लेखन, मुद्रा, चित्रकला, गणित, व्यवहार, धर्म, राजनीति और शासन-व्यवस्था आदि समस्त विद्याओं मे पारंगत होकर नौ वर्ष तक युवराज-पद से शासन किया। आयु का चौबीसवाँ वर्ष समाप्त होने पर पूरे यौवनकाल मे उस उत्तरोत्तर बुद्धिमान महान् विजेता का कलिंग के तृतीय राज्यवंश मे जीवन के लिए महाराज्याभिषेक हुआ। सिंहासनासीन

होते ही अपने राज्य के प्रथम वर्ष में उसने आँधी-तूफ़ान आदि दैवी प्रकोपों से नष्ट हुए राजधानी कलिंगनगर के गोपुर (नगर द्वार), प्राकार, प्रासादों आदि का जीर्णोद्धार कराया, शीतल जल के जलाशयों, स्रोतों, निर्झरों आदि के बाँध बँधवाये तथा उद्यानों (बाग़-बग़ीचों) का पुनः निर्माण कराया और अपने पैंतीस लाख प्रजाजनों को रंजायमान किया, सुखी किया। दूसरे वर्ष में शातकर्णि (दक्षिणापथ का सातवाहनवंशी नरेश शातकर्णि प्रथम) की परवा न करके घुड़सवार, हाथी, पैदल और रथों की अपनी विशाल सेना पश्चिम दिशा में भेजी, तथा कृष्णवेणा (कृष्णा) नदी के तट पर पहुँचकर मूषिकों (अस्सिकों) की राजधानी का विध्वंस कराया। तीसरे वर्ष में गन्धर्व-विद्याविशारद इस नृपति ने नृत्य-संगीत-वादित्र के प्रदर्शनों तथा अनेक (जिनेन्द्र भगवान् के रथयात्रा आदि) उत्सवों एवं (नाटक-खेल आदि) समाजों के आयोजनों द्वारा अपने राज्य के नागरिकों का प्रभूत मनोरंजन किया। चौथे वर्ष में उसने पूर्ववर्ती कलिंग युवराजों के आवास के लिए निर्मित उस विद्याधर-निवास में जो इस समय तक ज्यों का त्यों था, तनिक भी जीर्ण-शीर्ण नहीं हुआ था, निवास करते हुए उन रट्ठिक और भोजक राजाओं से रत्नों की भेंटें लेकर अपने चरणों में नमस्कार कराया जिनके कि राजमुकुट एवं राजछत्र उसने नष्ट कर दिये थे, अर्थात् जिन्हे पराजित करके उसने अपने अधीन कर लिया था। पाँचवें वर्ष में यह नरेन्द्र उस नहर को राजधानी (तोशलि या कलिंगनगर) तक निकलवा लाया, जिसे कि नन्दराज (नन्दिवर्धन) ने महावीर निर्वाण संवत् १०३ (ई. पू. ४२४) में प्रथम बार खुदवाया था। छठे वर्ष में अपना राज्य-ऐश्वर्य चरितार्थ करने के लिए इस नृपति ने अपनी प्रजा के कर आदि माफ़ कर दिये, दीन-दुखियों से दया का बरताव किया, उन्हें सुखी और सन्तुष्ट बनाया, और पौरजानपदों (नगरपालिकाओं, ग्राम-पंचायतों, व्यावसायिक निगमों, श्रेणियों आदि विविध जनतन्त्रीय संस्थाओं) पर सैकड़ों-हज़ारों विभिन्न प्रकार के अनुग्रह किये। सातवें वर्ष में उसकी रानी ने, जो वंगदेश के वज्रधर राज्य की राजकुमारी थी, एक पुत्र को जन्म दिया। आठवें वर्ष में महाराज खारवेल ने विशाल सेना के साथ उत्तरापथ की विजय-यात्रा की। सर्वप्रथम उसने मगधराज्य पर आक्रमण किया और गोरथगिर (गया जिले की बराबर पहाड़ी) पर भीषण युद्ध करके राजगृह-नरेश को त्रस्त कर दिया। सम्राट् खारवेल के भय से यवनराज दिमित्र (मध्य एशिया का यूनानी नरेश डेमेट्रियस जिसने उस समय भारत पर आक्रमण किया था) अपनी समस्त सेना, युद्ध सामग्री, वाहनों आदि को जहाँ-तहाँ छोड़कर मथुरा से अपने देश को भाग गया। यमुनातट पर (मथुरा में) पहुँचकर पुष्पित-पल्लवित कल्पवृक्ष तुल्य वह राजाधिराज खारवेल अपने समस्त अधीनस्थ राजाओं तथा अश्व-गज-रथ-सैन्य सहित, सब गृहस्थों द्वारा पूजित (उस नगर के प्रसिद्ध देव-निर्मित) स्तूप की पूजा करने गया। उसने सभी याचकों को दान दिया, ब्राह्मणों को भरपेट भोजन कराया और अरहन्तों की पूजा की। नौवें वर्ष में उसने (कलिंग की) प्राचीन नदी (महानदी) के दोनों किनारों पर अड़तीस लाख मुद्रा व्यय करके महा-

विजय-प्रासाद नाम का अतिसुन्दर एवं विशाल राजमहल बनवाया। दसवें वर्ष में उसने अपनी सेनाओं को विजययात्रा के लिए पुनः भारतवर्ष (उत्तरापथ) की ओर भेजा और परिणामस्वरूप उसके सब मनोरथ सफल हुए। ग्यारहवें वर्ष में उसने दक्षिणदेश की विजय की। विथुण्डनगर (वृषदकदर्भपुरी) का ध्वंस किया। उसमें गदहों के हल चलवा दिये और ११३ वर्ष से संगठित चले आये तमिल राज्यों के संघ को छिन्न-भिन्न कर दिया। बारहवें वर्ष में सम्राट् खारवेल ने अपने आक्रमणों द्वारा उत्तरापथ के राजाओं में आतंक उत्पन्न कर दिया, उन्हें अस्त-व्यस्त कर दिया, मगध की जनता में भारी भय का संचार कर दिया, अपने हाथियों को गंगानदी में पानी पिलाया तथा उन्हें (पाटलिपुत्र के) गांगेय नामक राज-प्रासाद में प्रविष्ट कर दिया और मगधराज बृहस्पति-मित्र से अपने चरणों में प्रणाम करवाया। पूर्वकाल में नन्दराज द्वारा कलिंग से लायी गयी कलिंगजिन (अग्रजिन या आदि-जिन) की प्रतिमा को तथा अंग-मगध राज्यों के बहुमूल्य रत्नों एवं धन-सम्पत्ति को विजित सम्पत्ति के रूप में लेकर अपनी राजधानी में वह वापस आया। उपायन तथा विजित सम्पत्ति के रूप में प्राप्त धन से उसने अपनी महती विजय के चिह्नस्वरूप (मन्दिरों पर) ऐसे अनेक शिखर बनवाये जिनमें रत्न आदि सैकड़ों बहुमूल्य पदार्थों से सुन्दर पच्चीकारी की गयी थी। उसी वर्ष उसने सुदूर दक्षिण (मदुरा) के पाण्ड्यनरेश से भेंट अथवा कर रूप से प्राप्त अभूतपूर्व एवं आश्चर्यकारी उपायन, मणि-माणिक्य-मुक्ता, हाथी, घोड़े, सेवकों आदि से भरे जलपोत प्राप्त किये। इस प्रकार यह महान् नरेन्द्र समस्त प्रजाजनों एवं अधीन नृपतियों को वशीभूत करता हुआ और अपने विजयचक्र द्वारा साम्राज्य का विस्तार करता हुआ अपनी राजधानी में सुख से निवास करता था। अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में इस राजर्षि ने सुपर्वत-विजय-चक्र (प्रान्त) में स्थित कुमारी-पर्वत पर अपने राजभक्त प्रजाजनों द्वारा पूजे जाने के लिए उन अर्हन्तों की पुण्य-स्मृति में निषद्यकाएँ निर्माण करायी थीं जो निर्वाण-लाभ कर चुके थे। तपोधन मुनियों के आवास के लिए उसने लेणें (गुफाएँ) बनवायी, स्वयं उपासक (श्रावक) के व्रत ग्रहण किये और अर्हन्मन्दिर के निकट उसने एक विशाल मनोरम सभामण्डप (अर्कासन-गुम्फा) बनवाया, जिसके मध्य में एक बहु-मूल्य रत्न-जटिल मानस्तम्भ स्थापित कराया। उस सभामण्डप में सम्राट् ने उन समस्त सुकृत सुविहित ज्ञानी तपस्वी श्रमणों (जैन मुनियों) का सम्मेलन किया जो चारों दिशाओं से दूर-दूर से उसमें सम्मिलित होने के लिए पधारे थे। इस महामुनि-सम्मेलन में इस राजर्षि ने भगवान् की दिव्यध्वनि में उच्चरित उस शान्तिदायी द्वादशांग-श्रुत का पाठ कराया, जो कि महावीर संवत् १६५ (ई. पू. ३६२ भद्रबाहु श्रुतकेवली के निधनकाल) से निरन्तर ह्रास को प्राप्त होता आ रहा था (तथा उसके उद्धार का प्रयत्न किया) और इस प्रकार उस क्षेमराज (के पौत्र) वृद्धिराज (के पुत्र) भिक्षुराज (राजर्षि) धर्मराज नृपति ने भगवान् की उक्त कल्याणकारी वाणी के सम्बन्ध में प्रश्न-चर्चा करते हुए, उसका श्रवण और चिन्तवन करते हुए समय बिताया। विशिष्ट गुणों

के कारण दक्ष, समस्त धर्मों का आदर करने वाला, अप्रतिहत चक्रवाहन (जिसके रथ, ध्वजा और सेना की गति को कोई न रोक सका), साम्राज्यों का सतत विजयी एवं विशाल साम्राज्य का संचालक और संरक्षक, राजर्षियों के वंश में उत्पन्न, महाविजयी राजचक्री, ऐसा यह राजा खारवेलश्री था।''

इस राजकीय अभिलेख का महत्त्व सुस्पष्ट है। समय की दृष्टि से सम्राट् प्रियदर्शी (अशोक या सम्प्रति) के शिलालेखों के पश्चात् इसी का नम्बर आता है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो यह अभिलेख प्राचीन भारत के समस्त उपलब्ध शिलालेखों में सर्वोपरि है। उस काल का यही एकमात्र ऐसा लेख है जिसमें नायक के वंश, वर्षसंख्या, देश (कलिंग) की जनसंख्या, देश, जाति, पद-नाम इत्यादि अनेक बहुमूल्य ऐतिहासिक तथ्यों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। प्रो. राखालदास बनर्जी के मतानुसार यह लेख पौराणिक वंशावलियों की पुष्टि करता है और ऐतिहासिक कालगणना को पाँचवीं शती ई. पू. के मध्य के लगभग तक पहुँचा देता है। देश के लिए भारतवर्ष नाम का सर्वप्रथम शिलालेखीय प्रयोग इसी लेख में प्राप्त होता है। कलिंग देश की तत्कालीन राजनीति, लोकदशा, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन, राजा की योग्यता, राजकुमारों को शिक्षा-दीक्षा और प्रजा के प्रति राजा के कर्तव्यों का यह लेख सुन्दर दिग्दर्शन कराता है। बिहार और उडीसा प्रान्तों के सम्बन्धों की ऐतिहासिकता को भी साधिक दो सहस्र वर्ष पूर्व तक ले जाता है।

इस विषय मे तो किसी को भी कोई सन्देह नही है कि इस लेख को अंकित करानेवाला नरेश जैनधर्म का अनुयायी और परम जिनभक्त था, अतएव जैनधर्म के इतिहास के लिए तो यह शिलालेख अत्यन्त मूल्यवान् है। कई जैन अनुश्रुतियों की पुष्टि भी इस लेख से होती है। भद्रबाहु श्रुतकेवली के उपरान्त मौखिक द्वार से प्रवाहित चले आये आगमश्रुत का क्रमिक ह्रास, खारवेल द्वारा उसके उद्धार का प्रयत्न, महामुनि-सम्मेलन और आगमज्ञान को पुस्तकारूढ़ करने तथा पुस्तक साहित्य का प्रणयन करने के लिए चलाये गये सरस्वती आन्दोलन का प्रारम्भ इत्यादि तथ्यों का इस लेख से समर्थन होता है। इसके साथ ही यह अभिलेख महाराज खारवेल के व्यक्तित्व, चरित्र, जीवन की कालक्रमिक घटनाओं, दिग्विजयों, पराक्रम और प्रताप, लोकोपकार एवं लोकरंजन के लिए किये गये कार्यों, प्रजावत्सलता, धर्मोत्साह एवं धार्मिक कार्यों इत्यादि को प्रतिबिम्बित करनेवाला निर्मल दर्पण है। इस लेख से सुविदित है कि राजाधिराज खारवेल न केवल अपने युग का ही आसमुद्रक्षितीश महान् चक्रवर्ती सम्राट् था, वरन् वह सर्वकालीन महान् सम्राटों में परिगणित होने के सर्वथा योग्य है। राजनीति, प्रशासन, युद्धविद्या, लोक-व्यवहार, साहित्य, कला एवं प्रबुद्ध धार्मिकता इत्यादि एक महान् सम्राट् के उपयुक्त समस्त अंगों से उसका व्यक्तित्व परिपुष्ट था, और आश्चर्य यह है कि मात्र तेरह वर्ष के राज्यकाल में उसने इतना सब सम्पादन कर लिया तथा कलिंग साम्राज्य को उसकी सर्वतोमुखी उन्नति के ऐसे शिखर पर पहुँचा दिया जो 'न भूतो न भविष्यति' था। उसके उपरान्त भी अवश्य ही वह कितने ही वर्ष जीवित रहा

होगा, किन्तु उस शेष राज्यकाल का ऐसा ही विवरण अंकित कराने का अवसर आने के पूर्व ही यह महान् जैन सम्राट् दिवंगत हो गया लगता है।

परम जैन होते हुए भी सम्राट् खारवेल सर्वधर्मसहिष्णु एवं अत्यन्त उदाराशय नृप था, और अहिंसा धर्म का पालक सच्चा धर्मवीर होते हुए भी ऐसा पराक्रमी शूरवीर था कि उसने प्रचण्ड विदेशी आक्रमणकारी यूनानी नरेश दमित्र को स्वदेश कलिंग से अतिदूर मथुरा, शायद उससे भी आगे जाकर भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त से बाहर खदेड़ दिया था।

खारवेल द्वारा निर्मापित कला-कृतियों के उपलब्ध अवशेषों पर से कलामर्मज्ञों ने उसके गुहा-मन्दिरों के स्थापत्य एवं मूर्ति-पटों को भी सुन्दर और निराला घोषित किया है। जिनेन्द्र भगवान् का अनन्य उपासक यह राजर्षि सम्भवतया श्रावक के व्रतों को तो अपने राज्यकाल के तेरहवें वर्ष में ही अथवा उसके कुछ पूर्व ही अंगीकार कर चुका था, सम्भव है कि उसके कुछ वर्ष पश्चात् उसने जो पहले ही स्वयं को 'भिक्षुराज' कहता है, गृहस्थ और राज्यकार्य से विराम लेकर जैन मुनि के रूप में अपने उसी कुमारी-पर्वत पर तपश्चरण करके आत्मसाधन किया हो।

राजर्षि खारवेल का प्रायः पूरा परिवार, अनेक राजपुरुष तथा प्रतिष्ठित प्रजाजन भी जैनभक्त थे। जिनेन्द्र का धर्म उस काल में कलिंग का राष्ट्रधर्म था और प्रजा का बहुभाग भी इसी धर्म का अनुयायी रहा प्रतीत होता है। पूर्वोक्त उदयगिरि की स्वर्गपुरी अपरनाम वैकुण्ठपुरी गुफा में अंकित एक लेख के अनुसार कलिंग चक्रवर्ती श्रीखारवेल की अग्रमहिषी ने जो राजन ललाक हत्थिसिंह की सुपुत्री थी, कलिंग के श्रमणों के निवास के लिए अर्हन्त-प्रासाद के निकट भाग में उक्त लेख निर्मित करायी थी। वहीं मंचपुरी गुफा के निचले भाग में स्थित पातालपुरी नामक गुफा को 'महाराज ऐल महामेघवाहन के वंशज' (सम्भवतया पुत्र एवं उत्तराधिकारी) कलिंगाधिपति महाराज कुदेपश्री ने निर्मित कराया था। यमपुरी नामक गुफा राजकुमार बडुख ने बनवायी थी—सम्भवतया उसने स्वयं उसी गुफा में धर्मसाधन किया था। व्याघ्र गुफा को नगर न्यायाधीश भृति ने निर्मित कराया था। उसी के निकटस्थ सर्पगुफा में कम्भ, हलसिण और चूलकम्भ नाम के व्यक्तियों के लेख हैं जिनसे लगता है कि गुफा के प्रासाद को इनमें से प्रथम दो ने तथा उसके अन्तर्गृह को तीसरे ने बनवाया था। जम्बेश्वर गुफा में महाबारिया और नाकिय के नाम अंकित हैं। छोटी हाथीगुम्फा आत्मशुद्धि नामक व्यक्ति द्वारा दान की गयी थी। तत्त्वगुफा कुसुम नामक पादमूलिक (राज्यकर्मचारी विशेष) द्वारा निर्मापित है। अनन्तगुफा भी श्रमणों के ही उपयोग के लिए बनवायी गयी थी। इन विभिन्न लेणों, गुहामन्दिरों और उनमें अंकित शिलालेखों से प्रकट है कि खारवेल के बाद भी कई शताब्दियों तक खण्डगिरि-उदयगिरि जैनों का पवित्र तीर्थ और जैन श्रमणों का प्रिय आवास बनी रही। खारवेल का वंश भी कलिंग देश पर उसके उपरान्त लगभग दो-डेढ़ सौ वर्ष पर्यन्त राज्य करता रहा प्रतीत होता है, किन्तु ये उत्तरवर्ती राजे गौण महत्त्व

के ही रहे लगते हैं। तोसलि यदि खारवेल की राजधानी नहीं था तो कम से कम एक महत्त्वपूर्ण नगर था और वह उस काल में एक महत्त्वपूर्ण जैन केन्द्र था। कुछ ग्रन्थों में भगवान् महावीर के तोसलि में पधारने के तथा कालान्तर में तोसलिक नामक किसी राजा द्वारा सुरक्षित जिन-प्रतिमा के उल्लेख पाये जाते हैं। जैन साहित्य के अनुसार कंचनपुर भी कलिंग का एक प्रसिद्ध नगर था। ऐसा भी विदित होता है कि कलिंग देश में भगवान् आदिनाथ और महावीर के अतिरिक्त भगवान् पार्श्वनाथ की विशेष उपासना रही।

यवनराज मिनेण्डर

खारवेल युग में ही यवनराज मेनेन्द्र (मिनेण्डर) हुआ। बौद्ध साहित्य में उसका उल्लेख मिलिन्द नाम से हुआ है। मिलिन्दपञ्हो (राजा मिलिन्द के प्रश्न) नामक प्राचीन ग्रन्थ से भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर सीमान्तवर्ती सागल (स्यालकोट) के इस यूनानी नरेश की धार्मिक एवं दार्शनिक जिज्ञासा का पता चलता है। कहा जाता है कि उसने जैन मुनियों से भी सम्पर्क बनाया था, उन्हे प्रश्रय भी दिया था, उनसे प्रश्न पूछे थे और धर्म-चर्चा की थी। स्व. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने एक प्राचीन जैन ग्रन्थ में इस यूनानी नरेश का नाम मेनेन्द्र भी खोज निकाला था; अन्यत्र भारतीय साहित्य में सिवाय उपर्युक्त मिलिन्दपञ्हो के उसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिला है। इसका समय दूसरी शती ई. पू. का उत्तरार्ध अनुमानित है।

रानी उर्विला

मौर्ययुग के अन्त के लगभग मथुरा में पूतिमुख नामक राजा राज्य करता था। उसकी एक पत्नी बौद्ध थी और दूसरी जैन, जिसका नाम उर्विला था। उर्विला पट्टरानी थी, किन्तु राजा बौद्ध रानी के प्रभाव में अधिक था। उस समय मथुरा के देवनिर्मित प्राचीन जैन स्तूप के अधिकार को लेकर बौद्धों और जैनों में विवाद हुआ और बौद्ध रानी की सहायता से बौद्धों ने स्तूप पर अधिकार कर लिया था। महारानी उर्विला ने दूर-दूर से विद्वानों को बुलाया, शास्त्रार्थ कराया और अथक प्रयत्न करके यह सिद्ध करवा दिया कि स्तूप जैनों का ही है। उसने स्तूप पर जैनों का पुनः अधिकार कराया और बड़े समारोह के साथ नगर में जिनेन्द्र का रथ निकलवाया। तभी इस धर्मात्मा रानी ने अन्न-जल ग्रहण किया।

महाराज आषाढ़सेन

मौर्यों के अस्तकाल में उत्तरपांचाल जनपद की राजधानी अहिच्छत्रा में शौनकायन नामक राजा ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी। प्रायः उसी काल में वत्स की राजधानी कौशाम्बी में एवं शूरसेन की राजधानी मथुरा में भी स्वतन्त्र राज्य-सत्ताएँ उदय में आ गयी थीं। इन तीनों राज्यवंशों में परस्पर निकट सम्बन्ध भी थे और यह सभी जैनधर्म के अनुयायी अथवा प्रश्रयदाता रहे प्रतीत होते हैं। संयोग से ये तीनों

ही राजधानियाँ जैन परम्परा की पुण्यभूमियाँ भी थी, जिनमें अहिच्छत्रा तो तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की तप एवं केवलज्ञान भूमि थी। उक्त राजा शौनकायन का पुत्र राजा वंगपाल था जिसकी रानी त्रैवर्ण राजकन्या थी अतएव तेवणी कहलाती थी। राजा वंगपाल और तेवणी रानी का पुत्र राजा भागवत था जिसकी पत्नी वैहिदर राजकुमारी थी। इस वैहिदरी रानी से उत्पन्न राजा भागवत का पुत्र आषाढ़सेन था। उस समय कौशाम्बी में आषाढ़सेन की बहन गोपाली का पुत्र बृहस्पतिमित्र राजा था। महाराज आषाढ़सेन ने अपने राज्य के दसवें वर्ष में अपने भानजे की राजधानी कौशाम्बी के निकटस्थ जैनतीर्थ पभोसा (प्रभासगिरि) के ऊपर काश्यपीय अरहन्तों (जैन मुनियों) के लिए गुफा निर्माण करायी थी। पभोसा छठे तीर्थंकर पद्मप्रभु का तप एवं केवलज्ञान प्राप्ति का स्थान है। वहाँ की उक्त प्राचीन गुफा में उक्त महाराज आषाढ़सेन के दो शिलालेख अंकित हैं तथा कतिपय प्राचीन आयागपट्टों, मूर्तियों आदि के अन्य जैन अवशेष भी मिले हैं।

वीर विक्रमादित्य

यूनानी सम्राट् सिकन्दर महान् के आक्रमण ने उत्तरी सिन्ध और पंजाब के जिन गणतन्त्रों को छिन्न-भिन्न कर दिया था उनमें एक मल्लोई या मालवगण था। ये लोग स्वदेश का परित्याग करके दक्षिण-पूर्व की ओर चले गये और राजस्थान के वैराटदेश में जा बसे। किन्तु वहाँ भी न जम पाये और सम्भवतया अशोक या सम्प्रति के समय में वे अवन्ति प्रदेश में आ बसे। उन्हीं के कारण वह प्रदेश कालान्तर में मालवा कहलाने लगा। सम्प्रति के निर्बल उत्तराधिकारियों के समय में उन्होंने अपनी संख्या, गणतन्त्रीय संगठन और स्वतन्त्रता प्रेम के बल पर पर्याप्त शक्ति संचय कर ली, और सम्भवतया शुंग राज्यक्रान्ति का लाभ उठाकर तथा उज्जयिनी को अपना केन्द्र बनाकर अपनी गणसत्ता स्वतन्त्र स्थापित कर ली। शायद यही कारण है कि शुंगों ने जब इस प्रदेश पर अधिकार किया तो अपनी राजधानी उज्जयिनी को न बनाकर विदिशा को बनाया। ऐसा प्रतीत होता है कि कलिंग-चक्रवर्ती खारवेल ने मध्यभारत के अपने अभियान में उक्त मालवगण को भी विजय कर लिया था और सम्भवतया उसकी गणतन्त्रात्मक सत्ता को भी मान्य कर लिया था, किन्तु गणाध्यक्ष के पद पर स्वयं अपना एक राजकुमार नियुक्त कर दिया था। इस राजकुमार का वंशज, सम्भवतया पौत्र, महेन्द्रादित्य गर्दभिल्ल ई. पू. ७४ में मालवगण का अध्यक्ष और उज्जयिनी का स्वामी था। यह नगर पूर्वकाल से ही जैनधर्म से सम्बन्धित रहता आया था और उस काल में तो मध्यभारत में विशेषकर आचार्य स्थूलिभद्र एवं सुहस्ति की परम्परा के जैनों का प्रधान केन्द्र था। जैन साधुओं और साध्वियों का वहाँ स्वच्छन्द विहार होता था। कालक द्वितीय उस समय के प्रसिद्ध जैनाचार्य थे जो पूर्वावस्था में एक राजकुमार थे। उनकी बहन सरस्वती भी जैन साध्वी थी। वह अनिन्द्य सुन्दरी थी। गर्दभिल्ल उसे देखते ही उसके रूप पर बेतरह आसक्त

हो गया और उसने धर्म की मर्यादा को भुलाकर उक्त साध्वी को जबरदस्ती अपहरण कराके अपने महल में उठवा मँगाया। समाचार पाते ही कालक ने राजा के पास जाकर उसे बहुत समझाया तथा अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों से भी जोर डलवाया, किन्तु उस स्वेच्छाचारी सत्ताधारी को उसके दुष्ट अभिप्राय से विरत करने में सफल न हो सका। गर्दभिल्ल के भय से आसपास के अन्य राजे भी हस्तक्षेप करने का साहस न कर सके। कालक के राज्यकुलोत्पन्न क्षत्रियोचित संस्कार जागृत हो चुके थे, अतएव सन्त्रस्त कालक सिन्धुकूल पर अवस्थित शकस्थान के शाहियों के पास पहुँचा और उन्हें ससैन्य साथ लेकर तथा मार्ग के अन्य राजाओं की भी सहायता प्राप्त करता हुआ ई. पू. ६६ में उज्जयिनी के दुर्ग-द्वार पर आ धमका। चार वर्ष तक निरन्तर युद्ध चला, अन्ततः ई. पू. ६१ में कालक के कौशल और शक शाहियों के पराक्रम से गर्दभिल्ल पराजित होकर बन्दी हुआ और सरस्वती का तथा मालवगण का उक्त अत्याचारी के कुशासन से उद्धार हुआ। उसकी याचना पर कालक ने उसे प्राणदान देकर देश से निर्वासित कर दिया। किन्तु अब शाही उज्जयिनी में जम गये। अपनी विजय के उपलक्ष्य में उन्होंने एक शक संवत् भी प्रचलित कर दिया, जो पूर्व शक संवत् कहलाता है। यह संवत् भी उस देश एवं काल में प्रचलित महावीर संवत् की भाँति कार्तिकादि था। सम्भवतया पुराने संवत् में ही नयी कालगणना शुरू कर दी गयी थी।

शकों का यहाँ जम बैठना स्वाधीनता-प्रेमी मालवगण सहन नहीं कर सके। स्वयं कालक को यह स्थिति अभिप्रेत नहीं थी। महेन्द्रादित्य गर्दभिल्ल का सुयोग्य एवं तेजस्वी पुत्र वीर विक्रमादित्य तो इस स्थिति से अत्यन्त असन्तुष्ट था। फलतः उसने मालवजनों को अपने नेतृत्व में सुसंगठित किया और ई. पू. ५७ में शकों को उज्जयिनी प्रदेश से निकाल बाहर किया। मालवगण ने अपनी यह विजय बड़े उल्लास और समारोह से मनायी। वीर विक्रमादित्य को उन्होंने अपना गणराजा घोषित किया, उसे 'शकारि' की उपाधि प्रदान की, और उक्त विजय वर्ष से एक संवत् का प्रवर्तन किया जो कई शताब्दियों तक मालवगण, मालववंशकीर्ति, मालवेश अथवा मालव संवत् कहलाया। क्योंकि यह भी प्रचलित महावीर संवत् की भाँति कार्तिकादि ही था और विक्रम के सुराज्य की दृष्टि से सतयुग के प्रारम्भ का सूचक भी था, कृत् संवत् भी कहलाया। कालान्तर में ७८ ई. के शक-शालिवाहन संवत् के अनुकरण पर उसे चैत्रादि बना दिया गया और शनैः-शनैः वह विक्रमाख्य काल, विक्रमनृपकाल या विक्रम संवत् भी कहलाने लगा। मालवगण ने अपनी उक्त विजय के उपलक्ष्य में सिक्के भी ढाले जिनपर 'मालवानां जयः' और 'मालवगणस्य जयः' शब्द अंकित किये।

यह तो उस परमवीर एवं देशभक्त विक्रमादित्य की अतिशय उदारता एवं अहं-शून्यता का ही परिचायक है कि उसने न उक्त सिक्कों पर अपना नाम अंकित कराया और न उस संवत् के साथ ही जोड़ा। किन्तु देश की जनता, आनेवाली पीढ़ियों और इतिहास ने उसे अमर करके समुचित कृतज्ञता ज्ञापन किया ही। कालान्तर में अनेक

भारतीय नरेशों ने 'विक्रमादित्य' विरुद धारण किया, अपने नाम से संवत् भी चलाये, किन्तु उक्त नाम का धारक प्रथम नरेश वही था। ऐतिहासिक राजकीय भारतीय संवत् का सर्वप्रथम प्रवर्तक भी वही था। अनगिनत भारतीय लोककथाओं का वह नायक है। एक अत्यन्त बुद्धिमान्, पराक्रमी, अतिशय उदार एवं दानशील, सर्वधर्मसहिष्णु, विद्यारसिक, विद्वानों का प्रश्रयदाता, अत्यन्त न्यायपरायण, धर्मात्मा, प्रजावत्सल एवं सुशासक के रूप में वह आदर्श भारतीय नरेश माना जाता रहा है। पूर्ववर्ती चन्द्रगुप्त मौर्य एवं खारवेल-जैसे महान् जैन सम्राटों की परम्परा में देश को विदेशियों के आक्रमण से मुक्त करने में यह महान् जैन सम्राट् विक्रमादित्य भी अविस्मरणीय है। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार वह जैनधर्म का परम भक्त था। इस विषय में शंका करने की गुंजायश नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण, बौद्धादि अन्य सम्प्रदायों की अनुश्रुतियों में तथा उनके आधार से लिखे गये सामान्य इतिहास में उसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसीलिए अनेक आधुनिक इतिहासकार उसकी ऐतिहासिकता में भी सन्देह करते और उसे एक काल्पनिक व्यक्ति मानते देखे जाते हैं। जैन कालगणनाओं में भी इस राजा विक्रमादित्य का उल्लेख है तथा मध्य एवं पश्चिमी भारत के जैनों में तो उसी के संवत् की प्रवृत्ति भी विशेष रही है। विक्रमादित्य का कुलधर्म भी जैन था, राज्यधर्म भी जैन था, मालवगणों और मालवदेश के प्रजाजनों में भी इस धर्म की प्रवृत्ति थी। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार विक्रमादित्य ने चिरकाल तक राज्य किया और स्वदेश को सुखी, समृद्ध एवं नैतिक बनाया। उसने तथा उसके उपरान्त उसके वंशजों ने मालवा पर लगभग एक सौ वर्ष राज्य किया बताया जाता है।

सातवाहनवंशी राजे

ईसापूर्व तीसरी शताब्दी के अन्त से लेकर सन् ईस्वी की तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ पर्यन्त दक्षिणापथ के बहुभाग पर पैठन (प्रतिष्ठानपुर) के सातवाहनवंशी नरेशों का प्रायः एकाधिपत्य रहा। यह वंश आन्ध्रजातीय था और सम्भवतया ब्राह्मण एवं नाग-रक्तमिश्रण से उत्पन्न हुआ था। प्राचीन ब्राह्मणीय साहित्य में आन्ध्रों को जाति बाह्य, नीच और अनार्य कहा है, किन्तु ये सातवाहन राजे स्वयं को क्षत्रियों का मानमर्दन करनेवाले ब्राह्मण कहते थे। इस वंश में लगभग तीस राजाओं के होने का पता चलता है जिनमें से शातकर्णि प्रथम एवं द्वितीय, हाल या शालिवाहन, गौतमीपुत्र शातकर्णी और यज्ञश्री शातकर्णि विशेष प्रसिद्ध हैं। ये राजे पर्याप्त शक्तिशाली एवं विस्तृत महाराज्य के स्वामी थे। अधिकांशतः सातवाहनवंशी नरेश ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे, किन्तु अन्य धर्मों के प्रति भी सहिष्णु थे। प्राचीन जैन साहित्य में सातवाहन राजाओं के अनेक उल्लेख मिलते हैं, और उनमें से कई एक का जैन होना भी सूचित होता है। किन्तु क्योंकि ये उल्लेख प्रायः 'पैठन का शालिवाहन राजा' रूप में पाये जाते हैं अतएव इस वंश के नरेशों की सूची में उन्हें चीन्हना दुष्कर है। इन जैन राजाओं में प्रसिद्ध 'सतसई' के रचयिता

हाल (२०-२४ ई.) अपरनाम शालिवाहन के भी होने की सम्भावना है। यह ग्रन्थ महाराष्ट्री प्राकृत में आर्या छन्दों में रचित है और उसपर जैन विचारों का प्रभाव लक्षित होता है। सातवाहन राज्य में जैनों की प्रिय प्राकृत भाषा का ही प्रचलन था। ये राजे स्वयं तो विद्वान् या विशेष विद्यारसिक नहीं थे किन्तु विद्वानों का बिना साम्प्रदायिक भेदभाव के आदर करते थे। हमारा तो साधार अनुमान है कि 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' के रचयिता जैनाचार्य उमास्वाति इसी राज्यवंश में उत्पन्न हुए थे। जैनाचार्य शर्ववर्म द्वारा 'कातन्त्र' व्याकरण की रचना तथा जैनाचार्य काणभिक्षु या काणभूति द्वारा प्राकृत के मूलकथाग्रन्थ की रचना और उसके आधार पर गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' की रचना सातवाहन नरेशों के ही प्रश्रय में हुई थी। अन्य भी कई प्राकृत भाषा के जैन ग्रन्थ उस काल में वहाँ रचे गये प्रतीत होते हैं। सातवाहन राज्य में जैन मुनियों का स्वच्छन्द विहार था। इन्ही के काल में जैन संघ दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदायों में विभक्त हुआ और इनका राज्य उन दोनों सम्प्रदायों के साधुओं का सन्धि-स्थल था। दिगम्बर परम्परा के षट्खण्डागम आदि जैन आगमों का सर्वप्रथम संकलन एवं पुस्तकीकरण सम्भवतया इन्ही के राज्य में उसी काल में हुआ था।

नहपान

मालव-वीर विक्रमादित्य ने जिन शकशाहियों को मालवा से निकाल बाहर किया था, उसका नेता सम्भवतया घटक या भूमक था जिसने सौराष्ट्र के शक-क्षहरात वंश की नीव डाली। एक ओर मालवा के विक्रमादित्य और दूसरी ओर पैठन के सातवाहनों के कारण क्षहरातों की शक्ति सीमित बनी रही, किन्तु प्रथम शताब्दी ईसवी के मध्य के कुछ पूर्व वे बहुत शक्तिशाली हो गये। उस समय नहपान सौराष्ट्र-गुजरात का क्षहरात था। वह इस वंश का सर्वप्रसिद्ध, महत्त्वपूर्ण एवं प्रतापी नरेश था। जैन साहित्य में उसका नहवाण, नरवाहन, नभोवाहन, नभसेन, नरसेन आदि नामों से उल्लेख हुआ है। उसे वम्मिदेश का राजा बताया है और उसकी राजधानी का नाम वसुन्धरा था जो सम्भवतया भृगुकच्छ (भड़ौच) का ही अपर नाम था। नहपान की रानी का नाम सुरूपा था जो भारतीय रही प्रतीत होती है। नहपान का चालीस वर्ष का राज्यकाल गर्दभिल्लवंश एवं भद्रचष्टन वंश के मध्य पडता है जो लगभग सन् २६-६६ ई. निश्चित होता है। यूनानी भूगोलवेत्ता टालेमी ने भी भड़ौच के इस नरेश का उल्लेख किया है। नहपान के अपने तथा उसके जामाता उषवदात (ऋषभदत्त) के तथा सुयोग्य मन्त्री अयम के कई शिलालेख प्राप्त हुए हैं जो वर्ष इकतालीस से छियालीस तक के हैं। सम्भवतया नहपान के पूर्वज भूमक ने या स्वयं नहपान ने अपने राज्यारम्भ में मालवा के बहुभाग पर अधिकार करके यह नवीन वर्षगणना चालू की थी। उज्जयिनी को प्राप्त करने के लिए क्षहरातों और सातवाहनों के बीच प्रायः निरन्तर संघर्ष चलता रहा। अन्ततः गोमतीपुत्र शातकर्णि ने भृगुकच्छ पर आक्रमण करके नहपान को पराजित

किया। परिणामस्वरूप नहपान ने राज्यभार जामाता ऋषभदत्त, मन्त्री अयम और सेनापति यशोमति को सौंपकर स्वयं जिनदीक्षा ले ली प्रतीत होती है। इस समय तक इन शकों का प्रायः पूर्णतया भारतीयकरण हो चुका था। उन्होंने भारतीय आचार-विचार, भाषा, नाम, वेशभूषा, रीतिरिवाज, धर्म और संस्कृति अपना लिये थे। एक जैन अनुश्रुति के अनुसार इसी महाराज नरवाहन ने अपने मित्र मगधनरेश को मुनिरूप में देखकर उनकी प्रेरणा से सुबुद्धि नामक अपने धनकुबेर राज्यश्रेष्ठि एवं मित्र के साथ मुनिदीक्षा ले ली थी। उस समय दक्षिणात्य जैनसंघ के नेता संघाचार्य अर्हद्बलि थे। वही सम्भवतः राजा नरवाहन और सेठ सुबुद्धि के दीक्षा गुरु थे। उक्त आचार्य ने सन् ६६ ई. के लगभग वेण्यातटवर्ती महिमानगरी में महामुनि सम्मेलन किया था। उसी सम्मेलन ने सौराष्ट्र के गिरिनगर की चन्द्रगुफा में निवास करनेवाले आगमधर आचार्य धरसेन का सन्देश पाकर, सर्वसम्मति से सुबुद्धि एवं नरवाहन मुनिद्वय को सर्वथा योग्य समझकर धरसेनाचार्य की सेवा में भेजा था। धरसेनाचार्य ने इन्हें क्रमशः पुष्पदन्त और भूतबलि नाम दिये, स्वयं को परम्परा से प्राप्त मूल आगमज्ञान दिया और उसे पुस्तकीकरण करने का आदेश दिया। परिणामस्वरूप पुष्पदन्त एवं भूतबलि आचार्यद्वय के अध्यवसाय से षट्खण्डागम सिद्धान्त के रूप में तीर्थंकर महावीर की द्वादशांगवाणी के उक्त महत्त्वपूर्ण अंश का उद्धार हुआ, वह लिपिबद्ध हुआ और पुस्तक रूप में उसके पूजन-प्रकाशन की स्मृति में श्रुतपंचमी की प्रवृत्ति हुई।

भद्रचष्टनवंशी क्षत्रप

नहपान के राज्य त्याग करने के पश्चात् कुछ ही वर्षों में उसके सेनापति यशोमतिक का बल और प्रभाव इतना बढ़ा कि वह क्षहरात राज्य को प्रधान शक्ति बन गया। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी चष्टन और भी अधिक महत्त्वाकांक्षी वीर एवं युद्धकुशल था। सन् ७८ ई. में उसने मालवगण को पराजित करके उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया और इस उपलक्ष्य में अपना नवीन शक संवत् प्रचलित किया। उसने अपनी स्वतन्त्रता भी घोषित कर दी और सौराष्ट्र में नवीन राज्यवंश की स्थापना की जो पश्चिमी क्षत्रपवंश कहलाया। जैन अनुश्रुति के अनुसार महावीर निर्वाण से ६०५ वर्ष पाँच मास पश्चात् इस वंश का संस्थापक शक-नरेन्द्र भद्रचष्टन ही प्रचलित शक संवत् का प्रवर्तक है। यह भारतवर्ष का प्रथम चैत्रादि संवत् था और दक्षिण एवं पश्चिम भारत में सामान्यतया तथा जैनों में विशेषतया लोकप्रिय हुआ। सातवाहन राजाओं ने भी इस नवीन संवत् को अपनाने का प्रयत्न किया, इसीलिए कालान्तर में वह शक-शालिवाहन संवत् के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। भद्रचष्टन का वंश लगभग ढाई सौ वर्ष तक चला और उसमें कई महत्त्वपूर्ण नरेश हुए। चष्टन का पौत्र महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम (लगभग १३०-१५० ई.) इस वंश का सर्वाधिक शक्तिशाली एवं प्रतापी नरेश था। उसका सन् १५० ई. का बृहत् शिलालेख जो इतिहास में जूनागढ़-

प्रशस्ति के नाम से प्रसिद्ध है, गिरिनगर के सुप्रसिद्ध मौर्यकालीन सुदर्शनताल के तट पर अंकित है। उस सरोवर का जीर्णोद्धार भी इस नरेश ने कराया था। रुद्रदामन के पुत्र एवं उत्तराधिकारी दामजदश्री ने गिरिनगर की पूर्वोक्त चन्द्रगुफा में आगमोद्धारक आचार्य धरसेन के स्वर्गवास की स्मृति में एक शिलालेख अंकित कराया था। इसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी रुद्रसिंह प्रथम भी जैनधर्म का अनुयायी था। प्रायः इसी काल में इस वंश की एक राजमहिला ने भगवान् महावीर की जन्मभूमि वैशाली की तीर्थयात्रा की थी। उस महिला की कतिपय मुद्राएँ बसाढ़ (वैशाली) के खण्डहरों में प्राप्त हुई है।

मथुरा के शक-क्षत्रप

मौर्य सम्प्रति के समय में रानी उर्विला के प्रयास से प्राचीन जैन स्तूप पर जैनों-का पुनः अधिकार स्थापित हो जाने के उपरान्त पश्चिमी उत्तरप्रदेश में मथुरा नगर जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र बनता गया। वहाँ के तथाकथित मित्रवंशी राजे जो सम्भवतया रानी उर्विला की ही सन्तति में से थे या तो जैन थे अथवा जैनधर्म के प्रति पर्याप्त सहिष्णु थे। उक्त प्राचीन देवनिर्मित स्तूप (जिसके अवशेष मथुरा के कंकाली टीले से विपुल मात्रा में प्राप्त हुए हैं) के चारों ओर एक विशाल जैन संस्थान विकसित हुआ जहाँ अनेक जैन साधु निवास करते थे। मथुरा के ये जैन मुनि सम्राट् खारवेल द्वारा आयोजित मुनि-सम्मेलन मे भी सम्मिलित हुए थे। इनकी एक विशेषता यह थी कि इन्होंने एक दूसरे से फटकर दूर होती हुई दक्षिणी-पश्चिमी शाखाओं से, जो कालान्तर में क्रमशः दिगम्बर और श्वेताम्बर नामों से प्रसिद्ध हुई, स्वयं को पृथक् रखा तथा उन दोनों के समन्वय का ही प्रयत्न किया। मथुरा के इन मुनियों ने ही वह सरस्वती-आन्दोलन चलाया जिसके फलस्वरूप जैनसंघ में श्रुतागम के लिपिबद्ध करने एवं पुस्तक साहित्य प्रणयन की प्रवृत्ति शुरू हुई। वैसे भी महानगरी मथुरा विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों तथा देशी-विदेशी जातियो का सुखद संगमस्थल थी। स्वभावतः वहाँ के जैन साधु और गृहस्थ अपेक्षाकृत कही अधिक उदार और विशाल दृष्टिवाले थे।

अस्तु, प्रायः उसी काल में जब शकों का मालवा में सर्वप्रथम प्रवेश हुआ (लग-भग ई. पू. ६६ मे) तो मथुरा पर भी उनकी एक शाखा ने अधिकार कर लिया था। मथुरा के इस शक-क्षत्रप वंश में हगन, रज्जुबल, शोडास आदि नाम प्राप्त होते हैं। मथुरा की अपनी परम्परा के अनुसार उसके इन शक-क्षत्रपों ने भी सर्वधर्म-सहिष्णुता की नीति अपनायी। उनमें महाक्षत्रप शोडास सर्वाधिक प्रसिद्ध है और उसका झुकाव भी जैनधर्म की ओर विशेष रहा प्रतीत होता है। इसी काल में मथुरा में प्रसिद्ध जैन सिंहध्वज स्थापित हुआ तथा श्रमण महारक्षित के शिष्य और वात्सी के पुत्र श्रावक उत्तरदासक ने जिनेन्द्र के प्रासाद का तोरण निर्माण कराया था। स्वामी महाक्षत्रप शोडास के ४२वें वर्ष के एक शिलालेख में अर्हत्-वर्धमान को नमस्कार करने के पश्चात् बताया है कि हारीतिपुत्र पाल की भार्या श्रमण-श्राविका कौत्सी आमोहिनी ने पालघोष, प्रोस्थघोष

एवं धनघोष नामक अपने पुत्रों सहित आर्यवती (भगवान् की माता) की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। एक अन्य उसी काल के अभिलेख में अर्हत्-वर्धमान को नमस्कार करके बताया है कि लवणशोभिका नाम की एक श्रमण-श्राविका ने जो एक गणिका थी, अपनी माता, बहनों, पुत्रियों, पुत्रों तथा अन्य सर्व परिजनों के साथ सेठों की निगम के अर्हतायतन (जिनमन्दिर) में अर्हत् भगवान् की पूजा के लिए एक वेदीगृह, पूजा-मण्डप, प्रपा (जलाशय), शिलापट्ट आदि निर्माण कराकर समर्पित किये थे। एक शिलालेख के अनुसार उस वीर गौतीपुत्र की भार्या कौशिकी शिवमित्रा ने एक आयागपट प्रतिष्ठापित किया था, जो स्वयं पोठय (पह्लव या पार्थियन) और शक लोगों के लिए काल-व्याल (काला नाग अर्थात् उनका साक्षात् काल) था। सम्भवतया इसी गौती (गौप्ती)-पुत्र इन्द्रपाल ने अर्हन्त-पूजा के अर्थ एक जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। ये दोनों शिलालेख ईसवी सन् की प्रथम शती के दूसरे दशक के अनुमान किये जाते हैं। ऐसा लगता है कि इस पराक्रमी वीर गौतीपुत्र को ही मथुरा मे शक-क्षत्रपों की सत्ता को समाप्त करने का श्रेय है, सम्भवतया पुराने या एक नवीन स्थानीय राज्यवंश की स्थापना का भी। प्रायः उसी काल मे मुनिजयसेन की शिष्या धर्मघोषा ने एक जिनमन्दिर बनवाया, श्रमण-श्राविका बलहस्तिनी ने अपने माता, पिता, सास और श्वसुर सहित एक प्रासाद-तोरण प्रतिष्ठापित किया, फाल्गुयश नर्तक की भार्या शिवयशा ने अर्हत्-पूजार्थ एक आयागपट समर्पित किया, मथुरावासी लवाड नामक एक विदेशी की भार्या ने भी एक आयागपट दान दिया, इत्यादि। ये शिलालेख स्वयं मुखर है और ईसवी सन् के प्रारम्भ से पूर्व की तथा पश्चात् की दोनों शताब्दियों मे मथुरा क्षेत्र के कतिपय प्रतिष्ठित जैन पुरुषों एवं महिलाओं का सांकेतिक परिचय हमे प्रदान करते हैं। मथुरा से प्राप्त क्षत्रपकालीन शिलालेखों मे जैन शिलालेखों की संख्या अन्य सबसे अधिक है।

कुषाण नरेश

ईसवी सन् की प्रथम शती के मध्य के लगभग कुषाणों ने उत्तर-पश्चिम सीमान्त के दरो से भारत में प्रवेश करके काबुल, कन्दहार और पश्चिमीसिन्ध पर अधिकार कर लिया। आगामी पचीस वर्ष बीतते न बीतते समस्त पंजाब, कश्मीर और मध्यदेश मे मथुरा से आगे तक उनकी सत्ता स्थापित हो गयी। इस वंश का सर्वमहान् नरेश कनिष्क प्रथम था जिसका राज्यारोहण संयोग से ७८ ई. में हुआ। उसी वर्ष से उसने अपने राज्यकाल की गणना प्रारम्भ की, अतएव कालान्तर में शकराज भद्रचष्टन द्वारा स्थापित संवत् का प्रवर्तक बहुधा कुषाण सम्राट् कनिष्क को ही माना जाने लगा। कनिष्क ने अपने राज्य का विस्तार पश्चिम में मध्य एशिया के भीतर तक, उत्तर में तिब्बत तथा चीन के भी कुछ भागों तक और पूर्व में बिहार पर्यन्त विस्तृत कर लिया था। उसकी प्रधान राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी और उपराजधानी मथुरा थी। वहाँ उसकी स्वयं की एक देहाकार मूर्ति भी मिली है। बौद्ध अनुश्रुति उसे अशोक के समान ही

बौद्धधर्म का भक्त एवं प्रश्रयदाता बताती है। परन्तु विद्वानों का मत है कि उसके साम्राज्य में जितने धर्म प्रचलित थे वह उन सबके प्रति सहिष्णु था और सभी का समान भाव से आदर करता था। कम से कम मथुरा के जैनों को उसका पूरा प्रश्रय प्राप्त हुआ था। वहाँ से प्राप्त अनेक जैन शिलालेखों में सम्राट् कनिष्क का नाम अंकित है। थामस आदि कई विद्वानों के मतानुसार तो कम से कम अपने राज्यकाल के पूर्वभाग में जैनधर्म की ओर उसका विशेष झुकाव रहा प्रतीत होता है। कहा जाता है कि एक प्राचीन जैन स्तूप का भी उसने जीर्णोद्धार कराया था। पश्चिमोत्तर सीमान्त में सिरकप के प्राचीन स्तूप को भी अनेक पुरातत्त्वज्ञों ने मूलतः जैन घोषित किया है, और वह स्तूप सम्भवतया इसी नरेश द्वारा बनवाया गया था। कनिष्क के पश्चात् हुविष्क, कनिष्क द्वितीय, वशिष्क, वासुदेव प्रथम, वासुदेव द्वितीय आदि कई राजे इस वंश में क्रमशः हुए। इनमें पिछले कई तो स्थायी रूप से मथुरा में ही रहने लगे थे। तीसरी शती ई. के प्रारम्भ के लगभग इन कुषाण नरेशों की सत्ता अस्तप्रायः हो गयी थी। कनिष्क की भाँति उसके वंशज भी जैनधर्म के प्रति पर्याप्त सहिष्णु रहे। उनके शासनकाल में तो मथुरा का जैनधर्म पर्याप्त उन्नत एवं प्राणवान् था, जैसा कि उस काल के लगभग एक सौ जैन शिलालेखों से प्रकट है। इन शिलालेखों से राजनैतिक और आर्थिक ही नहीं वरन् भारतवर्ष के तत्कालीन एवं तत्प्रदेशीय सांस्कृतिक इतिहास की अप्रतिम सामग्री प्रभूत मात्रा में प्राप्त होती है। कुषाणकाल के मथुरा और उसके आस-पास से प्राप्त उक्त शिलालेखों में से चौबीस में तत्कालीन नरेशों के नाम, लगभग एक-सौ में धर्मभक्त श्रावकों तथा साठ-सत्तर में धर्मप्राण महिलाओं के नाम प्राप्त होते हैं, साधु-साध्वियों के अतिरिक्त। इन विविध प्रकार के धर्मकार्य, निर्माण और दान-पूजादि करनेवाले धर्मात्मा स्त्री-पुरुषों में विभिन्न जातियों, वर्गों एवं व्यवसायों से सम्बन्धित व्यक्तियों के नाम हैं, जिनमें कई एक यवन, शक, पह्लव आदि विदेशी भी हैं। उपरोक्त शिलालेखों में से चार में महाराज-राजातिराज-देवपुत्र-शाहि कनिष्क का, चौदह में देवपुत्र-महाराज हुविष्क का और छह में महाराज वासुदेव का नाम अंकित है। उल्लेखनीय अभिलेखों में श्रेष्ठि-सेन की सहचारि (भार्या) और देवपाल की पुत्री क्षुद्रा द्वारा वर्धमान-प्रतिमा के दान का, वरणहस्ति एवं देवी की पुत्री, जयदेव और मोषिनी की पुत्रवधू तथा कुठ-कसुथ की धर्मपत्नी स्थिरा द्वारा 'सर्वसत्त्वानं हित सुखाय' एक सर्वतोभद्र प्रतिमा के दान का, वर्म की पुत्री और जयदास की पत्नी गुल्हा द्वारा ऋषभदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठापित कराने का, वेणि श्रेष्ठि की धर्मपत्नी और भट्टिसेन की माता कुमारमित्रा द्वारा सर्वतोभद्र प्रतिमा के दान का, जय की माता मासिगि द्वारा भी वैसी ही एक प्रतिमा के दान का, सेठानी मित्रश्री द्वारा अरिष्टनेमि की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराने का, शुचिल सेठ की भार्या द्वारा शान्तिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराने का, काष्ठवाणक् (टिम्बरमर्चेंट) दतिल की पुत्रवधू, मतिल की पत्नी और जयपाल, देवदास, नागदत्त और नागदत्ता की माता श्राविकादीना द्वारा वर्धमान प्रतिमा के समर्पण का, खोट्टमित्र मानिकर (जौहरी) के

पुत्र जयभट्टि की पुत्री, लोहवणिक (लोहे के व्यापारी) दत्त के पुत्र वाधर की पुत्रवधू और फल्गुदेव की धर्मपत्नी मित्रा के दान का, सार्थवाहिनी (आयात-निर्यात के व्यापारी एक सार्थवाह की पत्नी) धर्मसोमा के दान का, जंभक की पतोहू और जयभट्ट की कुटुम्बिनी (गृहिणी) रयगिनि (रंगरेजिन) वसुया के दान का, नवहस्ति की पुत्री, ग्रहसेन की पुत्रवधू तथा गिवसेन, देवसेन और शिवदेव की माता जया द्वारा वर्धमान-प्रतिमा की प्रतिष्ठा का, ग्रहस्ति की प्रिय पुत्री बोधिनन्दिनी नामक सम्पन्न गृहिणी द्वारा एक अन्य वर्धमान-प्रतिमा की प्रतिष्ठा का, बुद्धिल की पुत्री और देविल की कुटुम्बिनी गृहश्री के दान का, ऋतुनन्दि की पुत्री, बुद्धि की पत्नी और गन्धिक की माता जितामित्रा द्वारा सर्वतोभद्र प्रतिमा के दान का, कुमारमित्रा के पुत्र गन्धिक (इत्र-तेल के व्यापारी) कुमारभट्टि द्वारा वर्धमान-प्रतिमा की प्रतिष्ठा का, देवपुत्र-महाराज हुविष्क के राज्य में सं. ३९ (सन् १८ ई.) में शिवदास सेठ के सुपुत्र आर्य श्रेष्ठि रुद्रदास द्वारा अर्हंतों की पूजार्थ नान्दी-विशाल (गजस्तम्भ) के निर्माण एवं प्रतिष्ठा कराने का, उसके अगले वर्ष ग्रामप्रमुख जयदेव की पुत्रवधू और ग्रामप्रमुख (ग्रामिक) जयनाग की धर्मपत्नी सिंहदत्ता द्वारा एक पाषाण-स्तम्भ (मानस्तम्भ) की स्थापना का, श्रावक पुष्य की पतोहू, गृहदत्त की गृहिणी और पुष्पदत्त की माता का दान, बुद्धि की पतोहू और धर्मबुद्धि की भार्या का दान, दधिकर्ण चैत्यालय के पुजारी (या व्यासमाली) का दान, युद्धदत्त की पुत्री तथा पुष्पबुद्धि की भार्या का दान, बुबु की पुत्री, राज्यवसु की धर्मपत्नी, देविल की माता और विष्णुभव की पितामही (दादी) विजयश्री द्वारा वर्धमान-प्रतिमा का दान, जो उसने एक मास के उपवासपूर्वक किया था—सम्भवतया उक्त उपवास के उद्यापन के रूप में, गोष्ठिक (निगम के अध्यक्ष) लोहिककारक (लोहार) श्रमणक के पुत्र श्रावक शूर का दान, आचार्य नागहस्तिगणि के शिष्य आर्यदेव-वाचक के उपदेश से सिंह के पुत्र गोपनामक लोहिककारक द्वारा एक सरस्वती-प्रतिमा की प्रतिष्ठापना का (संवत् ५४ = सन् ईसवी १३२ में), आर्यावर्त के निवासी पसक या प्रवरक की कुटुम्बिनी दत्ता द्वारा 'महाभोगताय' (महा सुख के अर्थ) भगवान् ऋषभदेव के मन्दिर के लिए किया गया दान, श्राविका दत्ता द्वारा देवनिर्मित प्राचीन देव-स्तूप पर अर्हत् मुनिसुव्रत की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना, सेन की पुत्री, दत्त की पुत्रवधू, गन्धिक की कुटुम्बिनी जिनदासी द्वारा एक जिन-प्रतिमा का पवित्र दान, हैरण्यक (स्वर्णकार या सर्राफ) देव की पुत्री द्वारा वर्धमान-प्रतिमा की प्रतिष्ठा, ग्रहदत्त की पुत्री और धनहस्ति की पत्नी का दान, प्रवरक की पुत्री और गन्धिक वरुण की पतोहू तथा मित्र की पत्नी आर्य महिला क्षेमा का दान, वणिक् (व्यापारी) सिंहक और कौशिकी (माँ) के पुत्र सिंहनन्दिक द्वारा अर्हन्तों की पूजार्थ एक आयागपट का दान, शिवघोष की भार्या का दान, मलहण की पुत्री और भद्रयश की पुत्रवधू तथा भद्रनन्दि की भार्या अचल द्वारा आयागपट का दान, कल की पुत्री और सिंहविष्णु की बहन द्वारा वर्धमान-प्रतिमा की प्रतिष्ठापना, दास के पुत्र चोरि का दान, रुसनन्दि के पुत्र तेवणिक (त्रैवणिक) नन्दिघोष द्वारा आयागपट की

स्थापना, बज्रनन्दि की पुत्री और वृद्धिशिव की पत्तोहू दत्ता बडमाशि द्वारा वर्धमान-प्रतिमा का दान, मोगलीपुत्र पुष्पक की भार्या अश्वा द्वारा प्रासाद (जिनमन्दिर) निर्माण, ओरवारिक और उन्नतिका की पुत्री तथा शिरिक और शिवदित्ता की बहन श्राविका ओखा द्वारा जिनमन्दिर निर्माण कराके उसमें भगवान् महावीर की प्रतिमा प्रतिष्ठित करना (यह परिवार विदेशी—शक या पह्लव रहा प्रतीत होता है), इत्यादि शिलालेख हैं। इन लेखों से उस काल के मथुरा एवं उसके आस-पास के निवासी धर्मप्राण श्रावक-श्राविकाओं में अनेकों का परिचय प्राप्त होता है। अधिकांश नाम सार्थक हैं तथा उक्त व्यक्तियों के प्रतिष्ठित एवं सम्भ्रान्त होने के सूचक हैं। उनके विरुद, विशेषण आदि भी इस तथ्य के समर्थक हैं।

सुदूर दक्षिण जैन

तमिल (द्रविड़) प्रदेश के प्रमुख राज्य चोल, पाण्ड्य, चेर, केरल और सत्यपुत्र थे। आचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवली के विशाखाचार्य आदि शिष्य-प्रशिष्यों ने कर्णाटक एवं तमिल प्रदेशों में पूर्वकाल से हो वहाँ प्रचलित रहे आये जैनधर्म मे नवीन प्राण-संचार किया था। तमिल भाषा के प्राचीन संगम साहित्य से भी प्रकट है कि ईसवी सन् के प्रारम्भ के आस-पास जैनधर्म और जैन संस्कृति वहाँ व्यापक एवं उन्नत स्थिति में थे। उसी काल में मूलसंघाग्रणी सुप्रसिद्ध आचार्य कुन्दकुन्द हुए जिनका एक नाम एलाचार्य भी था। वह स्वयं उसी प्रदेश के निवासी थे और एक सम्भ्रान्त कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके गृहस्थ शिष्य तिरुवल्लवर ने उन्हीं की प्रेरणा से तमिल भाषा के विश्वविख्यात नीतिशास्त्र 'कुरलकाव्य' की रचना की थी। प्रायः उसी काल मे मदुरा के पाण्ड्य नरेश ने एक जैन श्रमणाचार्य को सांस्कृतिक दूत के रूप में रोम के सम्राट् आगस्टस के दरबार मे भेजा था। प्रारम्भिक संगम साहित्य का प्रणयन भी मुख्यतया मदुरा नगर मे ही हुआ और उसमें जैन विद्वानों का प्रमुख योग था। प्रथम शती ईसवी के उत्तरार्ध मे आचार्य अर्हद्बलि दक्षिण भारतीय जैनों के संघाचार्य थे और उन्होंने महिमानगरी में एक महामुनिसम्मेलन किया था जिसमें मूलसंघ नन्दि, सेन, देव, सिंह, भद्र आदि गण-गच्छों में विभक्त हुआ। दूसरी शती ई. के पूर्वार्ध में फणिमण्डल की राजधानी उरैयूर (उरगपुर वर्तमान तिरुचिरापल्ली) का नागनरेश कीलिकवर्मन चोल एक शक्तिशाली राजा था और जैन धर्म का अनुयायी था। उसके कनिष्ठ पुत्र राजकुमार शान्तिवर्मन ही मुनि-दीक्षा लेकर आचार्य समन्तभद्र स्वामी के नाम से विख्यात हुए। उन्होंने पूरे भारतवर्ष का भ्रमण करके जिनधर्म की विजय-दुन्दुभि बजायी थी। उनके अनन्य भक्त करहाटक (करहद) के प्रारम्भिक कदम्ब नरेश शिवकोटि और उसका अनुज शिवायन थे। शिवकोटि का पुत्र एवं उत्तराधिकारी श्रीकण्ठ भी जैन था। उसी काल में चेर राज्य का स्वामी सेंगुत्तवन अत्यन्त शक्तिशाली नरेश था। वह महान् विजेता था और प्रायः सम्पूर्ण तमिलनाड पर तथा दक्षिण भारत के अन्य अनेक भागों पर अधिकार करके उसने अपने

राज्य को एक विशाल साम्राज्य बना दिया था। समुद्रो पर भी उसका प्रभुत्व था। राज्य मे जैनधर्म की प्रवृत्ति थी और यह सम्राट् भी उसी का अनुयायी था। उसका भाई राजकुमार इल्लिवलवन तो दीक्षा लेकर जैनमुनि हो गया था। तमिल भाषा के सुप्रसिद्ध प्राचीन महाकाव्य 'शिलप्पदिकरम्' का रचयिता यही राजर्षि इल्लिवलवन (इलगो) था। औवे नाम की सुप्रसिद्ध प्राचीन तमिल कवयित्री भी ईसवी सन् के प्रारम्भ के लगभग हुई विश्वास की जाती है, यह एक जैन राजकुमारी थी जो बाल-ब्रह्मचारिणी रही और अपनी नि स्वार्थ समाजसेवा, सुमधुर वाणी और नीतिपूर्ण उपदेशो के लिए आज भी तमिल भाषाभाषियो के लिए 'माता औवे' (आर्यिका माँ) के रूप मे स्मरणीय एव पूजनीय बनी हुई है।



गंग-कदम्ब-पल्लव-चालुक्य

मैसूर का गंगवंश

वर्तमान कर्णाटक (मैसूर) राज्य के अधिकांश भाग तथा कावेरी नदी की पूर्ण घाटी में विस्तृत गंगवाडि राज्य पर लगभग एक सहस्र वर्ष पर्यन्त अविच्छिन्न शासन करनेवाले राजाओं का वंश पश्चिमी गंगवंश कहलाता है। इस राज्यवंश के साथ प्रारम्भ से लेकर अन्त पर्यन्त जैनधर्म का अत्यन्त निकट सम्बन्ध रहा है और उसमें अनेक प्रतापी एवं धर्मात्मा जैन नरेश हुए हैं। सम्भवतया यह उनकी नीति-परायणता एवं धार्मिकता का ही परिणाम था कि जितना दीर्घजीवी यह राज्यवंश रहा, राजनैतिक इतिहास में अन्य कोई शायद ही रहा।

वंश-संस्थापक दड्डिग और माधव—शिलालेखों, ताम्रपत्रों आदि में निबद्ध इस वंश की परम्परा अनुश्रुतियों के अनुसार इस वंश के मूल संस्थापक दड्डिग और माधव नाम के दो राजकुमार थे। भगवान् ऋषभदेव के इक्ष्वाकु वंश में अयोध्या के एक राजा हरिश्चन्द्र थे जिनके पुत्र भरत की पत्नी विजय महादेवी से गंगदत्त का जन्म हुआ। उसी के नाम से कर्णाटक का उक्त वंश जाह्नवेय, गांगेय या गंगवंश कहलाया। गंग का एक वंशज, विष्णुगुप्त, अहिच्छत्रा का राजा हुआ जो तीर्थंकर अरिष्टनेमि का भक्त था। उसका वंशज श्रीदत्त भगवान् पार्श्वनाथ का अनन्य भक्त था। उसके वंश में कम्प का पुत्र पद्मनाभ अहिच्छत्रा का राजा हुआ। उसके राज्य पर जब उज्जयिनी के राजा ने आक्रमण किया तो राजा पद्मनाभ ने अपने दो बालक पुत्रों, दड्डिग और माधव को कतिपय राजचिह्नों सहित दूर विदेश में भेज दिया। प्रवास में ये राजकुमार धीरे-धीरे बड़े हुए और घूमते-घामते कर्णाटक देश के पेरूर नामक स्थान में पहुँचे। नगर के बाहर स्थित जिनालय में जब राजकुमार भगवान् के दर्शन-पूजन के लिए गये तो उन्हें वहाँ मुनिराज सिंहनन्दि के दर्शन हुए। गुरुचरणों में उन्होंने नमस्कार किया तो आचार्य ने उन्हें आशीर्वाद दिया और सुलक्षण एवं होनहार देखकर उनका विगत वृत्तान्त पूछा। उनके बल-पराक्रम की परीक्षा करने के लिए उन्हें आदेश दिया कि तलवार के एक ही वार से सम्मुख खड़े शिलास्तम्भ को भग्न कर दें। राजकुमार परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। आचार्य ने अपने निकट रखकर उन्हें राज्योचित शिक्षा-दीक्षा दी तथा समस्त उपयोगी विद्याओं में पारंगत किया, और उपयुक्त समय देखकर वन में ही कर्णिकार-पुष्पों का मुकुट पहनाकर उनका राज्याभिषेक किया, अपनी मयूरपिच्छिका उन्हें राजध्वज के रूप

में प्रदान की और मत्तगयन्द उनका राज्यचिह्न निश्चित किया। उस समय आचार्य ने इस प्रथम गंग-नरेशद्वय को यह चेतावनी दी कि....यदि तुम लोग (या तुम्हारे वंशज) कभी अपना वचन भंग करोगे, कभी जिनशासन से विमुख होगे, परस्त्री के ऊपर कुदृष्टि डालोगे, मद्य-मांस का सेवन करोगे, नीच व्यक्तियों की संगति करोगे, याचक जनों को दान देने से मुँह मोड़ोगे और रणभूमि से पीठ दिखाकर भागोगे तो तुम्हारे कुल का नाश हो जायेगा। दद्दिग और माधव भ्रातृद्वय ने गुरु वचनों को शिरोधार्य किया और गुरु के उपदेशानुसार अद्भुत उत्साह के साथ राज्य निर्माण के कार्य में जुट गये। गंगराज्य-संस्थापक सिंह नन्द्याचार्य द्वारा दद्दिग और माधव को अभिषिक्त करके उक्त राज्य एवं राज्यवंश की नींव डालने की घटना की तिथि १८८ ई० मान्यता की जाती है, यद्यपि कई आधुनिक विद्वान् उसे तीसरी शताब्दी में रखते हैं। आचार्य सिंहनन्दि सम्भवतया जिनधर्म के परम प्रभावक आचार्य समन्तभद्रस्वामी के सुशिष्य थे। एक शिलालेख मे सिंहनन्दि को 'दक्षिण-देशवासी-गंगमहीमण्डलीक-कुलसमुद्धरणः श्रीमूलसंघनाथो' कहा गया है। इनके शिष्य उपरोक्त गंगराजकुमारो ने बाणमण्डल के एक बड़े भाग को अपने पराक्रम से विजय करके राज्य की नीव डाल दी। एक अनुश्रुति के अनुसार उन्होंने नन्दगिरि को अपना दुर्ग बनाया, कुवलाल (कोलार) को राजधानी बनाया, गंगवाड़ि—९६,००० संज्ञक उनका देश हुआ, रणभूमि मे विजय को उन्होंने अपनी चिरसंगिनी बनायी तथा जिनेन्द्र भगवान् को अपना इष्टदेव, जिनमत को अपना धर्म और आचार्य सिंहनन्दि को अपना गुरु बनाकर उन्होने इस पृथ्वी का उत्तर मे माण्डले पर्यन्त, पूर्व में तोण्डेयमण्डलम् तक; दक्षिण में कोंगु देश तक और पश्चिम में चेर राज्य की दिशा में महासागर पर्यन्त भोग किया। बड़े भाई दद्दिग की मृत्यु तो राज्य निर्माण के प्रयत्न के मध्य ही हो गयी थी अतएव इस वंश का वास्तविक प्रथम नरेश छोटा भाई माधव कोंगुणिवर्म प्रथम था जिसने लगभग पचास वर्ष राज्य किया। बाणो के साथ उसके प्रायः निरन्तर युद्ध चलते रहे—शिलालेखों मे उसे बाणरूपी वन के लिए दावाग्नि कहा गया है। पराक्रमी होने के साथ ही साथ वह बड़ा धर्मात्मा था, मण्डलि नामक स्थान में उसने काष्ठ का एक भव्य जिनालय बनवाया और एक जैन पीठ भी स्थापित किया जो शिक्षा और संस्कृति का केन्द्र और निर्ग्रन्थ गुरुओं का आवास स्थान था।

उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी किरियमाधव द्वितीय था जो नीतिशास्त्र में निष्णात और दत्तकसूत्रों का टीकाकार था। उसने अपने पिता का पदानुसरण किया। इसका ज्येष्ठ पुत्र हरिवर्मन पिता के राज्य का अधिकारी हुआ। उसने कुवलाल का परित्याग करके तलकाड (तालवनपुर या तालवननगर) को अपनी राजधानी बनाया, अनुज आर्यवर्मन को पेरूर का और दूसरे भाई कृष्णवर्मन को कैवार विषय का शासक नियुक्त किया। तभी से इस पश्चिमी गंग-वंश की प्रधान शाखा तलकाड में रही और पेरूर एवं कैवार की दो उपशाखाएँ चलीं। स्वयं हरिवर्मन धनुर्विद्या के लिए प्रसिद्ध

था, उसने युद्ध में हाथियों का प्रयोग किया और राज्य को समृद्ध बनाया।

तदंगल माधव—उपरोक्त हरिवर्मन के पौत्र पृथ्वीगंग का पुत्र एवं उत्तराधिकारी यह माधव तृतीय एक महान् शासक था। कदम्ब नरेश काकुत्स्थवर्मन की पुत्री के साथ उसका विवाह हुआ था। वह त्र्यम्बक और जिनेन्द्र का समान रूप से भक्त था। इस राजा के कई अभिलेख ३५७ से ३७९ ई. तक के प्राप्त हुए हैं, जिनमें से ३७० ई. के एक ताम्रशासन के अनुसार महाराज तदंगल माधव ने अपने राज्य के १३ वें वर्ष में परब्बोलल ग्राम के अर्हत्-मन्दिर के लिए दिगम्बराचार्य वीरदेव को कुमारपुर नामक ग्राम तथा अन्य बहुत-सी भूमि प्रदान की थी। यह ताम्रपत्र मतूर तालुके के नोनमंगल नामक स्थान की प्राचीन जैन बसदि (मन्दिर) के भग्नावशेषों में प्राप्त हुए हैं। उस काल में इन गंगनरेशों के प्रश्रय में अनेक जैन आचार्य एवं साहित्यकार हुए।

अविनीत गंग—तदंगल माधव का पुत्र एवं उत्तराधिकारी अविनीत कोंगुणिवर्म-धर्म-महाराजाधिराज कदम्बनरेश काकुत्स्थवर्मन का दौहित्र और शान्तिवर्मन एवं कृष्णवर्मन प्रथम का प्रिय भागिनेय था। अपने पिता की मृत्यु के समय वह माता की गोद में छोटा-सा शिशु मात्र था। शिलालेखों में उसे शतजीवी कहा गया और उसका शासनकाल बहुत दीर्घकालीन सूचित किया गया है। यह नरेश बड़ा पराक्रमी और धर्मात्मा था। कहा जाता है कि किशोर वय में ही एक बार उसने जिनेन्द्र की प्रतिमा को शिर पर धारण करके भयंकर बाढ़ से बिफरती कावेरी नदी को अकेले पाँव पयादे पार किया था। उसके गुरु जैनाचार्य विजयकीर्ति थे, जिनकी देखरेख में उसकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। नोनमंगल ताम्रशासन के अनुसार सन् ४३० ई. में गंगराज अविनीत ने स्वगुरु विजयकीर्ति को मूलसंघ के चन्दननन्दि आदि गुरुओं द्वारा स्थापित उरनूर के अर्हत्-मन्दिर एवं विहार के लिए दान दिया था। सन् ४४२ ई. में (हसकोटे) ताम्रशासन द्वारा उसने एक अन्य अर्हतायतन को दान दिया था। इस लेख में पल्लवाधिराज सिंहवर्मन की माता का भी उल्लेख है। यह सिंहवर्मन जैनाचार्य सर्वनन्दि के प्राकृत लोकविभाग (४५८ ई.) में उल्लिखित तन्नाम पल्लवनरेश से अभिन्न प्रतीत होता है। मर्करा ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि ४६६ ई. में अविनीत ने राजधानी तालवननगर की जैन बसदि के लिए दान दिया था। सुप्रसिद्ध दिगम्बराचार्य देवनन्दि पूज्यपाद (लगभग ४६४–५२४ ई.) को इस राजा ने अपने पुत्र युवराज दुर्विनीत का शिक्षक नियुक्त किया था। अभिलेखों में महाराज अविनीत गंग को विद्वज्जनों में प्रमुख, मुक्तहस्तदानी और दक्षिणापथ में जाति-व्यवस्था एवं धर्म-संस्थाओं का प्रधान संरक्षक बताया है, और लिखा है कि 'इस नरेश के हृदय में महान् जिनेन्द्र के चरण अचल-मेरु के समान स्थिर थे।' पेरूर के जिनालय, पुन्नाट देश की जैन बसदियों तथा अन्य जिनायतनों को भी उसने दान दिये थे। साथ ही उसने अपनी राज्यशक्ति और समृद्धि को भी अक्षुण्ण रखा था। उसका शासन प्रबन्ध भी उत्तम था।

दुर्विनीत गंग—अविनीत का पुत्र एवं उत्तराधिकारी दुर्विनीत कोंगुणि

(लगभग ४८१-५२२ ई.) बड़ा वीर, महत्त्वाकांक्षी, विद्वान्, साहित्यरसिक, गुणियों का आदर करने वाला, प्रतापी एवं महान् नरेश था। स्वगुरु आचार्य पूज्यपाद का पदानुसरण करने में वह अपने आपको धन्य मानता था। महाकवि भारवि भी उसके दरबार में कुछ समय रहे और उसने उनके 'किरातार्जुनीय' के १५वें सर्ग पर एक टीका भी लिखी थी। गुरु पूज्यपाद द्वारा रचित पाणिनीय व्याकरण की शब्दावतार टीका का कन्नड अनुवाद तथा प्राकृत बृहत्कथा का संस्कृत अनुवाद भी दुर्विनीत ने किये बताये जाते हैं। जैन धर्मावलम्बी भुजग-पुन्नाट की पौत्री एवं स्कन्द-पुन्नाट की पुत्री के साथ विवाह करके उसने पुन्नाट प्रदेश दहेज में प्राप्त कर लिया था। अपने पराक्रम और विजयों के द्वारा दुर्विनीत ने पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में राज्य विस्तार करके गंग राज्य को साम्राज्य का रूप दे दिया था। अपने समय में दक्षिण भारत का वह सर्वाधिक शक्तिशाली नरेश था। वह प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति, तीनों शक्तियों से सम्पन्न था। वह सर्वधर्म-सहिष्णु था तथापि पक्का जैन था। कोगलि नामक स्थान में उसने चेन्न-पार्श्वनाथ-बसदि का निर्माण कराया था। उसके प्रधान धर्मगुरु एवं विद्यागुरु देवनन्दि पूज्यपाद जैन परम्परा के सर्वमहान् आचार्यों एवं साहित्यकारों में से हैं। राजधानी तलकाड की प्रधान जैन बसदि के वह अध्यक्ष थे, और यह संस्थान उस काल में दक्षिण भारत में ज्ञान का प्रमुख केन्द्र, एक महान् विद्यापीठ एवं सांस्कृतिक अधिष्ठान था, जिसमें सिद्धान्त, तर्क, छन्द, व्याकरण, आयुर्वेद, काव्य, राजनीति आदि विविध विषयों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी।

दुर्विनीत के उपरान्त उसका प्रथम पुत्र पोलवीर, तदुपरान्त द्वितीय पुत्र मुष्कर राजा हुआ।

मुष्कर गंग—प्रो. रामास्वामी आयंगर के मतानुसार मोक्कर या मुष्कर गंग के समय में जैनधर्म गंगवाडी का राज्यधर्म था। इस राजा ने ५५० ई. के लगभग बेलारी के निकट मुष्कर-बसदि नामक भव्य जिनालय निर्माण कराया था। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी श्रीविक्रम था जिसका उत्तराधिकारी उसका चोलरानी से उत्पन्न पुत्र भूविक्रम-भूवल्लभ-श्रीविक्रम था जिसने पल्लव नरेश को पराजित करके उससे उग्रोदय नामक प्रसिद्ध रत्नजटित बहुमूल्य हार छीना था। उसके ६३४ ई. के बेदनूर दानपत्र से उसका जिनभक्त होना सूचित होता है और यह भी ज्ञात होता है कि उसका महासामन्त बाणराजा विक्रमादित्य-गोविन्द-शचीन्द्र भी परम जैन था तथा अकलंकदेव के सधर्मा पुष्पसेन मुनि का भक्त था। भूविक्रम के पश्चात् उसका सौतेला भाई जो श्रीविक्रम की दूसरी रानी (सिन्धुराज की कन्या) से उत्पन्न था, राजा हुआ। उसका नाम शिवमार प्रथम था।

शिवमार प्रथम—यह शिवमार-नवकाम-शिष्यप्रिय-पृथ्वीकोंगुणी अपनी प्रायः वृद्धावस्था में सिंहासनासीन हुआ था। वह परम जैन था और ६७० ई. में उसने कई जिनमन्दिरों का निर्माण कराया था तथा जैन गुरु चन्द्रसेनाचार्य को दान दिया था।

यह आचार्य सम्भवतया पंचस्तूपान्वय शाखा के उन चन्द्रसेन मुनि से अभिन्न हैं जो धवलाकार स्वामी वीरसेन के दादागुरु थे। इस नरेश के ७०० और ७१३ ई. के भी अभिलेख मिले हैं—प्रथम (हीरेमग ताम्रपत्र) में उसके पूर्वजों का भी विवरण है और गंग दुर्विनीत तथा उसके गुरु देवनन्दि पूज्यपाद का भी उल्लेख है। शिवमार-नवकाम के पश्चात् उसके पुत्र राचमल्ल एरेगंग ने शासन किया, तदनन्तर शिवमार का पौत्र श्रीपुरुष सिंहासन पर बैठा।

श्रीपुरुष मुत्तरस—सन्मार्गरक्षक, लोकधूर्त, शत्रुभयंकर, राजकेसरी, परमानन्दि, श्रीवल्लभ आदि विरुदधारी गंग नरेश श्रीपुरुष मुत्तरस पृथ्वीकोंगुणी (७२६-७६ ई.) के दीर्घकालीन शासनकाल में गंगराज्य पुनः अपनी शक्ति एवं समृद्धि की चरम सीमा को पहुँच गया। उसने अनेक सफल युद्ध भी लड़े और पल्लव नरेशों तथा बाण राजाओं को कई बार पराजित किया। राष्ट्रकूटों के प्रहारों से वह स्वयं वीरता एवं बुद्धिमत्ता-पूर्वक रक्षा करता रहा। पाण्ड्यनरेश राजसिंह के पुत्र के साथ अपनी पुत्री का विवाह करके उस राज्य से मैत्री सम्बन्ध बनाया, जिसके फलस्वरूप पाण्ड्यदेश में पिछले दशकों में जैनों पर जो भयंकर अत्याचार हो रहे थे उनका अन्त हुआ और तमिल की साहित्यिक प्रवृत्तियों में जैन विद्वानों का पुनः योग हुआ। चिकबल्लालपुर आदि कई स्थानों के भग्न जिनमन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ। गंगों के अधीनस्थ बाणनरेश भी जैनधर्म के बड़े भक्त थे। सन् ७५० ई. के लगभग वल्लमलई में अजनन्दि ने आचार्य भानुनन्दि के शिष्य और बाणनरेश के गुरु देवसेन की मूर्ति स्थापित की थी। आचार्य प्रभाचन्द्र, विमलचन्द्र, वृद्धकुमारसेन, परवादि मल्ल, तोरणाचार्य, पुष्पसेन, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य आदि इस काल में कर्णाटक के प्रसिद्ध जैन गुरु थे। नरसिंहराजपुरा ताम्रशासन के अनुसार गंगनरेश श्रीपुरुष ने तोल्ल विषय के जिनमन्दिर को अपने पासंडि गंगवंशी सामन्त नागवर्मा की प्रेरणा से मल्लवल्लि ग्राम दान दिया था और ७७६ ई. मे श्रीपुर के पार्श्व जिनालय को दान दिया था—सम्भवतया इसी अवसर पर विद्यानन्दस्वामी ने उक्त जिनालय में राजा की उपस्थिति मे प्रसिद्ध 'श्रीपुर-पार्श्वनाथ-स्तोत्र' की रचना की थी और शायद तदनन्तर श्रीपुर को ही अपना स्थायी निवास बनाया था। इसी वर्ष इस नरेश ने श्रीपुर की उत्तरदिशा में निर्मापित लोकतिलक नामक जिनभवन के लिए समस्त करों और बाधाओं से मुक्त करके पोन्नलि नामक सम्पूर्ण ग्राम तथा अन्य बहुत-सी भूमि प्रदान की थी। इस भव्य जिनालय का निर्माण कुन्दाच्चि नामक राजमहिला ने कराया था जिसकी माता पल्लवाधिराज की प्रियपुत्री थी और पिता सगरकुल-तिलक मरुवर्मा थे तथा जो स्वयं बाणकुल के नाशक दुग्डु-नीर्गुन्द-युवराज के पुत्र परमगूल-श्रीपृथ्वीनीर्गुन्दराज के साथ विवाही थी। रानी कुन्दाच्चि के श्वसुर दुण्डु-नीर्गुन्द-युवराज के गुरु विमलचन्द्राचार्य थे जिन्होंने इसी गंगनरेश 'शत्रुभयंकर' की राजसभा के द्वार पर परवादियों के प्रति शास्त्रार्थ का खुला आह्वान (चैलेंज) लिखकर लगाया था। सम्भवतया उन्हीं के उपदेश से उक्त मन्दिर का निर्माण कराया गया था और दान भी उन्हीं

के किसी शिष्य-प्रशिष्य को दिया गया था। लगभग पचास वर्ष शासन करने के उपरान्त ७७७ ई. में इस सुयोग्य प्रतापी नीतिपरायण एवं धर्मात्मा नरेश श्रीपुरुष मुत्तरस ने राज्य का भार अपने पुत्र शिवमार द्वि. सैगोत को देकर शेष जीवन जैन गुरुओं के सम्पर्क में एक उदासीन श्रावक के रूप में बिताया प्रतीत होता है। उसकी मृत्यु ७८८ ई. के लगभग हुई लगती है।

शिवमार द्वि. सैगोत—इस राजा का राज्यकाल ७७६-८१५ ई. है, किन्तु इस बीच में वह दो बार राज्यच्युत हुआ और राष्ट्रकूटों के बन्दीगृह में उसे लगभग दस-पन्द्रह वर्ष रहना पड़ा। यह गंगनरेश भारी योद्धा, वीर और पराक्रमी था। युद्धों में उसे कई बार अद्भुत सफलता भी मिली और कई बार पराजय भी। उस काल के दक्षिण भारत के राजनीतिक संघर्षों में वह आकण्ठ उलझा था। जैनधर्म का भी वह महान् संरक्षक और भक्त था। स्वामी विद्यानन्द का वह बहुत सम्मान करता था जिसके कारण भीषण युद्धों के बावजूद वह अपने 'श्लोकवार्तिक' और 'अष्टसहस्री'-जैसे विशाल ग्रन्थों का शान्तिपूर्वक प्रणयन कर सका। शिवमार का पुत्र मारसिंह और भतीजा सत्यवाक्य भी, जो उसकी अनुपस्थिति में राज्यकार्य सम्हालते थे, विद्यानन्द के भक्त थे। उक्त आचार्य के विभिन्न ग्रन्थों में इन गंग-नरेशों के नाम संकेत पाये जाते हैं। शिवमार ने श्रवणबेलगोल के छोटे पर्वत पर शिवमारन-बसदि नाम का एक सुन्दर जिनालय बनवाया था, तथा कलभावी में जिनमन्दिर बनवाकर ग्रामदान किया था। इसी कोंगुणी-महाराजाधिराज-परमेश्वर श्रीशिवमारदेव के पुत्र, युवराज एवं गंगमण्डल के तत्कालीन स्थानापन्न शासक लोकत्रिनेत्र मारसिंह के मन्त्री 'समस्त-सामन्त-सेनाधिपति, परम आर्हत, परम धार्मिक, मन्त्र-प्रभूत्साह-शक्ति-सम्पन्न' श्रीविजय ने गंगों की राजधानी मान्यपुर में श्रीविजय नाम का अत्यन्त भव्य एवं विशाल जिनालय बनवाया था जिसके लिए स्वयं युवराज मारसिंह ने ७९७ ई. में भूमि आदि का पुष्कल दान दिया था और कुन्दकुन्दान्वय के मुनि शाल्मली ग्रामनिवासी तोरणाचार्य के प्रशिष्य तथा पुष्पनन्दी के शिष्य प्रभाचन्द्र मुनि का सम्मान किया था—इन मुनिराज ने उक्त बसदि को ही अपना आवास बना लिया था। सन् ८०० ई में युवराज मारसिंह तथा उसके चचा दुग्गमार ने अंजनेय अपरनाम कोइल-बसदि नाम का सुन्दर जिनालय नारायण नामक शिल्पी से बनवाया था और मन्दिर के लिए भूमिदान किया था। इसी समय के लगभग गंजम दानपत्र के द्वारा इस शासक ने जैन गुरुओं को और भी बहुत-सा दान दिया था तथा नन्दिपर्वत पर आचार्य कुन्दकुन्द का एक स्मारक भी बनवाया था। शिवमार के प्रान्तीय शासकों, सामन्त विट्टिरस एवं विजयशक्तिरस ने भी जैन मन्दिरों का निर्माण कराके उनके लिए प्रायः उसी काल में दान दिया था। सन् ८०१ ई. में बसवट्टि के ईश्वर-जिनालय का निर्माण हुआ और ८०२ ई. में राष्ट्रकूट सम्राट् गोविन्द तृतीय ने गंगराज्य में मान्यपुर की उपरोक्त श्रीविजय-बसदि के लिए मन्ने दानपत्र द्वारा दान दिया तथा उदारगण के जैन गुरुओं का सम्मान किया था। चामराजनगर दानपत्र के अनुसार

८०७ ई. में राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय के भाई कम्भ ने अपने पुत्र शंकरगण की प्रार्थना पर तालवननगर (सम्भवतया मान्यपुर इसका उपनगर था) की श्रीविजय-बसदि के लिए कुन्दकुन्दान्वय के मुनि कुमारनन्दि के प्रशिष्य और एलाचार्य के शिष्य वर्धमान-गुरु को दान दिया और ८१२ ई. मे राष्ट्रकूट नरेश ने गंगराज्य में नियुक्त अपने प्रतिनिधि चाकिराज की प्रार्थना पर शीलग्राम के जिनमन्दिरों के लिए यापनीयसंघ के गुरु अर्ककीर्ति को दान दिया था। शिवमार सैगोत अपने राजनीतिक और धार्मिक कार्यकलापों के अतिरिक्त भारी विद्वान् और गुणी भी था। वह पतजंलि के 'फणिसूतमत' प्रकरण का परिज्ञाता और 'गजाष्टक' ग्रन्थ का कर्ता भी था। युवराज मारसिंह की मृत्यु उसके जीवन काल में ही हो गयी थी, अतएव उसके पश्चात् शिवमार का छोटा भाई विजयादित्य राजा हुआ, किन्तु कुछ समय बाद ही उसकी मृत्यु हो गयी और विजयादित्य का पुत्र सत्यवाक्य राजा हुआ। शिवमार के छोटे पुत्र पृथ्वीपति प्रथम अपराजित ने पहले ही राज्य के एक भाग पर अपना स्वतन्त्र अधिकार कर लिया था। इस प्रकार गंगराज्य पुनः दो शाखाओं में विभक्त हो गया। उपरोक्त पृथ्वीपति प्रथम भी बडा पराक्रमी वीर था। अनेक युद्धों मे उसने भाग लिया, विजय प्राप्त की, और एक युद्ध में ही वह वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके गुरु जैनाचार्य अरिष्टनेमि थे। उनके समाधिमरणपूर्वक देहत्याग के समय पृथ्वीपति और उसकी रानी कम्पिला श्रवणबेलगोल के कटवप्र पर्वतपर स्वयं उपस्थित रहे थे। उसके पुत्र मारसिंह ने हिन्दूपुर-दानपत्र द्वारा ८५३ ई. में दान दिया था। इस मारसिंह का पुत्र पृथ्वीपति द्वितीय हस्तिमल्ल तथा पौत्र नन्निय गंग भी जैनधर्म के भक्त थे। नन्निय गंग के साथ यह शाखा समाप्त हो गयी।

राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (८१५-५३)—इस राजा के गद्दी पर बैठने के समय गंगराज्य की स्थिति बडी डाँवाडोल थी। इस बुद्धिमान् एवं पराक्रमी वीर ने बाण-नरेश को पराजित करके बाणों का दमन किया। दूसरे प्रतिद्वन्द्वी नोलम्बाधिराज की बहन के साथ अपना तथा अपनी पुत्री जयब्बे के साथ उसका विवाह करके नोलम्ब-पल्लवों को अपना मित्र बना लिया। शक्तिशाली राष्ट्रकूट सम्राट् से अधिक उलझने से वह स्वयं को यथासम्भव बचाता रहा। इस नरेश ने गंगवंश की शक्ति, समृद्धि और प्रतिष्ठा का पुनरुद्धार करके उसे एक बार फिर उत्कर्ष प्रदान किया। राचमल्ल विद्या-नन्द स्वामी का भक्त था। उत्तरी अर्काट के चित्तूर तालुके में स्थित वल्लमलई पर्वत पर गुहामन्दिर बनवाकर उनमे उसने जिन-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी। उसके स्वगुरु आर्यनन्दि थे जो बालचन्द्र के शिष्य थे। सम्भवतया यह आर्यनन्दि ही 'ज्वालमालिनी कल्प' नामक मन्त्रशास्त्र के रचयिता थे।

एरेयगंग नीतिमार्ग प्रथम रणविक्रम (८५३-७० ई.)—राचमल्ल के इस यशस्वी पुत्र एवं उत्तराधिकारी ने राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम की पुत्री राजकुमारी चन्द्रबेलब्बा (अब्बलब्बा) के साथ अपने छोटे पुत्र भूतुगेन्द्र-बुत्तरस-गुणदुत्तरंग का

विवाह करके शक्तिशाली राष्ट्रकूटों को भी स्थायी मैत्री के सूत्र में बाँध लिया। राजकुमार भूतुग (बुतुग) ने पल्लवराज को लूटकर अपनी प्रतिष्ठा बनायी थी। कुडुलूर दानपत्र में इस गंगनरेश नीतिमार्ग प्रथम को 'परमपूज्य' अर्हद्भट्टारक के चरणकमलों का भ्रमर' लिखा है, वहीं राजकुमार भूतुग को भी परमजैन लिखा है। शिलालेख जिस स्थान पर है उसके निकट ही राजन् नीतिमार्ग के समाधिमरण का प्रस्तरांकन है, जिसमें उसका स्वामिभक्त सेवक अगरय्य उसे सम्हाले हुए बैठा है, और शोकमग्न राजकुमार सम्मुख खड़ा है। इस राजा ने अनेक युद्धों में वीरतापूर्वक विजय प्राप्त की बतायी जाती है। अब गंगनरेश राष्ट्रकूट सम्राटों के महासामन्त मात्र थे और वे युद्ध अधिकतर राष्ट्रकूटों का पक्षसाधन करने के लिए ही लड़े गये प्रतीत होते हैं।

राचमल्ल सत्यवाक्य द्वितीय (८७०-९०७ ई.)—नीतिमार्ग की सल्लेखनापूर्वक मृत्यु के उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र राचमल्ल सत्यवाक्य द्वितीय राजा हुआ और क्योंकि वह निःसन्तान था इसलिए उसने अपने अनुज वीर भूतुगेन्द्र को युवराज बनाया। इन दोनों भाइयों ने पल्लवों, पाण्ड्यों, वेंगि के चालुक्यों आदि के विरुद्ध अनेक युद्ध किये और प्रशंसनीय विजय प्राप्त की। इस काल में भूतुग कोंगुनाड और पुन्नाड का प्रान्तीय शासक भी रहा प्रतीत होता है। बिलियूर दानपत्र के अनुसार राजन् राचमल्ल सत्यवाक्य द्वि. ने अपने राज्य के १८वें वर्ष (८८७ ई.) में पेन्नेकडंग स्थान में स्वनिर्मित सत्यवाक्य-जिनालय के लिए शिवनन्दि-सिद्धान्त भट्टारक के शिष्य सर्वनन्दिदेव को बिलियूर (बेलूर) इलाके के बारह ग्राम प्रदान किये थे। राचमल्ल के जीवन में ही (९०० ई. के लगभग) युवराज भूतुगेन्द्र की मृत्यु हो गयी थी, जिसके उपरान्त भूतुग का पुत्र एयरप्प-एरेयगंग-नीतिमार्ग युवराज हुआ और उसने अपने ताऊ 'श्रमणसंघ-स्याद्वादाधारभूत' उक्त राचमल्ल सत्यवाक्य के साथ मिलकर पाषाणनिर्मित पेर्म्मनडि-बसदि नामक जिनालय के लिए कुमारसेन भट्टारक को श्वेत चावल, घृत, निःशुल्क श्रम (बेगार) आदि का दान चुंगी आदि सर्वप्रकार के करों से मुक्त करके दिया था। राचमल्ल की मृत्यु के बाद वही राजा हुआ।

एयरप्प एरेयगंग नीतिमार्ग द्वितीय सत्यवाक्य महेन्द्रान्तक—९०७ से लगभग दस वर्ष राज्य किया। शक ८३१ (९०९ ई) में जब इस नरेश का 'राज्य चारों दिशाओं में वृद्धिगत था' सामन्त सान्तररस की सम्मति से मनलेयार नामक राजपुरुष ने कनकगिरितीर्थ के जिनभवन को दुगुना बड़ा कराके उसके लिए, स्वयं महाराज की उपस्थिति में, तिप्पेयूर नामक स्थान में कनकसेन भट्टारक को विविध प्रकार का दान उक्त बसदि के लिए दिया था। अपने राज्यकाल में स्वयं इस राजा ने भी मुडहल्लि और तोरमबु के जिनमन्दिरों को दान दिये थे। चालुक्य-राजकुमारी जकम्बा उसकी रानी थी, और पल्लवों के विरुद्ध युद्ध करके उसने अनेक दुर्ग जीते थे। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी वीरवेडंग नरसिंह सत्यवाक्य का शासन अल्पकालीन रहा। इसके गुरु द्रविड़संघी विमलचन्द्राचार्य थे। इस राजा के दो पुत्र थे, राचमल्ल सत्यवाक्य और बूतुगगंग।

राचमल्ल सत्यवाक्य तृतीय—यह राजा कच्छेयगंग भी कहलाता था। लगभग ९२० ई. में वह गद्दी पर बैठा। सम्भवतया वह निःसन्तान था और उसके समय में ही उसका अनुज बूतुगगंग युवराज था जो परमवीर था। राचमल्ल ने वेंगि के चालुक्यों को युद्ध में पराजित किया। अपनी और अपने अनुज की युद्धों में प्राप्त सफलताओं के कारण, सम्भव है, उसने राष्ट्रकूटों की अधीनता से मुक्त होने का प्रयत्न किया। अतएव सम्राट् की सेना ने गंगराज्य पर आक्रमण कर दिया और उस युद्ध में यह राजा राचमल्ल वीर-गति को प्राप्त हुआ। तदनन्तर उसका भाई बूतुग राजा हुआ। यह राजा भी जैन था।

बूतुग द्वितीय गंग-गांगेय—गंगनारायण, नन्नियगंग, जयदुत्तरंग, सत्यनीति-वाक्य, कोंगुणिवर्म-महाराजाधिराज-परमेश्वर आदि उपाधिधारक यह नरेश बड़ा युद्धवीर, पराक्रमी, प्रतापी और प्रभावशाली शासक था। प्रारम्भ में राष्ट्रकूटों की ही सहायता एवं सद्भावना से वह सिंहासनासीन हुआ और लगभग ९३७ से ९५३ ई. पर्यन्त उसने राज्य किया। उसकी तीन रानियाँ थी, जिनमें से प्रथम तो राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष तृतीय की पुत्री तथा कृष्ण तृतीय की बड़ी बहन रेवा थी, दूसरी कलम्बरसी नामक राजकुमारी थी और तीसरी डहाड़देश के स्वामी बद्देग की पुत्री दीवलाम्बा थी। राष्ट्रकूट राजकुमारी के साथ उसने पुलिगेरे, बेलबोला, किसुकद, बगे आदि विषय (जिले) दहेज में प्राप्त किये थे। अपने श्वसुर बद्देग की मृत्यु होने पर उसने उसके राज्य को लल्लेय के पंजे से निकालकर अपने अधिपति राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय के लिए प्राप्त कर लिया था। अलचपुर के कंकराज, बनवासि के बिज्ज-दन्तिवर्मन, नुलुबगिरि के दामरि तथा राजवर्मा, नागवर्मा आदि राजाओं में उसने अपने पराक्रम से भय उत्पन्न कर दिया था। उसने तंजापुरी (तंजौर) का घेरा डाला और राजादित्य को पराजित किया तथा नालकोटे के पहाड़ी दुर्ग को जलाकर भस्म कर दिया। एक अन्य युद्ध में उसने उक्त चोल नृपति राजादित्य को मार डाला था। जैनधर्म का यह गंगनरेश परम भक्त था। जैन मन्दिरों और जैन गुरुओं को उसने अनेक दान दिये थे। जैन सिद्धान्त का भी वह पण्डित था और परवादियों के साथ शास्त्रार्थ करने का उसे चाव था—एक बौद्ध विद्वान् के साथ भी उसके शास्त्रार्थ करने का उल्लेख मिलता है। एकान्त-मत-मदोद्धत-कुवादि-कुम्भीन्द्र-कुम्भ-सम्भेद, नैगमनयादि-कुलिशैरकरोज्जयदुत्तरंग-नृप जैसे उसके विरुद सार्थक थे। अपने ९३८ के सूदी (जिला धारवाड़) ताम्रशासन के अनुसार इस नरेश ने अपनी प्रिय पत्नी 'सम्यग्दर्शनविशुद्ध-प्रत्यक्ष दैवत्या' रानी दीवालाम्बा द्वारा सुल्धाटवी-सप्तति-ग्राम क्षेत्र के सून्दी नामक स्थान में निर्मापित जिनालय के संरक्षण के लिए तथा वहाँ निवास करनेवाली छह श्रमण-आर्यिकाओं के दान-सम्मान के लिए गुरु नागदेव पण्डित को स्वयं पादप्रक्षालन करके, 'कार्तिक-नन्दीश्वर-शुक्लपक्ष' की अष्टमी, आदित्यवार के दिन यह बृहत् दान दिया था। इस अभिलेख में राजा के अनेक वीरतापूर्ण कार्यकलापों एवं विजयों का भी उल्लेख है। सन् ९५० ई. के अतकूर दानपत्र में बूतुग द्वारा चोलों की पराजय और उनके सेनापति चोल राजकुमार के मारे जाने का भी उल्लेख है।

उसके कुडलूर ताम्रपत्र से प्रकट है कि उसके परिवार के अन्य सदस्य भी जैनधर्म के भक्त और धर्मात्मा थे। राजा की बड़ी बहन पामब्बे, जो पेदियर दोरपय्य की ज्येष्ठ रानी थी, बड़ी विदुषी थी और गुणचन्द्र भट्टारक तथा आर्यिका नाणब्बेकन्ति की शिष्या थी। इस धर्मात्मा राजमहिला ने आर्यिका के रूप में तीस वर्ष तपस्या की थी और अन्त में (९७१ ई. में) समाधिमरणपूर्वक देह का त्याग किया था। इस देवी की आर्यिका दीक्षा की घटना का महाराज बूतुग के हृदय पर भी गहरा प्रभाव पड़ा था।

गंगराज मरुलदेव (९५३-९६१ ई.)—राष्ट्रकूट राजकुमारी रेवा से उत्पन्न बूतुग द्वितीय का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। उसका विवाह अपनी ममेरी बहन बीजब्बे के साथ हुआ था, जो राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय की पुत्री थी। इस उपलक्ष्य में मरुलदेव को एक राजच्छत्र भी प्राप्त हुआ था। स्वयं उसकी बहन सोमिदेवी उक्त राष्ट्रकूट सम्राट् के पुत्र से विवाही थी, जिससे इन्द्र चतुर्थ उत्पन्न हुआ था। राष्ट्रकूटों के साथ कई पीढ़ियों से चले आते इन विवाह सम्बन्धों ने गंगनरेशों की शक्ति पर्याप्त बढ़ा दी थी, जिससे वे पल्लवों, चोलों और वेंगि के चालुक्यों-जैसे प्रबल विरोधियों से सफलतापूर्वक लोहा ले सके। मरुलदेव परम जिनभक्त था, शिलालेखों में उसे 'जिन-चरण-कमल-चंचरीक' कहा है।

गंगनरेश मारसिंह (९६१–९७४ ई.)—मरुलदेव का सौतेला भाई था जो उसके पश्चात् राजा हुआ। गंगवंश का यह अन्तिम महान् नरेश बड़ा प्रतापी था। उसकी शक्ति, प्रतिष्ठा और राज्य का विस्तार भी बहुत बढ़े-चढ़े थे। शिलालेखों में उसके गुत्तियगंग, गंगकन्दर्प, गंगविद्याधर, गंगवज्र, गंगचूडामणि, पराक्रमसिंह, नोलम्बकुलान्तक, पल्लवमल्ल, माण्डलिकत्रिनेत्र, सत्यवाक्य-कोंगुणिवर्म-धर्म-महाराजाधिराज-परमेश्वर इत्यादि विरुद प्राप्त होते हैं। एक अभिलेख में उसे 'भवनैकमंगल-जिनेन्द्र-नित्याभिषेक-रत्नकलश' बताया है। सन् ९६८ ई. के इसी लक्ष्मेश्वर शिलालेख के अनुसार उसने पलिगेरे (लक्ष्मेश्वर) की उस शंखवसति तीर्थ-मण्डल में, जहाँ पूर्ववर्ती गंग-नरेशों द्वारा निर्मापित मुक्करवसति, मरुदेवी-गृह, चन्द्रिकाम्बिका-देवालय, रायराचमल्ल-वसति, श्रीविजयवसति, गंगपेर्म्माडिचैत्यालय आदि अनेक जिनमन्दिर थे, अपने नाम से गंगकन्दर्पभूपाल-जिनेन्द्र-मन्दिर नाम का भव्य जिनालय बनवाया था और उसके निमित्त देवगण के आचार्य देवेन्द्रभट्टारक के प्रशिष्य तथा एकदेवयोगि के शिष्य जयदेव-पण्डित को ग्रामादि प्रभूत दान दिया था। श्रवणबेलगोल के चिक्कबेट्ट पर स्थित कूगे-ब्रह्मदेव स्तम्भ पर ९७४ ई. की इस नरेश की प्रशस्ति से प्रकट है कि इस महाराज मारसिंह ने अपने अधिपति राष्ट्रकूट कृष्ण तृ० के लिए गुर्जरदेश को विजय किया था, मालवा पर आक्रमण करके सियक परमार को पराजित किया था, कृष्ण के सबल शत्रु अल्ल का दमन किया, विन्ध्य प्रदेश के किरातों को छिन्न-भिन्न किया, शिलाहार विज्जल से युद्ध किया, वनवासि के राजाओं को पराजित किया, मातुरों का दमन किया, उच्चंगी के सुदृढ़ दुर्ग को हस्तगत किया, सबर राजकुमार नरग को नष्ट किया, चालुक्य विजयादित्य

का अन्त किया, चेरों, चोलों और पाण्ड्यों का दमन किया, मान्यखेट में चक्रवर्ती (कृष्ण) के कटक की रक्षा की इत्यादि। वस्तुतः इस काल में गंगनरेश ही राष्ट्रकूट साम्राज्य के संरक्षक थे, यद्यपि नाम के लिए वह राष्ट्रकूटों के महासामन्त या अधीनस्थ माण्डलिक भूपाल मात्र थे। मारसिंह के उपरोक्त पराक्रमपूर्ण कार्यकलापों का उल्लेख करने के पश्चात् उक्त अभिलेख में बताया है कि इस नृपति ने जैनधर्म का अनुपम उद्योत किया था, जिनेन्द्रदेव के सिद्धान्त को सुनियोजित किया था, और अनेक स्थानों में दर्शनीय जिनमन्दिरों तथा मानस्तम्भों का निर्माण कराया था। परोपकार के कार्य उसने अनगिनत किये थे। इस प्रकार इस कर्मशूर एवं धर्मशूर ने अपने लगभग चौदह वर्ष के राज्यकाल में राज्यधर्म का सफलतापूर्वक पालन करते हुए और साथ ही शक्तिपूर्वक अनेक धर्मकार्य करते हुए आत्मसाधन के लक्ष्य को भी विस्मृत नहीं किया। फलतः ९७४ ई. में राज्य का परित्याग करके शेष जीवन उदासीन श्रावक के रूप में बिताया। अन्त में एक वर्ष बीतते न बीतते इस राजर्षि ने तीन दिवस की सल्लेखनापूर्वक बंकापुर में अपने गुरु अजितसेन भट्टारक के चरणों में समाधिमरण किया। कुडलूर दानपत्र में लिखा है कि जिन-पदाम्बुज-मधुकर एवं गुरुभक्त महाराज मारसिंह परहित-साधन में आनन्द लेता था, परधन एवं परस्त्री का वह त्यागी था, सज्जनों की निन्दा सुनने में बधिर था, मुनियों और ब्राह्मणों को दान देने में तथा शरणागतों को अभयदान करने में सदैव तत्पर रहता था। वह उच्चकोटि का विद्वान् भी था, दर्शन, तर्क, व्याकरण, साहित्य, अश्वविद्या, गजविद्या आदि में निष्णात था। नागवर्म और केशिराज-जैसे कवियों ने उसकी प्रतिभा की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। वह विद्वानों का संरक्षक था और गुरुओं की सदा विनय करता था। उसके श्रुतगुरु या विद्यागुरु मुंजार्य वादिघंगलभट्ट थे, जो श्रीधरभट्ट नामक ब्राह्मण पण्डित के पुत्र थे और स्वयं सिद्धान्त, दर्शन, न्याय, तर्क, व्याकरण, राजनीति आदि विविध विषयों के महापण्डित एवं श्रेष्ठ कवि थे। वह आचार्य धर्म से जैन थे, अद्भुत प्रतिभासम्पन्न थे और वल्लभराज कृष्ण-जैसे सम्राट् तथा उसके अनेक माण्डलिकों एवं सामन्तों द्वारा सम्मानित हुए थे। मारसिंह ने उन्हें बगियूर नाम का ग्राम भेंट किया था।

अन्तिम गंग राजे—मारसिंह के राज्य परित्याग के प्रायः साथ ही साथ राष्ट्रकूटों का सूर्य अस्तंगत हुआ और स्वयं गंगराज्य में भारी अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। दो-तीन वर्ष की गड़बड़ी के उपरान्त ९७७ ई. में मारसिंह का छोटा भाई (लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद के एक शिलालेख में उसे मारसिंह का पुत्र लिखा है) राचमल्ल सत्यवाक्य चतुर्थ 'धर्मावतार' गंगराज्य का स्वामी हुआ और लगभग सात वर्ष तक शासन करता रहा। इस राजा के प्रथम वर्ष में ही पेग्गूर ग्राम की जिनबसदि के लिए श्रवणबेलगोल निवासी वीरसेन सिद्धान्तदेव के प्रशिष्य और गुणसेनपण्डित भट्टारक के शिष्य अनन्तवीर्य गुरु को पेग्गूर ग्राम तथा अन्य भी कुछ भूमि का दान दिया गया था। श्रीपुरुष महाराज (एक पूर्व गंगनरेश) द्वारा दिये गये पुराने दानपत्रों की भी पुष्टि की

गयी थी। इसी राजा के शासनकाल में श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश प्रतिमा प्रतिष्ठापित हुई। राचमल्ल चतुर्थ के पश्चात्, ९५८ ई. में उसका भतीजा (गोविन्द या बासव का पुत्र) रक्कसगंग पेम्मर्मनडि राजा हुआ। उसने पतनोन्मुख गंगराज्य को बचाये रखने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। इस राजा के गुरु द्रविड़संघी हेमसेन वादिराज के शिष्य श्रीविजयदेव थे। कन्नड कादम्बरी एवं छन्दाम्बुधि के रचयिता कन्नड भाषा के सुप्रसिद्ध जैन कवि नागवर्म इस राजा के आश्रित थे। रक्कसगंग ने राजधानी तलकाड में तथा अन्यत्र कई जिनमन्दिर बनवाये थे, वेलूर में एक सरोवर बनवाया था और दानादिक दिये थे। वह निस्सन्तान था, अतएव उसने अपनी दो भतीजियों और एक भानजे विद्याधर का पालन-पोषण किया था। रक्कसगंग की पुत्री चट्टलदेवी हुम्मच के सान्तर वंश के शिलालेखों में देवी की तरह पूजित हुई। सन् १००४ ई. के लगभग चोलों ने आक्रमण करके राजधानी तलकाड तथा गंगबाड़ी के बहुभाग पर अधिकार कर लिया। रक्कसगंग उसके पश्चात् भी लगभग बीस वर्ष जीवित रहा, और सम्भवतया चोलों के अधीन एक छोटे से उपराज्य या सामन्तवंश के रूप में गंग राजे फिर भी चलते रहे, क्योंकि रक्कसगंग के उपरान्त गंगराजा के रूप में नीतिमार्ग तृतीय राचमल्ल का नाम मिलता है, जिसके गुरु वज्रपाणि पण्डित थे, जैसा कि उसके १०४० ई. के शिलालेख से प्रकट है। उसके उपरान्त रक्कसगंग द्वितीय राजा हुआ। उसकी पुत्री चालुक्य सम्राट् सोमेश्वर प्रथम (१०७६–११२६ ई.) की रानी थी। रक्कसगंग द्वि. के गुरु अनन्त-वीर्य सिद्धान्तदेव थे। इस राजा का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई कलिगंग भी परम जैन था। वह होयसलों का सामन्त बन गया था और १११६ ई. में उसने चोलों को मैसूर प्रदेश से बाहर निकाल कर अपने स्वामी विष्णुवर्धन होयसल को साम्राज्य निर्माण में अद्वितीय सहायता दी थी। उसका प्रधान सामन्त भुजबलगंग भी परम जैन था। कलिगंग के उपरान्त भी गंगवंश किसी न किसी रूप में प्रायः १६वीं शती तक चलता रहा। पैरिवी, कैरवि, पासिडि, पूर्वी या कलिंगी आदि कई शाखाओं में यह वंश पहले ही बँट चुका था, और भी शाखाएँ-प्रशाखाएँ हुईं। गंगवंश में उत्पन्न अनेक व्यक्ति स्वयं गंगराज्य, उसके शाखा राज्यों तथा अन्य भी चालुक्य, चोल, होयसल, विजयनगर आदि दक्षिणी राज्यों के सामन्त सरदार होते रहे।

इस प्रकार दक्षिण भारत का गंगवंश एक सर्वाधिक दीर्घजीवी राजवंश रहा, साधिक एक सहस्र वर्ष पर्यन्त अविच्छिन्न बना रहा। बीच-बीच में उसने साम्राज्य शक्ति का रूप भी धारण किया, चिरकाल तक एक महत्त्वपूर्ण एवं बलवान् राज्यसत्ता का स्वामी तो वह बना ही रहा। उसका कुलधर्म और बहुधा राज्यधर्म भी जिनशासन ही रहा, जिसके संरक्षण और प्रभावना के लिए वंश के अनेक पुरुषों, महिलाओं, सामन्त-सरदारों, राज्यकर्मचारी और राज्य की जनता ने यथाशक्ति प्रयत्न किया। फलस्वरूप उस काल एवं प्रदेश में जैन संघ सशक्त बना रहा, अनेक प्रसिद्ध आचार्य, मुनि-आर्यिका आदि त्यागी महात्मा हुए, अनेक विद्वानों और कवियों ने कन्नड, तमिल, प्राकृत, संस्कृत

आदि भाषाओं में विविध विषयक विपुल साहित्य का निर्माण किया। जैन साधुओं ने लोक-शिक्षा में प्रधान योग दिया, राजाओं का यथावश्यक पथप्रदर्शन किया, जनता के नैतिक स्तर को उन्नत बनाये रखा और अनेक लोकोपकारी कार्य किये। कई धर्मतीर्थ विकसित हुए और गंगनरेशों द्वारा तथा उनके प्रश्रय में निर्मापित भव्य जिनालयों के रूप में मूर्त एवं शिल्प-स्थापत्य की अनेक दर्शनीय एवं मनोज्ञ कलाकृतियाँ उदय में आयीं।

वीरमार्तण्ड चामुण्डराय—भारी विपत्तियों एवं नानाविध अव्यवस्थाओं से भरा हुआ गंग-इतिहास का सन्ध्याकाल गंगनरेश जगदेकवीर-धर्मावतार-राचमल्ल-सत्यवाक्य चतुर्थ के अद्वितीय मन्त्री एवं महासेनापति चामुण्डराय (चावुण्डराय) के कारण अमर हो गया। डॉ. सालतोर के शब्दों में उनसे बड़ा वीर योद्धा, उनसे बड़ा परम जिनेन्द्रभक्त और उन-जैसा सत्यनिष्ठ सज्जन कर्णाटक देश में दूसरा नहीं हुआ। ब्रह्म-क्षत्रिय कुल में उत्पन्न इस महान् राजनीतिज्ञ, सुदक्ष सैन्यसंचालक, परमस्वामिभक्त, कन्नड, संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के महान् विद्वान्, कवि एवं ग्रन्थकार, सिद्धान्तज्ञ एवं कलामर्मज्ञ, विद्वानों और कलाकारों के प्रश्रयदाता, अद्भुत निर्माणकर्ता और जैनधर्म के प्रभावकों में अग्रिम, महादण्डनायक जैसे अत्यन्त विरल पुरुषरत्न का लाभ गंगनरेशों को उस समय प्राप्त हुआ जबकि स्वयं उनका भाग्यसूर्य अस्ताचलगामी था। ऐसी विषम विरुद्ध परिस्थितियों में भी इस द्रुतवेग से पतनशील वंश की अभिभावकता एवं रक्षा, साथ ही उसके अधिपति पतनोन्मुख राष्ट्रकूट सम्राटों का भी संरक्षण चामुण्डराय ने यथाशक्ति प्रायः सफलतापूर्वक किया। चाहता तो वह स्वयं गंगराज्य का अधिपति हो सकता था। वह राचमल्ल ही नहीं, उसके पूर्वज मारसिंह और उत्तराधिकारी रक्कसगंग का भी राजमन्त्री एवं सेनापति रहा। मारसिंह ने मरते समय अपने स्वामी एवं भानजे राष्ट्रकूट इन्द्र चतुर्थ की रक्षा का भार उसे ही सौंपा था। अपनी शूरवीरता, साहस और पराक्रम के लिए उसने बड़ी ख्याति अर्जित की थी। राजादित्य को घायल करने में उसने आश्चर्यजनक हस्तकौशल दिखाया था, राच नामक महाबली शत्रु सामन्त के टुकड़े-टुकड़े कर डाले थे, गोविन्दराज को करारी हार दी थी, जब चामुण्डराय युद्ध के लिए निकलता तो शत्रु लोग भयभीत खरहों की भाँति शरण की खोज में दुबकते फिरते, दीपावली के दुन्दुभिनाद-जैसा उसके युद्ध के ढोलों का रव शत्रुदल में भय और त्रास उत्पन्न कर देता था। रोडग के युद्ध में वज्वलदेव को पराजित करने पर उसे 'समर-धुरन्धर' उपाधि मिली, गोनूर के युद्ध में नोलम्बों को पराजित करने पर 'वीरमार्तण्ड', उच्छंगी के दुर्ग में राजादित्य को छकाने पर 'रणरंगसिंह', बागेयूर के दुर्ग में त्रिभुवन-वीर को मारने और गोविन्दार को उस क़िले में प्रविष्ट कराने के लिए 'वैरिकुलकालदण्ड', तथा अन्य विविध युद्ध विजयों के उपलक्ष्य में 'भुजविक्रम', 'भट्टमारि', 'प्रतिपक्षराक्षस', 'नोलम्बकुलान्तक', 'समरकेसरी', 'सुभटचूडामणि', 'समर-परशुराम' आदि विरुद प्राप्त हुए थे। उसके अन्य नाम गोम्मट, गोम्मटराय, राय और अण्ण थे। अपने धार्मिक एवं नैतिक चरित्र और कार्यकलापों के लिए उसे 'सम्यक्त्वरत्नाकर', 'शौचाभरण', 'सत्य-

युधिष्ठिर', 'गुणरत्नभूषण' 'देवराज', 'गुणकाव' आदि सार्थक उपाधियाँ प्राप्त थीं। वह जिनेन्द्र भगवान् का, स्वगुरु अजितसेनाचार्य का और अपनी स्नेहमयी जननी का परम भक्त था। चामुण्डराय पुराण और चारित्रसार-जैसे महत्त्वपूर्ण एवं विशाल ग्रन्थों का प्रणेता भी था—इनमें से प्रथम कन्नड भाषा में है और दूसरा संस्कृत में। गोमट्टसार की वीरमार्तण्डी टीका (कन्नड) भी चामुण्डराय रचित मानी जाती है। कन्नड के महाकवि रन्न का वह आद्य प्रश्रयदाता था, जिसे राय ने श्रेष्ठ कवि के साथ ही साथ अच्छा योधा और सेनानी भी बना दिया। चामुण्डराय की प्रेरणा से आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने अपने सुप्रसिद्ध गोम्मटसार, त्रिलोकसार आदि सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना की थी। वह भी आचार्य अजितसेन के ही शिष्य थे। चामुण्डराय ने अनेक जिनमन्दिरों, मूर्तियों आदि का निर्माण, जीर्णोद्धार और प्रतिष्ठा करायी थी। श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि पर स्व-निर्मापित चामुण्डराय-वसति में इन्द्रनीलमणि की मनोज्ञ नेमिनाथ (गोम्मट-जिन) की प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। यह मन्दिर उक्त स्थान के जिनालयों में सर्वाधिक सुन्दर समझा जाता है। विन्ध्यगिरि पर उसने त्यागद-ब्रह्मदेव नाम का सुन्दर मानस्तम्भ भी बनवाया था। चन्द्रगिरि के नीचे एक शिला चामुण्डराय-शिला कहलाती है, जहाँ खड़े होकर राय ने सामने की विन्ध्यगिरि पर मन्त्रपूत शर-सन्धान किया था, जिसके फलस्वरूप गोम्मटेश बाहुबलि की विशाल प्रतिमा प्रकट हुई थी—ऐसी अनुश्रुति है। वस्तुतः अपनी जननी काललदेवी की इच्छा पूरी करने के लिए चामुण्डराय ने ९७८ ई. में गोम्मटेश्वर कुक्कुटजिन-बाहुबलि की वह विश्व-विश्रुत विशाल, ५७ फ़ीट उत्तुंग, खड्गासन प्रतिमा निर्मापित एवं प्रतिष्ठित करायी थी, जो रूपशिल्प और मूर्तिविज्ञान की अद्वितीय कलाकृति है और अपनी मौलिकता, मनोज्ञ छवि, सुस्मित वीतराग, ध्यानस्थ मुद्रा, सादगी और विशालता में अप्रतिम है, तथा विश्व के आश्चर्यों में परिगणित है। इस ब्रह्म-क्षत्र-शिखामणि चामुण्डराय की भार्या अजितादेवी भी पतिपरायण एवं धर्मपरायण महिलारत्न थी और अपने पति के धर्मकार्यों में सोत्साह प्रेरक थी। इनका सुपुत्र जिनदेवन भी धर्मात्मा था और अजितसेन भट्टारक का ही शिष्य था। उसने भी श्रवणबेलगोल में एक भव्य पार्श्व-जिनालय बनवाया था। ऐसा लगता है कि राचमल्ल चतुर्थ के उत्तराधिकारी रक्कसगंग के राज्यारम्भ के पाँच-सात वर्ष के भीतर ही, लगभग ९९० ई. में, इस महान् कर्मवीर एवं धर्मवीर राजा चामुण्डराय का स्वर्गवास हो गया था। चामुण्डराय की छोटी बहन धर्मात्मा पुल्लव्वे ने विजयमंगलम् स्थान की चन्द्रनाथ बसदि में समाधिमरण किया था और उसकी पुण्यस्मृति में उक्त स्थान पर एक निषद्यका (निषिधि) निर्माण करायी गयी थी।

वीरांगना सावियब्बे—यह वीर महिलारत्न प्रसिद्ध एवं पराक्रमी वीर बायिक तथा उसकी धर्मपत्नी जाबय्ये की पुत्री थी, और धोर के पुत्र लोकविद्याधर अपरनाम उदयविद्याधर की भार्या थी। सम्भव है कि रक्कसगंग का भानजा एवं पोष्यपुत्र विद्याधर ही यह लोकविद्याधर हो। यह वीरबाला अपने पति के साथ युद्ध में गयी थी

और रणभूमि में युद्ध करते हुए ही उसने वीरगति पायी थी। श्रवणबेलगोल की बाहुबलि बसति के पूर्व की ओर एक पाषाण पर इस युद्धप्रिय महिला की वीरगति लेखांकित है। लेख के ऊपर एक प्रस्तरांकित दृश्य है जिसमें यह वीर नारी घोड़े पर सवार है और हाथ में तलवार उठाये हुए अपने सम्मुख एक गजारूढ़ योद्धा पर प्रहार करती चित्रित है। हाथी पर चढ़ा हुआ पुरुष भी इस वीरबाला पर जवाबी प्रहार कर रहा है। घटनास्थल का नाम बगेयूर लिखा है, जो सम्भवतया वही दुर्ग है जिसपर आक्रमण करके सेनापति चामुण्डराय ने त्रिभुवनवीर को युद्ध में मारकर और गोविन्दर को दुर्ग में प्रविष्ट कराके 'वैरिकुलकालदण्ड' का विरुद प्राप्त किया था। लोकविद्याधर और उसकी वीर पत्नी सावियब्बे भी उस युद्ध में चामुण्डराय की ओर से सम्मिलित हुए लगते हैं। लेख में इस महिला-रत्न को रेवतीरानी-जैसी पक्की श्राविका, सीती-जैसी पतिव्रता, देवकी-जैसी रूपवती, अरुन्धती-जैसी धर्मप्रिया और शासन-देवता-जैसी जिनेन्द्रभक्त बताया है।

पेर्गडे हासम—रक्कसगंग पेर्म्मनडि का मन्त्री था। बेलूरु के १०२२ ई. के शिलालेख में उसे शरणागत-वज्र-पंजर, रिपु-कंज-कुंजर, तन्त्र-रक्षामणि, मन्त्री-चिन्तामणि, राज्यभार-धुरन्धर इत्यादि कहा है। उसने अपने स्वामी के दीर्घ-जीवन की कामना के लिए, जिस स्थान में वह उस समय निवास कर रहा था, एक नवीन जिनालय बनवाया था, बल्लोरकट्ट के सरोवर की सीढ़ियाँ बनवायी थीं, एक बाँध का निर्माण कराया था और सिंचाई के लिए प्रणाली (नहर) बनवायी थी, तथा उक्त धर्मकार्यों के लिए भूमिदान भी दिया था।

कदम्बवंश

इस वंश की स्थापना कदम्ब नामक वृक्ष-विशेष के नाम पर दूसरी शती ई. के मध्य के लगभग, सातवाहनों के एक सामन्त पुक्कण अपरनाम त्रिनेत्र ने की बतायी जाती है। वनवास देश पर इनका अधिकार था और प्रारम्भ में करहाटक (करहद) इनकी राजधानी थी—कालान्तर में वैजयन्ती हुई। मूलतः ये अपने आपको ब्राह्मण-वंशज कहते थे और सम्भवतया ब्राह्मण-क्षत्रिय-नाग रक्तमिश्रण से उत्पन्न थे। इनका कुलधर्म भी मुख्यतया ब्राह्मण था, किन्तु वंश में अनेक राजे परम जैन हुए। दूसरा राजा ही, शिवकोटि अपने भाई शिवायन के साथ स्वामी समन्तभद्र द्वारा जैनधर्म में दीक्षित कर लिया गया था। शिवकोटि का पुत्र श्रीकण्ठ था और पौत्र शिवस्कन्दवर्मन, जिसके उत्तराधिकारी मयूरवर्मन (तीसरी शती का उत्तरार्ध) के समय में ही कदम्ब राज्य शक्तिसम्पन्न एवं सुप्रतिष्ठित हो सका। उसी ने वैजयन्ती (वनवासी) को राजधानी और हल्सी (पलाशिका) को उपराजधानी बनाया था। उसका पुत्र भगीरथ और पौत्र रघु एवं काकुत्स्थवर्मन थे।

काकुत्स्थवर्मन कदम्ब—भाई रघु की युवावस्था में ही मृत्यु हो जाने के

उपरान्त उसका उत्तराधिकारी हुआ। वह अल्पवय में ही राजा हो गया लगता है। वह बड़ा नीतिनिपुण, सुयोग्यशासक, दीर्घजीवी महान् नरेश था। उसकी एक पुत्री गंगनरेश तदंगल माधव के साथ विवाही थी और अविनीत कोंगुणी की जननी थी, दूसरी पुत्री वकाटक नरेश के साथ विवाही थी और तीसरी गुप्तसम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के युवराज कुमारगुप्त के साथ। इन विवाह सम्बन्धों द्वारा उसने तत्कालीन भारत के प्रसिद्ध राजवंशों के साथ मैत्री स्थापित करके अपनी और अपने वंश की प्रतिष्ठा बढ़ा ली थी। उसके लगभग ४०० ई. के हल्सी ताम्रशासन से विदित होता है कि यह नरेश जैनधर्म का भारी पोषक था, भले ही वह उसका उद्घोषित अनुयायी न भी हो। उक्त अभिलेख के अनुसार काकुत्स्थवर्मन ने राजधानी पलाशिका के अर्हतायतन के लिए श्रुतकीर्ति को खेटग्राम दान किया था। लेख के प्रारम्भ में भगवान् जिनेन्द्र की जय मनायी है, अन्त में ऋषभदेव को नमस्कार किया है, और दान का उद्देश्य 'आत्मनस्तारणार्थं' (आत्मकल्याण) बताया है। इस लेख मे उक्त श्रुतकीर्ति का विशेषण 'सेनापति' दिया है, किन्तु एक परवर्ती कदम्ब अभिलेख में काकुत्स्थवर्मन से समादृत श्रुतकीर्ति भोजक को एक विद्वान् जैन पण्डित (श्रुतनिधि), परमश्रेष्ठ, पुण्यात्मा, दानी और दयावान् सूचित किया है। काकुत्स्थवर्मन का पुत्र एवं उत्तराधिकारी शान्तिवर्मन भी प्रतापी नरेश था और जैसा कि उसके वंशज परिवर्तन के दानपत्र से प्रकट है, यह राजा भी जैनधर्म और जैनगुरुओं का समादर करता था।

मृगेशवर्मन कदम्ब (४५०-४७८ ई.)—शान्तिवर्मन का ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। उसने अपने राज्य के तीसरे वर्ष में भगवान् जिनेन्द्र के अभिषेक, उपलेपन, पूजन, मन्दिर के भग्नसंस्कार (मरम्मत आदि) और धर्म की प्रभावना आदि कार्यों के लिए दानकीर्ति भोजक को भूमिदान दिया था—एक निवर्तन भूमि तो केवल पुष्पों के लिए ही निर्दिष्ट की गयी थी। एक अन्य लेख के अनुसार कदम्बवंशी धर्म-महाराज 'श्रीविजयशिवमृगेशवर्मन' ने अपने राज्य के चौथे वर्ष मे कालवंग नामक ग्राम तीन भागों में विभक्त करके एक भाग तो अर्हत्शाला में विराजमान भगवान् जिनेन्द्रदेव के निमित्त, दूसरा भाग श्वेतपट्ट-महाश्रमणसंघ के उपभोग के लिए और तीसरा भाग निर्ग्रन्थ-महाश्रमणसंघ के उपभोग के लिए दान किया था। दान का लेखक नरवर सेनापति था। राजा के नाम और लेख की शैली आदि मे जो अन्तर लक्षित हैं उनपर से कुछ विद्वानों का अनुमान है कि शायद यह राजा पूर्वोक्त मृगेशवर्मन से भिन्न और उसका पर्याप्त उत्तरवर्ती कोई अन्य कदम्ब नरेश है। जो हो, इस दान का दाता परम जैन था, इसमें सन्देह नहीं है। स्वयं के कथनानुसार वह उभयलोक की दृष्टि से प्रिय एवं हितकर अनेक शास्त्रों के अर्थ तथा तत्त्वविज्ञान के विवेचन में बड़ा उदारमति था, गजारोहण, अश्वारोहण आदि व्यायामों में सुदक्ष था, नय-विनय में कुशल था, उदात्त-बुद्धि-धैर्य-वीर्य-त्याग-सम्पन्न था, अपने भुजबल एवं पराक्रम द्वारा संग्राम में विजय प्राप्त करके उसने विपुल ऐश्वर्य प्राप्त किया था, प्रजापालक था, देव, द्विज, गुरु और साधुजनों

को दानादि से नित्य सन्तुष्ट करता था, विद्वानों, स्वजनों और सामान्यजनों का समान रूप से प्रश्रयदाता था, और आदिकालीन भरतचक्री प्रभृति राजाओं की प्रवृत्ति के अनुसार धर्म-महाराज था। अपने राज्य के आठवें वर्ष में शान्तिवर्म के ज्येष्ठ पुत्र मृगेश-नृप ने अपने स्वर्गस्थ पिता की भक्ति के लिए (उसकी स्मृति में) राजधानी पलाशिका में एक जिनालय निर्माण कराया था जिसका प्रबन्ध उसने वैजयन्ती निवासी दामकीर्ति भोजक को सौंप दिया था और एतदर्थ दान दिया था। इसी अवसर पर इस नरेश ने यापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्चक सम्प्रदायों के जैन साधुओं को भी भूमि-दान दिया था। इन अभिलेखों से प्रकट है कि एकाकी जैन साधुओं का ही नहीं, वरन् उनके विभिन्न सुसंगठित संघों और सम्प्रदायों का भी उस काल में कदम्ब राज्य में निवास था। दान प्राप्त करने वालों में प्रमुख राजधानी वैजयन्ती का निवासी दामकीर्ति भोजक है, जो श्रुतकीर्ति भोजक का उत्तराधिकारी है। आगे भी यह परम्परा चली है। ऐसा लगता है कि ये श्रुतकीर्ति और उनके वंशज दामकीर्ति, श्रीकीर्ति, बन्धुषेण आदि भोजक नामधारी जैन पण्डित गृहस्थाचार्य सरीखे थे, प्रधान जिनमन्दिरों के प्रबन्धक और पुजारी तथा कदम्ब नरेशों के राजगुरु थे, कम से कम उनके जो उन राजाओं में से जैन थे। मृगेशवर्मन युद्धवीर और पराक्रमी भी था। यद्यपि उसके चचा कृष्णवर्मन ने विद्रोह करके एक शाखा-राज्य (त्रिपर्वत) स्थापित कर लिया था जिसपर कृष्ण के बाद उसके पुत्र विष्णुवर्मन का अधिकार हुआ, मृगेशवर्मन की शक्ति, प्रताप और प्रतिष्ठा में विशेष अन्तर नहीं आया। मृगेशवर्मन के पश्चात् उसकी प्रियपत्नी कैकय-राजकन्या प्रभावती से उत्पन्न पुत्र रविवर्मन राजा हुआ।

रविवर्मन कदम्ब (४७८-५२० ई.)—छोटी आयु में ही गद्दी पर बैठा था, अतएव प्रारम्भ में अपने चाचा मानधातृवर्मन के संरक्षण में तथा तदनन्तर वयस्क होने पर उसने स्वतन्त्र राज्य किया। त्रिपर्वत शाखा के कदम्बों को उसने सफलतापूर्वक दबाये रखा और अन्ततः उक्त शाखा के अधीनस्थ प्रदेश पर अधिकार करके राज्य विस्तार पूर्ववत् बना लिया। गंगों को उसने मित्र बनाये रखा और पल्लवों को पराजित करके अपनी प्रतिष्ठा बढ़ायी। इस प्रकार रविवर्मन कदम्ब वंश का एक सुयोग्य एवं प्रतापी नरेश था, और साथ ही जैनधर्म का भी परम भक्त था, शायद कदम्बों में उससे अधिक उत्साही जैन अन्य कोई नहीं हुआ। उसने अपने हल्सी दानपत्र द्वारा अपने पूर्वजों, काकुत्स्थवर्मन, शान्तिवर्मन और मृगेशवर्मन द्वारा दिये गये जैन दानों की पुष्टि एवं पुनरावृत्ति की, और अपने माता-पिता के पुण्य के लिए प्रतिवर्ष कार्तिकी-अष्टाह्निका का पर्व समारोहपूर्वक मनाया जाने के लिए पुरुखेटक नाम का गाँव दामकीर्ति के पुत्र आचार्य बन्धुषेण को दान किया था, और यापनीय-संघ के महान् शास्त्रज्ञ एवं तपस्वी कुमारदत्तसूरि का सम्मान किया था। उसने ऐसी व्यवस्था भी की थी कि राजधानी पलाशिका के राजजिनालय में जिनेन्द्र की पूजा निरन्तर होती रहे। हल्सी के ही एक अन्य दानपत्र के अनुसार राजा ने स्वगुरु धर्ममूर्ति दामकीर्ति भोजक की माता के

चरणों के प्रसाद से (उनकी प्रेरणा से) दामकीर्ति के छोटे भाई श्रीकीर्ति को भगवान् जिनेन्द्र की पूजा-प्रभावना के लिए चार निवर्तन भूमि का दान दिया था। इस लेख में रविवर्मन के युद्ध-पराक्रमों एवं उसके द्वारा कांचीनरेश चण्डदण्ड को पराजित किये जाने का भी उल्लेख है। इस नृपति ने ऐसी भी व्यवस्था की थी कि कार्तिकी पूर्णिमा को वार्षिक नन्दीश्वर महोत्सव मनाया जाये, धर्मबुद्धि प्रजाजन और नागरिक भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजन नित्य निरन्तर करते रहें और चातुर्मास्य में साधुजनों के आहारदान आदिक में कोई बाधा न आवे। लेख में उसे कदम्बकुल-गगन-भास्कर कहा है, जो उचित ही है। उसी के शासनकाल के ग्यारहवें वर्ष मे उसके छोटे भाई भानुवर्मा ने जो पलाशिका का स्थानीय शासक था, राज-जिनालय में तथा अन्यत्र प्रत्येक पूर्णिमा के दिन भगवान् जिनेन्द्र की अभिषेकपूर्वक विशिष्ट पूजा किये जाने के लिए परम-अर्हद्भक्त पण्डर भोजक की प्रेरणा से, सम्भवतया उसी को, १५ निवर्तन भूमि का दान दिया था।

हरिवर्मन कदम्ब (५२०-५४० ई.)—रविवर्मन का पुत्र एवं उत्तराधिकारी, कदम्बवंश का अन्तिम महान् नरेश और अपने पूर्वजों की ही भाँति जैनधर्म का भक्त था। अपने राज्य के चौथे वर्ष में लिखाये गये दानपत्र के अनुसार इस नरेश ने अपने चाचा शिवरथ की प्रेरणा से पलाशिका नगरी में भारद्वाज-गोत्रीय सिंह सेनापति के पुत्र मृगेश द्वारा निर्मापित जिनालय मे प्रतिवर्ष अष्टाह्निका महोत्सव और महामह पूजा एवं जिनाभिषेक किये जाने, तथा उससे बचे द्रव्य से समस्त संघ को भोजन कराने के लिए कुन्दूर विषय का वसुन्तवाटक ग्राम कूर्च्चक सम्प्रदाय के वारिषेणाचार्य-संघ को, चन्द्रक्षान्त नामक मुनि को प्रमुख बनाकर, प्रदान किया था। राजा उस समय उच्चश्रृंगी दुर्ग में था। इस ताम्रशासन मे राजा के लिए जो विशेषण दिये हैं, उनसे वह विद्वान्, बुद्धिमान्, शास्त्रज्ञ और पराक्रमी वीर रहा प्रतीत होता है। राज्य के पाँचवें वर्ष मे इस सर्व प्रजा-हृदय-कुमुद-चन्द्रमा महाराज हरिवर्मा ने अपने सामन्त, सेन्द्रककुलतिलक राजन् भानुशक्ति की प्रेरणा से अहिरिष्टि नाम के श्रवण-संघ के उस चैत्यालय की पूजा संस्कार के लिए, जिसके अधिष्ठाता आचार्य धर्मनन्दी थे, तथा साधुजनो के उपयोग के लिए मरदे नामक ग्राम का दान दिया था। हरिवर्मन की मृत्यु के कुछ ही वर्षों के पश्चात् ही कदम्बों की राज्यसत्ता समाप्त हो गयी।

युवराज देववर्मन—त्रिपर्वत शाखा के कृष्णवर्मन का प्रिय पुत्र था। उसने एक दानपत्र द्वारा अपने पुण्य-फल की आकांक्षा से 'तीन लोक के प्राणियों के हित के लिए उपदेश देकर धर्मप्रवर्तन करनेवाले अर्हन्त भगवान्' के चैत्यालय के मान-संस्कार (रख-रखाव, मरम्मत आदि) तथा भगवान् की पूजा-अर्चा और प्रभावना के हेतु सिद्धकेदार के राजमान्य यापनीय-संघ को त्रिपर्वत-क्षेत्र की कुछ भूमि प्रदान की थी। अभिलेख में उक्त देववर्मन को कदम्ब-कुल-केतु, रणप्रिय, एकवीर, दयामृत-सुखास्वादन से पवित्र हुआ, पुण्य गुणों का इच्छुक कहा है। देववर्मन सम्भवतया उपरोक्त हरिवर्मन का समकालीन या उससे कुछ पहले हुआ लगता है।

इस प्रकार अपने समय में कदम्ब राज्य एक सुशासित, सुव्यवस्थित, शान्ति और समृद्धि पूर्ण राज्य था। कदम्ब नरेशों की स्वर्णमुद्राएँ अति श्रेष्ठ मानी जाती हैं। उनके समय में विविध जैन साधु-संघ और संस्थाएँ सजीव एवं प्रगतिशील थीं। वे राजा तथा प्रजा की लौकिक उन्नति एवं नैतिकता में साधक और सहायक थीं। जैनधर्म का अच्छा उद्योत था। उसके विभिन्न सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय परस्पर सौहार्दपूर्वक रहते हुए स्वपर कल्याण करते थे।

पल्लव वंश

दक्षिण भारत के धुर पूर्वीतट पर तमिलनाड में दूसरी शती ई. के उत्तरार्ध में पल्लव वंश की स्थापना हुई। कांची (दक्षिण काशी या कांजीवरम) उसकी राजधानी थी। तब यह प्रदेश तोण्डेय-मण्डलम् कहलाता था। पल्लव वंश का संस्थापक उस कौलिकवर्मन चोल का ही एक पुत्र था, जिसके एक अन्य पुत्र शान्तिवर्म जैनाचार्य समन्तभद्र के रूप में प्रसिद्ध हुए। समन्तभद्र अपना परिचय 'काञ्च्यां नग्नाटकोऽहम्' (मैं कांची का दिगम्बर सन्त हूँ) रूप में ही सर्वत्र देते थे। अतएव प्रारम्भिक पल्लव राजाओं पर तथा उनकी प्रजा के पर्याप्त भाग पर स्वामी समन्तभद्र और उनके धर्म का प्रभाव रहा प्रतीत होता है। उनमें से शिवस्कन्दवर्मन आगमों के टीकाकार जैनाचार्य बप्पदेव का भक्त रहा प्रतीत होता है। पल्लवों का राज्य-चिह्न वृषभ था अतः वे वृषध्वज भी कहलाये, सम्भव है कि प्रारम्भ में उनमे वृषभलांछन ऋषभदेव (आदि-तीर्थंकर) की पूजा-उपासना विशेष रही हो। इस वंश का एक प्रसिद्ध नरेश सिंहवर्मन द्वितीय था जिसके राज्य के २२वें वर्ष मे शक ३८० (सन् ४५८ ई.) में पाणराष्ट्र के पाटलिक-ग्राम के जिनालय मे जैनाचार्य सर्वनन्दि ने अपना प्राकृत भाषा का 'लोक-विभाग' ग्रन्थ रचकर पूर्ण किया था। समय के साथ पल्लव वंश की शाखाएँ-उपशाखाएँ होती रहीं। तीसरी शाखा में उत्पन्न सिंहविष्णु का उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन प्रथम (६००-६३० ई.) प्रसिद्ध प्रतापी एवं पराक्रमी नरेश था। वह जैनधर्म का अनुयायी था। कई जिनमन्दिर तथा सित्तनवासल के प्रसिद्ध जैनगुहामन्दिर उसी ने बनवाये थे, जिनमें श्रेष्ठ भित्तिचित्र भी प्राप्त हुए हैं। इन चैत्यालयों का निर्माण कराने के कारण उसे 'चैत्यकन्दर्प' उपाधि प्राप्त हुई थी। उस प्रदेश में कृत्रिम गुहामन्दिर बनवानेवाला सम्भवतया वही सर्वप्रथम नरेश था। शैव-सन्त अप्पर के, जो स्वयं पहले जैनधर्मानुयायी ही था, प्रभाव में आकर यह राजा शैव हो गया था, और तब उसने जैनों पर अत्याचार किये, उनके स्थान में शैवनयनारों को प्रश्रय और प्रोत्साहन दिया, शैवमन्दिर बनवाये और कई जिनमन्दिरों को भी शैवमन्दिरों में परिवर्तित किया। तदनन्तर इस वंश के अधिकांश राजे शैव ही हुए, जिनमें से कुछ जैनधर्म के कट्टर विरोधी, तो कुछ अपेक्षाकृत सहिष्णु रहे। जैनधर्म और उसके अनुयायी अल्पाधिक संख्या में उस राज्य में बराबर बने रहे। दसवीं शती में पल्लव-राज्य का अन्त हो गया। पल्लवों की ही एक शाखा

नोलम्बवाड़ी के नोलम्बों की थी, और उनमें जैनधर्म की प्रवृत्ति प्रायः निरन्तर बनी रही। अन्तिम पल्लवनरेशों में नन्दिवर्मन तृतीय (८४४-६० ई.) का पुत्र एवं उत्तराधिकारी, जिसकी जननी शंखादेवी राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम की पुत्री थी, अपने नाना की ही भाँति जैनधर्म का समर्थक था। उसने पाण्ड्य-नरेश श्रीमारन को पराजित करके उसकी राजधानी मदुरा को भी लूटा था।

वातापी के पश्चिमी चालुक्य

पाँचवीं शती ई. के मध्य के लगभग दक्षिण भारत के महाराष्ट्र प्रदेश में इस राज्यशक्ति का उदय हुआ, छठी में उसने बल पकड़ा और सातवीं में तो दक्षिणापथ के ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भारतवर्ष के उस काल के सर्वाधिक शक्तिशाली एवं समृद्ध साम्राज्य में वह परिणत हो गयी। वंश का मूलपुरुष अयोध्या का कोई सोमवंशी क्षत्रियकुमार बताया जाता है, जो अपने भाग्य की परीक्षा के लिए दक्षिण में आया था। इस वंश में सर्वप्रथम नाम विजयादित्य मिलता है, जो उसी व्यक्ति अथवा उसके पुत्र का था। उसने पल्लवराज्य के एक छोटे-से भाग पर अधिकार करके अपनी शक्ति बढ़ानी शुरू की, किन्तु पल्लवों के साथ युद्ध में मारा गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न उसका पुत्र जयसिंह जन्म के समय अनाथ और राज्यविहीन था, किन्तु वयस्क होते ही उसने ऐसा साहस, शौर्य और पराक्रम दिखाया कि गंग दुर्विनीत ने उसे अपनी छत्रच्छाया में ले लिया, उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया और पल्लवों के विरुद्ध युद्धों में उसकी सहायता की। अन्ततः, वातापी (बदामी) को राजधानी बनाकर चालुक्य राज्य की सुदृढ़ नींव जमाने में जयसिंह सफल हुआ और विष्णुवर्धन, राजसिंह, रणपराक्रमांक-जैसे विरुद उसे प्राप्त हुए। बदामी के अतिरिक्त अल्लेम (अलक्तकनगर) और ऐहोल (ऐविल्ल या आर्यपुर) उसके राज्य के प्रसिद्ध नगर थे, और इन तीनों ही स्थानों में जैनों की अच्छी बस्ती और स्थिति थी। जयसिंह की मृत्यु चण्डदण्ड पल्लव के साथ हुए युद्ध में हुई। तब दुर्विनीत गंग ने उसके युवापुत्र रणराग एरेय्य सत्याश्रय को प्रश्रय दिया, उसकी ओर से चण्डदण्ड पल्लव को भीषण युद्ध में मार डाला और रणराग को उसके पिता के सिंहासन पर पुनः प्रतिष्ठित किया। उस काल में भुजगेन्द्रान्वय (नागजाति) के सेन्द्रवंश में 'तत्कुल-गगन-चन्द्रमा' तथा अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करनेवाला विजयशक्ति नाम का राजा था। उसका पुत्र शौर्य-धैर्य-सत्त्व-गुणसम्पन्न, सामन्तवृन्दमौलि राजा कुन्दशक्ति था, जिसका प्रिय पुत्र अद्वितीय-पुरुषाकार-सम्पन्न, अनेकरण-विजयवीरपताकाग्रहणोद्घतकीर्ति तथा धर्म-अर्थ-काम-प्रधान राजन् दुर्गशक्ति था। इस दुर्गशक्ति ने पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर) नामक नगर में शंख-जिनेन्द्र-चैत्य का निर्माण कराके उसकी पूजादि तथा अपनी पुण्याभिवृद्धि के हेतु उक्त राजा सत्याश्रय के शासनकाल में पचास निवर्त्तन भूमि का दान दिया था। यह जैन राजा दुर्गशक्ति उक्त चालुक्य नरेश रणराग सत्याश्रय के प्रमुख सामन्तों में से था।

रणराग का पुत्र एवं उत्तराधिकारी चालुक्य नरेश पुलकेशी प्रथम सत्याश्रय बड़ा वीर, प्रतापी और योग्य शासक था। उसके राज्य में जैनधर्म का प्रभूत प्रचार था। वहाँ जैनगुरुओं का अबाध विहार होता था और राजा के अनेक सामन्त, सरदार और राजकर्मचारी जैन थे। उस काल में रुद्रनील-सैन्द्रकवंश का गोण्ड नाम का मण्डलीक राजा था। उसका पुत्र जय-नय-विनय-सम्पन्न एवं समररसरसिक सिवार नाम का राजा था। सिवार का पुत्र अपने पराक्रम से वैरियों को त्रस्त करनेवाला, राम के भृत्य हनुमान्-जैसा अपने स्वामी (पुलकेशी) का अनुचर, धार्मिक सामियार था जो कुहुण्डी-विषय का शासक था। उक्त धर्मात्मा सामन्त राजा सामियार ने अलक्तकनगर में त्रिभुवनतिलक नाम का जिनालय भक्तिपूर्वक निर्माण कराया था, जो देवराज इन्द्र के प्रासाद-जैसा भव्य, मनोहर, उत्तुंग एवं श्रेष्ठ था। यह जिनालय उसने चालुक्यनरेश की अनुमति से सम्भवतया उसके राज्य के ११वें वर्ष (५४२ ई.) में निर्मापित कराया था, और उसके लिए वैशाखी पूर्णिमा को, जिस दिन चन्द्रग्रहण था, स्वयं महाराज सत्याश्रय (पुलकेशी प्र.) ने कनकोपल-वृक्षमूल-गण आम्नाय के सिद्धनन्दि मुनीश्वर के पाँच सौ शिष्यों में अग्रणी नागदेव चितकाचार्य के सुशिष्य, समस्तशास्त्रसम्बोधिधी आचार्य जिननन्दि को चार ग्राम तथा अन्य बहुत-सी भूमि का दान दिया था। राजधानी वातापि में भी उस काल में एक जिनालय बना प्रतीत होता है।

पुलकेशी प्र. का पुत्र एवं उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मन प्रथम था। उसने भी अपने पराक्रम से राज्य के विस्तार में वृद्धि की थी। उसके राज्यकाल (सम्भवतया ५६७ ई.) में दोण, एल आदि कई ग्रामप्रमुखों ने एक जिनालय बनवाया था, जिसके लिए सिन्दरस के पुत्र पाण्डीपुर-नरेश माधवत्तियरस की अनुमति से परलूरगण के आचार्य विनयनन्दी के प्रशिष्य और वासुदेव गुरु के शिष्य प्रभाचन्द्र मुनि को दान दिया था। दान भगवान् की पूजा के लिए अक्षत (अखण्डित चावल), गन्ध (धूप), पुष्प आदि की व्यवस्था के लिए था और कर्म्मगलूर की पश्चिम दिशा में स्थित धान के खेतों के राजकीय माप से आठ मत्तल चावलों का था। प्रायः इसी काल में जैन पण्डित रविकीर्ति ने ऐहोल के निकट मेगुती में एक सुन्दर जिनमन्दिर बनवाया था और वहाँ एक विद्यापीठ की स्थापना की थी। स्वयं ऐहोल में एक बड़ा जैनगुहामन्दिर था जिसमें भगवान् पार्श्वनाथ की सहस्रफणी प्रतिमा स्थापित थी। कीर्तिवर्मन के पश्चात् उसका छोटा भाई मंगलीश राजा रहा और तदनन्तर कीर्तिवर्मन का पुत्र पुलकेशी द्वितीय।

चालुक्य सम्राट् पुलकेशिन् द्वितीय सत्याश्रय पृथ्वीवल्लभ (६०८-६४२ ई.) वंश का सर्वमहान् नरेश था। प्रायः पूरे दक्षिण भारत पर उसका अधिकार था और कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्द्धन का वह सबसे प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था। हर्ष को पराजित करके ही उसने 'परमेश्वर' उपाधि धारण की थी। ईरान के शाह खुसरो के साथ उसके राजनीतिक आदान-प्रदान हुए थे। वह सर्वधर्म-समदर्शी था और जैन नहीं था, तथापि जैन-धर्म का प्रबल पोषक था। सन् ६३४ ई. में अपनी दिग्विजय के उपरान्त जब नरेश ने

राजधानी वातापी में प्रवेश किया तो उसके विशाल साम्राज्य की सीमा रेवा नदी को स्पर्श करती थी, दक्षिण में समुद्र से समुद्र पर्यन्त उसका विस्तार था, समुद्र में स्थित अनेक द्वीपों का भी वह स्वामी था, पश्चिम में गुजरात और पूर्व में आन्ध्र प्रदेश को उसने अपने साम्राज्य में मिला लिया था। उस अवसर पर राजधानी में प्रवेश करने के उपरान्त सम्राट् का सर्वप्रथम कार्य अपने गुरु जैन पण्डित रविकीर्ति को उनके द्वारा ऐहोल की मेगुती पहाड़ी पर निर्मापित जिनमन्दिर एवं अधिष्ठान के लिए उदार दान देकर सम्मानित करना था। इस समय सम्भवतया वहाँ किसी नवीन जिनालय का भी निर्माण एवं प्रतिष्ठा हुई थी। रविकीर्ति भारी विद्वान् एवं महाकवि थे। उनकी काव्य-प्रतिभा की तुलना कालिदास और भारवि के साथ की जाती थी। इस दान के उपलक्ष्य में स्वयं रविकीर्ति ने सम्राट् पुलकेशी की वह विस्तृत, भाव एवं कलापूर्ण संस्कृत प्रशस्ति रची थी जो उक्त मन्दिर की दीवार पर उत्कीर्ण है और उस नरेश के चरित्र एवं कार्यकलापों के लिए सर्वप्रथम ऐतिह्य आधार है। इसी वर्ष अड्डूर (धारवाड़) में नगरसेठ द्वारा निर्मापित जैनमन्दिर को भी सम्राट् ने दान दिया था। इसी काल में अजन्ता और बदामी की बौद्ध एवं जैनगुफाओं के संसार-प्रसिद्ध भित्ति-चित्रों का निर्माण हुआ था। चीनी-यात्री ह्वेनसांग के आँखों देखे विवरण से भी पुलकेशी की शक्ति, महत्ता, राज्यवैभव, प्रजा की सुख-समृद्धि तथा विद्या एवं कला की साधना आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चालुक्य साम्राज्य में बौद्धों की अपेक्षा जैनों के मन्दिरों, साधुओं और गृहस्थ अनुयायियों की संख्या कहीं अधिक थी। पुलकेशी के अन्तिम वर्षों में नरसिंहवर्मन पल्लव के साथ उसके भीषण युद्ध हुए। अन्ततः एक युद्ध में ही पुलकेशी स्वयं वीरगति को प्राप्त हुआ। अपने छोटे भाई कुब्ज-विष्णुवर्धन को उसने आन्ध्रप्रदेश का शासक नियुक्त कर दिया था जिससे वेंगि के पूर्वी चालुक्यों का वंश प्रारम्भ हुआ। सम्भवतया पुलकेशी द्वितीय के शासनकाल में ही सुप्रसिद्ध दार्शनिक जैनाचार्य भट्टाकलंक देव का जन्म हुआ, जो उसी के एक जैन सामन्त लघुहव्व नृपति के पुत्र थे।

पुलकेशी द्वितीय का पुत्र एवं उत्तराधिकारी विक्रमादित्य प्रथम 'साहसांक' (६४२-६८० ई.) ही अकलंक सम्बन्धी अनुश्रुतियों का 'राजन् साहसतुंग' प्रतीत होता है, जिसकी राजसभा में आचार्य ने अपनी वाद-विजयों का उल्लेख किया था। यह नरेश उन्हें अपना 'पूज्यपाद' गुरु मानता था। राज्यप्राप्ति के समय उसकी स्थिति बड़ी डाँवा-डोल थी, किन्तु इस 'रणरसिक' 'साहसोत्तुंग' वीर ने कुछ वर्षों में ही अपने शत्रुओं का दमन कर दिया, और स्वपराक्रम द्वारा अपने प्रतापी पिता के साम्राज्य एवं प्रतिष्ठा का पुनरुद्धार कर लिया, और तभी (६५३ ई. के लगभग) उसने अपना विधिवत् राज्याभिषेक कराया। अपने आज्ञाकारी भाई जयसिंह को उसने लाटदेश का शासक बनाया, जिससे गुजरात के चौलुक्यों की वह शाखा चली जो १०वीं-१२वीं शती में अत्यन्त प्रसिद्ध हुई।

विक्रमादित्य प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र विनयादित्य (६८०-६९६ ई.) राजा हुआ। उसके राजगुरु मूलसंघान्तर्गत देवगण के उपरोक्त आचार्य 'पूज्यपाद' अकलंकदेव के गृही-शिष्य निरवद्यपण्डित थे जो भारी विद्वान् थे। अपने राज्य के सातवें वर्ष में, शक ६०८ (सन् ६८७ ई.) में जब यह नृपति रक्तपुर के अपने विजय-स्कन्धावार (छावनी) में ठहरा हुआ था, उसने देवगण के उपरोक्त गृहस्थाचार्य, सम्भवतया निरवद्यपण्डित को दान दिया था। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी विजयादित्य द्वितीय (६९७-७३३ ई.) ने पल्लवों के विरुद्ध किये गये अपने पितामह एवं पिता के युद्धों में सराहनीय भाग लिया था। अपने पराक्रम से अपने शत्रुओं को उसने बहुत कुछ दबाये रखा। पूज्यपाद (अकलंक) की परम्परा के उदयदेवपण्डित, जो सम्भवतया पूर्वोक्त निरवद्यपण्डित के शिष्य थे, इस नरेश के राजगुरु थे। सन् ७०० ई. में उसने उन्हें लक्ष्मेश्वर के शंख-जिनेन्द्र-मन्दिर के लिए दान दिया था। इसी समय के लगभग उसने राजधानी वातापी में भी एक दान-सूचक कन्नड़ी शिलालेख अंकित कराया था। उसके हूलगिरि शिलालेख में जैन तीर्थक्षेत्र कोप्पण का उल्लेख है। अकलंकदेव के सधर्मा पुष्पसेन और पुष्पसेन के शिष्य विमलचन्द्र, मुनिकुमारनन्दि और अकलंक के प्रथम टीकाकार बृहत्-अनन्तवीर्य इसी काल में और सम्भवतया इसी राजा के प्रश्रय में हुए थे। गंगनरेश श्रीपुरुष मुत्तरस भी उसका सम-कालीन था और उक्त विमलचन्द्र आदि गुरुओं का पोषक था। अपने राज्य के ३४वें वर्ष (शक ६५१ = सन् ७२९ ई.) में महाराज विजयादित्य द्वितीय ने अपने रक्तपुर के विजयस्कन्धावार से पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर) के उसी शंखजिनालय के हितार्थ अपने पिता के तथा अपने राजगुरु उदयदेवपण्डित को कर्दमनाम का गाँव दान दिया था। सन् ७३३ ई. में विकीर्णक नामक एक राज्यमान्य श्रावक ने भी उसी जिनालय के लिए पुष्कल दान दिया था। इसी 'चालुक्य-चक्रवर्ती विजयादित्यवल्लभ' की छोटी बहन कुंकुम-महादेवी ने पुरिगेरी में एक भव्य जिनालय बनवाया था जो ११वीं शती के अन्त तक विद्यमान था। विजयादित्य द्वितीय का पुत्र एवं उत्तराधिकारी विक्रमादित्य द्वितीय (७३३-७४४ ई.) भी अपने पूर्वजों की भाँति जैनधर्म का भक्त था। अकलंक की परम्परा के विजयदेवपण्डित उसके राजगुरु और गृहस्थाचार्य थे। वह रामदेवाचार्य (जो सम्भवतया अकलंक देव के ही एक शिष्य थे) के प्रशिष्य और जयदेव पण्डित के अन्तेवासी (शिष्य) थे। इस नरेश के ७३५ ई. के लक्ष्मेश्वर शिलालेख में रामदेवाचार्य के लिए 'मूलसंघान्वय-देवगणोदिताय-परमतपः-श्रुतमूर्तिविशोक' विशेषण दिये हैं, जयदेवपण्डित को 'विजितविपक्षवादी' और विजयदेव-पण्डिताचार्य को 'समुपगतैकवादि' लिखा है। भट्टाकलंक की परम्परा के विद्वानों के लिए ये विशेषण उपयुक्त ही हैं। देवसंघ का प्रधान केन्द्र उक्त लक्ष्मेश्वर ही रहा प्रतीत होता है और उसके परम पोषक ये चालुक्य नरेश ही थे। विक्रमादित्य द्वितीय ने उक्त तीर्थस्थान के शंखतीर्थवसति, धवल-जिनालय आदि जैनमन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया और बाहुबलि नामक धर्मात्मा श्रेष्ठि की प्रार्थना पर वहाँ के उक्त मन्दिरों की मरम्मत, रख-रखाव, जिनेन्द्र भगवान् की पूजा

तथा दानप्रवृत्ति को चालू रखने आदि के लिए बहुत-सी भूमि का दान, कर आदि सर्व बाधाओं से मुक्त करके दिया था। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मन द्वितीय (७४४-७५७ ई.) वातापी के इस पश्चिमी चालुक्य वंश का अन्तिम नरेश था। अपने पिता द्वारा काञ्ची के पल्लवों पर किये गये आक्रमण मे भी उसने प्रशंसनीय भाग लिया था। किन्तु इधर दो दशकों से चालुक्यों के राष्ट्रकूट सामन्तों की शक्ति द्रुतवेग से बढ़ रही थी। अन्ततः ७५२ ई. के लगभग राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ने चालुक्य सत्ता को छिन्न-भिन्न कर दिया, और ७५७ ई. में कीर्तिवर्मन द्वितीय की मृत्यु के साथ ही चालुक्यों का यह अध्याय समाप्त हुआ। वह स्वयं निःसन्तान था, अतएव उसके चाचा भीम पराक्रम की सन्तति राष्ट्रकूटों के गौण सामन्तो या उपराजाओं के रूप मे जैसे-तैसे चलती रही, जबतक कि दसवी शताब्दी के अन्तिम पाद में एक नवीन राज्य शक्ति के रूप में चालुक्यों का पुनः अभ्युदय नही हुआ।

वेंगि के पूर्वी चालुक्य

वातापी के चालुक्य सम्राट् पुलकेशी द्वितीय के अनुज कुब्जविष्णुवर्धन द्वारा ६१५ ई. मे स्थापित इस वंश के क्रमशः २७ नरेशों ने आन्ध्रप्रदेश पर लगभग ५०० वर्ष तक राज्य किया। मूलवंश की भांति इस शाखा के नरेश भी जैनधर्म के पोषक रहे और कई एक तो उसके परम भक्त हुए। स्वयं कुब्जविष्णुवर्धन इस धर्म का आदर करता था, और उसकी रानी तो जिनधर्म के प्रति बड़ी निष्ठावान् थी। उसकी प्रभावना के लिए उसने अपने पति राजा से कई ग्राम भेंट करवाये थे। इस वंश के पाँचवें नरेश विष्णुवर्धन तृतीय ने जैनाचार्य कलिभद्र का सम्मान किया था और उन्हें दान दिया था। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी विजयादित्य प्रथम की महारानी अय्यन-महादेवी ने ७६२ ई. मे उपरोक्त दान की पुनरावृत्ति की थी। उसका उत्तराधिकारी विष्णुवर्धन चतुर्थ बड़ा पराक्रमी नरेश था और जैनधर्म का भी भक्त था। इस काल मे विशाखा-पत्तनम् (विजगापट्टम) जिले के रामकोड (रामगिरि या रामतीर्थ) पहाड़ियों पर एक उच्चकोटि का जैन सांस्कृतिक केन्द्र विकसित हुआ था। त्रिकलिंग (आन्ध्र) देश के वेंगि प्रदेश की समतल भूमि के मध्य स्थित यह रामगिरि अनेक जैन गुहामन्दिरों, जिनालयों आदि से सुशोभित था। अनेक जैन मुनि वहाँ निवास करते थे। उक्त राजाओं के सरक्षण एवं प्रश्रय में ज्ञान-विज्ञान की उच्च शिक्षा का यह विद्यापीठ फल-फूल रहा था। जैनाचार्य श्रीनन्दि उसके अधिष्ठाता थे। वह आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों में निष्णात भारी विद्वान् थे। स्वयं महाराज विष्णुवर्धन चतुर्थ इन आचार्य के चरणों की पूजा करता था। इन्ही के प्रधान शिष्य 'कल्याणकारक' नामक प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ के रचयिता, आयुर्वेद के महापण्डित उग्रादित्याचार्य थे, जो राष्ट्रकूट अमोघवर्ष-जैसे अन्य नरेशो द्वारा भी सम्मानित हुए थे।

अम्मराज—तदनन्तर कई राजाओं के उपरान्त इस वंश में अम्मराज द्वितीय

(९४५–९७० ई.) नाम का बड़ा प्रतापी एवं धर्मात्मा नरेश हुआ। इस राजा का अपरनाम विजयादित्य षष्ठ और विरुद 'समस्त-भुवनाश्रय' था। वह भीम द्वितीय की महारानी लोकमहादेवी से उत्पन्न हुआ था। यद्यपि वह शिव और जिनेन्द्र का समान रूप से भक्त था, उसके जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं उनसे प्रकट होता है कि आन्ध्र प्रदेश में १०वीं शती ई. में जैनधर्म पर्याप्त लोकप्रिय एवं उन्नत दशा में था। अपने राज्य के प्रथम वर्ष मे ही इस नृपति ने अपने प्रधान सेनापति दुर्गराज द्वारा धर्मपुरी के निकट निर्मापित 'कटकाभरण' नाम के अति भव्य जिनालय के लिए मलियपूण्डि नामक ग्राम दान किया था। उक्त दुर्गराज का प्रपितामह पाण्डुरंग सम्भवतया विजयादित्य तृतीय का सेनानायक था और उसने कृष्णराज (राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण द्वितीय) के निवासस्थान किरणपुर को भस्म कर दिया था। पाण्डुरंग के पुत्र निरवद्य-धवल को 'कटकराज' का पट्ट प्रदान किया गया था। कटकराज का पुत्र कटकाधिपति विजयादित्य था, जिसका पुत्र उपर्युक्त दुर्गराज था। इस प्रकार इस वंश में कम से कम चार पीढ़ी से पूर्वी चालुक्यों के सेनापति का पद चला आ रहा था। स्वयं दुर्गराज की प्रशंसा में लिखा है कि वह प्रवरगुणनिधि, धार्मिक, सत्यवादी, त्यागी-भोगी महात्मा, विजयी वीर एवं लक्ष्मीनिवास था और उसकी तलवार चालुक्य-लक्ष्मी की सुरक्षा के लिए सदैव म्यान से बाहर रहती थी। वह उक्त राज्य का शक्तिस्तम्भ माना जाता था। दान का उद्देश्य जिनालय में भगवान् की पूजा के प्रबन्ध, भवन की मरम्मत, संस्कार आदि और एक सत्र (दान-शाला) का संचालन था, जो उक्त जिनालय से सम्बद्ध था। उक्त कटकाभरण-जिनालय और उसके लिए प्रदत्त ग्राम, कर आदिक समस्त बाधाओं से मुक्त करके यापनीय संघ-कोटिमडुवगण-अर्हनन्दिगच्छ के जिननन्दि-मुनीश्वर के प्रशिष्य तपस्वी एवं धीमान् मुनि श्रीमान्दिरदेव को सौंप दिये गये थे। कलुचुम्बरु दानपत्र के अनुसार इस नरेश ने चालुक्य वंश के पट्टवर्द्धिक घराने की राजमहिला चामकाम्बा, जो शायद स्वयं राजा की गणिका-पत्नी थी, के निवेदन पर सर्वलोकाश्रय-जिनभवन के लिए उक्त ग्राम दान किया था। सम्भवतया इस देवालय का निर्माण 'समस्तभुवनाश्रय' अम्मराज के नाम पर ही उक्त धर्मात्मा महिलारत्न ने कराया था जो स्वयं दान-दया-शीलयुता, बुध-श्रुतनिरता, जिनधर्म-जलविवर्धन-शशि, चारुश्रीः श्राविका थी। वह वलहारिगण-अड्डकलिगच्छ के मुनि सकलचन्द्र-सिद्धान्त के प्रशिष्य और अय्यपोटिमुनीन्द्र के शिष्य मुनि अर्हनन्दि भट्टारक की शिष्या थी। उन्हीं को भक्तिपूर्वक यह दान दिया गया था। इन मुनि ने इस प्रशस्ति के लेखक गुम्मिमय को स्वयं पुरस्कृत किया था। दान का उद्देश्य उक्त जिनालय से सम्बद्ध सत्र या धर्मादि की भोजनशाला की मरम्मत एवं रख-रखाव आदि की व्यवस्था करना था। अम्म द्वितीय ने विजयवाटिका (बेजवाडा) के दो जिनमन्दिरों को भी दान दिया था, जिनमें सम्भवतया एक वह था जिसे पूर्वकाल मे महारानी अय्यन-महादेवी ने भी दान दिया था।

विमलादित्य—अम्म द्वितीय की पाँचवीं पीढ़ी में, १०२२ ई. के लगभग,

विमलादित्य नाम का राजा हुआ। वह भी जैनधर्म का परम भक्त था। देशीगण के आचार्य त्रिकालयोगी- सिद्धान्तदेव उसके गुरु थे। इस राजा ने अनेक जैनमन्दिरों को दान दिया। पूर्वोक्त रामगिरि भी ११वी शताब्दी के मध्य पर्यन्त एक प्रसिद्ध एवं उन्नत जैन सास्कृतिक केन्द्र बना रहा, जैसा कि वहाँ से प्राप्त एक शिलालेख से प्रकट है। विमलादित्य के एक कन्नडी शिलालेख से यह भी ज्ञात होता है कि उक्त त्रिकालयोगी-सिद्धान्तदेव और सम्भवतया स्वय वह राजा भी जैन तीर्थ रामगिरि की वन्दना करने गये थे। विमलादित्य के उपरान्त दो-तीन अन्य राजा हुए, और ११वी शती ई. के अन्त तक वेंगि के इन पूर्वी चालुक्यो की सत्ता का भी अन्त हो गया। तभी से उस प्रदेश मे जैनधर्म का भी ह्रास होने लगा।

महारानी कुन्दब्बे—महाराज विमलादित्य की पट्टरानी थी। वह तंजौर के राजराजा चोल की पुत्री और राजेन्द्र चोल की बहन थी, बडी धर्मात्मा और जिनभक्त थी। सम्भवतया इस रानी के प्रभाव से ही राजा भी जैनधर्म का अनुयायी हुआ था। महारानी कुन्दब्बे ने अपने भाई राजेन्द्र चोल के राज्य मे पवित्र पर्वत तिरुमलै के शिखर पर कुन्दब्बे-जिनालय नाम का भव्य मन्दिर बनवाया था, और उसके लिए ग्राम आदि दान दिये थे। लेख राजेन्द्र चोल के राज्य के १२वें वर्ष, सन् १०२३ ई का है। लगता है कि उसके कुछ पूर्व विमलादित्य की मृत्यु हो गयी थी और विधवा महारानी कुन्दब्बे अपने मायके जाकर अपने भाई के आश्रय मे रहती हुई धर्मसाधनपूर्वक जीवन व्यतीत कर रही थी।



राष्ट्रकूट-चोल-उत्तरवर्ती चालुक्य—कलचुरि

राष्ट्रकूट वंश

दक्षिणापथ के प्राचीन रट्टिकों (राष्ट्रिकों) के वंशज ये राष्ट्रकूट स्वयं को चन्द्रवंशी क्षत्रिय कहते थे। उनकी एक प्रारम्भिक शाखा लट्टलूर में स्थापित थी, जो सातवीं शती के पूर्वार्ध में बरार प्रदेश के एलिचपुर में आ बसी और तभी से उसका अभ्युदय प्रारम्भ हुआ। इसका प्रथम ज्ञात राजा दन्तिवर्मन था। उसकी पाँचवीं पीढ़ी में इन्द्र द्वितीय हुआ, जिसकी पत्नी एक चालुक्य राजकुमारी थी। इन दोनों का पुत्र दन्तिदुर्ग-खण्डावालोक-वैरमेघ ८वीं शती के प्रथम पाद के लगभग अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। अबतक ये राष्ट्रकूट राजे वातापी के चालुक्यों के करद सामन्त थे। दन्तिदुर्ग अत्यन्त चतुर, साहसी और महत्त्वाकांक्षी था। चालुक्यों की गिरती दशा का उसने प्रभूत लाभ उठाया। नासिक विषय (ज़िले) के मयूरखण्डी दुर्ग को उसने अपनी प्रधान छावनी और एलोरा को राजधानी बनाया। एलोरा उस समय भी जैन, शैव, वैष्णव और बौद्ध चारों ही धर्मों और संस्कृतियों का संगमस्थल था। सन् ८५८ में रचित धर्मोपदेशमाला में एक और अधिक पुरानी घटना का उल्लेख है कि एक समय समयज्ञ नामक (श्वेताम्बर) मुनि भृगुकच्छ से चलकर एलउर नगर आये थे और उस नगर की प्रसिद्ध दिगम्बर वसही (बसति, मन्दिर या अधिष्ठान) में ठहरे थे, जिससे प्रतीत होता है कि राष्ट्रकूटों के शासन के प्रायः प्रारम्भ से ही एलोरा दिगम्बर आम्नाय का प्रसिद्ध केन्द्र था। इसका कारण यही है कि दन्तिदुर्ग आदि राष्ट्रकूट नरेश सर्वधर्म-समदर्शी थे और उनका व्यक्तिगत या कुलधर्म शैव, वैष्णवादि होते हुए भी वे जैनधर्म के विशेष पोषक एवं संरक्षक रहे थे। सन् ७५२ ई. में दन्तिदुर्ग ने कीर्तिवर्मन चालुक्य को पराजित करके उसके विरुद अपना लिये और चार-पाँच वर्ष के भीतर ही सम्पूर्ण चालुक्य साम्राज्य पर अधिकार कर लिया तथा स्वयं को सम्राट् घोषित कर दिया। उसने अन्य अनेक राजाओं को पराजित करके अपने अधीन किया, जिनमें चित्रकूट (चित्तौड़) के मौर्य राजा राहप्पदेव को पराजित करके उसका श्वेतच्छत्र और श्रीवल्लभ उपाधि स्वयं ग्रहण कर ली। सम्भवतया तभी राहप्प के अनुज वीरप्पदेव, जो जैन मुनि होकर स्वामी वीरसेन के नाम से विख्यात हुए, राष्ट्रकूट राजधानी के निकट ही नासिक विषय के वाटनगर में आ बसे और वहाँ के चन्द्रप्रभ जिनालय एवं चामरलेण के गुहामन्दिरों में उन्होंने अपना ज्ञानकेन्द्र स्थापित किया। जैनाचार्य विमलचन्द्र ने गंगनरेश श्रीपुरुष की भाँति इस नरेश

से भी सम्मान प्राप्त किया लगता है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि अकलंक सम्बन्धी अनुश्रुति का 'राजन्साहसतुंग' भी राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ही था, किन्तु यह सम्भव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि साहसतुंग उपाधि मूलतया चालुक्यों की थी, चालुक्य अभिलेखों में उल्लिखित देवसंघ के आचार्य पूज्यपाद से अभिप्राय अकलंकदेव का ही है, और सातवीं शती के अन्त के लगभग से ही हम पूज्यपाद अकलंक के नहीं वरन् उनके शिष्य-प्रशिष्यों के उल्लेख पाते हैं—आठवीं शती का प्रथम पाद तो अकलंक की अधिक से अधिक अन्तिम अवधि हो सकती है।

दन्तिदुर्ग के उपरान्त उसका चाचा कृष्ण प्रथम अकालवर्ष-शुभतुंग (७५७-७७३ ई.) राजा हुआ। वह भी भारी विजेता और पराक्रमी नरेश था। एलोरा के सुप्रसिद्ध कैलास मन्दिर के निर्माण का श्रेय उसे ही दिया जाता है। उसी समय के लगभग एलोरा के इन्द्रसभा, जगन्नाथसभा आदि प्रायः उतने ही सिद्ध एवं कलापूर्ण जैन गुहामन्दिर बनने प्रारम्भ हुए। पूर्वोक्त विमलचन्द्र के प्रशिष्य परवादिमल्ल, जो भारी तार्किक और वादी थे, इसी राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम द्वारा सम्मानित हुए थे। एक बहुत बाद की अनुश्रुति के अनुसार अकलंकदेव इसे राष्ट्रकूट शुभतुंग या उसके ब्राह्मण मन्त्री पुरुषोत्तम के पुत्र थे, किन्तु यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है—ऐसा होने की कोई भी सम्भावना नहीं है। इस किंवदन्ती का यदि कोई महत्त्व है तो केवल इतना ही है कि उत्तर काल के जैन इस नरेश के साथ जैनधर्म का सम्बन्ध जोड़ते थे तो वह उस धर्म का पोषक अवश्य रहा होगा। कृष्ण प्रथम का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र गोविन्द द्वितीय (७७३-७७९ ई.) अयोग्य शासक था। युद्ध में उसकी मृत्यु हो जाने पर उसके अनुज ध्रुव-धारावर्ष-निरुपम (७७९-७९३ ई.) ने सिंहासन हस्तगत किया। घोर, धवलइय, श्रीवल्लभ, कविवल्लभ, बोद्दणराय (बल्लहराय या वल्लभराज) के मध्य देश तक उसने अपनी विजयपताका फहरायी थी और राष्ट्रकूट शक्ति को सम्पूर्ण भारतवर्ष में सर्वोपरि बना दिया था। उसकी पट्टरानी शीलभट्टारिका वेंगि के चालुक्य नरेश विष्णुवर्धन चतुर्थ की पुत्री थी और जैनधर्म की भक्त थी तथा श्रेष्ठ कवयित्री भी थी। अपभ्रंश भाषा के जैन महाकवि स्वयम्भू ने अपने रामायण, हरिवंश, नागकुमार चरित, स्वयम्भूछन्द आदि महान् ग्रन्थों की रचना इसी नरेश के आश्रय में उसी की राजधानी में रहकर की थी। कवि ने अपने काव्यों में ध्रुवराय धवलइय नाम से इस आश्रयदाता का उल्लेख किया है। स्वयम्भू की पत्नी सामिअब्बा भी बड़ी विदुषी थी। सम्राट् ने अपनी राजकुमारियों को शिक्षा देने के लिए उसे नियुक्त किया था। पुन्नाटसंघी आचार्य जिनसेन ने ७८३ ई. में समाप्त अपने हरिवंशपुराण के अन्त में इस नरेश का उल्लेख 'कृष्णनृप का पुत्र श्रीवल्लभ जो दक्षिणापथ का स्वामी था', इस रूप में किया है। बल्लहराय (वल्लभराज ध्रुव) नरेन्द्रचूड़ामणि के राज्य में नासिकदेश (प्रान्त) के वाटनगर (वाटग्रामपुर) विषय में, जब उक्त प्रान्त का शासक युवराज जगत्तुंगदेव था, पंचस्तूपान्वयी स्वामी वीरसेन ने, ७८० ई. में, षट्खण्डागम-सिद्धान्त की अपनी

सुप्रसिद्ध एवं विशालकाय श्रीधवल नाम्नी टीका को पूर्ण किया था। तदनन्तर उन्होंने कसायपाहुड की जयधवल टीका का लगभग एक-तिहाई भाग पूरा किया, महाधवल (महाबन्ध) निबद्ध किया, तथा सिद्धभूपद्धति आदि कतिपय अन्य ग्रन्थ रचे। इस दिग्गज आचार्य पुंगव ने अकेले लगभग एक लाख श्लोक परिमाण रचना की थी। दिगम्बर परम्परा के मूल आगमों के सर्वमहान् उपलब्ध भाष्य उपरोक्त विशाल वीरसेनीय टीकाएँ ही हैं। उनका शिष्य परिवार भी अत्यन्त सुयोग्य और काफ़ी बड़ा था। वाटनगर का उनका ज्ञानकेन्द्र उस युग का सम्पूर्ण भारतवर्ष का स्यात् सर्वमहान् जैन विद्यापीठ था। उसमें जितना विशाल पुस्तक-संग्रह था वैसा अन्यत्र कहीं नहीं था। सन् ७९० के लगभग यह आचार्यशिरोमणि दिवंगत हुए। स्वामी विद्यानन्द, परवादिमल्ल और गुरु कुमारसेन उस समय के राष्ट्रकूट राज्य के अन्य प्रसिद्ध जैनाचार्य एवं साहित्यकार थे।

गोविन्द तृतीय जगतुंग-प्रभूतवर्ष-कीर्तिनारायण-त्रिभुवनधवल-श्रीवल्लभ (७९३-८१४ ई.) ध्रुवधारावर्ष के चारों पुत्रों में सर्वाधिक योग्य और पराक्रमी था। स्वयं ध्रुव के राजा होने के पूर्व ही उसने अपनी योग्यता का सिक्का जमा लिया था और उसके शत्रुओं का दमन करने तथा उस (ध्रुव) की राज्यप्राप्ति मे वह उसका प्रधान सहायक रहा था। अतएव सिंहासन प्राप्त करते ही ध्रुव ने उसे युवराज घोषित कर दिया था, राजा की उपाधि दे दी थी, मयूरखण्डी की प्रधान छावनी का नियन्त्रक और उसके प्रभाव-क्षेत्र मे आनेवाले नासिकदेश का प्रान्तीय शासक बना दिया था। वीरसेन स्वामी का विद्यापीठ जिस वाटनगर विषय के मुख्य स्थान के निकट स्थित था वह इस राजन् जगतुंगदेव के प्रत्यक्ष शासन में, अतएव संरक्षण एवं प्रश्रय में था। ध्रुव ने इस उद्देश्य से कि उसके पीछे राज्य के लिए उसके पुत्रों में झगड़ा न हो, अपनी मृत्यु के पूर्व ही गोविन्द तृतीय का राज्याभिषेक भी कर दिया था। तथापि अपने राज्यकाल मे गोविन्द तृतीय को युद्धों से अवकाश नहीं मिला। भाइयो ने भी विद्रोह किये, शत्रुओं और अधीनस्थ राजाओं ने भी सिर उठाये, किन्तु इस प्रतापी नरेश ने सबका सफलतापूर्वक दमन किया। अनेक नये प्रदेश भी जीते और राज्य के विस्तार एवं शक्ति को पर्याप्त बढाया। भारतवर्ष की समस्त राज्यशक्तियाँ उसका लोहा मानती थीं। निश्चय ही अपने समय का वह सर्वमहान् भारतीय सम्राट् था। गुजरात का शासक उसने अपने आज्ञाकारी अनुज इन्द्र को बनाया था। उसने मान्यखेट (मलखेड) नामकी एक विशाल एवं सुदृढ़ महानगरी का निर्माण भी आरम्भ कर दिया था, जिसे वह अपनी राजधानी बनाना चाहता था। उसके आज्ञानुवर्ती वेंगिरेश की देखरेख में मान्यखेट का सुदृढ़ बाहरी प्राचीर बना। इतने बड़े साम्राज्य की राजधानी के रूप में एलोरा और मयूरखण्डी जैसे स्थान उपयुक्त नहीं रह गये थे। अपने पूर्वजों की भाँति जैनधर्म का अनुयायी वह भी नहीं था, तथापि उसके प्रति अत्यन्त उदार और सहिष्णु था, गुणियों और विद्वानों का वह आदर करता था। अपने ८०२ ई. के मन्ने-

दानपत्र द्वारा इस सम्राट् गोविन्द तृतीय प्रभूतवर्ष ने मान्यपुर (गंगों की राजधानी) के प्रसिद्ध जैन मन्दिर के लिए समस्त करों से मुक्त करके जलधारा-पूर्वक एक ग्राम तथा अन्य भूमि का दान दिया था। उस समय सम्राट् स्वयं मान्यपुर में स्थित अपने विजय-स्कन्धावार में ठहरा हुआ था। उसके कुछ पूर्व ही उसने गंग शिवमार को पुनः बन्दी बनाकर गंगराज्य में अपने जेष्ठ भ्राता शौचकम्भ णावलोक को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया था। अतएव वह भी उस समय वहाँ उपस्थित था और इस दान का अनुमोदक था। गंग-नरेशों के समस्त सामन्त-सेनाधिपति राजा श्रीविजय को जिसने वह भव्य मन्दिर कुछ वर्ष पूर्व ही बनवाया था, इस सम्राट् प्रभूतवर्ष ने अपना महा-विजय-निक्षेपाधिपति नियुक्त किया था। इस लेख में भी इस जैन वीर को 'भगवान् अर्हत् देव के चरणों में नित्य प्रणाम करने से जिसके उत्तम अंग पवित्र हो गये थे, ऐसा 'महासामन्ताधिपति महानुभाव' कहा है। दान का प्रेरक समस्त-सुभट-लोककेसरी आदि विरुदधारी वीर विक्रमैकरस का पौत्र और भक्त श्रावक बप्पय का प्रिय पुत्र था, जो उदारदानी था और अपने शत्रुओं का दमन करनेवाला वीर युवक था। दान प्राप्त करने-वाले गुरु कुन्दकुन्दान्वय के उदारगण के शाल्मलीग्राम निवासी तोरणाचार्य के प्रशिष्य और पुष्पनन्दि के शिष्य वही प्रभाचन्द्र थे जिन्हें इसी श्रीविजयबसदि के लिए पाँच वर्ष पूर्व गंगनरेश ने दान दिया था। लेख में राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय के पराक्रम, विजयों और सफलताओं का भी पर्याप्त उल्लेख है। सन् ८०७ ई. के चामराजनगर ताम्रशासन द्वारा गोविन्द तृ० के भाई उसी रणावलोक कम्भराज ने अपने पुत्र शंकरगण की प्रार्थना पर गंगराजधानी तालवननगर (तलकाड) की श्रीविजय-बसदि के लिए बदनगुप्पे नाम का ग्राम कुन्दकुन्दान्वय के कुमारनन्द भट्टारक के प्रशिष्य और एलवाचार्य गुरु के शिष्य परम धार्मिक, दयानिधान, विद्वान् वर्धमान गुरु को प्रदान किया था। यह जिनालय भी पूर्वोक्त सामन्तराज श्रीविजय द्वारा ही निर्मापित था। इस लेख से यह भी प्रकट है कि कम्भराज स्वयं, सम्भवतया उसकी पत्नी भी और पुत्र शंकरगण, जैन धर्म के भक्त थे। सन् ८१२ ई. के कदव-दानपत्र के द्वारा, जो सम्राट् ने स्वयं मयूरखण्डी के दुर्ग से प्रचारित किया था, उसने शिलाग्राम में स्थित जिनमन्दिर के लिए यापनीयनन्दिसंघ-पुन्नागवृक्षमूलगण-श्रीकित्याचार्य-अन्वय के गुरु कूविलाचार्य के अन्तेवासी विजयकीर्ति के शिष्य अर्ककीर्ति मुनि को जालमंगल नाम का ग्राम भेंट किया था। यह दान चालुक्य वंश के बलवर्म नरेन्द्र के पौत्र और राजा यशोवर्म के 'कुलदीपक सुपुत्र' विमलादित्य के मामा चाकिराज की प्रार्थना पर दिया गया था। चाकिराज उस समय अशेष-गंग-मण्डलाधिराज थे सम्भवतया सम्राट् की ओर से गंगवाडि प्रदेश के शासक थे और जिनभक्त थे। उनका भानजा उपरोक्त विमलादित्य, जो रणचतुर और चतुरजनाश्रय था, स्वयं कुनुन्गिल देश (प्रदेश) का शासक था। मुनि अर्ककीर्ति ने विमलादित्य को शनिश्चर ग्रह की पीड़ा से मुक्त किया था, यह इस दान का प्रधान प्रेरक कारण था। इस लेख में भी राष्ट्रकूटों की वंशावली और उनके, विशेषकर गोविन्द तृ० के विजयों, प्रताप

आदि का वर्णन है। वाटनगर का जैन अधिष्ठान तो सम्राट् से प्रारम्भ से ही संरक्षण पाता रहा था। वहाँ अब स्वामीवीरसेन के सुयोग्य पट्टशिष्य स्वामी जिनसेन गुरु द्वारा अधूरे छोड़े गये कार्य की पूर्ति में शान्तिपूर्वक संलग्न थे। उनके सधर्मा दशरथ गुरु, विनयसेन, पद्मसेन और वृद्धकुमारसेन तथा स्वामी विद्यानन्द, अनन्तकीर्ति, रविभद्र-शिष्य अनन्तवीर्य, परवादिमल्ल आदि अनेक विद्वान् जैन गुरु राष्ट्रकूट साम्राज्य को सुशोभित कर रहे थे। महाकवि स्वयम्भू भी सम्भवतया मुनि हो गये थे और श्रीपाल नाम से प्रसिद्ध हुए थे। आचार्य जिनसेन द्वारा जयधवल (वीरसेनीया टीका) की पूर्ति, सम्पादन आदि मे श्रीपाल मुनि का पर्याप्त योग रहा। स्वयम्भू के पुत्र त्रिभुवन-स्वयम्भू भी श्रेष्ठ कवि थे और इस काल में उन्होंने अपने पिता के रामायण आदि महाग्रन्थों का संशोधन, परिवर्धन, सम्पादन आदि किया था। गोविन्द तृ० के वह विशेष कृपापात्र रहे प्रतीत होते है। इस नरेश के शासनकाल मे जैनधर्म खूब फल-फूल रहा था।

सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम—नृपतुंग, शर्ववर्म, अतिशय-धवल, महाराज-शण्ड, वीरनारायण, श्रीवल्लभ, वल्लभराय आदि विरुदधारी इस राष्ट्रकूट सम्राट् का जैनधर्म के परम पोषक एवं भक्त महान् सम्राटों में उल्लेखनीय स्थान है। इसमें भी सन्देह नहीं है कि राज्य विस्तार, शक्ति, समृद्धि, वैभव आदि की दृष्टि से वह अपने समय का भारत का प्रायः सर्वमहान् सम्राट् था। उसका राज्यकाल भी सुदीर्घ था—साठ वर्ष से अधिक उसने राज्य का उपभोग किया। उसका जन्म ८०४ ई. में उस समय हुआ था जब उसका पिता गोविन्द तृ. उत्तरापथ की अपनी एक विजययात्रा से लौटते हुए नर्मदा के किनारे श्रीभवन नामक स्थान में छावनी डाले पड़ा था। अतएव ८१५ ई. में जब उसे पिता की मृत्यु पर राज्य का उत्तराधिकार मिला तो वह दस-ग्यारह वर्ष का बालक मात्र था। किन्तु उसके पिता ने राज्य की नीव पर्याप्त सुदृढ़ कर दी थी और कई स्वामिभक्त एवं विश्वासपात्र राजपुरुष पैदा कर दिये थे। इनमें सर्वोपरि अमोघवर्ष के चाचा और गुर्जरदेश के शासक इन्द्र का पुत्र एवं उत्तराधिकारी कर्कराज था, जो बाल राजा का सुयोग्य एवं सक्षम अभिभावक और संरक्षक हुआ। स्थिति का लाभ उठाकर जो विद्रोह आदि हुए उन सब का दमन करके ८२१ ई. में नवीन राजधानी मान्यखेट में कर्कराज ने अमोघवर्ष का विधिवत् राज्याभिषेक किया। कर्कराज की ही भाँति साम्राज्य का महासेनापति जैन वीर वंकेयरस पूर्णतया स्वामिभक्त और सर्वथा सुयोग्य था। इन दोनों राजपुरुषों ने मिलकर साम्राज्य को स्वचक्र और परचक्र के समस्त उपद्रवों से सुरक्षित रखने का सफल प्रयत्न किया। उधर स्वयं सम्राट् ने राजधानी को सुन्दर प्रासादों, राजपथों, सरोवरों, उद्यानों आदि से अलंकृत करने में कुछ वर्ष मन लगाया। वह स्वयं वस्तुतः एक शान्तिप्रिय, विद्यारसिक एवं धर्मात्मा नरेश था। साम्राज्य में युद्ध चलते रहे, विद्रोह और विग्रह भी होते रहे, किन्तु उसके सुदक्ष एवं स्वामिभक्त अनुचरों और सामन्त-सरदारों की तत्परता के कारण साम्राज्य की समृद्धि और शान्ति में कोई उल्लेखनीय विघ्न नहीं पड़ा, उसकी शक्ति, वैभव एवं प्रताप में उत्तरोत्तर वृद्धि

ही हुई। तत्कालीन अरब यात्री सुलेमान सौदागर (८५१ ई.) के अनुसार उस काल में संसार भर में सर्वमहान् सम्राट् भारत का 'दीर्घायु बलहरा' (बल्लभराय अमोघवर्ष), चीन का सम्राट्, बगदाद का खलीफ़ा और रूम (तुर्की) का सुल्तान, यह चार ही थे। अलइद्रिसि, अबुजैद, मसूदी, इब्नहौकल आदि अन्य अरब सौदागरों ने भी अमोघवर्ष के प्रताप एवं वैभव की तथा उसके साम्राज्य की समृद्धि एवं शक्ति की भरपूर प्रशंसा की है।

सुलेमान यह भी लिखता है कि "भारतवर्ष का प्रत्येक नृपति स्वयं अपने राज्य में रहता हुआ भी, उसका (अमोघवर्ष का) आधिपत्य स्वीकार करता था। उसके पास हाथी और पुष्कल धन सम्पत्ति थी। वह शराब को छूता भी नहीं था और अपने सैनिकों तथा कर्मचारियों को नियमित वेतन देता था। उसके राज्य में पूजा की सम्पत्ति सुरक्षित थी, चोरी और ठगी को कोई जानता भी नहीं था, और व्यापार-व्यवसाय को प्रभूत प्रोत्साहन था तथा विदेशियों के प्रति आदरपूर्ण अच्छा व्यवहार होता था।" अलइद्रिसि लिखता है कि "राष्ट्रकूट राज्य अतिविस्तृत, घना बसा हुआ, बड़े-चढ़े व्यापार वाला और बहुत उपजाऊ था। जनता अधिकांशतः शाकाहारी थी, चावल (धान), मटर, फलियाँ, दालें, साग-सब्जी, फल आदि उनके नित्य के भोज्यपदार्थ थे।—ये भारतीय स्वभावतः न्यायप्रिय हैं, अपने व्यवहार में भी सदा न्यायपूर्ण ही रहते हैं। सचाई, ईमानदारी, किये गये अनुबन्धों में अपने वचन का दृढ़तापूर्वक पालन इत्यादि गुणों के लिए ये लोग सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। इसी से अजनबी विदेशी इनके देश में बड़ी संख्या में दौड़-दौड़कर आते हैं। फलस्वरूप इस देश की समृद्धि में बढ़ोत्तरी ही होती है।" अबुजैद भी लिखता है कि, "बलहरा सम्पूर्ण भारतवर्ष का सर्वाधिक प्रतिष्ठित एवं प्रतापी नरेश है और अन्य सब राजे, यद्यपि उनमें से प्रत्येक अपने-अपने राज्य में स्वतन्त्र है और उसका पूर्णतया स्वामी है, इसकी महत्ता स्वीकार करते हैं और उसे सर्वोपरि मानते हैं।" इसके अतिरिक्त, यह नरेन्द्र गुणियों और विद्वानों का प्रेमी तो था ही, स्वयं भी अच्छा विद्वान् और कवि था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नडी और तमिल भाषाओं में विविध विषयक साहित्य सृजन को उसने प्रभूत प्रोत्साहन दिया। इसकी राजसभा विद्वानों से भरी रहती थी।

इस विषय में भी प्रायः कोई मतभेद नहीं है कि सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम जैनधर्म का अनुयायी, जैन गुरुओं का भक्त, और एक उत्तम श्रावक था। प्रो. रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर के मतानुसार "राष्ट्रकूट नरेशों में अमोघवर्ष जैनधर्म का सर्वमहान् संरक्षक था। यह बात सत्य प्रतीत होती है कि उसने स्वयं जैनधर्म धारण किया था।" वीरसेन स्वामी के प्रिय पट्ट-शिष्य और उनके वाटनगर केन्द्र के तत्कालीन अधिष्ठाता सेनसंघी आचार्य जिनसेन स्वामी सम्राट् के धर्मगुरु एवं राजगुरु थे। वह विभिन्न भाषाविज्ञ एवं विविध-विषय-निष्णात दिग्गज विद्वान् और महाकवि थे। बालपन से ही उनके साथ अमोघवर्ष का सम्पर्क रहा था, और वह उनकी बड़ी विनय करता था। इन आचार्य के

सम्मुख सर्वप्रमुख कार्य स्वगुरु द्वारा अधूरे छोड़े गये कार्य को पूरा करना था, अतएव ८३७ ई. में उन्होंने सम्राट् अमोघवर्ष के प्रश्रय में और उसके प्रधानामात्य गुर्जराधिप कर्कराज के संरक्षण में, गुरु द्वारा स्थापित वाटनगर के अधिष्ठान में ही ६०,००० श्लोक प्रमाण उक्त महाग्रन्थ 'जयधवल' को पूर्ण किया और उसे श्रीपालगुरु द्वारा सम्पादित कराके सन्तोष प्राप्त किया। तदनन्तर, सम्राट् के आग्रह पर वह राजधानी मान्यखेट में ही प्रायः रहने लगे। वहाँ उन्होंने महाकवि कालिदास के सुप्रसिद्ध मेघदूत की समस्यापूर्ति के रूप में अपने 'पार्श्वाभ्युदयकाव्य' की रचना की, जो अपनी काव्यगत विशेषताओं के लिए समग्र संस्कृत साहित्य की श्रेष्ठतम काव्य निधियों में परिगणित है। उक्त काव्य में अमोघवर्ष का भी सांकेतिक उल्लेख है। इसके उपरान्त आचार्य ने महापुराण की रचना प्रारम्भ की, किन्तु आदि तीर्थंकर का चरित्र भी पूरा निबद्ध न कर पाये कि दिवंगत हो गये। जिस विशाल योजना के साथ उन्होंने यह महापुराण रचना प्रारम्भ किया था, यदि पूरा कर पाते, तो वह अद्वितीय होता। उनके पट्टशिष्य गुणभद्राचार्य ने गुरु द्वारा अधूरे छोड़े आदिपुराण को पूरा किया तथा उत्तरपुराण के रूप में संक्षेप से शेष तेईस तीर्थंकरों का चरित्र निबद्ध करके महापुराण का समापन किया। गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण मे लिखा है कि स्वगुरु भगवज्जिनसेनाचार्य के चरणकमलों में प्रणाम करके अमोघवर्ष नृपति स्वयं को पवित्र हुआ धन्य मानता था। आचार्य गुणभद्र ने 'आत्मानुशासन', 'जिनदत्तचरित्र' आदि ग्रन्थ भी रचे हैं। अमोघवर्ष और उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय, दोनों ही इन आचार्य का सम्मान करते थे। सम्राट् ने इन्हें युवराज कृष्ण का शिक्षक भी नियुक्त किया था, ऐसा प्रतीत होता है। आचार्य उग्रादित्य ने सम्राट् के आग्रह पर उनकी राजसभा में आकर अनेक आयुर्वेदज्ञों एवं अन्य विविध विद्वानों के समक्ष मद्य-मांस निषेध का वैज्ञानिक विवेचन किया था, और इस ऐतिहासिक व्याख्यान को 'हिताहित अध्याय' शीर्षक से अपने पूर्वलिखित (लगभग ८०० ई. मे) प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ 'कल्याणकारक' में परिशिष्ट के रूप मे सम्मिलित किया था। प्रसिद्ध जैन गणितज्ञ महावीराचार्य ने अपना सुविदित गणितसार-संग्रह उसी सम्राट् के आश्रय में लिखा था—उसकी प्रशस्ति में आचार्य ने लिखा है कि 'जिस नृपतुंगदेव के शासन में स्याद्वादन्याय के पक्षधरों ने समस्त एकान्त पक्षों को विध्वस्त कर दिया था, उस नृपति का वह शासन वर्द्धमान हो।'' यापनीय संघ के जैनाचार्य शाकटायन पाल्यकीर्ति ने अपने सुविख्यात 'शब्दानुशासन' नामक व्याकरण शास्त्र की तथा उसकी स्वोपज्ञ 'अमोघवृत्ति' नाम्नी टीका की रचना भी इसी नृपति के आश्रय में की थी। स्वयं सम्राट् अमोघवर्ष ने कन्नडी भाषा में 'कविराजमार्ग' नामक छन्द-अलंकार शास्त्र रचा, तथा संस्कृत में 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' नाम का नीतिशास्त्र रचा, जिसके प्रारम्भ में उसने तीर्थंकर महावीर की वन्दना की है और अन्त में सूचित किया है कि विवेक का उदय होने पर उस राजर्षि अमोघवर्ष ने राज्य का परित्याग कर दिया था, और सुधीजनों को विभूषित करनेवाली इस 'रत्नमालिका' को रचा था। उसके कोन्नूर आदि अभिलेखों से प्रकट है

कि इस नरेश ने जैनगुरुओं, जैनमन्दिरों और संस्थाओं को अनेक दान भी दिये थे।

इस प्रकार यह न्याय-नीतिपरायण, सद्विचारपूर्ण, विवेकवान्, धर्मनिष्ठ राजर्षि बीच-बीच में बहुधा राज्यकार्य से अवकाश लेकर गुरुचरणों में, सम्भवतया वाटग्राम के मठ में जाकर, अकिंचन हो अल्पाधिक अवधि के लिए निराकुलतापूर्वक धर्मसेवन किया करता था। उसके संजन ताम्रशासन से भी ऐसा ही भाव झलकता है। स्याद्वाद में उसकी निष्ठा थी, तत्त्वचर्चा, विद्वानों के व्याख्यानों और शास्त्रार्थों में वह रस लेता था। खान-पान तो उसका जैनोचित शुद्ध था ही, संयमी जीवन बिताने का भी अभ्यस्त था। अपने जीवन के अन्तिम भाग में, ८७६ ई. के लगभग, राज्यकार्य का भार युवराज कृष्ण को सौंपकर उसने स्थायी अवकाश ले लिया था और एक आदर्श त्यागी श्रावक के रूप में समय व्यतीत किया था। सन् ८७८ और ८८० ई. के मध्य किसी समय इस राजर्षि का निधन हुआ। स्वयं सम्राट् के अतिरिक्त उसकी माता महारानी गामुण्डब्बे, पट्टमहिषी उमादेवी, युवराज कृष्ण, राजकुमारियाँ शंखादेवी और चन्द्रबेलब्बे, चचेरा भाई कर्कराज इत्यादि राजपरिवार के अधिकतर सदस्य जिनभक्त थे। सामन्त-सरदारों में लाट-गुजरात के राष्ट्रकूटों और सेनापति बंकेय के अतिरिक्त नोलम्बवाड़ी के नोलम्ब, सौन्दत्ति के रट्ट, हुम्मच के सान्तर, गंगवाडि के गंग, वेंगि के पूर्वी चालुक्य आदि अनेक जैनधर्मावलम्बी थे। गुर्जराधिप कर्कराज ने तो ८२१ ई. के अपने सूरत दान-पत्र के द्वारा जैनाचार्य परवादिमल्ल के प्रशिष्य को नवसारी (नवसारिका) के जैन विद्यापीठ के लिए भूमि दान की थी। सन् ८५९ के एक शिलालेख में एक जैन बसदि के लिए राज्य द्वारा सिंहवरगण के आचार्य नागनन्दि को दान देने का उल्लेख है। सम्राट् का व्यक्तिगत विश्वास जैनधर्म में था, तथापि वह परधर्म-सहिष्णु और समदर्शी था। कुलाचार के अनुसार अपनी कुलदेवी महालक्ष्मी में भी उसकी आस्था रही प्रतीत होती है, क्योंकि एक बार इस प्रजावत्सल नृपति ने अपनी प्रजा को महामारी के प्रकोप से बचाने के लिए उक्त देवी के चरणों में अपनी अंगुलि काटकर चढ़ा दी थी। यह उसके राज्यकाल के पूर्वार्ध की घटना रही प्रतीत होती है। वैसे इस राष्ट्रकूट चक्रवर्ती अमोघवर्ष नृपतुंग के साम्राज्य में जैनधर्म ही प्रायः राष्ट्रधर्म हो रहा था।

वीरबंकेयरस—सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम के राजपुरुषों में जैनधर्म की दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेखनीय उसका महासेनापति वीर बंकेयरस है। वह मुकुल नामक व्यक्ति के उस कुल में उत्पन्न हुआ था जो 'विक्रम-विलास-निलय' कहलाता था, अर्थात् अपनी वीरता और पराक्रम के लिए प्रसिद्ध था। मुकुल सम्भवतया राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम की सेवा में था, उसका पुत्र एरिकोटि ध्रुवधारावर्ष की और एरिकोटि का पुत्र घोर, जो अपने वंश का 'कुलाधार' था, गोविन्द तृतीय की सेवा में था। वह कोलनूर का शासक था—सम्भवतया राज्य की ओर से कोलनूर उसे जागीर में भी मिल गया था। घोर की पत्नी विजयांका से इस लोकमान्य, प्रचण्ड मण्डलीकों में आतंक फैलानेवाले 'चेल्लकेतन' वीर बंगकेश का जन्म हुआ था। उसका ध्वजचिह्न 'चेल्ल' था, इसीलिए वह 'चेल्लेकेतन'

भी कहलाता था। वह अपने स्वामी वीरनारायण अमोघवर्ष वल्लभनरेन्द्र का 'इष्टभृत्य' —अत्यन्त कृपापात्र एवं प्रिय अनुचर था। सम्राट् ने उसे विशाल वनवासी- ३०,००० देश का एकाधिपति सामन्त बना दिया था। वहाँ बंकेय ने बंकापुर नाम का एक सुन्दर नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया। सम्भवतया यह नगर उसकी वंशगत जागीर कोलनूर के निकट ही स्थित था। जब गंग राचमल्ल के उत्तराधिकारी एरेयगंग ने राष्ट्रकूट सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह किया था तो सेनापति बंकेय ने गंगों के कैदाल और तलकाड नगरों पर अधिकार करके गंगों का दमन किया। बंकेय जब इस अभियान में व्यस्त था तो गुर्जराधिप कर्क के पुत्र ध्रुव ने युवराज कृष्ण को अपने साथ मिलाकर राजधानी मान्यखेट में एक षड्यन्त्र रच डाला। सूचना पाते ही बंकेय राजधानी आया और तत्परता के साथ उक्त विद्रोह का दमन किया। ध्रुव युद्ध में मारा गया। इसी अवसर पर प्रसन्न होकर सम्राट् ने बंकेय को वनवासी की जागीर प्रदान की थी। वेंगि का विजयादित्य-गुणग इस समय के श्रेष्ठतम शासकों में से था। वह राष्ट्रकूटों की पराधीनता से मुक्त होना चाहता था, अतएव उसने भी सिर उठाया, किन्तु युद्ध में पराजित हुआ। इस विजय का श्रेय भी बंकेय को था। इस प्रकार स्वामिभक्त सेनापति वीर बंकेय के पराक्रम से सम्राट् अमोघवर्ष के समस्त शत्रुओं का तत्परता के साथ दमन होता रहा और स्वचक्र एवं परचक्र दोनों के ही उत्पातों से उसकी और उसके साम्राज्य की रक्षा होती रही। बंकेय की अनेक महत्त्वपूर्ण सेवाओं से प्रसन्न होकर एक बार सम्राट् ने उससे इच्छित वर माँगने का आग्रह किया तो उस धर्मात्मा वीर ने कहा कि उसे कुछ नहीं चाहिए, अपने सम्राट् की सेवा ही उसके लिए भरपूर पुरस्कार है। सम्राट् के पुनः आग्रह पर उसने कोलनूर (कोन्नूर) में अपने द्वारा निर्मापित भव्य जिनालय के लिए दान देने की प्रार्थना की। अतएव अपने शक ७८२ (सन् ८६० ई.) के कोन्नूर ताम्रशासन द्वारा तलेयूर नाम का ग्राम तथा अन्य तीस ग्रामों की कुछ भूमियाँ उक्त मन्दिर के परिपालन के लिए नियुक्त मूलसंघदेशीयगण-पुस्तकगच्छ के त्रैकालयोगीश के शिष्य देवेन्द्र मुनीश्वर सैद्धान्तिक को उक्त जिनालय के निर्माण के उपरान्त होनेवाले खण्डस्फुटित (मरम्मत), सम्मार्जनोपलेपन (लिपाई-पुताई), परिपालन आदि धर्मोपयोगी कार्यों के लिए आश्विन पूर्णिमा के दिन, जिस दिन सर्वग्रासी-सोमग्रहण हुआ था, सम्राट् ने प्रदान कर दी। ताम्रशासन का लेखक ग्राम पट्टलाधिकारी रणहस्ति नागवर्म-पृथ्वीराम का भृत्य, वलभीकायस्थों के वंश में उत्पन्न श्रीहर्ष का पुत्र भोगिक वत्सराज था जो धर्माधिकरण पद पर आसीन था। बंकेयराज का मुख्य महत्तर (दीवान) गणपति था जिसने इस दान की व्यवस्था की थी। कालान्तर में मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव के शिष्य वीरनन्दि मुनि ने, जिनके पास यह ताम्रशासन था, कोलनूर के महाप्रभु हुलिमरस तथा अन्य सज्जनों की प्रार्थना पर कोन्नूर का प्रस्तुत शिलालेख अंकित कराया था जिसमें उक्त ताम्रशासन की प्रतिलिपि समाविष्ट है। उक्त ताम्रशासन में राष्ट्रकूटों की वंशावली, सम्राट् अमोघवर्ष की प्रशस्ति तथा वीर बंकेयरस के वंश-

परिचय, विजयों और पराक्रम का वर्णन भी है। बंकेय का पुत्र लोकादित्य भी अपने पिता की ही भाँति जिनधर्म का भक्त था। बंकेय के निधन के उपरान्त वही वनवासी प्रान्त का जागीरदार और शासक तथा बंकापुर का स्वामी था। उसके समय में, ८९८ ई. में, आचार्य गुणभद्र के शिष्य लोकसेन ने गुरु द्वारा पूर्ण किये 'महापुराण' का विमोचन, पूजनोत्सव एवं सार्वजनिक वाचन लोकादित्य के प्रश्रय में ही समारोहपूर्वक किया था। गुणभद्राचार्य का स्वर्गवास उसके पूर्व ही हो चुका था।

कृष्ण द्वितीय शुभतुंग अकालवर्ष (८७८-९१४ ई.)—राज्य का वस्तुतः स्वामी तो ८७६ ई. के लगभग ही हो गया था, जब उसके पिता सम्राट् ने राज्यकार्य से अवकाश ले लिया था। उसका विधिवत् राज्याभिषेक भी ८७८ ई. में हो गया। इसका शासन भी युद्धों, विजयों, कभी-कभी पराजयों से भी पूर्ण रहा। उसकी पट्टरानी चेदिनरेश कोक्कल प्रथम की पुत्री थी। यह सम्राट् और इसकी पट्टरानी दोनों जैनधर्म में आस्था रखते थे। आचार्य गुणभद्र तो युवराजकाल में ही उसके विद्यागुरु थे, उसके सम्राट् होने के पश्चात् भी सम्भव है वह कुछ वर्ष जीवित रहे और सम्राट् उनके प्रति विनयावनत रहा। उनके उपरान्त उनके पट्टशिष्य लोकसेन भी उसके द्वारा सम्मानित रहे। उसी के शासनकाल में उन्होंने गुरु के 'उत्तरपुराण' की प्रशस्ति को संवर्द्धित करके बंकापुर में लोकादित्य की राजसभा में उक्त 'महापुराण' का पूजोत्सव किया था। कृष्ण द्वितीय के अनेक सामन्त-सरदार जैनधर्म के अनुयायी थे और साथ ही बड़े पराक्रमी वीर एवं योद्धा थे। इनमें से नरसिंह चालुक्य ने उत्तरापथ में कन्नौज के गुर्जरप्रतिहार नरेश महीपाल को पराजित करके गंगा नदी में अपने घोड़े नहलाये थे। सेनाध्यक्ष श्रीविजय भी जैन था। वनवासी का शासक लोकादित्य तो जैन था ही। सौन्दत्ति के रट्टराज पृथ्वीराम ने भी अपने प्रदेश के जैनमन्दिरों के लिए भूमि आदि के दान दिये थे। एक परम जैन सामन्त तोलपुरुष विक्रम सान्तर ने अपनी राजधानी हुमच्च में पालियक्क-बसदि एवं गुडड-बसदि नामक जिनालय बनवाये थे तथा ८९७ ई. में कुन्द-कुन्दान्वय के मौनी सिद्धान्त भट्टारक के लिए एक अन्य बसदि बनवायी थी। उसने अपनी राजधानी में, सम्भवतया उसकी गुडड-बसदि में, भगवान् बाहुबलि की प्रतिमा भी प्रतिष्ठित की थी। विक्रमवरगुण नामक एक अन्य सामन्त ने पेरियकुडि के अरिष्टनेमि भट्टारक के शिष्य को दान दिया था। कृष्ण के राज्यकाल में ही, ८८१ ई. में कोप्पण-तीर्थों पर चट्टगुदभट्टारक के शिष्य जैन मुनि सर्वनन्दि का समाधिमरण हुआ था। उस काल में कोप्पण एक धर्मतीर्थ एवं उन्नत जैन केन्द्र था। स्वयं कृष्ण द्वितीय ने मूलगुण्ड, बदनिके आदि स्थानों के जैनमन्दिरों को दान दिये थे। उसका ९१४ ई. का बेगुमारा ताम्रशासन भी एक जैनदानपत्र ही है। इसी कृष्णवल्लभ नृप के शासनकाल में, ९०३ ई. में, धवल विषय के मूलगुण्ड नामक नगर में वैश्य जाति में उत्पन्न प्रसिद्ध चन्द्रार्य के पुत्र चिकार्य ने जो सुन्दर एवं उन्नत जिनभवन बनवाया था उसके लिए उसके पुत्रों नागार्य और अरसार्य ने चन्दिकावाट के सेनान्वयी पूज्यपाद कुमारसेन के प्रशिष्य और

वीरसेन के शिष्य कनकसेन मुनि को कन्दवर्ममाल क्षेत्र में तथा अन्यत्र भूमि का दान दिया था। उसी अवसर पर उक्त जिनालय के लिए अनेक श्रेष्ठियों तथा नगर में निवास करनेवाले विदेशी महाजनों ने भी दान दिया था। इसी राष्ट्रकूट नरेश के प्रश्रय में कन्नडी भाषा के जैन महाकवि गुणवर्म ने अपने हरिवंश-पुराण की रचना की थी।

इन्द्र तृतीय (९१४–९२२ ई.)—कृष्ण द्वितीय को अपनी प्रायः वृद्धावस्था में ही राज्य प्राप्त हुआ था और उसके पुत्र जगत्तुंग की मृत्यु उसके जीवनकाल में ही हो गयी थी, अतएव कृष्ण के उपरान्त उसका पौत्र इन्द्र तृतीय नित्यवर्ष रट्टकन्दर्प राजा हुआ। उसने मालवा के उपेन्द्र परमार को पराजित करके अपने अधीन किया और वेंगि के चालुक्यों को भी अपनी अधीनता स्वीकार करने पर विवश किया। कन्नौज के महीपाल को भी उसने युद्ध में पराजित किया बताया जाता है। उसके दुर्धर सेनापति नरसिंह और श्रीविजय दोनों ही जैनधर्म के अनुयायी थे। श्रीविजय का विरुद 'अरिविन-गोज' था, और वह श्रेष्ठ कवि भी था—शस्त्र और शास्त्र दोनों ही विद्याओं में अद्वितीय समझा जाता था। जीवन के अन्तिम भाग में संसार का परित्याग करके वह जैन मुनि हो गया था। राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीय इतना भारी दानी था कि ९१४ ई. में कुरुन्धक नामक स्थान में जब उसका पट्टबन्धोत्सव मनाया गया तो कहा जाता है कि उसने विविध धर्मगुरुओं, धर्मायतनों और याचकों को चार सौ ग्राम दान में दिये थे। उसके वजीरखेड़ा ताम्रशासन में लिखा है कि उसकी जननी लक्ष्मीदेवी चेदिनरेश कोक्कल की पौत्री और शंकरगण की पुत्री तथा चालुक्य सिन्दुक की दौहित्री थी, और पिता कृष्णराज का महापराक्रमी, हिमांशु-वंशतिलक पुत्र राजकुमार जगत्तुंग था जिसने अनेक शत्रुओं का दर्पदलन किया था। लेख में स्वयं इन्द्र की प्रशस्ति और उसके अनेक विरुदों को देने के उपरान्त लिखा है कि उसने राजधानी मान्यखेट में विराजते हुए और अपने पट्टबन्धोत्सव (राज्याभिषेक) के निर्विघ्न सम्पादन से आनन्दित होते हुए अपने राष्ट्रपति, विषयपति, ग्रामकूटभुक्तक, नियुक्तक, अधिकारिक, महत्तर आदि विविध प्रशासन अधिकारियों को सम्बोधन करके कहा था कि वे उसका आदेश सुनें और सर्वत्र प्रचारित कर दें कि सम्राट् ने उपरोक्त उपलक्ष्य में अपने माता-पिता के एवं स्वयं अपने पुण्य और यश की अभिवृद्धि के लिए, उसके पूर्वपुरुषों द्वारा देवभोग एवं अग्रहार निमित्त जो दानादि पूर्वकाल में दिये गये थे उनकी वह पुष्टि करता है और स्वयं बीस लाख द्रव्य (मुद्राएं) तथा पचास से अधिक ग्रामों का षष्ठांश (राज्यकर) उसी हेतु अर्पित करता है। इसी प्रसंग में शक ८३६ (सन् ९१४ ई.) की फाल्गुन शुक्ला सप्तमी शुक्रवार को उसने नित्य की बलि-चरु-सत्र-तपोवन के सन्तर्पणार्थ, देवगुरु की पूजार्थ तथा खण्ड-स्फुटित सम्पादनार्थ चन्दनपुरिपत्तन में स्थित बसदि (जिनमन्दिर एवं संस्थान) के लिए दो ग्राम द्रविड़संघ-वीरगण वीर्त्रयान्वय के वर्द्धमान गुरु के शिष्य लोकभद्र मुनि को समर्पित किये थे। उसी के वजीरखेड़ा से प्राप्त दूसरे ताम्रशासन के अनुसार इन्हीं गुरु को बडनगरपत्तन की बसदि के लिए छह ग्राम प्रदान किये गये थे। लगता है कि यह संस्था वाटनगर की या

बाटग्रामपुर की वही प्राचीन चन्द्रप्रभु-बसदि थी जिसके संस्थापक और प्रथम अधिष्ठाता धवलाकार वीरसेन स्वामी थे। इन दोनों दान-प्रशस्तियों के रचयिता कोई कवि राजशेखर थे। इसमें सन्देह नहीं है कि अपने पूर्वजों की भाँति राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीय भी जिनेन्द्र का भक्त था। अपने अभीष्ट की प्राप्ति की इच्छा से उसने भगवान् शान्तिनाथ का एक पाषाणनिर्मित सुन्दर पाद-पीठ भी बनवाया था।

धर्मात्मा रानी जक्कियब्बे—इसी युग की एक उल्लेखनीय जैन महिला-रत्न थी। राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण द्वितीय (कन्नरदेव) के समय में, ९११ ई. में, वनवासि—१२,००० प्रान्त का शासक महासामन्त कलिविट्टरस था, जो सम्भवतया बंकेयपुत्र लोकादित्य का उत्तराधिकारी था। उसके अधीन नागरखण्ड-७० का नालगावुण्ड (सामन्त) सत्तरस नागार्जुन था। उस वर्ष, सम्भवतया किसी युद्ध में नागार्जुन की मृत्यु हो गयी तो सम्राट् ने उसकी पत्नी जक्कियब्बे को उसके स्थान में नागरखण्ड एवं अबुतबूर की नालगावुण्ड और सामन्त नियुक्त किया। यह महिला उत्तम प्रभुशक्तियुक्त, जिनेन्द्र शासन का भक्त और अपनी योग्यता एवं सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध थी। अपनी वीरता और पराक्रम के उचित गर्व से गौरवान्वित इस महिला ने कुशलतापूर्वक सात-आठ वर्ष पर्यन्त अपने पद का सफल निर्वाह किया और अपने प्रदेश का सुशासन किया। अन्त में, ९१८ ई. में, इन्द्र तृतीय के शासन काल में वह रुग्ण हो गयी तो शरीर और भोगों को क्षणभंगुर जान, अपनी पुत्री को बुलाया और उसे अपनी सम्पत्ति एवं पदभार सौंप दिया और स्वयं बन्दनि के तीर्थ की बसदि में जाकर पूरी श्रद्धा के साथ सल्लेखना-व्रतपूर्वक देह का त्याग किया। इस बसदि (जिनालय) का नाम जक्कलि-बसदि था और सम्भवतया यह स्वयं जक्कियब्बे द्वारा निर्मापित थी। उसने उस बसति के लिए चार मत्तल धान्य का क्षेत्र भी दान दिया था। चिक्कहनसोगे के रामेश्वर मन्दिर में प्राप्त एक शिलालेख में उल्लिखित जक्कियब्बे भी यही प्रतीत होती है। उक्त लेख में उसे नागकुमार नामक एक महान् योद्धा की भार्या बताया है और लिखा है कि इस भक्त श्राविका ने, जो अपने गुणों के कारण रोहिणी से भी बढ़ गयी थी, शरीर की अशुचिता, नश्वरता एवं हेयता का भान करके, प्रसन्नता के साथ समाधिमरणपूर्वक परलोक यात्रा की थी।

राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय अकालवर्ष (९३९-९६७ ई.)—इन्द्र तृतीय के उपरान्त क्रमशः तीन राजे और हुए और तदनन्तर अमोघवर्ष तृतीय बद्दिग का पुत्र एवं उत्तराधिकारी यह कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूटों के सिंहासन पर बैठा। वह इस वंश के अन्तिम नरेशों में सर्वमहान् था। गंगनरेशों के साथ कई विवाह सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें उसने अपना परम हितू और सहायक बना लिया था। गंगनरेश भूतुग द्वितीय, मरुलदेव, मारसिंह आदि ने तथा उनके सुप्रसिद्ध सेनापति वीर चामुण्डराय ने कृष्ण के लिए अनेक युद्ध सफलतापूर्वक लड़े और उसकी विजयपताका चहुँओर फहरायी। कृष्ण के करहाड ताम्रपत्र (९५९ ई.) उस समय लिखे गये थे जब सम्राट् अपने मेलपाटि (मेलाड़ि)

के सैन्यशिविर में ठहरा हुआ जीते हुए प्रदेश, धन, रत्न आदि अपने सामन्तों और अनुगतों में उदारतापूर्वक बाँट रहा था। वह स्वयं भी एक वीर योद्धा, दक्ष सेनानी, मित्रों के प्रति उदार, विद्वानों का आदर करनेवाला, धर्मात्मा एवं प्रतापी नरेश था। उसने राष्ट्रकूट साम्राज्य और वंश की प्रतिष्ठा को गिरते-गिरते बचाया। अपने अधिकांश पूर्वजों की भाँति वह जैनधर्म का पोषक था। जैनाचार्य वादिघंगल भट्ट का बड़ा सम्मान करता था। यह विविध विषय विशेषज्ञ, अद्भुत प्रतिभासम्पन्न आचार्य गंग मारसिंह के गुरु थे। उनका राजनीतिविषयक ज्ञान ऐसा अगाध और सटीक था कि वल्लभराज (कृष्ण तृतीय) की राजधानी और राजसभा के समस्त विद्वानों ने उनकी महत्ता स्वीकार करके उन्हें सम्मानित किया था। स्वयं सम्राट् कृष्णराज उनसे अत्यधिक प्रभावित था और उन्हीं की मन्त्रणा एवं परामर्शों के फलस्वरूप वह अपने युद्धों मे तथा विभिन्न प्रदेशों को विजय करने में सफल हुआ था। सम्राट् के समस्त मण्डलीक और सामन्त भी इसी कारण इन आचार्य का अत्यधिक आदर करते थे। कृष्ण तृतीय ने 'शान्तिपुराण' और 'जिनाक्षर माले' के रचयिता कन्नड़ के जैन महाकवि पोन्न (पोन्नमय्य) को 'उभयभाषाचक्रवर्ती' की उपाधि देकर सम्मानित किया था एवं प्रश्रय दिया था। जैनाचार्य इन्द्रनन्दि ने 'ज्वालमालिनीकल्प' मान्यखेट में ९३९ ई. मे रचा था। आचार्य सोमदेव ने अपने नीतिवाक्यामृत, यशस्तिलकचम्पू (९५९ ई.) आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना भी इसी सम्राट् के एक चालुक्य सामन्त के प्रश्रय मे गंगधार नगर में की थी। सम्राट् के प्रधान मन्त्री भरत और उनके पुत्र नन्न अपभ्रंश भाषा के जैन महाकवि पुष्पदन्त के प्रश्रयदाता थे। पुष्पदन्त ने कृष्णराज का उल्लेख 'तुडिगु महानुभाव' नाम से किया है और नागकुमारचरित मे मान्यखेट को 'श्रीकृष्णराज के खड्ग के कारण दुर्गम' कहा है।

महामात्य भरत और मन्त्री नन्न—राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय के महामन्त्री भरत जैन धर्मावलम्बी कौण्डिन्यगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पितामह का नाम अणय्या, पिता का एयण और माता का श्रीदेवी था। इनकी पत्नी का नाम कुन्दव्वा और सुपुत्र का नाम नन्न था। ब्राह्मणजातीय होने के कारण यह भरतभट्ट भी कहलाते थे। वह महामात्यों के ही वंश में उत्पन्न हुए थे किन्तु किसी कारण से इनके कतिपय निकट पूर्वज पदच्युत रहे थे। भरत ने अपनी योग्यता, स्वामिभक्ति एवं तेजस्विता के बल पर वह पद पुनः प्राप्त कर लिया था। अपभ्रंश भाषा के महापुराण, नागकुमारचरित आदि ग्रन्थों के रचयिता महाकवि पुष्पदन्त के यह प्रश्रयदाता थे, अतएव कवि ने स्थान-स्थान पर इनका गुणानुवाद किया है। कवि के शब्दों में महामात्य भरत अनवरत रचित-जिननाथ-भक्ति और जिनवर-समय-प्रासाद-स्तम्भ थे, समस्त कलाओं एवं विद्याओं में कुशल थे, प्राकृत कवियों की रचनाओं पर मुग्ध (प्राकृत-कवि-काव्य-रसावलुब्ध) थे, उन्होंने सरस्वती-सुरभि का दुग्धपान किया था, लक्ष्मी के चहेते थे, सत्यप्रतिज्ञ और निर्मत्सर थे। सम्राट् के युद्धों का भार ढोते-ढोते उनके कन्धे घिस गये थे। वह

अत्यन्त मनोहर, कवियों के लिए कामधेनु, दीन-दुखियों की आशा पूरी करनेवाले, सर्वत्र प्रसिद्ध, परस्त्रीपराङ्मुख, सच्चरित्र, उन्नतमति और सुजनों के उद्धारक थे। उनका रंग साँवला था, हाथी की सूँड़-जैसी भुजाएँ थीं, अंग सुडौल थे, नेत्र सुन्दर थे और वह सदा प्रसन्न मुख रहते थे। वह ऐसे उदार और दानी थे कि 'बलि, जीमूतवाहन, दधीचि आदि के स्वर्गगत हो जाने से त्याग गुण अगत्या भरत मन्त्री में ही आकर निवास करने लगा था।' उनके गुणों की गिनती नहीं थी और न उनके शत्रुओं की। भव्यात्मा भरत ने वापी, कूप, तड़ाग, जिनालय आदि बनवाना स्थगित करके कवि से महापुराण की रचना करायी जो संसार-सागर से पार होने के लिए नौका के समान है। कवि पुष्पदन्त जो स्वयं 'अभिमान-मेरु' कहलाता था, बड़ा मानी और कड़वे मिज़ाज का था, किसी की भी प्रशंसा या चापलूसी करना उसके लिए अत्यन्त दुष्कर था, कहता है कि "ऐसे (भरत-जैसे) व्यक्ति की वन्दना करने को भला किसका मन न चाहेगा ?" महाकवि पुष्पदन्त की मित्रता के कारण महामन्त्री भरत का गृह विद्या-विनोद का स्थल बन गया था, वहाँ पाठक और वाचक निरन्तर पढ़ते, गुणी गायक गान करते और लेखक सुन्दर काव्य लिखते थे। यह भरत वल्लभराज कृष्ण तृतीय के महामात्य, दानमन्त्री और कटकाधिप (सेनापति) भी थे। शक ८८१ (सन् ९५९ ई.) में, जब सम्राट् मेलपाटी में अपना विजयस्कन्धावार (छावनी) डाले पड़ा था, महाकवि ने मन्त्रीराज भरत से मेलपाटी के उद्यान में भेंट की थी। तब से वह उन्हीं के आश्रय मे रहे और उन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने अपना महापुराण रचकर ९६५ ई. मे पूर्ण किया था। महामात्य भरत के सुयोग्य सुपुत्र नन्न स्वयं सम्राट् के गृहमन्त्री थे, और अपने पिता की ही भाँति महाकवि के भक्त और प्रश्रयदाता थे। अपने नागकुमारचरित की रचना कवि ने मन्त्रीश्वर नन्न के मन्दिर (महल) मे रहते हुए, उन्हीं के लिए एवं उन्हीं के नामांकित की थी। मन्त्रीराज नन्न की प्रशंसा मे कवि ने लिखा है कि वह प्रकृति के सौम्य थे, उनकी कीर्ति सारे लोक मे व्याप्त थी, उन्होंने अनेक जिनमन्दिर बनवाये थे, जिनचरणों के वह भ्रमर थे और जिनेन्द्र की पूजा में निरत रहते थे। जिनशासन के वह उद्धारक थे, मुनियों को दान देने मे सदा तत्पर थे, बाहरी एवं भीतरी, उभय शत्रुओं का दमन करनेवाले थे, दयावान् थे, दीनों के लिए शरण थे, राज्यलक्ष्मी के क्रीड़ा सरोवर, सरस्वती के निलय, विद्वानों के साथ विद्या-विनोद मे निरत, शुद्ध हृदय थे। कृष्ण तृतीय के उत्तराधिकारियों के समय में भी नन्न राज्यमन्त्री बने रहे प्रतीत होते हैं। सन् ९७२ ई. को मान्यखेट का लूट एवं विध्वंस का महाकवि पुष्पदन्त ने आँखों देखा बड़ा करुण वर्णन किया है। किन्तु उस लूट आदि से मन्त्रीराज नन्न की समृद्धि मे विशेष अन्तर नहीं पड़ा प्रतीत होता। पुष्पदन्त स्वयं ब्राह्मण थे तथा शैव माता-पिता की सन्तान थे, किन्तु एक दिगम्बर जैन गुरु के उपदेश से जैन हो गये थे, और अन्त में उन्होंने संन्यासपूर्वक मरण किया था।

खोट्टिग नित्यवर्ष (९६७-९७२ ई.)—कृष्ण तृतीय की मृत्यु के पश्चात्

उसका छोटा भाई राष्ट्रकूट सिंहासन पर बैठा। इस नरेश ने अर्हत् शान्तिनाथ के नित्य अभिषेक के लिए पाषाण की एक सुन्दर चौकी बनवाकर समर्पित की थी, ऐसा दानवलपाडु के जिनमन्दिर के शिलालेख से ज्ञात होता है। इसी नरेश के सामन्त पड्डिग ने, जो वातापि के चालुक्यनरेश विक्रमादित्य का वंशज था और इस समय कदम्बलिगे प्रान्त का शासक एवं सामन्त था, अपनी भार्या जक्किसुन्दरी द्वारा काकम्बल में निर्मापित भव्य जिनालय के लिए कवलिगणाचार्य अष्टोपवासी भट्टार के शिष्य रामचन्द्र भट्टार को दो ग्राम प्रदान किये थे। यह दान ९६८ ई. में दिया गया था। इसी नरेश के समय में ९७१ ई. के सुप्रसिद्ध राज-तपस्विनी आर्यिकापाम्बब्बे ने, जो गंगनरेश बूतुग द्वितीय की बड़ी बहन थीं, समाधिमरण किया था। कडूर में दुर्गद्वार के निकट एक स्तम्भ पर उक्त पुनीत स्मृति में अंकित शिलालेख में लिखा है कि उस राजनन्दिनी एवं राजरानी ने निर्भयता के साथ स्वहस्त से केशलोंच करके आर्यिका की दीक्षा ली थी और तदनन्तर तप-नियम में निरत रहते तीस वर्ष तक आदर्श तपस्विनी का जीवन बिताया था—यह देवी यम-नियम-स्वाध्याय-ध्यान-मौनानुष्ठान-परायण थी। लेख उसके तीन पुत्रों ने अंकित कराया था। समाधिमरण के पूर्व जब उन्होंने मातुश्री से पूछा कि हमारे लिए क्या आज्ञा है तो उस निरीह तपस्विनी ने कहा कि "जो कुछ कभी मुझे प्राप्त हुआ या मैंने ग्रहण किया, उस समस्त अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह का मैंने पूर्णतया परित्याग कर दिया है जैसे कि वह कुछ मुझे कभी प्राप्त हुआ ही नहीं था।"

९७२ ई. में जब राष्ट्रकूटों के परम सहायक गंगमारसिंह और सेनापति चामुण्डराय अन्यत्र युद्धों में उलझे हुए थे तो मालवा के सियक हर्ष परमार ने राजधानी मान्यखेट पर धावा करके उसे जी-भर लूटा और विध्वस्त किया। खोट्टिग नित्यवर्ष भी सम्भवतया इसी युद्ध में मारा गया। सूचना पाते ही मारसिंह दौड़ा आया, किन्तु उससे पहले ही परमार सेना जा चुकी थी। खोट्टिग का पुत्र कर्क द्वितीय (९७२-७३ ई.) राजा हुआ, किन्तु चालुक्य तैलप ने उसे युद्ध में मारकर राष्ट्रकूट राजधानी पर अधिकार कर लिया।

इन्द्र चतुर्थ—राष्ट्रकूट वंश का अन्तिम नरेश था। वह कृष्ण तृतीय का पौत्र तथा गंगमारसिंह का भानजा था। वह भारी वीर और योद्धा था तथा चौगान (पोलो) के खेल में निपुण था। मारसिंह ने उसे अपने पूर्वजों का राज्य प्राप्त करने में भरसक सहायता दी और एक बार तो मान्यखेट में उसका राज्याभिषेक भी कर दिया। किन्तु अब राष्ट्रकूटों का सूर्य अस्तप्राय था। स्वयं मारसिंह ने ९७४ ई. में समाधिमरण कर लिया था। अतएव निस्सहाय इन्द्रराज कुछ वर्षों तक प्रयत्न करने के बाद संसार से विरक्त हो गया और श्रवणबेलगोल चला गया। हेमावती तथा श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि की गन्धवारण बसदि के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि यह राजा बड़ा वीर था, उसने अनेक युद्धों में कीर्ति अर्जित की थी और अन्त में शक ९०४ (सन् ९८२ ई.) की चैत्रशुक्ला अष्टमी भौमवार के दिन चित्रभानु नक्षत्र में, निराकुल चित्त से व्रतों का

पालन करते हुए इस जन-पूजित इन्द्रराज ने अमरेन्द्र की महाविभूति को प्राप्त किया था—अर्थात् समाधिमरणपूर्वक वह स्वर्गस्थ हुआ था। उसी के साथ महाप्रतापी राष्ट्रकूटों की सत्ता और प्रायः वंश भी समाप्त हुए।

लगभग ढाई सौ वर्ष के राष्ट्रकूट युग में जैनधर्म, विशेषकर उसका दिगम्बर सम्प्रदाय, सम्पूर्ण दक्षिणापथ में सर्वप्रधान धर्म था। डॉ. आल्तेकर के मतानुसार राष्ट्रकूट साम्राज्य की लगभग दो-तिहाई जनता तथा राष्ट्रकूट नरेशों एवं उनके परिवार के विभिन्न स्त्री-पुरुषों में से अनेक तथा उनके अधीनस्थ राजाओं, उपराजाओं, सामन्त-सरदारों, उच्चपदाधिकारियों, राज्यकर्मचारियों, महाजनों और श्रेष्ठियों में से अधिकतर लोग इसी धर्म के अनुयायी थे। लोकशिक्षा भी जैन गुरुओं एवं बसदियों द्वारा संचालित होती थी। अपने इस महत् प्रभाव के फलस्वरूप जैनधर्म ने जनजीवन की प्रशंसनीय नैतिक उन्नति की, राजनीति को प्राणवान् बनाया और भारतीय संस्कृति की सर्वतोमुखी अभिवृद्धि की। उनका सुस्पष्ट मत है कि इस युग के अमोघवर्ष प्रभृति जैननरेशों और उनके बंकेय, श्रीविजय, नरसिंह, चामुण्डराय-जैसे प्रचण्ड जैन सेनापतियों ने पूरे दक्षिण भारत पर ही नहीं, पूर्वी, पश्चिमी एवं मध्य भारत तथा उत्तरापथ के मध्यदेश पर्यन्त अपनी विजय वैजयन्ती फहरायी और बड़े-बड़े रणक्षेत्रों में यमराज को खुलकर भयंकर भोज दिये—उनका जैन धर्म इन कार्यों में तनिक भी बाधक नहीं हुआ। अतएव यह कहना या मानना कि जैनधर्म ने लोगों को कायर बना दिया और इसी कारण मुसलमान आदि विदेशी आक्रमणकारियों के सम्मुख भारत का पतन हुआ सर्वथा भ्रान्त एवं अयथार्थ है। भारत के पतन का कारण जैनधर्म कदापि नहीं हुआ।

उत्तरवर्ती चोल नरेश

९वीं शती ई. में विजयालय चोल ने तंचाउर (तंजौर) को राजधानी बनाकर अपने वंश की स्थापना की और चोल राज्य का पुनरुत्थान किया। उसके वंश में राज-राजा केसरिवर्मन चोल (९८५-१०१६ ई.) इस वंश का सर्वमहान् नरेश था। वह बड़ा प्रतापी और भारी विजेता था, लंका का भी एक बड़ा भाग जीतकर उसने अपने राज्य में मिला लिया था और समुद्र पार के कई अन्य द्वीपों पर भी अधिकार कर लिया था। जैन महाकवि धनपाल के तिलकमंजरी काव्य में समरकेतु की समुद्री यात्रा का वर्णन अनेक विद्वानों के मतानुसार राजराजा चोल के ही सुदूरपूर्व के किसी द्वीप या देश पर किये गये समुद्री आक्रमण की तैयारी का सजीव वर्णन है। क्या आश्चर्य है जो परमारों के मालवा का यह कवि राजराजा से भी सम्मानित हुआ हो और उक्त अभियान के समय चोल राजधानी में उपस्थित हो। यह नरेश सामान्यतया शैवधर्म का अनुयायी था, किन्तु साथ ही बहुत उदार और धर्मसहिष्णु था। उसके राज्य में जैनों पर कोई अत्याचार नहीं हुआ, वरन् विद्वानों का तो यह मत है कि उसके समय में जैनों को शैवों के समान ही राज्याश्रय प्राप्त था और उसके साम्राज्य में जैनधर्म उन्नत अवस्था में था।

जैनतीर्थ पंचपाण्डवमलै के ९९२ ई. के, तमिल शिलालेख के अनुसार इस नरेश के एक बड़े उपराजा लाटराज वीर चोल ने अपनी रानी लाटमहादेवी की प्रार्थना पर तिरुप्पान-मलै के जिनदेवता को एक ग्राम की आय समर्पित की थी। इसी नरेश के २१वें वर्ष में, १००५ ई. में, गुणवीर मुनि ने अपने गुरु गणिशेखर उपाध्याय की स्मृति में एक नहर बनवायी थी। उसका पुत्र राजेन्द्र चोल (१०१६-४२ ई.) सुयोग्य पिता का सुयोग्य पुत्र था किन्तु पीछे से जैनधर्म का विद्वेषी हो गया कहा जाता है, तथापि चिक्कहनसोगे के १०२५ ई. के लगभग के एक शिलालेख के अनुसार वहाँ के देशीगण-पुस्तकगच्छ के एक जैनमन्दिर का नाम राजेन्द्र-चोल-जिनालय था जो इस राजा द्वारा बनवाया गया था और उसी के समय में १०२३ ई. में पवित्रपर्वत तिरुमलै के शिखर पर स्थित कुन्दवै-जिनालय को दान दिया गया था जो कुन्दवै नाम की राजमहिला द्वारा निर्मापित था। वह राजराजा चोल की पुत्री, राजेन्द्र चोल की बहन और विमलादित्य चालुक्य की रानी थी। तत्पश्चात् राजाधिराज और अधिराजेन्द्र क्रमशः गद्दी पर बैठे। अन्तिम नरेश को १०७४ ई. में उसके भानजे कोलुत्तुग ने, जो वेंगि के चालुक्य वंश में उत्पन्न हुआ था, मारकर चोलों का सिंहासन हस्तगत कर लिया और चोल एवं चालुक्य दोनों राज्यों को सम्मिलित करके उनपर अपना एकच्छत्र शासन स्थापित कर लिया।

कोलुत्तुंग चोल (१०७४-११२३ ई.)—बड़ा चतुर, वीर और पराक्रमी था। उसने कलिंगदेश को भी विजय किया। इस विजययात्रा का सजीव वर्णन तमिल के प्रसिद्ध महाकाव्य कलंगट्टुपरनि में प्राप्त होता है जिसके रचयिता कोलुत्तुग चोल के प्रमुख राजकवि जयंगोदन्न थे जो जैनधर्मानुयायी थे। सम्राट् स्वयं जैनधर्म का अनुयायी था और उसके प्रश्रय में अनेक जैन धार्मिक एवं साहित्यिक कार्य हुए। उसने अपने पूर्वज राजेन्द्र चोल द्वारा मैसोर आदि प्रदेशों में नष्ट किये गये जिनमन्दिरों का भी जीर्णोद्धार करवाया। इस नरेश के भय से पलायन करके ही वैष्णवाचार्य रामानुज ने होयसलनरेश विष्णुवर्धन की शरण ली थी। कोलुत्तुंग के आश्रय में अनेक जैन विद्वानों ने साहित्य सृजन किया। उसने अपने राज्य में समस्त निषिद्ध पदार्थों का आयात बन्द कर दिया था। प्राचीन भारत के चरित्रवान् नरेशों में कोलुत्तुग चोल की गणना की जाती है।

उसके पश्चात् उसका चतुर्थ पुत्र अकलंक (विक्रम या त्रियम्समुद्र) सिंहासन पर बैठा। उसने अपने पिता का पदानुसरण किया। उसकी राजसभा भी विद्वानों और गुणियों से भरी रहती थी। तदुपरान्त इस वंश में कोई अन्य जैननरेश नहीं हुआ लगता।

अतिगैमान चेर—राजराजा का पुत्र था और चेर देश का शासक था। तकटा इसकी राजधानी थी। इस नरेश ने तुण्डीरमण्डल में स्थित तिरुमलै पर जो 'अर्हत् भगवान् का पवित्र पर्वत' कहलाता था, यक्ष-यक्षी मूर्तियों का जीर्णोद्धार कराया, प्रणाली बनवायी, घण्टा-दान किया इत्यादि। यह राजकुमार सम्भवतया केरलनरेश एरणिचेर के वंश की राजकुमारी से उत्पन्न था। लेख में उसे व्यामुक्त-श्रवणोज्ज्वल कहा है।

कल्याणी के चालुक्य—वातापि के पश्चिमी चालुक्यों की राज्यसत्ता का अस्त कीर्तिवर्मन द्वितीय के साथ ७५७ ई. में हो गया था। उसके चाचा भीमपराक्रम की सन्तति में उत्पन्न तैलप द्वितीय द्वारा दो सौ वर्ष के उपरान्त चालुक्य राज्यश्री का पुनः अभ्युत्थान हुआ, और इस बार इतिहास में वे कल्याणी के उत्तरवर्ती चालुक्य कहलाये।

तैलप द्वितीय आहवमल्ल—वातापि के चालुक्यों के वंश में उत्पन्न विक्रमादित्य चतुर्थ का पुत्र था, और ९५७ ई. में राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय के अधीन तरद्वादी—१००० प्रान्त का एक साधारण श्रेणी का निरुपाधि शासक था। आठ वर्ष के भीतर ही अपने साहस, पराक्रम और युद्ध सेवाओं के बल पर वह सम्राट् का कृपापात्र बन गया और उसी तरद्वादी प्रान्त का अणुगजीवि (जागीरदार, सामन्त एवं सेनानायक) नियुक्त कर दिया गया तथा सत्याश्रयवंशी महासामन्ताधिपति चालुक्यराम आहवमल्ल तैलपरस कहलाने लगा। वीर और महत्त्वाकांक्षी होने के साथ ही साथ वह चतुर भी बहुत था। उसकी जननी बोंथादेवी चेदिनरेश लक्ष्मण की पुत्री थी। स्वयं अपना विवाह उसने एक राष्ट्रकूटवंशी सामन्त बम्महाट्ट की कन्या जकब्बे अपरनाम लक्ष्मी के साथ किया। अपने इन दो सम्बन्धियों के अतिरिक्त उसने वेंगि-नरेश बद्दिग द्वितीय, सुयेन देश के यादव भिल्लम द्वितीय आदि अन्य कई शक्तिशाली मित्र बना लिये। राष्ट्रकूटों की प्रत्येक दुर्बलता का वह लाभ उठाने लगा। धल्ल नामक एक ब्राह्मण सरदार कृष्ण और मारसिंह का कोपभाजन बना तो तैलप से आ मिला। वाजीवंश का यह ब्राह्मण महान् योद्धा एवं विलक्षण राजनीतिज्ञ था। तैलप ने उसे महामन्त्र-अक्षयपटल-अधिपति का पद देकर अपने राजस्व विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया। शनैः-शनैः मंगलसिद्धि, विवेक-बृहस्पति, सचिवोत्तम आदि अन्य उपाधियाँ भी उसे अपने स्वामी तैलपदेव से प्राप्त हुईं, और वस्तुतः वह इस नवोदित शक्ति का प्रधानामात्य हो गया, जिसके सुयोग्य हाथों में राज्यव्यवस्था एवं प्रशासन-भार सौंपकर स्वयं तैलप शत्रुओं के दमन, राज्य-विस्तार और शक्ति-संवर्द्धन में जुट गया। धल्ल का पुत्र महादण्डनायक नागदेव भी महान् योद्धा एवं कुशल सेनानायक था। यह दोनों पिता-पुत्र जैन धर्मानुयायी रहे प्रतीत होते हैं। तैलप का सेनापति मल्लप तथा पुत्र युवराज सत्याश्रय भी अत्यन्त युद्ध-कुशल वीर थे। तैलप के भाग्योदय में इन सबका सहयोग था। उधर राष्ट्रकूटों का भाग्य-सूर्य अस्ताचलगामी था। परमार सियक द्वारा ९७२ ई. में मान्यखेट की लूट एवं विध्वंस, खोट्टिग की हत्या और तदनन्तर ही उस क्षेत्र को ग्रसनेवाले भीषण दुष्काल ने तैलप को स्वर्ण अवसर प्रदान किया और ९७३ ई. में ही उसने मान्यखेट पर आक्रमण करके और उसके स्वामी कर्क द्वितीय को मारकर राष्ट्रकूटों की राजधानी पर अपना अधिकार कर लिया, किन्तु उसे अपनी राजधानी नहीं बनाया, वरन् उसके स्थान में अपने वंश और राज्य की राजधानी कल्याणी को बनाया, जहाँ ९७४ ई. में उसने अपना राज्याभिषेक किया। गंग मारसिंह के समाधिमरण कर लेने पर तथा कुछ ही वर्षों बाद राष्ट्रकूट इन्द्र चतुर्थ के भी विरक्त हो जाने पर उसने गंगों के महासेनापति चामुण्डराय

को भी अपना मित्र बना लिया। धीरे-धीरे उसने राष्ट्रकूट साम्राज्य के अन्तर्गत जितने प्रदेश थे प्रायः सब पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अब उसके तीन ही प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बचे थे—तंजौर के चोल, वेंगि के चालुक्य और मालवा के परमार। कहा जाता है कि मुंज परमार ने छह बार तैलप के राज्य पर आक्रमण किया और प्रत्येक बार पराजित होकर लौटा—अन्तिम बार तो वह तैलप द्वारा बन्दी बना लिया गया। तैलप की बहन मृणालवती से प्रेम करके बन्दीगृह से निकल भागा किन्तु पकड़ा गया और मार डाला गया। वेंगि के चालुक्यों को भी तैलप ने पराजित करके अपने वश में कर लिया। इस प्रकार चालुक्यों की राज्यलक्ष्मी को उसके अपहर्ता राष्ट्रकूटों से छीनकर पुनः प्रतिष्ठित करनेवाले इस वीर तैलपरस द्वितीय आहवमल्ल का निधन ९९७ ई. में हुआ। यह राजा विद्वानों और गुणी व्यक्तियों का आदर करता था, सर्वधर्मसहिष्णु, उदार और दानी था। देश की सांस्कृतिक परम्परा को उसने पूर्ववत् निर्बाध चालू और प्रशस्त रखा। जैनधर्म के साथ तो उसने वैसा ही श्रद्धा एवं उदारतापूर्ण बरताव बनाये रखा जैसा कि पूर्ववर्ती गंगों, कदम्बों, चालुक्यों और राष्ट्रकूटों ने बनाये रखा था। बेल्लारी जिले के हडगल्लि तालुके के कोगुलि नामक स्थान में स्थित चेन्नपार्श्व-बसदि का सन् ९९२ ई. का शिलालेख तो सूचित करता है कि यह नरेश जैनधर्म का अनुयायी था। इस लेख मे तैलप द्वारा चोल राजा की पराजय का भी उल्लेख है। कन्नड भाषा का जैन महाकवि रन्न (रत्नाकर) अब उसका राजकवि था—रन्न के प्रारम्भिक आश्रयदाता चामुण्डराय दिवंगत हो चुके थे। सन् ९९३ ई. में कवि के अजितपुराण अपरनाम पुराणतिलक-महाकाव्य की समाप्ति पर तैलपदेव ने उसे 'कवि चक्रवर्ती' उपाधि से विभूषित किया था और स्वर्णदण्ड, चँवर, छत्र, गज आदि प्रदान करके उसे पुरस्कृत किया था। साहस-भीमार्जुन, रत्नकरण्ड आदि काव्य भी उक्त कविरत्न ने सम्भवतया इसी नरेश के प्रश्रय मे रचे थे। इसी वर्ष ९९३ ई. के सोमसमुद्र शिलालेख से पता चलता है कि लोकहित के लिए इस सम्राट् ने एक विशाल ताल का निर्माण कराया था और उसके लिए 'बित्तुवट्ट' भूमि लगायी थी। राजाज्ञा का उल्लंघन करनेवालों को उसने बसदि (जिनमन्दिर), काशी, अन्य देवालय आदि को हानि पहुँचानेवाला जैसा पातकी एवं दण्डनीय घोषित किया था। इस सूची में जिनालय का सर्वप्रथम उल्लेख ही जैनधर्म के प्रति इस नरेश की आस्था प्रकट करता है।

महासती अत्तिमब्बे—कल्याणी के उत्तरवर्ती चालुक्यों के वंश एवं साम्राज्य की स्थापना में जिन धर्मात्माओं के पुण्य, आशीर्वाद और सद्भावनाओं का योग रहा उनमे सर्वोपरि महासती अत्तिमब्बे थीं जिनके शील, आचरण, धार्मिकता, धर्मप्रभावना, साहित्यसेवा, वैदुष्य, पातिव्रत्य, दानशीलता आदि सद्गुणों के उत्कृष्ट आदर्श से तैलपदेव आहवमल्ल का शासनकाल धन्य हुआ। इस सम्राट् के प्रधान सेनापति मल्लप की वह सुपुत्री थीं, वाजीवंशीय प्रधानामात्य मन्त्रीश्वर धल्ल की वह पुत्रवधू थीं, प्रचण्ड महादण्डनायक वीर नागदेव की वह प्रिय पत्नी थी और कुशल प्रशासनाधिकारी वीर

पद्मेल तैल की स्वनामधन्या जननी थीं। युवराज सत्याश्रय उनके पति का अनन्य मित्र था और उनको बड़ी भौजाई मानकर अत्यन्त आदर करता था। स्वयं सम्राट् तैलप उन्हें अपने परिवार की ही सम्मान्य सदस्या मानता था। एक बार मालवा का सुप्रसिद्ध परमारनरेश वाक्पतिराज मुंज एक भारी सेना के साथ धावा मारता हुआ तैलपदेव के राज्य में भीतर तक घुस आया तो चालुक्य सेना ने तत्परता के साथ उसका गत्यवरोध किया और फिर उसे खदेड़ते हुए उसके राज्य मालवा की सीमा के भीतर तक उसका पीछा किया। स्वयं सम्राट् तैलपदेव तो गोदावरी नद के दक्षिणी तट पर शिविर स्थापित करके वहीं रुक गया, किन्तु उसकी सेना की एक बड़ी टुकड़ी महादण्डनायक नागदेव और युवराज सत्याश्रय के नेतृत्व में नदी पार करके परमार सेना का पीछा करती हुई दूर तक चली गयी। इस बीच भारी तूफ़ान आया और गोदावरी में भयंकर बाढ़ आ गयी। उफनते हुए महानद ने विकराल रूप धारण कर लिया। चालुक्य शिविर में भारी चिन्ता और बेचैनी व्याप गयी। महाराज, महामन्त्री, सेनापति आदि तथा राजपरिवार की अनेक महिलाएँ भी शिविर में थीं जिनमें अत्तिमब्बे भी थीं। उनकी तथा अन्य सबकी चिन्ता स्वाभाविक थी। नदी के उस पार गये लोगों में से कौन और कितने वापस आते हैं, और कहीं परमारों ने पुनः बल पकड़कर उन्हें धर दबाया और नदी तट तक खदेड़ लाये तो उन सबके प्राण जायेंगे। इधर से नदी की बाढ़ के कारण न उन्हें सहायता पहुँचायी जा सकती है और न वे स्वयं ऐसे तूफानी नद को पार कर सकते हैं। विषम परिस्थिति थी, सबकी दृष्टि नदी के उस पार लगी थी, प्रतीक्षा के क्षण लम्बे होते जा रहे थे, उनकी समाप्ति का कोई लक्षण नहीं था, कि अकस्मात् देखा गया कि जिस बात की आशंका थी प्रायः वही घटित होनेवाली थी। संकेतविद्या में सुदक्ष कर्मचारियों ने उस पार का समाचार ज्ञात करके बताया कि जितने लोग मूलतः उस पार गये थे, उनमें से आधे से भी कम वापस आ पाये हैं, शेष खेत रहे। जो आये हैं वे सफल होकर ही लौटे हैं—परमारों को दूर तक उनकी सीमा में खदेड़कर ही लौटे हैं, सो भी विशेषकर इसलिए कि युद्ध में महादण्डनायक नागदेव, जो इस सेना का नेतृत्व कर रहे थे, गम्भीर रूप से आहत हो गये थे। यह भी मालूम हुआ कि वह अभी जीवित तो हैं किन्तु दशा चिन्ताजनक है, इस समय मूर्च्छित हैं, और यह समाचार भी अभी मिला है कि शत्रुओं को भी चालुक्यों की इस विकट परिस्थिति का भान हो गया है, और वह पुनः इनकी टोह में वापस आ रहे हैं। इन समाचारों से चालुक्य शिविर में जो उद्विग्नता एवं चिन्ता व्याप गयी वह सहज अनुमान की जा सकती है। विविध सैनिक विषयों के विशेषज्ञों तथा अनुभवी वृद्धजनों द्वारा नाना उपाय सोचे जाने लगे, नानाविध प्रयत्न भी उस पारवालों को इस पार लाने या उन्हें आवश्यक सहायता पहुँचाने के लिए किये जाने लगे। किन्तु क्षुब्ध प्रकृति की भयंकर विरोधी शक्तियों के विरुद्ध कोई उपाय कारगर नहीं हो रहा था। विवशता मुँह बाये खड़ी थी। समय था नहीं, जो होना था, तत्काल होना था।

इतने में महाराज ने और पार्षदों ने देखा कि एक तेजस्विनी मूर्ति शिविर के

अन्तःपुर-कक्ष से निकल धीर गति के साथ उन्हीं की ओर चली आ रही है। सब स्तब्ध थे—उसने महाराज को, अपने श्वसुर को और पिता को प्रणाम किया, और उसी धीर गति के साथ वीरबाला अत्तिमब्बरसि शिविर के महाद्वार से बाहर निकलकर एक उच्च स्थान पर जा खड़ी हुई। लोगों में हलचल हुई, किन्हीं ने कुछ कहना चाहा, किन्तु बोल न निकला। उसके तेजोप्रभाव से अभिभूत महाराज के साथ समस्त दरबारी जन भी उसके पीछे-पीछे बाहर निकल आये—जो मार्ग में या सामने पड़े वे आदरपूर्वक इधर-उधर हटते चले गये। महासती एकाकी, निश्चल खड़ी थी। उसके सुदीप्त मुखमण्डल एवं सम्पूर्ण देह से एक अलौकिक तेज फूट रहा था। एक दृष्टि उसने महाविकराल उमड़ते महानद पर डाली, जिसपर से फिसलती हुई वह दृष्टि उस पार व्याकुल हताश खड़े सैनिकों पर गयी और लौट आयी। परम जिनेन्द्रभक्त महासती ने त्रियोग एकाग्र कर इष्टदेव का स्मरण किया और उसकी धीर-गम्भीर वाणी सबने सुनी—"यदि मेरी जिनभक्ति अविचल है, यदि मेरा पातिव्रत्य धर्म अखण्ड है, और यदि मेरी सत्यनिष्ठा अकम्पनीय है तो, हे महानदी गोदावरी ! मैं तुझे आज्ञा देती हूँ कि तेरा प्रवाह उतने समय के लिए सर्वथा स्थिर हो जाये जबतक कि हमारे स्वजन उस पार से इस पार सुरक्षित नहीं चले आते !" उभयतटवर्ती सहस्रों नेत्रों ने देखा वह अद्भुत, अभूतपूर्व चमत्कार ! सच ही, पलक मारते ही महानदी गोदावरी ने सौम्य रूप धारण कर लिया, जल एकदम घटकर तल से जा लगा, नदी का प्रवाह स्थिर हो गया। हर्ष, उल्लास और जयध्वनि से दिग्-दिगन्त व्याप्त हो गया।

कुछ ही देर पश्चात्, शिविर के एक कक्ष में मर्मान्तिक घात से आहत वीर नागदेव अपनी प्रिया की गोद में सिर रखे, प्रसन्न हृदय से अन्तिम श्वासें ले रहा था। कक्ष के बाहर स्वजन-परिजन समस्त पुनः आशा-निराशा के बीच झूल रहे थे। गोदावरी फिर से अपने प्रचण्ड रूप में आ चुकी थी और उस पार खड़ी शत्रु की सेना हाथ मल रही थी। वीर नागदेव ने वीरगति प्राप्त की। पतिवियुक्ता सती ने अपूर्व धैर्य के साथ स्वयं को सँभाला और एक आदर्श, उदासीन, धर्मात्मा श्राविका के रूप में घर में रहकर ही शेष जीवन व्यतीत किया। स्वर्ण एवं मणि-माणिक्यादि महर्घ्य रत्नों की १५०० जिन-प्रतिमाएँ बनवाकर उसने विभिन्न मन्दिरों में प्रतिष्ठापित की थी, अनेक जिनालयों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार कराया था, और आहार-अभय-औषध-विद्या रूप चार प्रकार का दान अनवरत देती रहने के कारण वह 'दान-चिन्तामणि' कहलायी थी। उभयभाषा-चक्रवर्ती महाकवि पोन्न के शान्तिपुराण (कन्नडी) की स्वद्रव्य से एक सहस्र प्रतियाँ लिखाकर उसने विभिन्न शास्त्रभण्डारों आदि में वितरित की थीं। स्वयं सम्राट् एवं युवराज की इस देवी के धर्मकार्यों में अनुमति, सहायता एवं प्रसन्नता थी। सर्वत्र उसका अप्रतिम सम्मान और प्रतिष्ठा थी। उक्त घटना के लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् भी (१११८ ई. के शिलालेखानुसार) होयसलनरेश के महापराक्रमी सेनापति गंगराज ने महासती अत्तिमब्बे द्वारा गोदावरी प्रवाह को स्थिर कर देने की साक्षी देकर ही उमड़ती

हुई कावेरी नदी को शान्त किया था। शिलालेख में कहा गया है कि विश्व महान्-जिनभक्त अत्तिमब्बरसि की प्रशंसा इसीलिए करता है कि उसके आज्ञा देते ही उसके तेजोप्रभाव से गोदावरी का प्रवाह तक रुक गया था। आनेवाली शताब्दियों में बाचलदेवी, बम्मलदेवी, लोक्कलदेवी आदि अनेक परम जिनभक्त महिलाओं की तुलना इस आदर्श नारी-रत्न अत्तिमब्बे के साथ की जाती थी। किसी सतवन्ती, दानशीला या धर्मात्मा महिला के सबसे बड़ी प्रशंसा यह मानी जाती थी कि 'यह तो दूसरी अत्तिमब्बे हैं' अथवा 'अभिनव अत्तिमब्बे' है। डॉ. भास्कर आनन्द सालतोर के शब्दों में "जैन इतिहास के महिला जगत् में सर्वाधिक प्रतिष्ठित प्रशंसित नाम अत्तिमब्बे है।" कहा जाता है कि एक बार ग्रीष्म ऋतु में वह जब श्रवणबेलगोल में गोम्मट-स्वामी का दर्शन करने के लिए पर्वत पर चढ़ रही थी तो तीखी धूप से सन्तप्त हो सोचने लगी कि इस समय वर्षा हो जाती—और तत्काल आकाश पर मेघ छा गये तथा वर्षा होने लगी। सती असीम भक्ति से भगवान् की पूजा कर सन्तुष्ट हुई।

सत्याश्रय इरिव बेडेंग (९९७-१००९ ई.)—ने अपने पिता तैलप द्वितीय के शासनकाल में ही अपनी वीरता, पराक्रम और रणकौशल के लिए ख्याति प्राप्त कर ली थी। पिता की आक्रमणकारी नीति ही उसने चालू रखी, किन्तु यथावसर रण के स्थान में नीति का भी उपयोग किया, वेगि को दबाया तो राजराजा चोल से मैत्री-सन्धि भी कर ली। उसके समय में साम्राज्य की शक्ति और समृद्धि में कुछ वृद्धि ही हुई, हानि नहीं हुई। इस नरेश के गुरु कुन्दकुन्दान्वय के द्रमिलसंघी त्रिकालमौनि भट्टारक के शिष्य विमलचन्द्र पण्डितदेव थे, किन्तु उनका समाधिमरण उसके यौवराज्य काल में, ९९० ई. के लगभग ही हो गया लगता है। अंगडि नामक स्थान में उक्त पण्डितदेव की एक अन्य गृहस्थ शिष्या हवुम्बे की छोटी बहन शान्तियब्बे ने गुरु की पुण्य स्मृति में एक स्मारक निर्माण कराया था। यह तथ्य उसी स्थान से प्राप्त एक शिलालेख से प्रकट है। उसी लेख में उक्त गुरुदेव के गुणों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि वह श्रीमद् इरिवबेडेंग के गुरु थे। राष्ट्रकूट इन्द्रराज चतुर्थ के समाधिविषयक शिलालेख में भी, जो हेमावती नामक स्थान से प्राप्त हुआ है, जिस एलेव-बेडेंग के साथ इन्द्रराज के शौर्यपूर्ण युद्धों का वर्णन है वह भी यही चालुक्य युवराज ही था। ऐसा प्रतीत होता है कि राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता और रणक्षेत्रीय शत्रुता के बावजूद यह दोनों युवा वीर एक दूसरे के गुणों पर मुग्ध थे और अन्ततः अच्छे मित्र हो गये थे। सत्याश्रय के अन्य गुरु उसी द्रमिलसंघ के कनकसेनवादिराज और श्रीविजय ओडेयदेव थे। उसका प्रधान राज्याधिकारी उसके परम मित्र नागदेव और देवी अत्तिमब्बे का सुपुत्र पदुवेल तैल था, जो अपनी लोकपूजित जननी का अनन्य भक्त होने के साथ ही साथ परम स्वामिभक्त, सुयोग्य, स्वकार्यदक्ष एवं जिनेन्द्रभक्त था। रन्न और पोन्न दोनों ही महाकवियों का वह भी प्रश्रयदाता था। स्वयं सम्राट् सत्याश्रय इरिव बेडेंग भी जिनभक्त था, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है।

जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल (१०१४-१०४२ ई.)—इस वंश का पाँचवाँ नरेश था और सत्याश्रय के अनुज दशवर्मा का तृतीय पुत्र था। कुछ विद्वान् इसे जयसिंह तृतीय कहते हैं और इसका राज्यारम्भ १०१८ ई. में हुआ मानते हैं। जगदेकमल्ल, चालुक्यचक्री, मल्लिकामोद आदि उसके विरुद थे। धारा का परमार भोजदेव और तंजौर का राजेन्द्र चोल उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। दोनों से ही उसके युद्ध हुए और अन्ततः दोनों के ही साथ उसने मैत्री सन्धियाँ कर ली थी। यह अच्छा प्रतापी नरेश था, और जैनधर्म का विशेष भक्त था। अनेक जैन विद्वानों और गुरुओं का उसने सम्मान किया था तथा साहित्य सृजन को प्रभूत प्रोत्साहन दिया था। आचार्य वादिराजसूरि का वह बड़ा आदर करता था। उसकी राज्यसभा में परवादियों के साथ इन आचार्य ने अनेक शास्त्रार्थ किये थे, और उक्त वाद-विजयों के उपलक्ष्य में सम्राट् ने उन्हें स्वमुद्रा-युक्त 'जयपत्र' दिया था तथा 'जगदेकमल्लवादी' उपाधि प्रदान की थी। इन्हीं वादिराज ने इसी नरेश के प्रश्रय में, १०२५ ई. में, अपने सुप्रसिद्धकाव्य 'पार्श्वचरित' की रचना की थी। इस ग्रन्थ में आचार्य ने नरेश का उल्लेख 'जयसिंह,' 'चालुक्यचक्री,' 'सिंह चक्रेश्वर' आदि रूपों में किया है। उन्होंने अपना 'यशोधरचरित' भी इसी नरेश के आश्रय में रचा था और उसमें 'रणमुखजयसिंह' रूप में उसका उल्लेख किया है। 'एकीभावस्तोत्र', 'न्यायविनिश्चयविवरण' आदि अन्य ग्रन्थ भी इन आचार्य ने रचे हैं। श्रवण-बेलगोल के मल्लिषेण-प्रशस्ति नामक प्रसिद्ध शिलालेख के अनुसार यह वादिराज द्रमिल-संघी मतिसागर गुरु के बालब्रह्मचारी शिष्य थे, चालुक्य-चक्रेश्वर जयसिंह द्वारा पूजित थे और उसी के जयकटक में इन्होंने समस्त वादियों का गर्व खर्व किया था। हुमच्च की पंचबसति के १०७७ ई. के शिलालेख में उन्हें 'सर्वज्ञकल्प' कहा है, 'षट्तर्कषण्मुख' और 'जगदेकमल्लवादी' उनके विरुद बताये हैं तथा सम्राट् द्वारा उन्हें जयपत्र प्रदान करने का भी उल्लेख है। आधुनिक विद्वानों ने बहुधा इन्हें कनकसेन (हेमसेन) वादिराज से अभिन्न मान लिया है, किन्तु यह भूल है—उक्त विद्याधनंजय हेमसेन वादिराज तो इन वादिराज के गुरु मतिसागर के भी ज्येष्ठ गुरुभ्राता थे। 'रूपसिद्धि' के कर्ता दयापाल भी उक्त मतिसागर के सधर्मा थे और इसी नरेश के आश्रय में थे। अनेक ग्रन्थों के रचयिता महापण्डित प्रभाचन्द्र भी इसी काल में हुए हैं। वह मूलतया धारा में भोजदेव के आश्रय में रहे, किन्तु चालुक्य जयसिंह से भी सम्मानित हुए थे। इन प्रभाचन्द्र के एक सधर्मा मलधारि गुणचन्द्र थे जो बलिपुर के मल्लिकामोद-शान्तीश के चरणपूजक थे। मल्लिकामोद-शान्तीश-बसदि नाम का यह सुन्दर जिनालय स्वयं महाराज जयसिंह ने, जिनका विशिष्ट 'मल्लिकामोद' था, बनवाया था। एक अन्य जैन गुरु वासवचन्द्र ने भी अपने वाद पराक्रम के लिए चालुक्य-कटक में 'बाल-सरस्वती' की उपाधि प्राप्त की थी। मुल्लूर की शान्तीश्वर-बसति के निकट प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार १०३० ई. में गुणसेन पण्डित के गुरु पुष्पसेन सिद्धान्तदेव के समाधिमरण की स्मृति में उनके चरण-चिह्न स्थापित किये गये थे।

सोमेश्वर प्रथम त्रैलोक्यमल्ल आहवमल्ल (१०४२-६८ ई.)—जयसिंह का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था, जो बड़ा पराक्रमी, वीर योद्धा, साथ ही श्रेष्ठ कूटनीतिज्ञ भी था। आहवमल्ल उपाधि धारण करनेवाला इस वंश का यह दूसरा राजा था, और 'त्रैलोक्यमल्ल' इसकी अपनी विशिष्ट उपाधि थी। चोलों, परमारों आदि के साथ उसके युद्ध बराबर चलते रहे। अपने साम्राज्य की शक्ति और समृद्धि में उसने वृद्धि ही की। वह एक निष्ठावान् जैन सम्राट् था। बेल्लारी ज़िला का कोगली नामक स्थान पुरातन काल से एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र रहता आया था। वहाँ का प्रधान जिनायतन चेन्नपार्श्व-बसदि थी जिसे मूलतः छठी शती के प्रारम्भ में गंगनरेश दुर्विनीत ने बनवाया था तथा जिसका नवनिर्माण तैलप द्वितीय ने कराया था—तभी से चालुक्यनरेशों के प्रश्रय में यह एक महत्त्वपूर्ण जैन विद्यापीठ बनी हुई थी। उस बसदि में प्राप्त शिलालेखों में से एक में इस नरेश को स्याद्वादमत (जैनधर्म) का अनुयायी बताया तथा उसके द्वारा उक्त जिनालय के लिए भूमिदान का उल्लेख है। वहीं के एक अन्य शिलालेख में, जो १०५५ ई. का है, इस नरेश द्वारा इन्द्रकीर्ति नामक जैनगुरु को दान देने का वर्णन है। उसने जैनाचार्य अजितसेन पण्डित वादीघरट्ट का भी सम्मान किया था और उन्हें 'शब्द-चतुर्मुख' उपाधि दी थी। द्रमिलसंघ-अरुंगलान्वय के यह अजितसेन पण्डित ही सम्भवतया 'क्षत्रचूड़ामणि' एवं 'गद्यचिन्तामणि' के रचयिता 'वादीभसिंह' हैं। सम्राट् के सान्तर, रट्ट, गंग, होयसल आदि अन्य अनेक सामन्त-सरदार भी जैनधर्म के अनुयायी थे और उन्होंने जिनमन्दिर बनवाये तथा भूमि आदि के दान दिये थे। सोमेश्वर की महारानी केतलदेवी ने भी, जो पोन्नवाड 'अग्रहार' की शासिका थी, अपने सचिव चाकिराज द्वारा त्रिभुवनतिलक-जिनालय में उसके द्वारा निर्मापित उपमन्दिरों के लिए १०५४ ई. में महासेन मुनि को दान दिया था। सम्राट् ने राजधानी कल्याणी का भी विस्तार किया और उसकी सुन्दरता में वृद्धि की। 'जातकतिलक' नाम का कन्नडी भाषा का सर्वप्राचीन ज्योतिषशास्त्र इसी नरेश के प्रश्रय में नरिगुण्डनिवासी जैनगुरु श्रीधराचार्य ने १०४९ ई. में रचा था। इस नरेश ने होट्टलमुक्त के शिष्य और पिविण्डिदेव के गुरु जैनाचार्य गण्डविमुक्त रामभद्र का भी सम्मान किया था और उन्हें वह गुरुतुल्य मानता था। इन्हीं रामभद्र के प्रशिष्य विमलसेन मलधारि के शिष्य देवसेन ने अपभ्रंश भाषा के सुलोचनाचरित्र की रचना की थी। बलगाम्बे के १०६८ ई. के शिलालेख से ज्ञात होता है कि इस महापराक्रमी, अनेक देशों के विजेता, चक्रवर्ती त्रैलोक्यमल्ल आहवमल्ल ने १०६८ ई. की वैशाख शुक्ल सप्तमी शुक्रवार के दिन चरम योग का नियोग करके तुंगभद्रा नदी में जल-समाधि ले ली थी—सम्भवतया किसी विषम या असाध्य रोग से पीड़ित होने के कारण।

सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल (१०६८-७६ ई.)—सोमेश्वर प्रथम त्रैलोक्यमल्ल का ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी अपने पिता की ही भाँति 'भव्य' जैन था। चोलों के साथ उसके युद्ध चलते रहे और दो बार उसने उन्हें बुरी तरह पराजित किया।

अपने भाइयों के साथ भी उसका संघर्ष चला और राज्य के दो टुकड़े होते-होते बचे। कदम्बों का भी उसने दमन किया। उसके राज्य के प्रथम वर्ष (१०६८ ई.) में ही उसके महासामन्त लक्ष्मणराज ने बलिग्राम में जिनमन्दिर बनवाया था और सम्राट् के अनुमोदनपूर्वक मल्लिकामोद-शान्तिनाथ मन्दिर के लिए माघनन्दि मुनि को भूमिदान दिया था। उक्त मन्दिर के निर्माण तथा उसके लिए दान दिलाने में मुख्य प्रेरक उक्त लक्ष्मण-राज का दण्डनाथ (सेनापति) शान्तिनाथ था। मन्दिर भी सम्भवतया उसी ने बनवाया था। सन् १०७४ में जब भुवनैकमल्लदेव बंकापुर में निवास कर रहा था तो उसने अपने पादपद्मोपजीवी कोलालपुर के स्वामी चालुक्य पेर्म्माडि भुवनैकवीर महाराज उदयादित्य की प्रेरणा से बन्दनिके तीर्थ—शान्तिनाथ-बसदि का जीर्णोद्धार कराया, उसे नया बना दिया, और एक नवीन प्रतिमा भी उसमें प्रतिष्ठित करायी थी तथा उक्त मन्दिर के लिए एवं मुनियों के चतुर्विध दान की व्यवस्था के लिए मूलसंघ-क्राणूरगण के परमानन्द-सिद्धान्तदेव के शिष्य कुलचन्द्रदेव को नागरखण्ड में भूमि प्रदान की थी। श्रीमद् मल्ल के पुत्र के द्वारा यह दानशासन उक्त मुनिराज को प्राप्त हुआ था। इसी नरेश के शासनकाल के अन्तिम वर्ष (१०७६ ई.) के गुडिगेरी से प्राप्त शिलालेख में श्रीमद् भुवनैकमल्ल-शान्तिनाथदेव नामक जिनालय को 'सर्व नमस्य' दान के रूप में २० मत्तर भूमि दिये जाने का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि उक्त जिनालय का निर्माण, बहुत सम्भव है, स्वयं सम्राट् भुवनैकमल्ल ने ही कराया था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अपेक्षाकृत शान्तिप्रिय नरेश सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का विशेष भक्त था। उसी शिलालेख से पता चलता है कि उस समय गुडिगेरी नामक स्थान में 'परवादिशर-भभेरुण्ड' विरुदधारी श्रीनन्दिपण्डितदेव निवास करते थे। उनके शिष्य अष्टोपवासिगन्ति थे जो जिनधर्म का उद्धार करने में प्रसन्न थे। प्रभाकरय्य उस क्षेत्र का पेग्गडे (अधिकारी) था। परमजिनधर्म भक्त सिगय्य उक्त श्रीनन्दिपण्डित का कारिन्दा या पटवारी (सेनबोव) तथा गृहस्थशिष्य था। पुलिगेरी में पूर्वकाल में चालुक्यचक्रवर्ती विजयादित्यवल्लभ की छोटी बहन कुंकुम-महादेवी द्वारा निर्मापित आनेसेज्जेय-बसदि के जैनमन्दिर के अधिकार में एक प्राचीन ताम्रशासन द्वारा जो जमींदारी चली आ रही थी वह परम्परा से इन श्रीनन्दिपण्डित को प्राप्त हुई थी। उसी की व्यवस्था सिगय्य द्वारा उन्होंने इस प्रकार करायी थी कि एक भाग तो उक्त भुवनैकमल्ल-जिनालय को मिला, एक भाग शिष्य अष्टोपवासिगन्ति को ध्वजतटाक के बारह ग्राम प्रमुखों की देख-रेख में पार्श्व-जिनेश्वर की पूजा, तथा शास्त्र लिखनेवाले लिपिकों के भोजन प्रबन्ध के लिए दिया गया, एक भाग मुनियों के आहार-दान आदि की व्यवस्था के लिए दिया गया, और कुछ भूमि विभिन्न कर्मचारियों को बाँट दी गयी।

विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल साहसतुंग (१०७६-११२८ ई.)—पूर्व-वर्ती नरेश का अनुज था और सम्भवतया उसे पदच्युत कर एवं बन्दी बनाकर उसने सिंहासन हस्तगत किया था। यह इस वंश के अन्तिम नरेशों में सर्वमहान् था, बड़ा

प्रतापी और विजेता था तथा निरन्तर युद्धों में व्यस्त रहा। उसने अपने राज्याभिषेक की तिथि से 'चालुक्य-विक्रम-वर्ष' नाम का अपना संवत् भी चलाया था। काश्मीर के महाकवि विल्हण ने इसके आश्रय में रहकर इसी के लिए अपने 'विक्रमांक-देव-चरित' शीर्षक महाकाव्य की रचना की थी। यह सम्राट् बड़ा विद्यारसिक था। अनेक विद्वानों को उसने आश्रय दिया था। कुछ लेखकों के मतानुसार जैनाचार्य वासवचन्द्र को 'बाल-सरस्वती' की उपाधि इसी चालुक्यनरेश ने प्रदान की थी। उसकी जननी गंग-राजकुमारी थी और पत्नी चोल-राजकुमारी थी। राज्य प्राप्त करने के पूर्व ही, जब वह एक प्रान्तीय शासक मात्र था, उसने बनवासि प्रान्त की राजधानी बल्लिगाँव में 'चालुक्य-गंग-पेर्म्मनिडिजिनालय' नाम का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया था, जिसके नाम में उसने अपने पितृवंश एवं मातृवंश दोनों ही कुलों की स्मृति सुरक्षित की, और स्वयं भी 'चालुक्य-गंग-पेर्म्मनडि' उपाधि धारण की। अपने राज्य के दूसरे वर्ष (१०७७ ई.) में उसने बनवासि के शासक दण्डनायक बर्म्मदेव तथा उसके अनुचर धर्मात्मा श्रावक प्रतिकण्ठ-सिंगय्य की प्रार्थना पर उक्त जिनालय में देवपूजा, मुनि-आहार आदि की व्यवस्था के लिए एक ग्राम का दान किया था। दान लेनेवाले मुनि रामसेनपण्डित मूलसंघ-सेनगण-पोगरिगच्छ के गुणभद्रदेव के शिष्य और महासेन के सधर्मा थे। गुलबर्गा ज़िले के हुनसि-हदल्गे नामक स्थान में स्थित पद्मावती-पार्श्वनाथ जिनालय के शिलालेख से प्रतीत होता है कि वह जिनमन्दिर भी इसी चालुक्य सम्राट् द्वारा बनवाया गया था। अनुश्रुतियों के अनुसार बेलबोला जिले में उसने अनेक जिनमन्दिरों का निर्माण कराया था, और पूर्वकाल में चोलों द्वारा ध्वस्त मन्दिरों में से अनेकों का जीर्णोद्धार भी कराया था। आचार्य अर्हनन्दि इस नरेश के धर्मगुरु थे। यद्यपि उसका व्यक्तिगत एवं कुलधर्म जैनधर्म था, यह सम्राट् सर्व-धर्मसहिष्णु था और लोकव्यवहार में सभी धर्मों का प्रतिपालन करता था। स्थापत्य शिल्प की चालुक्य शैली के विकास का प्रधान श्रेय भी उसे ही है। सम्राट् विक्रमादित्य षष्ठ की ज्येष्ठ रानी जक्कलदेवी इंगलंगि प्रान्त की शासिका थी। अपने कुशल प्रशासन एवं वीरतापूर्ण कार्यों के लिए उसने बड़ी ख्याति अर्जित की थी। वह कलिकाल-पार्वती तथा अभिनव-सरस्वती कहलाती थी और जैनधर्म की अनुयायी थी। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी सोमेश्वर तृतीय भूलोकमल्ल (११२८-३९) एक शान्तिप्रिय एवं साहित्यरसिक नरेश था। उसने 'अभिलषितार्थ-चिन्तामणि' अपर नाम 'राजमानसोल्लास' नामक महाग्रन्थ की रचना की थी, जो एक प्रकार का विश्व-कोश-जैसा था, और 'सर्वज्ञ' विरुद धारण किया था। उसके उत्तराधिकारी जयसिंह तृतीय, तैल तृतीय, सोमेश्वर चतुर्थ आदि निर्बल शासक थे, और १२वीं शती के अन्त के पूर्व ही कल्याणी के इन उत्तरवर्ती चालुक्यों की सत्ता प्रायः समाप्त हो गयी। इस चालुक्य-युग में होयसल, गंग, सान्तर, रट्ट आदि कई राजवंश-उपराजवंश उदय में आये, जिनके प्रमुख जैन सदस्यों का परिचय आगे दिया जायेगा, किन्तु उनके अतिरिक्त भी कतिपय उल्लेखनीय जैन व्यक्ति हुए हैं, यथा—

चांण्डरायरस—चालुक्य सम्राट् त्रैलोक्यमल्ल के समय में बनवासि-१२,००० देश का महामण्डलेश्वर था, 'गरुड-भेरुण्ड', 'प्रत्यक्ष-विक्रमादित्य', 'जगदेकदानी' आदि उसके विरुद थे। सम्भवतया उसका पूरा नाम चामुण्डरायरस था। इस राजपुरुष ने १०४८ ई. में अपनी राजधानी बल्लिगाँवे में जजाहुति-शान्तिनाथ संस्थान से सम्बद्ध बलगारगण के मेघनन्दि भट्टारक के शिष्य केशवनन्दि अष्टोपवासि भट्टारक की बसदि (जिनालय) में पूजा निमित्त बल्लिगाँवे के मृगवनवर्ती तथा अन्य धान के क्षेत्रों में से नियत राशि चावल के दिये जाने की व्यवस्था की थी। जिनभक्त होते हुए भी वह सर्व-धर्म-सहिष्णु था। उसके आदेश से उसके दीवान नागवर्म-विभु ने बनवासि देश में जिन-निलय (जिनमन्दिरों) के साथ ही साथ विष्णु-निलय, ईश्वर (शिव)-निलय और मुनिगण-निलय (मुनियों के आवास) बनवाये थे।

चांकिराज—चांकणार्य या चांकिमय्य वानसकुल में उत्पन्न कोम्मराज और उसकी पत्नी अत्तिकाम्बिका का सुपुत्र था। अपने वंश का सूर्य, अर्हत्शासन का स्तम्भ, कलिकाल-श्रेयांस, सम्यक्त्व-रत्नाकर, अपने आश्रित शिष्टजनों की इष्टपूर्ति करनेवाला, आहार-अभय-भैषज्य-शास्त्र रूप चतुर्विध दान-तत्पर यह धर्मात्मा राजपुरुष चालुक्य सम्राट् त्रैलोक्यमल्ल की महारानी केतलदेवी का गणकचूड़ामणि (अकाउण्टेण्ट-जनरल, या दीवान) था। महारानी स्वयं उस समय पोन्नवाड 'अग्रहार' की शासिका थी। मूलसंघ-सेनगण-पोगरिगच्छ के अनेक राजाओं द्वारा पूजित ब्रह्मसेन मुनिनाथ के प्रशिष्य और आर्यसेन मुनि के शिष्य महासेन मुनीन्द्र के चरण-कमलों का वह भ्रमर था और प्रिय छात्र (विद्याशिष्य) भी था। इस चांकिराज ने पोन्नवाड के त्रिभुवनतिलक-चैत्यालय में, जिसके मूलनायक शान्तिनाथदेव थे, पार्श्वनाथ, सुपार्श्वनाथ और शान्तिनाथ तीर्थंकरों की पृथक्-पृथक् तीन सुन्दर वेदियाँ बनवायी थीं और उनमें मनोज्ञ जिन-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित की थी। उक्त वेदियों या चैत्यालयों के लिए उसने महाराज और महारानी की अनुमतिपूर्वक, १०५४ ई. में अलग-अलग बहुत-सी भूमि और मकान-जायदाद दान की थी। उनमें से सुपार्श्वनाथ का बिम्ब उसने स्वपिता कोम्मराज की पुण्यस्मृति में प्रतिष्ठापित किया था। पार्श्वनाथ की प्रतिमा मुनिमहासेन के एक अन्य छात्र जिनवर्मा ने स्थापित की थी, और शान्तिनाथ का मनोज्ञ बिम्ब चांकिराज ने स्वयं स्थापित किया था।

हरिकेसरी देव—चालुक्यों का कदम्बवंशी सामन्त था। स्वयं को वह 'कादम्ब-सम्राट् मयूरवर्मन के कुल का तिलक' कहता है। सन् १०५५ ई. के, बंकापुर के दुर्ग की एक दीवार पर उत्कीर्ण, शिलालेख के अनुसार उस समय सम्राट् त्रैलोक्यमल्ल का द्वितीय पुत्र राजकुमार गंगपेर्म्मानडि-विक्रमादित्यदेव गंगवाडि और बनवासि प्रदेशों का संयुक्त शासक था। उसका महाप्रधान यह हरिकेसरीदेव कदम्ब था, जो राजकुमार के अधीन बनवासि देश पर शासन कर रहा था। इससे प्रतीत होता है कि बनवासि का प्राचीन कदम्ब घराना अपने प्रदेश में अभी तक जीवित था और उसमें जैनधर्म की प्रवृत्ति भी

पूर्ववत् चल रही थी। यह हरिकेसरीदेव भी बड़ा धर्मात्मा और दानी था, और अपने लिए प्राचीन कदम्ब-नरेशों की उपाधियाँ प्रयुक्त करता था। उसकी पत्नी लच्चलदेवी भी उसी की भाँति जिनभक्त थी। उपर्युक्त वर्ष में इस दम्पति ने स्वयं तथा उनकी प्रेरणा से बंकापुर की पाँच मतों को आश्रय देनेवाली जनता ने और नगर के महाजनों की निगम (गिल्ड) ने एक जैनमन्दिर के लिए बहुत-सा भूमिदान दिया था।

शान्तिनाथ दण्डाधिप—चालुक्य सम्राट् सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल के दाहिने हाथ और बनवासि प्रान्त के शासक, 'रायदण्ड-गोपाल' विरुदधारी लक्ष्मनृप (लक्ष्मणराज) का प्रधानामात्य, कोषाधिकारी एवं दण्डनाथ (सेनापति) वीर शान्तिनाथ परम जिनभक्त, प्रबुद्ध श्रावक, विद्यारसिक और श्रेष्ठ कवि था। बलगाम्बे के १०६८ ई. के शिलालेख में सम्राट् और पादपद्मोपजीवी मण्डलेश्वर लक्ष्मनृप के गुणों एवं पराक्रम की प्रशस्ति बखान करने के उपरान्त लिखा है कि दण्डनाथप्रवर शान्तिनाथ बनवासि राज्य का समस्त कार्य-धुरन्धर समुद्धरणकर्ता (उसे उन्नत बनाये रखनेवाला) मुख्य अर्थाधिकारी एवं मन्त्रिनिधान था। साथ ही वह परम-जिनमताम्भोजिनी-राजहंस (जिनमतरूपी कमलिनी का राजहंस) था, क्योंकि उसने जिनमार्गरूपी अमृत में कालदोष से जो अनेक विकृतियाँ और दोष आ गये थे उन्हें क्षीर-नीर विवेक से पृथक् करके भव्यजनों को जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रोक्त शुद्ध तत्त्व रूपी दुग्धामृत का प्रसन्नता-पूर्वक आस्वादन कराया था। वह सहज कवि था, चतुर कवि था, निस्सहाय कवि था, सुकर कवि और सुकवि था, मिथ्यात्वापह (मिथ्यात्व को दूर भगानेवाला) कवि था, सुभग-कविनुत (कवियों से नमस्कृत) महाकवीन्द्र था, और इसीलिए उसे 'सरस्वती-मुख-मुकुर' उपाधि प्राप्त हुई थी। सुकर रसभावादि एवं तत्त्वार्थ-निचय सूक्तियों से युक्त 'सुकुमारचरित' नामक काव्य का वह रचयिता था। असहायों पर दया करनेवाला, सुजनों का सहायक, मद-मान रहित, उत्कट दानी था। वह शुभ्रयश का स्वामी था और जिनशासन के हित में किये गये उसके कार्यकलाप स्थायी महत्त्व के थे। उसने विनयपूर्वक अपने स्वामी प्रतापी लक्ष्मनृप से प्रार्थना की कि जिनेन्द्र, रुद्र (शिव), बुद्ध और हरि (विष्णु) के स्वर्ण एवं रत्नमण्डित मन्दिरों की शृंखला के कारण हमारी राजधानी बलिनगर पाँचों मतों के संगम के रूप में सर्वत्र विख्यात है। सम्पूर्ण विश्व में जम्बूद्वीप, उसमें भारतवर्ष और भारत के कुन्तल देश में यह बनवासि प्रान्त शाश्वत बसन्त ऋतु के समान है। इस प्रान्त में भव्यों (जैनों) का मुख्य निवास-स्थल यह बलिपुर है, जिसकी शान्ति-तीर्थेश-बसदि (जिनालय) की प्रशंसा स्वर्गों के देवता करते हैं। यह जिनभवन काष्ठ निर्मित है, यदि आप इसे पाषाण निर्मित करा दें तो अक्षय पुण्य के भागी होंगे। फलतः धर्मात्मा लक्ष्मनृप ने उक्त मन्दिर को पाषाण से निर्मित कराया, और उसके लिए स्वयं लक्ष्मनृप ने तथा सम्राट् सोमेश्वर द्वितीय ने भी उपयुक्त भूमि आदि के प्रभूत दान दिये। नवनिर्मित जिनालय का नाम मल्लिकामोद-शान्तिनाथ-बसदि प्रसिद्ध हुआ। दण्डाधिप शान्तिनाथ के गुरु मूलसंघ-देशीयगण-कुन्दकुन्दान्वय के वर्द्धमान

मुनि थे, जिनके सधर्मा या शिष्य मुनिचन्द्रदेव और सर्वनन्दि भट्टारक थे। जिनालय के प्रबन्ध का भार तथा दान देशीगण-ताल-कोलान्वय के माघनन्दि भट्टारक को सौंप दिया गया। इस लेख को दासोज नामक व्यक्ति ने उत्कीर्ण किया था। लेख में बल्लिपुर की जगदेकमल्ल-बसदि आदि कई अन्य प्रसिद्ध जिनमन्दिरों का भी उल्लेख हुआ है। दान का उद्देश्य जिनेन्द्र की पूजा-अर्चा, निरन्तर आहारदान की व्यवस्था इत्यादि था। इस देव-शास्त्र-गुरुभक्त शान्तिनाथ के पिता गोविन्दराय थे, ज्येष्ठ भ्राता कन्नपार्य भी लक्ष्मनृप की सेवा में एक उच्चपदस्थ अधिकारी थे और अनुज वाग्भूषण रेवण विद्वान् एवं कवि थे।

महारानी माललदेवी—कुन्तल देश में बनवासि के नरेश कदम्ब-कुल-मार्तण्ड कीर्तिदेव थे, जो मयूरवर्मन कदम्ब की सन्तति में उत्पन्न हुए थे। कीर्तिदेव की अग्रमहिषी माललदेवी थी जो रूप और गुणों में गिरिजा, सीता, रति और रुक्मिणी के समान थी। वह परम जिनभक्त और धर्मपरायण महिलारत्न थी। पुरुजिनपति ऋषभदेव उसके कुलदेवता थे और कुन्दकुन्दान्वय-मूलसंघ-क्राणूरगण-तिन्त्रिणिगच्छ के पद्मनन्दि-सिद्धान्त उसके गुरु थे। बनवासि देश में अनेक आकर्षणों से युक्त कुप्पटूर नाम का नगर था, जिसके निवासी एक सहस्र ब्राह्मण अपनी विद्या और भक्ति के लिए विख्यात थे। सुप्रसिद्ध बन्दनिके तीर्थ से सम्बद्ध जिनालयों में कुप्पटूर का ब्रह्मजिनालय अग्रणी था। महारानी ने इस अतिभव्य पार्श्वदेव चैत्यालय का निर्माण कराकर उपर्युक्त मण्डलाचार्य पद्मनन्दि-सिद्धान्त से उसकी प्रतिष्ठा करायी। तदनन्तर स्थानीय ब्राह्मणों को बुलाकर उसका नाम 'ब्रह्म-जिनालय' घोषित कराया। उसने कोटीवर मूलस्थान के तथा अन्य १८ देवस्थानों के आचार्यों को और बनवासि के मधुकेश्वराचार्य को भी आमन्त्रित करके यह महोत्सव किया था। ये सब आचार्य जैनेतर धर्मों के थे। उन्हें ५०० होन्न (स्वर्ण मुद्राएँ) देकर उसने उनसे कुछ भूमियाँ भी प्राप्त की थीं। स्वयं महाराज कीर्तिदेव से एक पूरा ग्राम प्राप्त किया था। वह ग्राम तथा उक्त समस्त भूमियाँ जिनेन्द्रदेव की नित्य-पूजा एवं ऋषियों के आहार आदि की सुव्यवस्था के लिए पादप्रक्षालन-पूर्वक महारानी ने उक्त गुरु पद्मनन्दि-सिद्धान्त को समर्पित कर दी थी। यह दान १०७५ ई. की अक्षय-तृतीया के पवित्र पर्व पर दिया गया था। सिड्डणि नाम का जो ग्राम राजा से प्राप्त किया गया था, एडेनाडु का सर्वाधिक सुन्दर स्थान था। इस दानशासन का लेखक बम्मर हरियण्ण था। लेख में राजा के पराक्रम और महारानी माललदेवी की जिनभक्ति आदि की प्रभूत प्रशंसा है। बनवासि प्रदेश के एक भाग पर प्राचीन कदम्बों के वंशजों का छोटा-मोटा राज्य अभी तक चला आ रहा था।

प्रतिकण्ठ सिंगय्य—चालुक्य सम्राट् साहसोत्तुंग विक्रमादित्य त्रिभुवनमल्लदेव के महासेनाधिपति महाप्रधान दण्डनायक बर्म्मदेव का कृपापात्र अनुचर था और किसी प्रतिष्ठित अधिकारी पद पर नियुक्त था। स्वयं बर्म्मदेव उस समय बनवासि १२,०००, सान्तलिगे- १,००० और १८ अग्रहारों का रक्षक एवं शासक था, और अपने प्रशासन

केन्द्र बल्लिगाम्बे में निवास करता था। वह बड़ा पराक्रमी, गुणवान् और उदाराशय था। प्रतिकण्ठ सिंगय्य (सिंगन या सिंगय्य) के पिता का नाम सोम, माता अक्कब्बे, पत्नी का भागब्बे और छोटे भाई का मेचि था। सिंगय्य के श्वसुर कलिदेव लोक में आदरप्राप्त, गुणनिधि और विद्वानों के आश्रयदाता थे। इस प्रकार प्रतिकण्ठ सिंगय्य एक सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित कुल का राज्यमान्य सज्जन था। इसके इष्टदेव जिननाथ थे और गुरु मूलसंघ-सेनगण-पोगरिगच्छ के मुनिपति गुणभद्र थे। वह स्वयं जिनधर्मरूपी आकाश का सूर्य, जिनधर्मरूपी सुधासागर के वर्द्धन के लिए चन्द्रमा के समान, जिनधर्म-प्राकार और जिनेन्द्र के चरणकमलों का भ्रमर था। धर्मकथाओं के कहने-सुनने में उसे बड़ा रस मिलता था। इस धर्मात्मा श्रावक ने अपने स्वामी दण्डाधिप बर्म्मदेव से प्रार्थना करके स्वयं सम्राट् से, उसके राज्य के दूसरे वर्ष (१०७७ ई.) में, स्वगुरु गुणभद्र के सधर्मा महासेनव्रती के शिष्य रामसेन पण्डित को मनवने नाम का ग्राम धारापूर्वक सर्वमनस्य दान के रूप में दिलाया था। दान का प्रयोजन राजधानी बल्लिगाम्बे में स्वयं उक्त नरेश द्वारा अपने कुमारकाल में निर्मापित श्रीमच्चालुक्यगंग-पेर्म्मानडि-जिनालय में देवार्चन-पूजनाभिषेक, मुनि-आहार-दान, खण्डस्फुटित-नवकर्म आदि था। सम्राट् उस समय एतगिरी नामक स्थान में निवास कर रहा था। लेख में रामसेनपण्डित के व्याकरण, न्याय एवं काव्य ज्ञान की तुलना क्रमशः पूज्यपाद, अकलंकदेव और समन्तभद्र-जैसे पूर्वाचार्यों के साथ की है। दानशासन का लेखक गुणभद्रदेव का ही एक गृहस्थ शिष्य चावुण्डमय्य था। लेख में यह भी लिखा है कि स्वधर्म का हित, उसकी उन्नति और प्रभावना करने में यशस्वी प्रतिकण्ठ सिङगय्य का अत्यन्त उत्साह रहता था, वह सरस्वती का उपासक और शौचधर्म का विशिष्ट पालक था।

बिणेय बम्मिसेट्टि—एक धर्मात्मा जैन सेठ था, जिसने १०८० ई. के लगभग, जब बनवासि देश पर चालुक्य सम्राट् त्रिभुवनमल्ल का शासन था, शिकारपुर तालुके के इसूर स्थान में एक जिनालय बनवाया था और त्यागियों एवं अग्रहार के हजारों ब्राह्मणों के लिए एक सत्र (भोजनशाला) स्थापित किया था।

कालियक्का—चालुक्य त्रिभुवनमल्ल के राज्यप्रतिनिधि पाण्ड्य के महाप्रधान-दण्डनायक सूर्य की भार्या, ज्येष्ठ दण्डनायकिति कालियक्का बड़ी धर्मात्मा महिला थी। अपनी प्रतिज्ञा की पूर्तिस्वरूप उसने ११२८ ई. में सेम्बूर में पार्श्वनाथ भगवान् का एक अति सुन्दर जिनालय बनवाकर उसके लिए स्वगुरु शान्तिशयनपण्डित को प्रभूत भूदान दिया था।

योगेश्वर दण्डनायक—चालुक्य जयसिंह जगदेकमल्ल तृतीय का सेनाध्यक्ष, महाप्रधान, दण्डनायक और बनवासि देश का शासक था। उसके अधीन पेर्माडे मरदून-मल्लिदेव जिड्डलिगे का शासक था। उसने तथा अन्य कई धार्मिकजनों ने योग-दण्डाधिप की अनुमतिपूर्वक आवली में पार्श्व-जिनालय बनवाकर उसके लिए ११४३ ई. में सेनसंघी वीरसेन के सधर्मा माणिक्यसेन मुनि को पादप्रक्षालनपूर्वक भूमिदान दिया था।

बिज्जल कलचुरि

बारहवीं शती के मध्य के उपरान्त लगभग तीन दशक पर्यन्त कई कलचुरि नरेशों ने कर्णाटक देश पर राजधानी कल्याणी से शासन किया। मध्यभारत में त्रिपुरी, डाहल आदि के कलचुरि राजे तीसरी शती ई. के मध्य से ही राज्य कर रहे थे। वे चेदिवंशी भी कहलाते थे और विदर्भ, महाकोसल, उत्तर प्रदेश में सरयूपार आदि कई प्रदेशों में इस वंश की शाखाएँ चलीं। सन् २४९ ई. में चेदि या कलचुरि संवत् के प्रवर्तनकाल से इस वंश का उदय माना जाता है। अनुश्रुतियों के अनुसार इस वंश का आदिपुरुष कीर्तिवीर्य था, जिसने जैन मुनि के रूप में तपस्या करके कर्मों को नष्ट किया था। 'कल' शब्द का अर्थ 'कर्म' भी है और 'देह' भी। अतएव देहदमन द्वारा कर्मों को चूर करनेवाले व्यक्ति के वंशज कलचुरि कहलाये। इस वंश में जैनधर्म की प्रवृत्ति भी अल्पाधिक बनी रही। प्रो. रामास्वामी आयंगर आदि कई दक्षिण भारतीय इतिहासकारों का मत है कि पाँचवीं-छठी शती ई. में जिन शक्तिशाली कलभ्र जाति के लोगों ने तमिल देश पर आक्रमण करके और चोल, चेर तथा पाण्ड्य नरेशों को पराजित करके उक्त समस्त प्रदेश पर अपना शासन स्थापित कर लिया था, वे प्रतापी कलभ्र नरेश जैनधर्म के पक्के अनुयायी थे। इनके तमिल देश में पहुँचने पर वहाँ जैनधर्म की पर्याप्त उन्नति हुई। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कलभ्रों का मध्यभारत के कलचुरियों के साथ क्या सम्बन्ध था अथवा कल्याणी के उपर्युक्त कलचुरियों का उन दोनों में से किसके या दोनों के ही साथ कोई सम्बन्ध था या नहीं। यह सम्भावना है कि उत्तर भारत के कलचुरियों की ही एक शाखा सुदूर दक्षिण में कलभ्र नाम से प्रसिद्ध हुई और कालान्तर में उन्हीं कलभ्रों की सन्तति में कर्णाटक के कलचुरि हुए।

११२८ ई. में चालुक्य सम्राट् सोमेश्वर तृतीय ने पेर्म्मनडि कलचुरि नामक व्यक्ति को, जो स्वयं को कृष्ण की सन्तति में उत्पन्न हुआ बताता था, बीजापुर विषय (ज़िले) का शासक नियुक्त किया था। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र बिज्जलकलचुरि उसी पद पर नियुक्त हो गया। वह बड़ा वीर, चतुर और महत्त्वाकांक्षी था। परिणाम यह हुआ कि चालुक्य जयसिंह तृतीय ने उसे महामण्डलेश्वर बना दिया और अपना सेनाध्यक्ष नियुक्त कर दिया। चालुक्य तैलप तृतीय की अयोग्यता का लाभ उठाकर उसने अपने नेतृत्व में विद्रोही सामन्तों को संगठित किया और ११५१ ई. में राज्यसत्ता सहज ही हस्तगत कर ली। इसपर अनेक सामन्त उससे अप्रसन्न हो गये और गृहयुद्ध प्रारम्भ हो गये। अन्ततः बिज्जल ने तैलप तृतीय को पकड़कर बन्दीगृह में डाल दिया और दृढ़ता के साथ समस्त विरोधी शक्तियों का दमन करके ११५६ ई. में स्वयं को कल्याणी का सम्राट् घोषित कर दिया तथा अपने नाम का संवत् भी प्रचलित कर दिया। उसी वर्ष के एक शिलालेख में महाराज बिज्जल का उल्लेख 'कलचुरि-भुजबल-चक्रवर्ती त्रिभुवनमल्ल' विरुद के साथ हुआ है। उसने ११६७ ई. पर्यन्त, लगभग १२ वर्ष राज्य किया और इतने समय में ही प्रमाणित कर दिया कि वह एक वीर योद्धा, भारी विजेता और महान्

नरेश था। अपने कुल की प्रवृत्ति के अनुसार वह जैनधर्म का अनुयायी था। राज्य की प्राप्ति और विस्तार एवं संरक्षण में बिज्जल का प्रधान सहायक उसका महामात्य एवं प्रधान सेनापति जैन वीर रेचिमय्य था। उसका एक अन्य जैन मन्त्री ब्राह्मण बलदेव था, जिसका जामाता बासव भी जैन था। बलदेव की मृत्यु के उपरान्त उसके पद पर बासव की नियुक्ति हुई। अपने श्वसुर के सहकारी के रूप में वह पहले से ही कार्य कर रहा था, किन्तु बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। अपने कुलधर्म में उसे अपने लौकिक उत्कर्ष की सम्भावना कम दीख पड़ी। संयम-नियम और तपस्या से उसे घृणा थी। अतएव उसने एक नवीन मत का प्रचार करने का निश्चय किया। जैनधर्म के प्रचलित लोकतत्त्वों तथा प्रसिद्ध एवं व्यवहृत मान्यताओं के साथ शैवमत की कतिपय परम्पराओं एवं मान्यताओं का मिश्रण करके, और इस मिश्रण को अपने मनोनुकूल ढालकर उसने लिंगायत अपरनाम वीर-शैव मत की स्थापना की। ऐसी किंवदन्ती है कि अपनी कार्यसिद्धि के लिए उसने राजा का ध्यान अपनी अतीव सुन्दरी बहन पद्मावती की ओर आकृष्ट किया और अन्ततः राजा के साथ उसका विवाह कर दिया था। अपने भाई की इच्छानुसार पद्मावती महाराज को अपने धर्म से विमुख और बासव के मत का पोषक तो न बना सकी, किन्तु उसके मोहपाश में बँधकर बिज्जल राज्यकार्य की ओर से असावधान हो गया। स्थिति का लाभ उठाकर बासव ने अपने मत के प्रचार में सारा राज्यकोश खाली कर दिया और राज्य के विभिन्न पदों से जैन अधिकारियों एवं कर्मचारियों को पृथक् करके अपने साथियों और सहायकों को नियुक्त करना प्रारम्भ कर दिया। अन्ततः जब राजा की मोहनिद्रा टूटी और बासव के कुकृत्यों पर उसका ध्यान गया तो वह अत्यन्त कुपित हुआ और दुष्टों को कठोर दण्ड देने लगा। परन्तु बासव ने विषाक्त आम खिलाकर छल से राजा की हत्या कर दी। एक मत के अनुसार बिज्जल ने विरक्त होकर अपने पुत्र सोमेश्वर को राज्य सौंप दिया और शेष जीवन धर्म साधन में बिताया था।

बिज्जल के उपरान्त उसके तीन या चार पुत्रों एवं वंशजों ने क्रमशः राज्य किया। उन्होंने बासव एवं उसके लिंगायतों का क्रूरता के साथ दमन किया बताया जाता है, किन्तु बासव के कतिपय शिष्यों एवं भक्तों के प्रयत्नों से लिंगायत मत फैलता चला गया और आनेवाली कई शताब्दियों में दक्षिण भारत में जैनधर्म का सबसे भयंकर शत्रु सिद्ध हुआ। बिज्जल के वंश का अन्त भी ११८३ ई. के लगभग हो गया, जब चालुक्य सोमेश्वर चतुर्थ ने कल्याणी पर पुनः अधिकार कर लिया। यह पुनः स्थापित चालुक्य सत्ता भी १३वीं शती के प्रारम्भ में समाप्त हो गयी।

सेनापति रेचिमय्य—इस युग का सर्वाधिक उल्लेखनीय जैन वीर है। रेच, रेचण, रचरस, रेचिराज, रेचि या रेचिमय्य की माता का नाम नागाम्बिका और पिता का नारायण था। तथा पत्नी का नाम गौरी था। उसका ध्वज-चिह्न वृषभ था, अतएव यह 'वृषभध्वज' भी कहलाता था। 'वसुधैक-बान्धवम्' उसका सुप्रसिद्ध विरुद था। दण्डाधिनाथ, महाप्रचण्डदण्डनायक, चमूपति, महासेनापति, सचिवोत्तम, मन्त्रीश्वर आदि

पदवीधर यह वीर कलचुरि नरेश बिज्जल का दाहिना हाथ था। उस नरेश के लिए उसने सप्तांग-साम्राज्य-सम्पत्ति प्राप्त की थी और उसका उपभोग उसे तथा उसके उत्तराधिकारियों को कराया था। उसी के हाथों के सहारे कलचुरि नरेशों की राज्यरूपी लता सुखपूर्वक प्रसरित हुई थी। उक्त नरेशों से उसे अनेक जागीरें मिली थीं, जिनमें अत्यन्त सुन्दर नागरखण्ड प्रदेश प्रमुख था—उस प्रान्त का शासन भी सीधे यह रेचिमय्य ही करता था। बिज्जल के उपरान्त उसके सभी वंशजों के समय में उसका रुतबा और प्रतिष्ठा वैसे ही बने रहे, और जब कलचुरियों का सूर्य अस्त हो गया और उनके स्थान में द्वारसमुद्र के होयसल नरेश देश के स्वामी हुए तो उन्होंने भी वीर रेचिमय्य को वही पद-प्रतिष्ठा प्रदान की। सेनापति रेचिमय्य अनुपम रणशूर होने के साथ ही साथ अनुपम दानशूर भी था। वह ऐसा उदार दानी था कि जगत् मे साक्षात् कल्पवृक्ष की भाँति शोभायमान था। उसके सुशासन में नागरखण्ड प्रदेश की सर्वतोमुखी अभिवृद्धि हुई, और कहा जाता है कि गंगराज ने सम्पूर्ण जैन जगत् के लिए जो कुछ किया दण्डाधीश रेचिमय्य ने अपने प्रान्त के लिए उससे कुछ अधिक ही किया। जिनधर्म के हित और प्रभावना के लिए उसका उद्यम अन्तहीन था।

शिकारपुर तालुके के चिक्कमागडि नामक स्थान के एक पुराने जैन सम्मेलन मन्दिर में, जो अब लिंगायतों के चेन्न-बसवण्ण मन्दिर में परिवर्तित है, प्राप्त ११८२ ई. के स्तम्भलेख से ज्ञात होता है कि उस समय कलचुरि नरेश शंकम के अनुज एवं उत्तराधिकारी रायनारायण आहवमल्ल का शासन था और रेचिमय्य उसी राजा की सेवा में था और उसकी ओर से नागरखण्ड का शासक था। नागरखण्ड के अन्तर्गत ही बान्धवपुर का कदम्बवंशी राजा बोप्प राज्य करता था और उसका महाप्रधान सामन्त शंकर था जिसने मागुडि नामक स्थान में भगवान् शान्तिनाथ का सुन्दर जिनालय बनवाया था। एक बार उक्त दोनों सज्जनों के साथ रेचण दण्डाधीश (रेचिमय्य) उक्त मन्दिर में भगवान् का दर्शन-पूजन करने के लिए गया था। मन्दिर की भव्यता को देखकर वह इतना प्रभावित और प्रसन्न हुआ कि उसने तलवे नामक ग्राम उसके लिए भेंट कर दिया। बन्दलिके के १२०३ ई. के शिलालेख में भी विख्यात रेच चमूपति की प्रारम्भ में ही प्रशंसा की है और उसे उक्त बन्दलिके-शान्ति-जिनेश-तीर्थ की उन्नति करनेवालों में अग्रणी बताया है। अरसीकेरे नामक स्थान के १२१९ ई. के अभिलेख में लिखा है कि रत्नत्रयाधिष्ठित, धर्मप्रतिपालक, कलचूर्य-कुल-सचिवोत्तम, वसुधैकबान्धव रेचरस चमूपति ने, जो वाग्-वनिता-विलास-सदन, कीर्तिकौमुदी, जैनार्णव-वर्द्धन, गुणगणभूषण और दयान्वित था, और उस समय होयसल नरेश बल्लालदेव की सेवा में था, अरसियकेरे नगर में एक अति भव्य एवं विशाल सहस्रकूट-चैत्यालय निर्माण कराया था। यह नगर स्वयं नाना कूप, तड़ाग, वापी, वन-उपवनों, फल-पुष्प के उद्यानों, हरे-भरे शालि क्षेत्रों, सुन्दर-सुन्दर भवनों और धर्मात्मा भव्यजनों (जैनों) की घनी बस्ती के कारण अत्यन्त मनोहर, महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध था। उक्त जिनालय में भगवान्

जिनेन्द्र की नित्य अष्टविधि-पूजन, पुजारी और सेवकों की आजीविका, चतुर्वर्ण के लोगों के लिए निःशुल्क भोजन दान (सत्र) और मन्दिर के जीर्णोद्धार आदि के लिए राजा बल्लाल से हन्दरहालु नामक ग्राम प्राप्त करके उसने मूल-संघ-देशीगण-पुस्तकगच्छ-इंगुलेश्वरबलि के आचार्य माघनन्दि-सिद्धान्त के प्रशिष्य और शुभचन्द्र-त्रैविद्यदेव के शिष्य सागरनन्दि-सिद्धान्तदेव को धारापूर्वक समर्पित किया था। यही आचार्य रेचरस के कुलगुरु भी थे। रेच द्वारा प्रतिष्ठापित उक्त अत्यन्त दैदीप्यमान सहस्रकूट जिनबिम्ब के लिए स्थानीय जैनों ने एक कोटि द्रव्य एकत्र करके प्रसिद्ध अरसियकेरे में एक विशाल जिनमन्दिर और उसकी सुदृढ़ चहारदीवारी बनवायी। राजा और प्रजा ने, जिससे जितना बन पड़ा, उसके लिए द्रव्य दिया। इस जिनालय के निर्माण में सातकोटि (सात वर्गों के ?) लोगों की सहायता थी, इसीलिए वह एल्कोटि-जिनालय कहलाया। उसके लिए एक सहस्र परिवारों से भूमि खरीदी गयी थी और राजा बल्लाल ने भी उक्त भूमि पर दस होन्नुवाला कर माफ़ कर दिया था। अरसियकेरे के लोगों ने भगवान् शान्तिनाथ का भी एक सुन्दर मन्दिर बनवाया था। उस नगर के तत्कालीन जैनों में प्रमुख पट्टणस्वामी (नगरसेठ) कल्लिसेट्टि और जक्किसेट्टि थे। स्थानीय जैनों की उत्कट धर्मनिष्ठा एवं धर्म-संरक्षण के अपूर्व उत्साह से प्रसन्न होकर धर्मात्मा वीर श्रीकरणद रेचिमय्य ने उपर्युक्त निर्माण और दान किये थे। उसने १२०० ई. के लगभग श्रवणबेलगोल के निकट जिननाथपुर में एक शान्तिनाथ जिनालय (शान्तीश्वर बसदि) बनवाया था, और उसे भी स्वगुरु एवं मन्दिर के प्रतिष्ठाचार्य सागरनन्दि सिद्धान्त को सौंप दिया था। यही आचार्य कोल्लापुर की प्रसिद्ध सावन्त-बसदि (सामन्तों का जिनालय) के भी अधिष्ठाता थे।

सोविदेव कदम्ब—बनवासि-मण्डल के स्तन्यरूप सुन्दर एवं सुसमृद्ध नागरखण्ड के एक भाग पर प्राचीन कदम्बकुल का परम्परागत राज्य चला आता था। इस कुल में ब्रह्मभूपाल और चट्टलदेवी का पुत्र बोप्पभूप हुआ जिसकी पत्नी का नाम श्रीदेवी था। इन दम्पति का पुत्र यह सोविदेव या सोमनृप था। यह राजा बड़ा शूरवीर, प्रतापी, उदार और सत्यवादी था, और इसीलिए उसे कदम्बरुद्र, गण्डरदावणि, मण्डलिक-भैरव, निगलंकमल्ल, सत्यपताक आदि विरुद प्राप्त हुए थे। वह कलचूर्य-चक्रवर्ती बिज्जल के पौत्र मैल्लिगुदेव रायमुरारि भुजबल-मल्ल का अधीनस्थ राजा था। उसने चंगाल्व नरेश को पराजित करके उसे जंजीरों से बाँध दिया था, इसी उपलक्ष्य में उसे 'गण्डरदावणि' विरुद मिला था। बाल्यावस्था में ही उसके सत्यनिष्ठ मधुरवचनों के कारण वह 'सत्यपताक' कहलाने लगा, किशोरावस्था को प्राप्त होते न होते वह 'निकलंक-मल्ल' और अपनी शक्ति एवं पराक्रम का परिचय देते ही 'कदम्बरुद्र' कहलाने लगा था। वह बड़ा उदार और दानी भी था। उसके समय में नागरखण्ड की भाँति ही तेवरतेप्प भी बनवासि देश का भूषण था और नागबल्लरी एवं पुंगीफल (सुपारी) के उद्यानों के लिए प्रसिद्ध था। राजा सोविदेव के चरण-कमलों का भ्रमर उसका सामन्त तेवरतप्प का नालप्रभु

(अधिपति) बोप्पगावुण्ड था। उसकी पत्नी चाविकब्बे-गावुण्डि थी, जिसके भाई बम्मिसेट्टि और कल्लिसेट्टि थे। बोप्पगावुण्ड और चाविकब्बेगावुण्डि का पुत्र लोकगावुण्ड तेवरतेप्प का नालप्रभु था। उसके दोनों मातुल बम्मिसेट्टि और कल्लिसेट्टि भव्य-शिखामणि (परमजैन) थे। उसकी माता भी बड़ी धर्मात्मा थी तथा उसकी पत्नी, जो तोत्तूर के गेयूद-गावुण्ड और धर्मात्मा कालिकगावुण्डि की पुत्री थी, स्वयं सकलशील-गुणोत्तम तथा परम जिनभक्त एवं दानशीला थी। इसी कारण उसने महासती अत्तिमब्बे-जैसी ख्याति प्राप्त की थी। अपने उक्त स्वजनों-परिजनों की प्रेरणा एवं सहयोग से लोकगावुण्ड ने तेवरतेप्प नगर में एक अत्यन्त भव्य रत्नत्रयदेव-जिनालय नाम का जिनमन्दिर बनवाया, एक सरोवर, कूप और प्रपा बनवायी और सत्र स्थापित किया था। इन सबकी व्यवस्था, देवार्चन, मुनि-आहारदान आदि के निमित्त प्रभूत भूमिदान धर्मात्मा लोक-गावुण्ड ने स्वगुरु महामण्डलाचार्य भानुकीर्ति सिद्धान्तदेव को पादप्रक्षालनपूर्वक समर्पित कर दिया था। भानुकीर्ति परमशास्त्रज्ञ मुनिचन्द्रदेव के प्रिय शिष्य थे और भारी मन्त्रवादी थे। तेवरतेप्प के ११७१ ई. के शिलालेख में उक्त महाराज सोविदेव और उसके धर्मात्मा सामन्त लोक-गावुण्ड का वर्णन है। महाराज की स्वयं की अनुमति एवं सहयोग अपने प्रिय सामन्त के उक्त धर्मकार्यों में थे।

बोप्पदेव कदम्ब—नागर खण्ड के कदम्बकुल में उत्पन्न महाराज सोविदेव या सोमनृप की रानी लच्चलदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी यह बोप्पदेव नृपति था, जो बड़ा पुण्यवान् और प्रतापी था। सुन्दर बान्धवपुर नगर उसकी राजधानी थी। राजा का स्वयं का तथा उसकी कुल-परम्परा का धर्म जैनधर्म था। उसके इष्टदेव भगवान् शान्तिनाथ थे, जिनका अति सुन्दर जिनालय उक्त नगरी की शोभा बढ़ाता था। वस्तुतः इस मन्दिर में भगवान् धर्मनाथ, शान्तिनाथ और कुन्थुनाथ के तीन चैत्य थे जिनके कारण वह रत्नत्रय-जिनालय कहलाता था। इस मन्दिर के आचार्य मूलसंघ-क्राणूरगण-तिन्त्रिणिगच्छ-तुन्नवंश के भानुकीर्ति-सिद्धान्ती थे, जो रावणान्दि के प्रशिष्य और पद्मनन्दि के शिष्य मुनिचन्द्र के शिष्य थे तथा नयकीर्तिव्रती के गुरु थे। इस बोप्पदेव राजा के महाप्रधान शंकर सामन्त ने उसकी सहमति एवं सहयोग से मागुडि में जो शान्तिनाथ जिनमन्दिर बनवाया था उसके दर्शन के लिए वह नरेश ही रेचण-दण्डाधीश को अपने साथ लिवा ले गया था। बन्दलिके के १२०३ ई. के शिलालेख में इन्हीं कदम्बवंशी सोमनृपात्मज बान्धवपुराधिप बोप्पदेव को रेच-चमूपति के अनन्तर बन्दलिके तीर्थ की उन्नति करनेवाला कहा है। उस समय बोप्प का पुत्र ब्रह्मभूपाल राजा था। उसका नगरसेठ कवडेय बोप्पिसेट्टि था, जिसने राजा ब्रह्म की अनुमति और सहयोग से बन्दलिके-शान्तिनाथदेव का सुन्दर मण्डप बनवाया था। इस शिलालेख में नागरखण्ड के तत्कालीन जैनों में प्रमुख प्रतिष्ठित धार्मिक एवं दानी जनों का भी उल्लेख है, यथा सेट्टिकब्बे का पुत्र बनंजुधर्मनिवासी शंकरसेट्टि, कच्छवियूर का स्वामी बिट्टियरस, बेगूर का प्रभुमाल-

गौड, कण्णसोगे का एरिकोटि गौड, मलविल्ले का एरहगौड, अल्लूर का सोमगौड और शंकर एवं जकब्बे का पुत्र सामन्त मुद्दकि, जिसकी पत्नी लच्चाम्बिके, दो पुत्र और एक पुत्री थी, स्वामी वल्लालनरेश और गुरु भानुकीर्ति सिद्धान्त थे।

शंकर सामन्त—नण्डु वंश में उस कुल का तिलक सिंगम उत्पन्न हुआ। उसकी पत्नी माणियक्के थी और पुत्र एक्क-गौड और केरेयम थे। केरेयम की पत्नी रेसब्बे थी और पुत्र बोप्प-गावुण्ड था। उसकी पत्नी चांकिगौडि थी, और इन दोनों का पुत्र यह संक, शंकम या शंकर सामन्त था। उसकी पत्नी का नाम जक्कणब्बे था, ज्येष्ठ पुत्र सोम था और छोटा पुत्र मुद्दय्य था। शंकर सामन्त बान्धवपुर के कदम्बनरेश बोप्पदेव का प्रधान सचिव और महासामन्त था। उस नरेश के राज्याभ्युदय में वही प्रधान सहायक एवं साधक था। राजा उसका बड़ा सम्मान करता था और रेच चमूपति तथा होयसल नरेश बल्लालदेव भी उसे मान देते थे। उसके गुरु पूर्वोक्त भानुकीर्ति और नयकीर्ति व्रती थे। उक्त गुरुओं के निकट आगम का अध्ययन करके वह जिनसमय-चिन्तामणि (जैन-धर्म के लिए चिन्तामणि-रत्न) कहलाया। वह बड़ा वीर, पराक्रमी, कुशल प्रशासक, उदार, दानी, धर्मात्मा, जिनदेव और गुरुओं का किंकर था। याचकों के लिए वह कल्प-वृक्ष था और निरभिमानी था। निश-दिन धर्मार्थकाम, त्रिवर्ग के सम्पादन में रत और सन्मार्ग के हित की कामना के लिए चिन्तित रहता था। मागुडि नामक स्थान के साथ उसका सम्बन्ध था—सम्भवतया वह उसका मूल निवास था—अतएव उक्त स्थान में उसने तीर्थंकर शान्तिनाथ का एक अत्यन्त मनोरम मन्दिर बनवाया था। उसमें प्रतिष्ठा-पित भगवान् का प्रतिबिम्ब अत्यन्त सातिशय एवं चमत्कारी था। बलिपुर के शैवाचार्य सूर्याभरण त्रिपुरान्तकसूरि ने यह देखकर कि यह देवालय तीर्थंकर-जिन और शिव, दोनों के ही भक्तों के लिए समान रूप से प्रिय है, उसके लिए सुपारी के ५०० वृक्षों का एक बाग, एक पुष्पोद्यान, उत्तम धान्य का एक क्षेत्र और तेल के एक कोल्हू के रूप में प्रभूत स्थलवृत्ति प्रदान की थी। उक्त धार्मिक कार्य को जारी रखने तथा अपनी न्यायो-पार्जित सम्पत्ति को अपने आश्रितों की आवश्यकता पूर्ति के लिए सुरक्षित करने के उद्देश्य से इस शंकर-देव-चक्री ने महाराज बल्लाल और रेच चमूपति का आश्रय लिया। परिणाम-स्वरूप जब महाराज ताणगुण्ड में निवास करते थे तो वह रेचरस और अपने स्वामी बोप्पदेव को उक्त मन्दिर में दर्शन-पूजन करने के लिए अपने साथ लाया। रेचरस ने प्रसन्न होकर मन्दिर के लिए एक ग्राम शंकर के गुरु और मन्दिर के अधिष्ठाता भानु-कीर्ति सिद्धान्तदेव को समर्पित किया। दानशासन की व्यवस्था का भार बल्लालदेव के प्रधान मन्त्री मुरारिकेशव को सौंप दिया गया। मन्दिर के लिए चार स्थानों के वाणिज्य निगमों तथा मुम्मुरिदण्ड ने भी दान दिये। शंकर सामन्त का सारा परिवार परम जिन-भक्त था। उसके पुत्र सामन्त मुद्दय्य ने भी नागरखण्ड और विशेषकर बन्दलिके-तीर्थ की उन्नति में अपने पिता की ही भाँति योग दिया। राजा बल्लालदेव के प्रसिद्ध मन्त्री कम्मट-मल्ल-दण्डाधिनाथ ने तथा उसके सचिव सूर्य-चमूपति ने बन्दलिके-शान्तिनाथ तीर्थ

की बहुत प्रेम के साथ रक्षा की थी। उक्त सामन्त शंकरगावुण्ड ने ११७६ ई. में गावणिगवंशीय केरेयमसेट्टि के पुत्र देविक-सेट्टि के साथ मिलकर एलम्बलिल में भी एक शान्तिनाथ जिनालय बनवाया था, जिसके लिए उन दोनों ने गुरु भानुकीर्ति को भूमि का दान दिया था।



होयसल राजवंश

राष्ट्रकूट, चोल, चालुक्य और कलचुरि नामक सम्राट्-वंशो के बाद दक्षिण भारत में इस युग का सर्वाधिक शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण राज्यवंश होयसलो का था, जो प्रारम्भ मे कल्याणी के चालुक्य सम्राटो के अधीन महासामन्त रहे और उनकी सत्ता समाप्त होने पर, कम से कम सम्पूर्ण कर्णाटक मे सर्वोपरि राज्यशक्ति के स्वामी हुए। कर्णाटक के प्राचीन गगवाडि राज्य की भाँति ही होयसल राज्य की स्थापना का श्रेय भी एक जैनाचार्य के आशीर्वाद को है। द्वारावती (द्वारसमुद्र या दोरसमुद्र) का यह शक्तिशाली एवं पर्याप्त स्थायी होयसल-महाराज्य जैन प्रतिभा की दूसरी सर्वोत्कृष्ट सृष्टि थी।

वंश संस्थापक सल—कर्णाटक की पार्वतीय जाति के एक अभिजात्य किन्तु विपन्न कुल में उत्पन्न वीर युवक था और पश्चिमी घाटवर्ती, मैसूर राज्य मे कडूर जिले के मुदगेरे तालुके मे स्थित अगडि अपरनाम सोसवूर (शशकपुर) का निवासी था। यह स्थान पहले से ही जैनधर्म का एक अच्छा केन्द्र था। दसवी शताब्दी मे द्रमिलसंघी मौनी भट्टारक के शिष्य विमलचन्द्र पण्डितदेव वहाँ निवास करते थे, वही उनका समाधिमरण हुआ और उनके भक्त महाराज इविबेडेंग ने उनका स्मारक बनवाया था। नगर के बाहर ९वी-१०वी शती ई. की कई सुन्दर बसदियाँ थी, जिनमें एक का नाम मकर-जिनालय था। उसके निकट ही भगवान् पार्श्वनाथ की यक्षि पद्मावती देवी का विशाल मन्दिर था। ग्यारहवी शती के प्रारम्भ मे वहाँ जैनाचार्य सुदत्त वर्धमान का विद्यापीठ अवस्थित था, जिसमें अनेक गृहस्थ, त्यागी और मुनि शिक्षा प्राप्त करते थे। यह मुनीन्द्र उपरोक्त विमलचन्द्र पण्डितदेव के ही सम्भवतया निकट-परम्परा शिष्य थे। एक अनुमान है कि वह सुप्रसिद्ध जगदेकमल्लवादी वादिराज के शिष्य थे। निरसहाय एव साधनविहीन किन्तु तेजस्वी और महात्त्वाकाक्षी युवक सल इन्ही सुदत्त वर्धमान का प्रिय छात्र था। उसकी जननी गगवंश की राजकन्या थी, और सम्भवतया उसके पितृकुल मे भी जैनधर्म की प्रवृत्ति थी। एक दिन देवी के मन्दिर के निकट वन में वह गुरु के निकट एकाकी ही अध्ययन कर रहा था, कि एकाएक एक भयंकर शार्दूल वन में से निकलकर गुरु के ऊपर झपटा। गुरु ने अपनी मयूरपिच्छि सल की ओर फेंककर कहा, 'पोय सल' (हे सल, इसे मार)। वीर सल ने तुरन्त उस पिच्छिका (उसके मूठे या दण्ड) के प्रहारो से सिंह को मार गिराया। कहा जाता है कि सल के पराक्रम और वीरता की परीक्षा करने के लिए ही उन्होने अपने मन्त्रबल से उस कृत्रिम सिंह की

सृष्टि की थी। अस्तु, गुरु बहुत प्रसन्न हुए, उसे आशीर्वाद दिया और उसे अपने लिए स्वतन्त्र राज्य स्थापन करने का आदेश दिया। लोल-शार्दूल ही उन्होंने उसका राज्य-चिह्न, मुकुटचिह्न एवं ध्वजचिह्न निश्चित किया। यह घटना १००६ ई. के लगभग की है। तभी से सल 'पोयसल' कहलाने लगा, जो कालान्तर में 'होयसल' शब्द में परिवर्तित हो गया और सल द्वारा स्थापित राज्यवंश का नाम प्रसिद्ध हुआ। जिनेन्द्र उसके इष्टदेव, मुनीन्द्र सुदत्त वर्धमान धर्मगुरु एवं राजगुरु और पद्मावती अपरनाम वासन्तिकादेवी उसके कुल एवं राज्य की अधिष्ठात्री देवी हुईं। उक्त यक्षि के प्रसाद से उक्त घटना के समय एकाएक वसन्त ऋतु हो गयी थी, इसलिए वह स्वयं तभी से वासन्तिकादेवी कहलाने लगी। इस प्रकार अहिंसा धर्म के उत्कट पक्षपाती होते हुए भी जैनाचार्यों ने देश के राजनैतिक अभ्युत्थान में महत्त्वपूर्ण सक्रिय योग दिया, इस तथ्य का, जहाँ तक दक्षिण भारत का सम्बन्ध है, यह कम से कम दूसरा उदाहरण था। आगामी पन्द्रह-सोलह वर्षों में अंगडि (शशकपुर) को अपनी राजधानी बनाकर पोयसल ने चोलों और चालुक्यों के कोंगाल्व आदि कई सामन्तों से युद्ध करके उनके प्रदेश हस्तगत किये, अपने राज्य की नींव जमा दी और चालुक्यों के प्रमुख सामन्तों में परिगणित होने लगा। इस सब उन्नति में गुरु सुदत्त का उपदेश, परामर्श और पथप्रदर्शन वह निरन्तर प्राप्त करता रहा। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी विनयादित्य प्रथम (१०२२-१०४७ ई.) और पौत्र नृपकाम होयसल (१०४७-६० ई.) ने उसके द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्यों को चालू रखा। राज्य की शक्ति और विस्तार बढ़ता गया। उन दोनों राजाओं के भी धर्मगुरु एवं राजगुरु उक्त सुदत्त वर्धमान ही थे, जो शासनप्रबन्ध एवं राज्य-संचालन में भी उनका सक्रिय मार्गदर्शन करते थे। गंगवाडि के जैन मुनियों में ये दोनों नरेश अपनी धार्मिकता के लिए प्रसिद्ध थे।

विनयादित्य द्वितीय (१०६०-११०१ ई.)—होयसल वंश का यह चौथा राजा बड़ा उदार, दानी, धर्मात्मा और प्रतापी था। उसके गुरु द्रमिलसंघ के जैनाचार्य शान्तिदेव थे। श्रवणबेलगोल की ११२९ ई. की मल्लिषेण प्रशस्ति नामक शिलालेख के अनुसार 'गुरु शान्तिदेव की पादपूजा के प्रसाद से पोयसल नरेश विनयादित्य ने अपने राज्य को श्रीसम्पन्न किया था।' अपने इन राजगुरु के उपदेश से विनयादित्य होयसल ने अनेक जिनमन्दिरों, देवालयों, सरोवरों, ग्रामों और नगरों का निर्माण प्रसन्नता पूर्वक कराया था। इस कार्य में वह सुप्रसिद्ध बलीन्द्र से भी आगे बढ़ गया था। अंगडि के ही १०६२ ई. के एक भग्न शिलालेख से प्रकट है कि उसी वर्ष वहाँ जब उसके गुरु शान्तिदेव ने समाधिमरण किया तो स्वयं राजा ने और उसके नागरिकजनों की निगम ने मिलकर उनकी स्मृति में वहाँ एक स्मारक स्थापित किया था। स्पष्ट है कि वह आचार्य मात्र राजा के नहीं वरन् राजा-प्रजा सभी के, पूरे राष्ट्र के गुरु माने जाने लगे थे। उसी वर्ष के एक अन्य शिलालेख के अनुसार इस राजा ने मूलसंघी मेघचन्द्र के शिष्य बेलवे के अभयचन्द्र मुनि को दान देकर सम्मानित किया था। राजा ने राज्य के

प्रधान धान्यक्षेत्र मत्तावर नगर की सिंचाई के लिए एक नहर निकलवायी थी। वह पूरी हो गयी तो १०६९ ई. में राजा उसका निरीक्षण करने के लिए वहाँ गया और उस अवसर पर जब वह ग्राम के निकट पहाड़ी पर स्थित जिनमन्दिर के दर्शन करने के लिए भी गया तो उसने मानिक्कसेट्टि आदि नगरप्रमुखों से पूछा कि नगर के भीतर उन्होंने कोई जिनालय क्यों नहीं बनवाया। उन्होंने विनयपूर्वक निवेदन किया कि यह कार्य उनकी सामर्थ्य से बाहर है। महाराज के पास अपार धनराशि है, वही यह शुभ कार्य सम्पन्न करायें। राजा ने प्रसन्न होकर उस नगर में भी एक सुन्दर जिनालय बनवा दिया और उसके लिए उन लोगों से भी दान दिलवाया और स्वयं भी भूमि, द्रव्य, राजकर आदि का दान दिया। नगर का नाम भी बदलकर ऋषिहल्लि रख दिया। राजधानी अंगडि के मकर-जिनालय की भी उसने उन्नति की। शान्तिदेव के शिष्य 'शब्दचतुर्मुख' उपाधिधारी अजितसेन भट्टारक का भी राजा ने सम्मान किया प्रतीत होता है। यह नरेश चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य षष्ठ का महासामन्त एवं माण्डलिक नृप था। अपने जीवन के पिछले भाग में विनयादित्य द्वितीय ने राज्यकार्य अपने पुत्र युवराज एरेयंग को सौंपकर स्वयं धर्मसाधन में जीवन व्यतीत किया था। अब वास्तविक राजा एरेयंग ही था। वह भी बड़ा पराक्रमी वीर था। होयसल राजे मेलप्पशिरोमणि (पहाड़ी राजाओं में शिरमौर) और महामण्डलेश्वर कहलाते थे। एरेयंग ने १०९४ ई. में सुप्रसिद्ध दार्शनिक, तार्किक एवं वादी जैनाचार्य गोपनन्दि का सम्मान किया था, और उन्हें बेलगोल के कलबप्पु तीर्थ की अनेक बसदियों (जिनमन्दिरों) के जीर्णोद्धार आदि के लिए कई गाँव दान दिये थे। गोपनन्दि के उपरान्त 'जगद्गुरु' उपाधिधारी प्रसिद्ध विद्वान् अजितसेन (सम्भवतया वादीभसिंह) इस राजा के गुरु हुए। यह होयसल राजे गंगमण्डल के अधीश्वर कहलाते थे और जिनधर्म की प्रभावना एवं हितसाधन में प्राचीन गंगनरेशों का अनुकरण करने में स्वयं को धन्य मानते थे। एरेयंग ने 'वीरगंग' उपाधि भी धारण की थी। विनयादित्य द्वितीय और त्रिभुवनमल्ल एरेयंग की मृत्यु थोड़े ही अन्तर से हुई, सम्भवतया युवराज का निधन पिता के जीवन-काल में ही हो गया था। अपनी सामरिक वीरता के लिए वह चालुक्य सम्राट् का बलद-भुजदण्ड (दाहिनी भुजा) कहलाता था। एरेयंग की रानी एचलदेवी से उसके तीन पुत्र बल्लाल, बिट्टिग और उदयादित्य तथा एक पुत्री थी। यह राजकुमारी गंगवंशोत्पन्न हेम्मडिदेव के साथ बिवाही गयी थी, जो परम जिनभक्त था।

बल्लाल प्रथम (११०१-११०६ ई.)—एरेयंग का ज्येष्ठ पुत्र था। उसके धर्मगुरु एवं राजगुरु चारुकीर्ति पण्डितदेव थे, जो कुन्दकुन्दान्वय-नन्दिसंघ-देशीगण-पुस्तकगच्छ-इंगुलेश्वरबलि के आचार्य महान् वादी श्रुतकीर्तिदेव के शिष्य थे, और स्वयं व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त, योगशास्त्र, मन्त्रशास्त्र, आयुर्वेद आदि सभी विषयों में निष्णात, विविध-विद्या-पारंगत थे। जिस समय राजा बल्लाल दुर्धर शत्रुओं का घेरा डाले पड़ा था और उसकी अश्वारोही सेना शत्रुसैन्य को आतंकित कर रही थी, वह

स्वयं एक असाध्य रोग से पीड़ित हो गया। उस अवसर पर गुरु चारुकीर्ति ने अपने अद्भुत औषधि प्रयोग से राजा को शीघ्र ही नीरोग एवं स्वस्थ कर दिया था। किंवदन्ती है कि उन मुनिराज के शरीर का स्पर्श करके बहनेवाली वायु ही रोग शान्त कर देती थी। सन् ११०३ ई. में इस राजा ने अपने एक सेनापति मरयम्ने दण्डनायक की तीन सुन्दरी कन्याओं का विवाह सुयोग्य वरों के साथ स्वयं करा दिया था। अगले वर्ष उसने चंगाल्व नरेश को पराजित करके अपने अधीन कर लिया। जगदेव सान्तर ने जब उसकी स्वयं की राजधानी पर आक्रमण किया तो उसे पराजित करके भगा दिया और उसके कोष एवं प्रसिद्ध रत्नहार को हस्तगत कर लिया। बल्लाल प्रथम ने शशकपुर से हटाकर अपनी राजधानी बेल्लूर में बनायी।

विष्णुवर्धन होयसल (११०६-११४१ ई.)—बल्लाल प्रथम का अनुज एवं उत्तराधिकारी था। उसका मूल नाम बिट्टिग या बिट्टिदेव था, किन्तु इतिहास में वह विष्णुवर्धन होयसल के नाम से विशेष प्रसिद्ध है। वह होयसल वंश का सर्वप्रसिद्ध नरेश है, जो भारी योद्धा, महान् विजेता एवं अत्यन्त शक्तिशाली था। साथ ही वह बड़ा उदार, दानी, सर्वधर्मसहिष्णु और भारी निर्माता था। उसने द्वारसमुद्र (हलेबिड) को अपनी राजधानी बनाया—उस सुन्दर नगर के निर्माण एवं विकास का मुख्य श्रेय इसी नरेश को है। उसने चालुक्यों की पराधीनता से स्वयं को प्रायः मुक्त कर लिया, चोलों को भी अपने देश से निकाल भगाया और इस प्रकार अपने राज्य को साम्राज्य का रूप देना प्रारम्भ कर दिया था। उत्तरकालीन वैष्णव किंवदन्तियों के आधार से आधुनिक इतिहास पुस्तकों में प्रायः यह लिखा पाया जाता है कि वैष्णवाचार्य रामानुज ने इस राजा के समक्ष जैनों को शास्त्रार्थ में पराजित करके राजा को वैष्णव बना लिया था; परिणामस्वरूप राजा ने अपना नाम विष्णुवर्धन रख लिया, जैनों पर अत्याचार किये, उनके गुरुओं को घानी में पिलवा दिया, श्रवणबेलगोल के बाहुबलि की मूर्ति को तथा अन्य अनेक जैन मूर्तियों और मन्दिरों को तुड़वा दिया, उनके स्थान में वैष्णव मन्दिर बनवाये और वैष्णव धर्म के प्रचार को अपना प्रधान लक्ष्य बनाया था। किन्तु यह सब कथन सर्वथा मिथ्या, अयथार्थ एवं भ्रमपूर्ण है। रामानुजाचार्य चोल राज्य के अन्तर्गत श्रीरंगम के निवासी, विशिष्टाद्वैती दार्शनिक थे और उन्होंने श्रीवैष्णव मत के नाम से मध्यकालीन वैष्णव धर्म का आविर्भाव किया, उस मत के पुरस्कर्ता एवं समर्थ प्रचारक वह थे, इतना तो सत्य है। परन्तु वह स्वयं धार्मिक अत्याचार के शिकार थे। चोलनरेश अधिराजेन्द्र कट्टर शैव था। उसके पूर्वजों के समय में तो रामानुज जैसे-तैसे रहे, किन्तु वह स्वयं इनपर अत्यन्त कुपित था और उसी के अत्याचारों से पीड़ित होकर वह अपनी जन्मभूमि से किसी तरह प्राण बचाकर भागे थे। उसका उत्तराधिकारी कुलोत्तुंग चोल जैनधर्म का पोषक था, अतएव उसके समय में भी वह वापस स्वदेश न जा सके और घूमते-घूमते अन्ततः कर्णाटक में उन्होंने इस नवोदित एवं शक्तिशाली नरेश विष्णुवर्धन की शरण ली। यह घटना १११६ ई. के लगभग की है, और उस समय

रामानुज पर्याप्त वृद्ध हो चुके थे। विष्णुवर्धन विद्वानों का आदर करनेवाला, उदार, सहिष्णु और समदर्शी नरेश था। उसने इन आचार्य को शरण दी, अभय और प्रश्रय भी दिया। सम्भव है कि उसकी राजसभा में कतिपय जैन विद्वानों के साथ रामानुज के शास्त्रार्थ भी हुए हों, इनकी विद्वत्ता से भी राजा प्रभावित हुआ हो और उन्हें अपने राज्य में स्वमत का प्रचार करने की छूट भी उसने उन्हें दे दी हो। एक-दो विष्णु-मन्दिर भी राजधानी द्वारसमुद्र में उस काल में बने, और उनके निर्माण में राजा ने भी द्रव्य आदि की कुछ सहायता दी हो, यह भी सम्भव है। यह सब होते हुए भी विष्णु-वर्धन होयसल ने न तो जैनधर्म का परित्याग ही किया, न उसपर से अपना संरक्षण और प्रश्रय ही उठाया और न वैष्णव धर्म को ही पूर्णतया अंगीकार किया—उसे राज्यधर्म घोषित करने का तो प्रश्न ही नहीं था। राजा का मूल कन्नडिग नाम बिट्टिग, बिट्टिदेव या बिट्टिवर्धन था, जिसका संस्कृत रूप 'विष्णुवर्धन' था। यह नाम उसका प्रारम्भ से ही था, रामानुज के सम्पर्क या तथाकथित प्रभाव में आने के बहुत पहले से था, अन्यथा स्वयं जैन शिलालेखों में उसका उल्लेख इस नाम से न होता। इसके अतिरिक्त, ११२१ ई. में महाराज विष्णुवर्धन ने अपने प्रधान सेनापति गंगराज के एक आत्मीय सोवण की प्रार्थना पर हादिरवागिलु जैन बसदि के लिए दान दिया था और ११२५ ई. में जैनगुरु श्रीपाल त्रैविद्य का सम्मान किया था। चामराजपट्टन तालुके के शल्य नामक स्थान से प्राप्त ११२५ ई. के शिलालेख के अनुसार अदियम, पल्लव नरसिंहवर्म, कोंग, कल्पाल, अंगर आदि भूपतियों के विजेता इस होयसल नरेश ने शल्यनगर में भक्तिपूर्वक एक जैन विहार बनवाया और इस बसदि के लिए तथा उसमें जैन मुनियों के आहार आदि की व्यवस्था के लिए 'वादीभ-सिंह', 'वादिकोलाहल', 'तार्किक-चक्रवर्ती' आदि विरुद प्राप्त, स्वगणनायक विद्वान् जैनगुरु श्रीपालदेव को वही ग्राम तथा अन्य समुचित दानादि समर्पित किये थे। सन् ११२९ ई. में राजा ने वेलूर-स्थित मल्लिनाथ जिनालय के लिए दान दिया था, और ११३० ई. में उसके महासेनापति गंगराज के पुत्र बोप्प ने रुवारि द्रोहघरट्टाचारि कम्मे द्वारा राज्याश्रय में शान्तीश्वर-बसदि नामक जिनमन्दिर का निर्माण कराया था। इसी नरेश के शासनकाल में उसके दो दण्डनायकों—भरत और मरियाने ने, जो परस्पर सहोदर थे, पाँच बसदियाँ निर्माण करायी थीं, जिनमें से एक क्राणूरगण के लिए और चार देशीगण के लिए थीं। इस उपलक्ष्य में क्राणूरगण-तिन्त्रिणीगच्छ के गुरु मुनिचन्द्र के शिष्य मेघचन्द्र-सिद्धान्ती को दान दिया गया था। राजा के अनुचर-गुणशील-व्रतनिधि पेर्ग्गडे मल्लिनाथ ने, जो नयकीर्ति एवं भानुकीर्ति मुनीन्द्रों का परम भक्त था, ११३१ ई. में राज्याश्रय में एक सुन्दर जिनालय बनवाया जिसे उसने धन से पुष्ट किया और स्वयं महाराज ने भी उसमें योग दिया। हलेबिड के निकट स्थित बस्तिहल्लि की प्रसिद्ध पार्श्वनाथ-बसदि का ११३३ ई. का शिलालेख भी विष्णुवर्धन होयसल को परम आस्था-वान् जैन सिद्ध करता है। उसके महादण्डाधिप (सेनापति) बोप्प और एचिराज ने राजधानी द्वारसमुद्र (हलेबिड, हस्तिहल्लि उसी का एक भाग था) में द्रोहघरट्ट

नामक भव्य जिनालय का निर्माण कराया था। मन्दिर की प्रतिष्ठा के अवसर पर हुए भगवान् जिनेन्द्र के अभिषेक का पवित्र गन्धोदक लेकर उस मन्दिर का पुजारी राजा के पास बंकापुर पहुँचा, जहाँ वह उस समय छावनी डाले पड़ा था। तभी-तभी वह मसण कदम्ब नामक एक दुर्धर शत्रु सामन्त का संहार करके विजयी हुआ था, और तभी उसकी रानी लक्ष्मी महादेवी ने एक पुत्र प्रसव किया था। इस त्रिविध संयोग से राजा अत्यन्त आनन्दित हुआ, पूजकाचार्य को देखकर तत्काल सिंहासन से उठ खड़ा हुआ, करबद्ध नमस्कार करके उसका स्वागत किया और भगवान् के चरणोदक को भक्तिपूर्वक मस्तक पर चढ़ाकर कहा कि 'भगवान् विजय-पार्श्वदेव की प्रतिष्ठा के पुण्य फल से ही मैंने यह विजय और पुत्र प्राप्त किये हैं।' उसने उक्त मन्दिर का नाम भी विजय-पार्श्वदेव-बसदि निश्चित किया और उसके नाम पर ही सद्यःजात राजकुमार का नाम भी विजय-नरसिंहदेव रखा तथा उक्त जिनालय के लिए जावगल नाम का एक पूरा ग्राम भेंट किया। उसी अवसर पर अन्य लोगों ने भी उक्त जिनालय के लिए भूमि आदि के दान दिये थे। उपर्युक्त अभिलेख में विष्णुवर्धन होयसल की अनेक विजयों और युद्ध-पराक्रमों का उल्लेख करते हुए उसकी विपुल गुण-प्रशंसा की है और अनेक विरुद दिये हैं जिनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं वीरगंग, त्रिभुवनमल्ल, शरणागत-वज्र-पंजर, विबुध-जन-कल्पवृक्ष, चतुस्समय-समुद्धरण (मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ का संरक्षण करनेवाला), शस्त्तोदय-पुण्य-पुंज, वासन्तिकादेवी-लब्धवर-प्रसाद एवं मल्लिकामोद। सौम्यनायकी जिनालय के ११३७ ई. के शिलालेख में राजा के एक अन्य कृपापात्र दण्डनायक बिट्टियण्ण ने राजधानी द्वारसमुद्र में विष्णुवर्धन-जिनालय नाम का मन्दिर बनवाया था और उसके लिए राजा से प्राप्त करके एक गाँव तथा अन्य भूमियाँ प्रदान की थीं। इस लेख में भी राजा के वीर्य, शौर्य और विजयों एवं गुणों की प्रभूत प्रशंसा है और उसे सरस्वती-निवास बताया है। सिन्दगेरे के ११३८ ई. के शिलालेख में तथा श्रवणबेलगोल आदि के कई अन्य अभिलेखों में भी उसके नाम के साथ 'सम्यक्त्वचूडामणि' उपाधि प्रयुक्त की गयी है। उस शिलालेख में राजा द्वारा अपने दो अन्य जैन दण्डनायकों की प्रार्थना पर एक जिनालय के लिए ग्रामदान का उल्लेख है। रामानुजाचार्य के साथ सम्पर्क होने के बीस-बाईस वर्ष बाद भी, जब शायद उक्त आचार्य की मृत्यु भी हो चुकी थी, विष्णुवर्धन द्वारा अपने लिए 'सम्यक्त्व-चूडामणि' विरुद का प्रयोग जैनधर्म के प्रति उसकी धार्मिक निष्ठा का ही सूचक है। यह प्रतापी नरेश प्रारम्भ से अन्त तक जैनधर्म का उदार अनुयायी रहा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। वह स्वयं ही नहीं, बल्कि उसकी रानियाँ, पुत्र-पुत्रियाँ, परिवार के अन्य सदस्यों और मन्त्री, सेनापति, राजपुरुष, सामन्त-सरदारों में से अधिकतर जैनधर्म के अनुयायी थे। विशेषकर महारानी शान्तलदेवी, राजकुमारी हरियब्बरसि, युवराज विजय-नरसिंह परम जैन थे। इनके अतिरिक्त गंगराज, बोप्प, पुणिस, ऐचि, बलदेव, मरियाने, भरत और बिट्टियण्ण नाम के उसके आठ महाप्रचण्ड सेनापति परम जिनभक्त

थे। इन्हीं जैन महावीरों ने विष्णुवर्धन को अनेकों महत्त्वपूर्ण युद्धों में विजयी बनाकर होयसल राज्य को सुदृढ़, समृद्ध एवं शक्तिशाली बनाया था।

महारानी शान्तलदेवी—महाराज विष्णुवर्धन पोयसल की पट्टमहिषी थीं। राजा की लक्ष्मीदेवी आदि अन्य कई रानियाँ थीं, जिन सबमें प्रधान एवं ज्येष्ठ होने के कारण यह पट्टमहादेवी कहलाती थी। क्योंकि अपनी सपत्नियों को यह नियन्त्रण में रखती थीं, इनका विरुद 'उद्वृत्त-सवति-गन्धवारण', अर्थात् उच्छृंखल सौतों के लिए मत्तहस्ति प्रसिद्ध हो गया था। अपनी सुन्दरता एवं संगीत, वाद्य, नृत्य आदि कलाओं में निपुणता के लिए वह विदुषीरत्न सर्वत्र विख्यात थीं। इनके पिता मारसिंगय्य पेर्गडे कट्टर शैव थे, किन्तु जननी माचिकब्बे परम जिनभक्त थी। रानी के नाना बलदेव, मामा सिंगिमय्य, अनुज दुद्दमहादेव तथा मामी, बहन, भावजें आदि भी जैनधर्म के अनुयायी थे। स्वयं महारानी शान्तदेवी बड़ी जिनभक्त और धर्मपरायण थीं। मूलसंघ-देशीगण-पुस्तकगच्छ-कोण्डकुन्दान्वय के मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव के प्रधान शिष्य प्रभाचन्द्र-सिद्धान्तदेव रानी के गुरु थे—उनकी वह गृहस्थशिष्या थी। इस धर्मात्मा महारानी ने श्रवणबेलगोल पर अपने नाम पर सवति-गन्धवारण-बसति नाम का एक अत्यन्त सुन्दर एवं विशाल जिनालय बनवाया था, जिसका श्रीमण्डप ६९ फुट लम्बा और ३५ फुट चौड़ा है। सन् ११२२ ई. के लगभग महारानी ने उक्त जिनालय में भगवान् शान्तिनाथ की पाँच फुट उत्तुंग एवं कलापूर्ण प्रभावलि संयुक्त मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। जिन प्रतिमा के दोनों ओर दो चौरीवाहक खड़े हैं, सुखनासि में यक्ष-यक्षी, किंपुरुष और महामानसी की मूर्तियाँ हैं। गर्भगृह के ऊपर सुन्दर शिखर हैं और मन्दिर की बाहरी दीवारें कलापूर्ण स्तम्भों से अलंकृत हैं। यह बसदि अब भी उस स्थान का अति सुन्दर मन्दिर माना जाता है। महारानी ने ११२३ ई. में जिनाभिषेक के लिए वहाँ गंग-समुद्र नाम के सुन्दर सरोवर का निर्माण कराया था और बसदि में नित्य देवार्चन तथा उसके संरक्षण आदि के लिए राजा की प्रसन्नता से प्राप्त एक ग्राम स्वगुरु को भेंट किया था। उक्त बसदि के आचार्यपद पर उक्त प्रभाचन्द्र-सिद्धान्तदेव के शिष्य मुनि महेन्द्रकीर्ति को नियुक्त किया गया था। अपने अनुज दुद्दमहादेव के साथ रानी ने एक ग्राम वीर-कोंगाल्व-जिनालय के लिए भी प्रदान किया था। सन् १०२८ की चैत्र शुक्ल पंचमी सोमवार के दिन महाप्रतापी विष्णुवर्धन होयसल की इस प्रिय पट्ट-महादेवी महारानी शान्तलदेवी ने शिवगंगे नामक स्थान में, सम्भवतया स्वगुरु की उपस्थिति में, धर्मध्यान-पूर्वक स्वर्गगमन किया था। श्रवणबेलगोल के पीठाचार्य चारुकीर्तिदेव के गृहस्थ शिष्य बोकिमय्य नाम के लेखक द्वारा रचित तथा पूर्वोक्त सवति-गन्धवारण-बसति के मण्डप के तीसरे स्तम्भ पर उत्कीर्ण शिलालेख में महारानी के स्वर्गगमन की घटना का वर्णन करते हुए उसके गुणों एवं धर्मकार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। लेख में उसे द्वितीय लक्ष्मी, अभिनवरुक्मिणी, पति-हित-सत्यभामा, पतिव्रता-प्रभाव-प्रसिद्ध-सीता, उद्वृत्त-सवति-गन्धवारण, गीत-वाद्य-सूत्रधार, मनोजराज-विजय-पताका, निजकुलाभ्युदय-दीपक, प्रत्युत्पन्नवाचस्पति, विवेक-

बृहस्पति, लोकैकविख्यात, व्रतगुणशील-चारित्र-अन्तःकरण, पुण्योपार्जनकरणकारण, सकलबन्दीजन-चिन्तामणि, मुनिजन-विनेयजन-विनीत, चतुःसमय-समुद्धरण, जिनधर्म-कथा-कथन-प्रमोद, आहाराभयभैषज्यशास्त्रदान-विनोद, भव्यजन-वत्सलु, जिनसमय-समुदित-प्राकार, जिनधर्मनिर्मल, जिनगन्धोदक-पवित्रीकृत-उत्तमांग और सम्यक्त्वचूडामणि कहा है। इसमें सन्देह नहीं है कि इस धर्मात्मा महारानी के उपर्युक्त विरुद सार्थक थे।

माचिकब्बे—महारानी की धर्मात्मा जननी माचिकब्बे दण्डाधीश नागवर्म और उनकी भार्या चन्दिकब्बे के पुत्र प्रतापी दण्डनायक बलदेव की पुत्री थी और उनकी जननी का नाम बाचिकब्बे था। पति मारसिंगय्य को छोड़कर माचिकब्बे का शेष समस्त परिवार परम जिनभक्त था। परिवार के सभी पुरुष कई पीढ़ियों से प्रसिद्ध पराक्रमी वीर सेनानायक एवं सामन्त रहते आये थे। पुत्री शान्तलदेवी के निधन से माता माचिकब्बे को अत्यन्त दुख हुआ और वह संसार से विरक्त हो गयीं। अतः उन्होंने श्रवणबेलगोल में जाकर अपने गुरुओं प्रभाचन्द्र, वर्धमान और रविचन्द्र की उपस्थिति मे एक मास का अनशनपूर्वक सल्लेखना व्रत लिया और समाधिमरण किया। उक्त मुनिराजों ने उस साध्वी के तप-संयम एवं निष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

राजकुमारी हरियब्बरसि—अपरनाम हरियलदेवी, विष्णुवर्धन होयसल की सुपुत्री थी, और उसके ज्येष्ठ पुत्र त्रिभुवनमल्लकुमार बल्लालदेव की छोटी बहनों में सबसे बड़ी थी। राजकुमार अपनी इस धर्मात्मा बहन से बहुत स्नेह करता था। राजकुमारी का विवाह सिंह नामक एक वीर सामन्त के साथ हुआ था और उसके गुरु देशीगण-पुस्तकगच्छ के माघनन्दि के शिष्य गण्डविमुक्त-सिद्धान्तदेव थे, जिनकी वह गृहस्थ शिष्या थी। वह गुरु भी अपनी विद्वत्ता और प्रभाव के लिए जगत्-विख्यात थे। हन्तूर नामक स्थान के एक ध्वस्त जिनालय में प्राप्त ११३० ई. के शिलालेख से ज्ञात होता है कि उस काल मे वह नगर कोङ्गनाडु के मलेवडि प्रान्त में स्थित था, और कोङ्गनाडु का तत्कालीन शासक उपरोक्त कुमार बल्लालदेव था। राजकुमारी ने अपने गुरु की प्रेरणा और भाई के सहयोग से, स्वद्रव्य से उक्त हन्तियूर नगर में एक अत्यन्त विशाल एवं मनोरम जिनालय बनवाया, जो रत्न-खचित तथा सुन्दर मणिमयी कलशों से युक्त शिखरों-वाला उत्तुग चैत्यालय था। उक्त जिनालय में भगवान् की नित्य पूजा के लिए, साधुओं के आहारदान और असहाय वृद्धा स्त्रियों को शीत आदि से रक्षा हेतु आवास एवं भोजन आदि की सुविधा देने के लिए तथा जिनालय के खण्ड-स्फुटित-जीर्णोद्धार आदि के लिए समस्त राज-करों से मुक्त कराकर बहुत-सी भूमि भाई बल्लालदेव द्वारा स्वगुरु गण्ड-विमुक्त सिद्धान्तदेव को पादप्रक्षालनपूर्वक राजकुमारी ने समर्पित करायी थी। इस दान शासन को मल्लिनाथ नाम के लेखक ने रचा था और माणिभोज के पुत्र 'वेश्या-भुजंग' विरुदधारी शिल्पी बलकोज ने उसे उत्कीर्ण किया था। लेख में राजकुमारी हरियलदेवी की तुलना सीता, सरस्वती, सुसीमा, रुक्मिणी आदि प्राचीन महिलारत्नों के साथ की गयी है और उसे पतिपरायण, चतुर्विधदान-तत्पर, विदुषी, गुणवान्, भगवत्-

अर्हत्-परमेश्वर के चरण-नख-मयूख से जिसका ललाट एवं पलक-युग्म सुशोभित होते रहते थे, और सम्यक्त्वचूड़ामणि लिखा है। उपर्युक्त दान में राजकुमारी के पिता महाराज विष्णुवर्धन की सहमति थी।

सेनापति गंगराज—गंग, गंगण, गंगपय्य, गंगराज विष्णुवर्धन, होयसल के सेनापतियों में सर्वप्रधान था। वह जैसा शूरवीर, योद्धा और युद्धविजेता, सैन्यसंचालक और सुदक्ष राजनीतिज्ञ था, वैसा ही स्वामिभक्त, धर्मात्मा और परम जिनभक्त था। उसका प्रपितामह कौण्डिन्यगोत्रीय द्विज नागवर्म था, जो ब्राह्मण होते हुए भी 'जिन-धर्माग्रणी' था। नागवर्म का पुत्र धर्मात्मा मारमय्य था जिसकी पत्नी का नाम माकणब्बे था। इस दम्पति का पुत्र एच या एचिगांक अपरनाम बुधमित्र था जो नृपकाम होयसल का आश्रित मन्त्री एवं सेनानायक था और मल्लूर के कनकनन्दि गुरु का गृहस्थ शिष्य था। उसकी भार्या अत्यन्त गुणवती एवं धर्मात्मा पोचिकब्बे थी जिसने अनेक धर्म कार्य किये थे, दान दिये थे, बेलगोल में भी अनेक मन्दिर बनवाये थे, और अन्त में ११२१ ई. मे समाधिमरणपूर्वक देह का त्याग किया था। इस धर्मात्मा दम्पति के सुपुत्र बम्मचमूप और गंगराज थे। बम्म भी होयसल नरेश के वीर सेनापति थे और उनका पुत्र एचिराज विष्णुवर्धन का प्रसिद्ध दण्डनायक था। बम्मचमूप के छोटे भाई और एचिराज के चाचा यह सुप्रसिद्ध गंगराज थे। इनकी भार्या विदुषी एवं धर्मपरायणा लक्ष्मीदेवी (लक्ष्मीमति, नागलादेवी या लक्कले) दण्डनायकित्ती थी जिन्हें अपने पति की 'कार्यनीतिवधू' और 'रणेजयवधू' कहा गया है। आहार-अभय-औषधि-शास्त्र, इन चारों दानों को सतत देकर उन्होंने 'सौभाग्यखानि' की उपाधि प्राप्त की थी। लक्ष्मीदेवी ने श्रवणबेलगोल में एक सुन्दर जिनालय बनवाया था जो एरडुकट्टे-बसति के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने अन्यत्र भी कई जिनालय बनवाये थे, और अन्त में संन्यासविधिपूर्वक शरीर त्यागा था। इस महिलारत्न के गुरु शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव थे। स्वयं गंगराज के भी वही गुरु थे। गंगराज और लक्ष्मीमति का पुत्र बोप्प दण्डेश था।

अपनी शूरवीरता, महापराक्रम, राज्यसेवाओं और धर्मोत्साह के प्रताप से गंगराज ने समधिगत-पंचमहाशब्द, महासामन्ताधिपति, महाप्रचण्ड-दण्डनायक, महाप्रधान, वैरिभय-दायक, द्रोहघरट्ट, विष्णुवर्द्धन-भूपाल-होयसलमहाराज-राज्याभिषेकपूर्णकुम्भ, गोत्रपवित्र, भव्यजनहृदयप्रमोद, आहार-अभय-भैषज्य-शास्त्र-दान-विनोद, धर्मह्म्योंद्धरण-मूलस्तम्भ, बुधजनमित्र, श्रीजैनधर्मामृताम्बुधि-प्रवर्द्धन-सुधाकर और सम्यक्त्व-रत्नाकर-जैसी सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण पदवियाँ, विरुद और उपाधियाँ प्राप्त की थी। होयसलों के शिलालेखों से प्रतीत होता है कि अपने बड़े भाई बल्लाल प्रथम की मृत्यु के उपरान्त, दूसरे भाई उदयादित्य के विरोध और पाण्ड्य एवं सान्तरों की शत्रुता के कारण जब विष्णुवर्धन की स्थिति अत्यन्त डाँवाडोल थी तो यह गंगराज का ही पराक्रम एवं कौशल था कि उसने समस्त शत्रुओं का दमन करके विष्णुवर्धन का मार्ग निष्कण्टक कर दिया और उसे सिंहासनारूढ़ करके उसका विधिवत् राज्याभिषेक कर दिया था। स्वभावतया वह

महाराज विष्णुवर्धन होयसल का दाहिना हाथ बन गया, और अन्त तक बना रहा। इस नरेश के सम्मुख गंगवाडि प्रदेश से एवं उसकी राजधानी तलकाड से चोलों को निकाल बाहर करने की समस्या प्रमुख थी। यह कार्य भी उसने गंगराज को ही सौंपा, और १११७ ई. तक वह इस कार्य में पूर्णतया सफल हुआ। उसने कर्णाटक में नियुक्त राजेन्द्र चोल के तीनों सामन्तों, आदियम, दामोदर एवं नरसिंहवर्म को पूर्णतया पराजित करके चोलों को उस देश से बाहर निकाल भगाया और तलकाड पर अधिकार कर लिया। महाराज ने प्रसन्न होकर गंगराज से इच्छित पुरस्कार माँगने के लिए आग्रह किया तो उस धर्मवीर ने गंगवाडि देश को माँगा क्योंकि वह प्रान्त प्राचीन जैन-तीर्थों और जिनमन्दिरों से भरा था जिनमें से अनेकों को धर्मद्वेषी चोलों ने ध्वस्त या नष्ट कर दिया था, और गंगराज को उनका जीर्णोद्धार एवं संरक्षण करना था। यह महत् कार्य उसने बड़ी उदारता एवं तत्परता के साथ किया भी। पुरस्कार में प्राप्त गंग-वाडि-९६,००० प्रान्त की समस्त आय उसने प्राचीन ध्वस्त मन्दिरों के जीर्णोद्धार एवं संरक्षण, नवीन मन्दिरों के निर्माण, श्रवणबेलगोल आदि तीर्थों की उन्नति तथा अन्य विविध रूपों में जिनधर्म की प्रभावना के हितार्थ व्यय की। शिलालेखों में उसकी तुलना गोम्मट-प्रतिष्ठापक गंग-सेनापति महाराज चामुण्डराय से की गयी है। देशीगण-पुस्तक-गच्छ के कुक्कुटासन-मलधारीदेव के शिष्य दर्शनमहोदधि शुभचन्द्र-सिद्धान्तदेव उसके गुरु थे, जिन्हे उसने १११८ ई. में ही एक ग्राम पादप्रक्षालनपूर्वक समर्पित किया था। अन्य भी अनेक दान दिये थे। राजधानी द्वारसमुद्र की पार्श्वनाथ-बसदि में भी उसने अनेक जिनप्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं, अन्यत्र भी अनेक मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण एवं प्रतिष्ठा करायी थी। अपनी धर्मपत्नी, पुत्र एवं परिवार के अन्य सदस्यों के द्वारा किये गये धार्मिक कार्यों में भी उसका पूरा सहयोग रहता था। अपनी माता और पत्नी के समाधिमरण की स्मृति में उसने श्रवणबेलगोल में स्मारक भी स्थापित किये थे। उसने गोम्मटेश्वर का परकोटा बनवाया था और श्रवणबेलगोल के निकट जिननाथपुर नामक जैननगर बसाया था। वह प्राचीन कुन्दकुन्दान्वय के उद्धारक कहे गये हैं। धर्मबल से गंगराज अलौकिक शक्ति के स्वामी हो गये थे। एक शिलालेख में लिखा है कि जिस प्रकार पूर्वकाल में जिनधर्माग्रणी अत्तियब्बरसि (अत्तिमब्बे) के प्रभाव से गोदावरी नदी का प्रवाह रुक गया था, उसी प्रकार कावेरी नदी के पूर से घिर जाने पर भी, जिनभक्ति के प्रसाद से गंगराज की लेशमात्र भी क्षति नहीं हुई। जब वह कन्नेगल में चालुक्यों को पराजित करके लौटे तो विष्णुवर्धन महाराज ने उनसे वरदान माँगने के लिए कहा। उन्होंने परम नामक ग्राम माँगकर उसे अपनी माता तथा भार्या द्वारा निर्मापित जिनमन्दिरों को भेंट कर दिया। इसी प्रकार राजा से गोविन्दवाडि ग्राम प्राप्त करके गोम्मटेश्वर को अर्पण कर दिया। जो पुरस्कार पाया, सदैव इस प्रकार दान देने में ही उसका उपयोग किया। ऐसा जिनभक्त एवं धर्मोत्साही होते हुए भी उसका धर्म उसकी राजनीति में और उसके स्वामी के कार्य में कभी बाधक नहीं हुआ, सदैव

साधक ही हुआ। उसने चोलों के अतिरिक्त कोंगुदेश और चंगेरि को भी अपने स्वामी के लिए विजय किया और कई दुर्धर सामन्तों का दमन किया। होयसलों ने चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ के सामन्त त्रिभुवनमल्ल पाण्ड्य को पराजित करके उससे उच्छंगी का प्रसिद्ध दुर्ग छीन लिया था, जिसका बदला लेने के लिए स्वयं चालुक्य सम्राट् ने अपने बारह महाबली सामन्तों सहित होयसल राज्य पर आक्रमण कर दिया। विष्णुवर्धन ने तुरन्त गंगराज को दक्षिण से बुलाकर चालुक्यों के विरुद्ध उत्तर में भेजा और इस महावीर सेनाधिपति ने चालुक्य सम्राट् तथा उसके उन महासामन्तों को बुरी तरह पराजित करके अपने राज्य की सीमा से बाहर कर दिया। यह घटना १११८ ई. की है। गंगराज की इन चमत्कारिक विजयों का महत्त्व असीम था। इन विजयों ने होयसलों को स्वतन्त्र ही नहीं, अत्यन्त शक्तिशाली भी बना दिया। इसी कारण शिलालेखों में कहा गया है कि जिस प्रकार इन्द्र का वज्र, बलराम का हल, विष्णु का चक्र, शक्तिधर की शक्ति और अर्जुन का गाण्डीव था, उसी प्रकार विष्णुवर्धन नरेश के परम सहायक—उसकी वास्तविक शक्ति गंगराज थे। उन्हें 'विष्णुवर्धन पोयसल महाराज का राज्योत्कर्ष-कर्ता' ठीक ही कहा गया है। यह आदर्श जैन धर्मवीर एवं कर्मवीर कैसे उदार एवं प्रगतिवादी विचारों का प्रबुद्ध नरश्रेष्ठ था यह इस बात से प्रकट होता है जो वह कहा करता था कि सात नरक तो वास्तव में यह हैं—झूठ बोलना, युद्ध में पीठ दिखाना, परदारारत होना, शरणार्थियों को शरण न देना, अधीनस्थ को अपरितृप्त रखना, जिन्हें पास रखना चाहिए उनका परित्याग करना, और स्वामी से द्रोह करना। सन् ११३२-३३ ई. के लगभग गंगराज स्वर्गस्थ हुए।

दण्डनायक बोप्प—सेनापति गंगराज का सुयोग्य सुपुत्र दण्डेश बोप्पदेव भी बड़ा शूरवीर और धर्मिष्ठ था। अपने स्वनामधन्य जनक-जननी का आदर्श उसका सतत प्रेरक था। शिलालेखों मे उसे 'बुध-बन्धु', 'सतां बन्धुः'-जैसे विरुदों के साथ याद किया गया है। आचार्य शुभचन्द्र, प्रभाचन्द्र और नयकीर्ति सिद्धान्तचक्रवर्ती उसके गुरु थे। प्रसिद्ध दण्डनायक भरत और मरियाने उसके साले थे। सन् ११३३ ई. में बोप्प ने अपने प्रिय पिता 'द्रोहघरट्ट' गंगराज की पुण्यस्मृति में द्रोहघरट्ट-जिनालय नाम का एक मनोहर जिनभवन राजधानी द्वारसमुद्र के केन्द्रस्थल में बनवाया था। इसी जिनालय के जिनाभिषेक का गन्धोदक मस्तक पर चढ़ाकर राजा ने उसका नाम विजय पार्श्व-जिनालय रखा था और उसके हेतु दान आदि दिये थे। तदनन्तर वीर दण्डनायक बोप्प ने राज्य के शत्रुओं पर आक्रमण किया और उनकी प्रबल सेना को खदेड़कर कोंगों को बुरी तरह पराजित किया था। सन् ११३५ ई. में बोप्प ने अपने भाई (ताऊ के पुत्र) दण्डनायक एचिराज के समाधिमरण कर लेने पर उसकी निषद्या (स्मारक) निर्माण करायी और उसके द्वारा निर्मापित जिनमन्दिरों के लिए गंगसमुद्र की कुछ भूमि शुभचन्द्र के शिष्य माधवचन्द्रदेव को प्रदान की। उसने श्रवणबेलगोल में ११३८ ई. में बोप्पण-चैत्यालय अपरनाम त्रैलोक्यरंजन-जिनालय निर्माण कराया। उसमें प्रतिष्ठापित नेमिनाथ-

प्रतिमा को उपरोक्त बन्धु एचण (एचिराज) की स्मृति संरक्षणार्थ प्रतिष्ठित कराया था। कदम्बहल्लि की शान्तीश्वर-बसदि भी इस बोप्प दण्डनायक ने ही बनवायी थी। वह भारी विद्वान् और विद्यारसिक भी था।

जक्कणब्बे दण्डनायककीर्ति—गंगराज के ज्येष्ठ भ्राता बम्मदेव चमूपति की भार्या, बोप्प की ताई, एचिराज की माता या विमाता और शुभचन्द्रदेव की गृहस्थ-शिष्या बड़ी धर्मात्मा महिला थी। उसने मोक्षतिलक नामक व्रत किया था, पाषाण में नयणदेव की मूर्ति खुदवायी थी, श्रवणबेलगोल में एक सरोवर बनवाया था और जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। उस स्थान की चामुण्डराय-बसति के ११२३ ई. के एक स्तम्भ लेख में इस महिलारत्न के गुणों, जिनभक्ति, गुरुभक्ति आदि की प्रशंसा है। लेख में गुरु शुभचन्द्र के स्वर्गारोहण का तथा जक्कणब्बे द्वारा उनकी निषद्या बनवाने का उल्लेख है।

दण्डनायक एचिराज—गंगराज के ज्येष्ठ भ्राता बम्मदेव चमूपति का वीर पुत्र था। उसकी माता बागणब्बे मुनि भानुकीर्ति की गृहस्थ शिष्या थी। उसी का अपरनाम सम्भवतया जक्कणब्बे था, अथवा यह बम्मदेव की दूसरी पत्नी थी। जक्कणब्बे भी बड़ी धर्मात्मा थी। एक शिलालेख में स्वयं बम्मदेव को यशस्वी, धनपति, विद्यापति और जिनपति-पदाब्जभृंग चमूपति (सेनापति) कहा है। इनका सुपुत्र यह एच चमूपति भी बड़ा वीर और धर्मनिष्ठ था। अपने चाचा सुप्रसिद्ध गंगराज और बन्धु बोप्पदण्डेश के लौकिक एवं धार्मिक कार्यों में उनका परम सहायक था। कोप्पणा और श्रवणबेलगोल-जैसे तीर्थों पर उसने अनेक जिनालय बनवाये थे। इसकी भार्या एचिकब्बे भी रूप-गुण-निधान, धर्मात्मा महिला थी और शुभचन्द्रदेव की गृहस्थ-शिष्या थी। अन्त में जब ११३५ ई. में इस कर्मवीर और धर्मवीर एचिराज दण्डनायक ने समाधिमरणपूर्वक शरीर का त्याग किया और उसकी स्मृति में बोप्पदेव ने जो स्मारक (निषद्या) बनवाया, दानादिक दिये, उनमें एचिराज की माता बागणब्बे और पत्नी एचिकब्बे का भी योग था।

बूचण सामन्त—होयसल नरेशों का एक धर्मात्मा सामन्त था और नागले माता का सुपुत्र तथा शुभचन्द्र-सिद्धान्तदेव का गृहस्थ-शिष्य था। वह रूपवान्, गुणवान्, शूरवीर, तेजस्वी एवं धर्मिष्ठ राजपुरुष था। उसकी दो बहनें थीं, जिनमें एक देमति (देवमति) थी जो चामुण्ड नामक प्रतिष्ठित एवं राजमान्य श्रेष्ठि के साथ विवाही थी, दूसरी लक्कले या लक्ष्मीमति सुप्रसिद्ध गंगराज की धर्मात्मा पत्नी थी। ये तीनों भाई-बहन उक्त शुभचन्द्रदेव के गृहस्थ-शिष्य थे। धर्मात्मा देवमति ने ११२० ई. में और धर्मपरायण लक्ष्मीमति ने ११२१ ई. में समाधिमरणपूर्वक देहत्याग किया था। उनका धर्मात्मा भाई बूचण उनके पहले ही, १११५ ई. में समाधिमरण द्वारा स्वर्गस्थ हो चुका था। बूचण की धर्मात्मा पत्नी जामले (जामियक्क) माचिराज-पेर्गड़े और मरुदेवी की पुत्री तथा नयकीर्ति की गृहस्थ-शिष्या थी। गुरु के स्वर्गस्थ होने पर ११२८ ई. में उसने

उनकी स्मृति में तगड़ूर में जिनालय बनवाया था जिसके लिए उसने, धर्मात्मा वीर सामन्त रायमचुण्ड ने और मस्क्य नायक ने भी कल्याणकीर्ति को दान दिया था।

दण्डनायक बलदेवण्ण—विष्णुवर्धन होयसल का एक प्रसिद्ध मन्त्री और वीर सेनानी था। वह राजा आदित्य अपरनाम अरसादित्य की भार्या आचाम्बिके से उत्पन्न उनका तृतीय पुत्र था। उसके ज्येष्ठ भ्राता पम्पराय और हरिदेव तथा भतीजा माचिराज श्री महाराज के वीर सेनानी थे और परम जिनभक्त थे। अभिलेखों में उसका मन्त्री चूडामणी, गुणी, सकलसचिवनाथ एवं जिनपादांघ्रि-सेवक-जैसे विशेषणों के साथ स्मरण किया गया है। वह राजा के शत्रुओं का दमन करनेवाला, महासाहसी, परदाराविरत, सरस्वती का कण्ठाभरण, यशस्वी, रूपवान् और जिनभक्त था। वह और उसके भाई, तीनों कर्णाटक-कुल के आभूषण कहलाते थे।

दण्डनाथ पुणिसमय्य—पुणस, पुणिस या पुणिसमय्य महाराज विष्णुवर्धन होयसल का राजदण्डाधीश एवं सन्धिविग्रहिक-मन्त्री था और महासेनापति गंगराज के प्रमुख वीर साथियों में परिगणित था। उसके पूर्वज भी राज्य के अमात्य रहते आये थे। पितामह सकलशासन-वाचक-चक्रवर्ती पुणिसराज दण्डाधीश थे, जिनकी धर्मपत्नी का नाम पोचले था। इस दम्पति के तीन पुत्र थे—चावण (चामराज), कोरप और नागदेव। इनमें से चामराज चमूपति की प्रथम पत्नी अरसिकब्बे से प्रस्तुत मन्त्रीराज पुणिसमय्य दण्डनाथ का जन्म हुआ था। वह बड़ा वीर योद्धा और कुशल सेनानी एवं अनेक युद्धों का विजेता था। नीलगिरि के युद्धों में चोल-नरेश के कई सामन्तों को पराजित करके उसने अपने स्वामी को दक्षिण दिशा की कुंजी ही प्रदान कर दी थी और सुदूर दक्षिण की विजयों के लिए उसका मार्ग प्रशस्त कर दिया था तथा मलय एवं केरल प्रदेशों पर उसका अधिकार करा दिया था। चामराजनगर की पार्श्वनाथ-बसदि के १११७ ई. के शिलालेख में उसकी सामरिक शूरवीरता, पराक्रम और विजयों का वर्णन है और उसके गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा है। उससे पता चलता है कि वह गंगराज के समान ही विशाल हृदय था और उसने धर्म एवं मानवता की समान रूप से सेवा की थी। युद्धों के कारण जो व्यापारी-व्यवसायी निर्धन और विपन्न हो गये थे, जिन किसानों के पास बोने के लिए बीज नहीं था, जो किरात सरदार हार जाने के कारण अपने परिवार से वंचित हुए यत्र-तत्र नौकरी-चाकरी ढूँढ़ते फिरते थे, उनकी तथा उन अन्य सबकी जिनकी हानि हुई थी, पुणिसमय्य ने क्षतिपूर्ति की, उन्हें सहायता दी और उनके पालन-पोषण की व्यवस्था की थी। इस प्रकार उसने अनगिनत असहाय, निस्सहाय व्यक्तियों की सहायता की। उसकी परोपकार वृत्ति का लाभ जैन और अजैन सबको समान रूप से प्राप्त होता था। इस उदारचेता एवं धर्मानुरागी मन्त्रीश्वर ने अनेक जिनमन्दिर भी बनवाये थे। बिना किसी भयसंचार के उसने प्राचीन गंगनरेशों की भाँति ही गंगवाडि देश की बसदियों को शोभा से सज्जित किया था। एण्णे-नाडु के अरकोट्टार स्थान में उसने त्रिकूट-बसदि बनवायी थी, जिसके लिए १११७ ई. में भूदान किया था। उसकी

पत्नी दण्डनायिकिति जकणब्बे भी बड़ी धर्मात्मा थी—सीता और रुक्मिणी के साथ उसकी तुलना की जाती थी। उसी वर्ष उसने एक पाषाणनिर्मित सुन्दर जिनालय बनवाया था, जिसके उत्तर की ओर स्वयं पुणिस ने मूलस्थान-बसदि नामक मनोरम जिनालय बनवाया था। यह बसदि राजधानी के विष्णुवर्धन-पोयसल-जिनालय से सम्बद्ध थी। पुणिस की विमाता चौण्डले का पुत्र बिट्टिग था। महाप्रधान दण्डनायक पुणिसमय्य के गुरु अजितसेन-पण्डितदेव थे जो स्वयं द्रमिलसंघी अनन्तवीर्य के शिष्य थे।

मरियाने और भरत—विष्णुवर्धन होयसल के यह दोनों प्रसिद्ध वीर दण्डनायक एवं मन्त्री परस्पर सगे भाई थे। इनके पूर्वजों का सम्बन्ध होयसल नरेशों के साथ पुराना चला आता था। राजा विनयादित्य प्रथम होयसल का एक वीर सेनानी मरियाने दण्डनायक (प्रथम) था, जो जाति से भारद्वाजगोत्री ब्राह्मण और धर्म से जैन था। राजा और उसकी रानी केलेयब्बरसि का वह कृपापात्र था। रानी ने राजधानी शशकपुर में ही स्वयं राजा की उपस्थिति में उक्त मरियाने प्रथम का विवाह देकवे-दण्डनायकित्ति के साथ १०४५-४६ ई. में करा दिया था और भेंट में उसे आसन्दिनाडु का सिन्दगेरी स्थान प्रदान किया था। देकवे से उसके मावण और डाकरस नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। मरियाने प्रथम की दूसरी पत्नी चामवे से उत्पन्न तीनों पुत्रियों—पदुमल, चामल और बोप्पदेवी का विवाह बल्लाल प्रथम ने स्वयं ११०३ ई. में एक ही मण्डप में सुयोग्य वरों के साथ किया था और उस अवसर पर दूध-पिलायी के रूप में सिन्दगेरी का स्वामित्व मरियाने प्रथम को पुनः प्रदान कर दिया था। मरियाने प्रथम के पुत्र दण्डनाथ डाकरस की पत्नी चेचिक्क से प्रस्तुत मरियाने द्वितीय का जन्म हुआ था। उसका सहोदर नाकणचमूप था और दूसरा भाई भरत (भरतमय्य, भरतेश्वर) था जो उसकी विमाता दुग्गब्बे से उत्पन्न हुआ था। मरियाने और भरत भ्रातृद्वय ने विष्णुवर्धन होयसल के समय में साथ-साथ अभूतपूर्व उन्नति की। इन वीरों की युगल जोड़ी अपने वीर्य, शौर्य, पराक्रम, राजनीति-कुशलता और धर्मनिष्ठा के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध हो गयी। महाराज ने इन दोनों भाइयों को संयुक्त रूप से सर्वाधिकारी, माणिक-भण्डारी तथा प्राणाधिकारी पद प्रदान किये थे। मरियाने दण्डनायक को अपना 'पट्टवाने' (राज्य-गजेन्द्र) समझकर राजा ने अपना सेनापति बनाया। अपनी धर्मनिष्ठा के लिए इन दोनों शूरवीरों को निरवद्य-लक्ष्मी-रत्नकुण्डल, नित्य-जिनाभिषेक-निरत, जिनपूजामहोत्साहजनितप्रमोद, चतुर्विध-दान-विनोद आदि विरुद प्राप्त हुए थे। मरियाने गंगराज के जामाता थे और मरियाने एवं भरत की भगिनी गंगराज के पुत्र बोप्पदेव दण्डनायक के साथ विवाही थी। सिन्दिगेरी की ब्रह्मेश्वर-बसदि के दालान में स्थित स्तम्भ पर उत्कीर्ण ११३८ ई. के शिलालेख में भरत दण्डनायक की अत्यन्त साहित्यिक कलापूर्ण प्रशस्ति प्राप्त होती है, जिससे पता चलता है कि उसका धन जिनमन्दिरों के लिए था, उसकी दया सभी प्राणियों के लिए थी, उसका चित्त जिनराज की पूजा-अर्चा में निरत था, उसका औदार्य सज्जनवर्ग के लिए था और दान सन्मुनीन्द्रों के हितार्थ था। उसने श्रवणबेलगोल में अस्सी नवीन

बसदियाँ निर्माण करायी थीं और गंगवाडि की दो सौ पुरानी बसदियों का जीर्णोद्धार कराया था। यह दोनों भाई देशीगण-पुस्तकगच्छ के आचार्य माघनन्दि के शिष्य गण्ड-विमुक्तव्रती के गृहस्थ-शिष्य थे। यह दोनों विष्णुवर्धन के पुत्र एवं उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम के समय में भी पदारूढ़ थे और उक्त नरेश से उन्होंने ५०० होन्न देकर सिन्दिगेरी आदि तीन ग्रामों का प्रभुत्व एक बार फिर प्राप्त किया था। इनका सम्पूर्ण परिवार परम जिनभक्त था। भरतेश्वर ने श्रवणबेलगोल में तीर्थंकर ऋषभदेव के प्रतापी पुत्रों भरत और बाहुबलि की प्रतिमाएँ भी स्थापित की थीं, उनके चहुँओर एक परकोटा बनवाया था, एक विशाल गर्भगृह, रंगशाला और पक्की सीढ़ियाँ बनवायी थीं। भरत की धर्मात्मा पुत्री शान्तलदेवी, जो बूचिराज के साथ विवाही थी, के ११६० ई० के शिलालेख में, भरत के उपरोक्त धर्मकार्यों का विवरण दिया गया है। भरत की धर्मपत्नी हरियले के गुरु मुनि माघनन्दि थे। भरत के पुत्र बिट्टिदेव और मरियाने तृतीय थे। मरियाने के पुत्र भरत द्वितीय और बाहुबलि भी बड़े वीर सेनानी और धर्मात्मा थे। बल्लाल द्वितीय के शासनकाल मे उन्होंने प्रभूत प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। मरियाने द्वितीय की पत्नी जक्कणब्बे से बिम्मलदेवी (बम्मल) नाम की पुत्री उत्पन्न हुई थी जो नरसिंह प्रथम के महाप्रधान जैन वीर पारिसण्ण के साथ विवाही थी। मरियाने द्वितीय के पुत्र बोप्प और हेग्गडदेव थे, उनका ही अपरनाम भरत और बाहुबलि रहा प्रतीत होता है।

विष्णु दण्डाधिनाथ—अपरनाम इम्मडि बिट्टिमय्य महाराज विष्णुवर्धन होयसल का अत्यन्त स्नेहपात्र बालवीर दण्डनायक था। काश्यपगोत्री उदयादित्य की पत्नी शान्तियक्के से चिन्नराज उत्पन्न हुआ था जो एरेयंग होयसल का राजमन्त्री एवं दण्डाधीश था। उसकी पत्नी चन्दले से उदयण और विट्टिमय्य अपरनाम विष्णु, यह दो पुत्र उत्पन्न हुए थे। विष्णु छोटा पुत्र था जो नव चन्द्रमा की भाँति आकार और यश मे निरन्तर बढ़ता चला गया। बाल्यावस्था में ही उसके माता-पिता की मृत्यु हो गयी और स्वयं महाराज विष्णुवर्धन ने उसका *पुत्रवत् पालन-पोषण किया तथा बड़े समारोह के साथ उपनयन संस्कार किया। यह बालक इतना व्युत्पन्न था कि थोड़ी ही आयु मे अस्त्र-शस्त्र-संचालन तथा अन्य विविध विद्याओं में पारंगत हो गया और महाराज ने उसका विवाह अपने एक राजमन्त्री की कन्या के साथ कर दिया। युवावस्था को प्राप्त होने के पूर्व ही यह बालवीर महाप्रचण्डनायक बना दिया गया था। उसकी कुशाग्र बुद्धि, राजभक्ति, निस्पृहता, संयम और धैर्य से प्रसन्न होकर राजा ने न केवल उसे अपना दण्डनायक ही बनाया, वरन् उसे सर्वाधिकारी पद भी दे दिया। अब वह सकल-जनोपकारी कार्यों को करने की सामर्थ्यवाला हो गया था। एक पक्ष के भीतर ही इस बालवीर सेनापति ने कोंगुदेश पर भीषण आक्रमण करके शत्रु को बुरी तरह पराजित किया और अपने अधीन कर लिया था। अपनी चमत्कारी विजयों के कारण वह थोड़ी आयु में ही महाराज का दाहिना हाथ बन गया। बेलूर के सौम्यनायकी-जिनमन्दिर की छत में उत्कीर्ण ११३७ ई० के शिलालेख के अनुसार महाराज विष्णुवर्धन के पादमूल से प्रभूत

तथा उन्हीं के कारुण्य-स्नेहरूपी अमृतप्रवाह से परिवर्धित इस महाक्रमी दण्डनायक ने आधे महीने के भीतर ही पूरे दक्षिण की (होयसल राज्य के दक्षिणवर्ती देशों की) दिग्विजय कर ली थी—चेर, चोल, पाण्ड्य, पल्लव आदि समस्त देशों को विजय किया था। एतदर्थ उसने सुभटचूडामणि, चमूपचूडारत्न, चिण्णम-प्रियपुत्र, विपुलयशःकल्पवल्ली-विलास, नयविनयवीरवितरण, गुणसम्पन्न, विपश्चिज्जनैकशरण, श्रीमद्-अर्हत्परमेश्वर-पद-पयोज-भट्चरण आदि विरुद प्राप्त किये थे। इस विष्णुदण्डाधिप ने अनेक पवित्र-तीर्थस्थानों को प्रचुर दानादि दिये थे और अनेक सवर्जनहितोपयोगी कार्य किये थे। तदुपरान्त राजधानी द्वारसमुद्र में विष्णुवर्धन-जिनालय नाम का एक विशाल एवं अत्यन्त भव्य जिनमन्दिर बनवाया था। उसका नामकरण अपने पितृतुल्य स्वामी महाराज के नाम पर ही किया था, और उसकी प्रतिष्ठा में वह सम्मिलित भी हुए थे। मन्दिर का निर्माण और प्रतिष्ठा कराके ११३७ ई. की उत्तरायण संक्रान्ति के दिन विष्णुदण्डाधिप ने महाराज से पुरस्कार स्वरूप बोल्लदर ग्राम तथा अन्य भूमि भी प्राप्त करके मन्दिर के खण्डस्फुटित-जीर्णोद्धार, ऋषि-आहारदान और देव की पूजा-अर्चा की व्यवस्था के निमित्त दान कर दी थी। इस बालवीर दण्डनायक के गुरु द्रमिलसंघ-नन्दिगण-अरुंगलान्वय के मल्लिषेण-मलधारीदेव के शिष्य जगद्गुरु श्रीपाल-त्रैविद्यदेव थे।

मादिराज—हेग्गडे मादय्य, माधव या माडिराज का पिता बोणमय्य था और पत्नी उमयब्बे थी। वह विष्णुवर्धन का श्रीकरणद (महाकोष-लेखाधिकारी) एवं मन्त्री था और अपनी वक्तृता से राजसभा को प्रभावित रखता था। श्रीपाल-त्रैविद्य का वह शिष्य था। तुंगभद्रा नदी के किनारे उसने श्रीकरण-जिनालय बनवाकर ११४५ ई. में उसके लिए भूमिदान दिया था।

नोलम्बिसेट्टि—विष्णुवर्धन के समय में पोय्सल-सेट्टि एवं द्वारसमुद्र-पट्टणसामि, अर्थात् राज्यसेठ एवं नगरसेठ थे और शुभचन्द्र-सिद्धान्त के गृहस्थ शिष्य थे। उनकी धर्मात्मा, दानशीला एवं जिनपूजाभक्त सेठानी देमिकब्बे ने त्रिकूट-जिनालय, सरोवर, दानशाला आदि बनवाकर ११२५ ई. के लगभग बसदि के लिए प्रभूत दान दिये थे। अन्य सेठों से भी दिलवाये। मूलनायक पार्श्वनाथ थे। दान दिया गया मुख्य ग्राम अर्हनहल्लि था।

मल्लिसेट्टि और चट्टिकब्बे—दम्मिसेट्टि के पुत्र मल्लिसेट्टि को चलदङ्कराव-होयसल-सेट्टि की उपाधि और अय्यावले (एलोरा) के शासक का पद मिला था। उसकी जिनधर्म-परायण, दानशीला भार्या चट्टिकब्बे तुरवम्मरस और सुगब्बे की पुत्री थी। उसका पुत्र बूचण था। इन माता एवं पुत्र ने ११३७ ई. के लगभग उक्त मल्लिसेट्टि की स्मृति में निषद्या बनवायी थी।

नरसिंह प्रथम होयसल (११४१-७३ ई.)—विष्णुवर्धन की रानी लक्ष्मीदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र विजय-नरसिंहदेव उसका उत्तराधिकारी हुआ। जन्म समय ही उसका यौवराज्याभिषेक कर दिया गया था, और अपने पिता की मृत्यु के समय वह

केवल ८ वर्ष का बालक मात्र था। वय प्राप्त करने पर भी वह आमोद-प्रमोद में अधिक व्यस्त रहा। उसके समय में साम्राज्य की महत्ता और प्रतिष्ठा की रक्षा उसके प्रतापी पिता के नाम के प्रभाव से तथा उसके स्वामिभक्त, सुयोग्य एवं वीर जैन सेनापतियों और मन्त्रियों की तत्परता के कारण ही हुई। पूर्वोक्त मरियाने, भरत आदि दण्डनायकों के अतिरिक्त देवराज, हुल्ल, पार्श्व, शान्तियण्ण और ईश्वर जैसे अन्य कई सुयोग्य, कुशल, वीर एवं स्वामिभक्त जैन दण्डनायक तथा मन्त्री उसे प्राप्त हो गये थे। राजा स्वयं जैन था और देव-गुरु का आदर करता था। अपने उक्त जैनवीरों के धर्म कार्यों में वह उत्साह के साथ योग देता था, उनके निर्मापित जिनमन्दिरों में दर्शनार्थ जाता था, उनके लिए दान देता था और उनके नामकरण आदि में भी रुचि लेता था। उसकी 'जगदेकमल्ल' उपाधि यह सूचित करती है कि नाम के लिए ही सही, होयसल नरेश अभी तक चालुक्य सम्राटों का आधिपत्य स्वीकार करते थे।

मारि और गोविन्द सेट्टि—विष्णुवर्धन के कृपापात्र महाप्रभु पेर्म्मडि के ज्येष्ठ पुत्र भीमय्य की भार्या देवलब्बे से दो पुत्र, मसणिसेट्टि और मारिसेट्टि हुए। मारि ने द्वारसमुद्र में एक्कोटि-जिनालय नाम का अति उत्तुंग मन्दिर बनवाया था, उसके पुत्र गोविन्द ने मुगुलि में गोविन्द-जिनालय बनवाया था। यह पूरा परिवार परम धार्मिक था। और द्रमिलसंघी श्रीपालदेव एवं उनके शिष्य वासुपूज्य मुनि का गृहस्थ-शिष्य था। गोविन्द जिनालय के लिए स्वयं होयसल नरसिंह प्रथम ने ११४७ ई में वासुपूज्य गुरु को धारापूर्वक भूमि दान दिया था। उस अवसर पर भरत-दण्डेश भी उपस्थित थे। अन्य लोगों ने भी दान दिया था।

महाप्रधान देवराज—कौशिकगोत्रीय, विद्वज्जन-अनुरागी एवं जिनपदसेवी देवराज (प्रथम) नाम का ब्राह्मण सज्जन था। उसकी पत्नी कामिकब्बे से उदयादित्य नाम का यशस्वी एवं गुणवान् पुत्र हुआ। उदयादित्य की भार्या किरुगणब्बे से प्रस्तुत देवराज (द्वितीय), सोमनाथ और श्रीधर नाम के तीन सुपुत्र हुए। यह देवराज द्वितीय होयसल नरेश नरसिंह प्रथम के महाप्रधान थे और इनके गुरु देशीगण-पुस्तकगच्छ के अर्हनन्दि मुनि के शिष्य एवं नरेन्द्रकीर्ति-त्रैविद्य के सधर्मा मुनिचन्द्र भट्टारक थे। अपने वंश के भूषण इन महाप्रधान देवराज के विरुद सम्यक्त्वरत्नाकर, निखिल-भव्यजनैकार्णव-पूर्णचन्द्र, सुहृज्जन-विपद्-विद्रावण, भव्यचूडामणि, 'कडुचरितेय' आदि थे। इनकी भार्या कामलदेवी श्रीजिनेन्द्रदेव के चरण-कमलों की भ्रमरी, अद्वितीय महिलारत्न थीं। देवराज को महाराज ने सूरनहल्लि नाम का ग्राम पुरस्कार स्वरूप प्रदान किया था, जिसमें इस महाप्रधान ने पार्श्वजिनेन्द्र का अमरेन्द्र के भवन जैसा सुन्दर मन्दिर बनवाया था। उक्त मन्दिर के लिए महाराज से उक्त ग्राम को स्वगुरु मुनिचन्द्रदेव को पाद-प्रक्षालनपूर्वक भेंट करा दिया था। स्वयं महाराज ने मन्दिर के दर्शन करके और प्रसन्न होकर उस स्थान का नाम ही बदलकर 'पार्श्वपुर' रख दिया था। देवराज को होयसल-महीधराज्य-भूभृन्निलय-मणिप्रदीपकलश और श्री जिनधर्मनिर्मल-अम्बर-हिमकर भी कहा गया है।

सेनापति हुल्लराज—वाजिवंशतिलक यक्षराज की सुशीला भार्या लोकाम्बिके से उत्पन्न उनके सुपुत्र हुल्ल (हुल्लप्प, हुल्लमय्य) होयसल नरसिंह प्रथम के सेनापतियों एवं मन्त्रियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं सर्वमहान् थे। महाप्रधान-सर्वाधिकारी, सचिवाधीश, हिरियभंडारी, चमूपति, दण्डाधिप आदि पदों पर आरूढ़, इन मन्त्रीश्वर को राजनीति में बृहस्पति से भी अधिक प्रवीण, शासन-प्रबन्ध में यौगन्धरायण से भी अधिक कुशल और साम्राज्य के संरक्षण में अभिनवगंगराज, तत्कालीन शिलालेखों में बताया गया है। वह नय-कीर्ति-सिद्धान्तदेव के गृहस्थ-शिष्य थे, और कुक्कुटासनमलधारीदेव उनके व्रतगुरु थे जिनके चरणों में नमन करने में वह अत्यन्त प्रसन्नता अनुभव करते थे। महामण्डलाचार्य देव-कीर्ति तथा अन्य अनेक तत्कालीन मुनिनाथों के वह भक्त थे। उनकी सुन्दरी, विदुषी एवं धर्मात्मा पत्नी का नाम पद्मलदेवी या पद्मावती था, जो ललना-रत्न, रूप-शील-गुण-निधान थी। हुल्ल के लक्ष्मण और अमर नाम के दो छोटे भाई थे और पुत्र नरसिंह था जो बल्लाल द्वितीय का सचिवाधीश हुआ। महामन्त्रीश्वर एवं महासेनापति के रूप में तथा जैनधर्म के प्रभावक के रूप में सर्वत्र हुल्लराज की ख्याति थी। परम जिनभक्त होने के साथ ही साथ वह अत्यन्त विचक्षण राजनीतिज्ञ एवं वीर योद्धा था। विष्णु-वर्धन होयसल के समय में ही उसकी नियुक्ति हो गयी थी, नरसिंह के पूरे शासनकाल में वह राजा का दाहिना हाथ रहा और उसके उत्तराधिकारी बल्लाल द्वितीय के समय में भी अपने पदों पर बना रहा। इस प्रकार इस स्वामिभक्त वीर मन्त्रिराज ने तीन होय-सल नरेशों की निष्ठापूर्वक सेवा की थी। इस धर्मात्मा राजपुरुष ने अनेक नवीन जिन-मन्दिर बनवाये और अनेक पुरानों का जीर्णोद्धार कराया। उसके निर्माण कार्यों में सर्वाधिक उल्लेखनीय श्रवणबेलगोल का चतुर्विंशतिजिनालय है। यह विशाल एवं अत्यन्त मनोहर जिनभवन २६६ फ़ुट लम्बा और ७८ फुट चौड़ा है, जो गर्भगृह, सुख-नासि, मुखमण्डप, उपभवन, अलिन्द, गोपुर आदि से समन्वित है। गर्भगृह में सुन्दर चित्रमय बेदी पर चौबीसों तीर्थंकरों की तीन-तीन फ़ुट उत्तुंग प्रतिमाएँ विराजमान हैं। गर्भगृह के तीन द्वार हैं जिनके पार्श्वों में पाषाण की सुन्दर जालियाँ बनी हैं। सुखनासि में पद्मावती और ब्रह्मयक्ष की मूर्तियाँ स्थापित हैं। नवरंग के चार स्तम्भों के मध्य दस फ़ुट का वर्गाकार पाषाण लगा है। नवरंगद्वार के प्रस्तरांकन अत्यन्त मनोरम हैं जिनमें पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, मानवाकृतियाँ आदि उत्कीर्ण हैं। मुख्य भवन के चहुँओर बरामदा, तदनन्तर पाषाणनिर्मित परकोटा और उसके मुख्य द्वार के सम्मुख एक सुन्दर प्रस्तरमयी मानस्तम्भ है। इस देवालय में चौबीसी स्थापित होने से यह चतुर्विंशति-जिनालय कहलाता है, हिरियभण्डारी हुल्लराजद्वारा निर्मापित होने से भण्डारि-बसदि और महाराज नरसिंह ने इसके दर्शन करके प्रसन्न हो उसका नाम भव्य-चूडामणि-जिनमन्दिर रखा था। गोम्मटपुर के अलंकार इस जिनालय का निर्माण होकर ११५९ ई० में इसकी प्रतिष्ठा हुई, और दानादि दिये गये। महामण्डलाचार्य नयकीर्ति-सिद्धान्त-चक्रवर्ती को इस जिनालय का आचार्य पद सौंपा गया। स्वयं महाराज नरसिंह ने अपनी दिग्विजय

यात्रा पर गमन करने के पूर्व श्रवणबेलगोल के गोम्मटेश, पार्श्वनाथ और उक्त चतुर्विंशति तीर्थंकरों का दर्शन-वन्दना की और अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उक्त जिनालयों के लिए सवणेरु ग्राम समर्पित किया। सन् ११७५ ई. के लगभग सेनापति हुल्ल ने तत्कालीन नरेश बल्लाल द्वितीय से पुन: वह ग्राम तथा अन्य दो ग्राम प्राप्त करके गोम्मटेश, पार्श्वनाथ और चतुर्विंशति-जिनालय के लिए समर्पित किये थे। श्रवणबेलगोल के अतिरिक्त कोप्पण, बंकापुर और केल्लंगेरे प्रभृति अन्य तीर्थों को भी हुल्लराज ने उन्नत किया। कोप्पण के निवासियों से स्वर्ण के बदले बहुत सी भूमि प्राप्त करके उसने उक्त तीर्थ के चतुर्विंशति जिनेन्द्रों को समर्पित कर दी। बंकापुर के दो प्राचीन महत्त्वपूर्ण किन्तु प्राय: पूर्णतया ध्वस्त जिनालयों का जीर्णोद्धार करके उनका अत्यन्त सुन्दर नवीनीकरण कर दिया—उनमें से एक तो इतना उत्तुंग बनाया कि कैलास पर्वत से उसकी उपमा दी जाती थी। चिरकाल से विस्मृत एवं लुप्त आदि तीर्थ केल्लंगेरे में एक अत्यन्त सुन्दर उत्तुंग जिनालय तथा तीर्थंकर भगवान् के पाँच कल्याणकों के स्मारक रूप पाँच अन्य महान् जिनालय निर्माण कराये। श्रवणबेलगोल की उपरोक्त भण्डारि-बसदि के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण ११५९ ई० के शिलालेख में हुल्लराज के पराक्रम, गुणों एवं धार्मिक कार्य-कलापों का विवरण प्राप्त होता है। सन् ११६३ ई. में उसने स्वगुरु देवकीर्तिदेव का समाधि-स्मारक केल्लंगेरे में बनवाया। प्राय: तभी उसने वहाँ की प्रतापपुर-बसदि का पूर्णतया नवीनीकरण किया। यह बसदि कोल्लापुर की रूपनारायण-बसदि से सम्बद्ध थी। श्रवणबेलगोल से दो मील दूर स्थित जिननाथपुर में हुल्लराज ने एक सत्र (नि:शुल्क भोजनालय) स्थापित किया। अभिलेखों में बताया गया है कि जिन-मन्दिरों का जीर्णोद्धार करने में, जिनेन्द्र की पूजा, अर्चा एवं सामूहिक पूजोत्सवों में, मुनिजनों को दान देने में, जिनचरणों के भक्तिपूर्वक गुणगान में, पुराणशास्त्रों के सुनने में, भव्यों द्वारा प्रशंसित इस मन्त्रीश्वर हुल्लराज चमूप को अत्यन्त आनन्द आता था—इन्ही कार्यों में उसका नित्य पर्याप्त समय व्यतीत होता था। गंगमारसिंह के मन्त्री चामुण्डराय और विष्णुवर्धन के मन्त्री गंगराज के साथ ही साथ जैनधर्म का सर्वाधिक समर्थ प्रभावक नरसिंह होयसल के मन्त्रीश्रेष्ठ हुल्लराज को बताया गया है। संश्रित-सद्गुण, सकलभव्यनुत, जिनभासितार्थ-निस्संशयबुद्धि, जैन-चूडामणि, सम्यक्त्व-चूडामणि, मन्त्रिमाणिक्यमौलि आदि उसके विरुद थे।

दण्डनायक पार्श्वदेव (पारिषण्ण)—होयसल नरेशों का एक महाप्रधान काश्यपगोत्रीय दण्डनाथ भद्रादित्य था। भद्रादित्य का ज्येष्ठपुत्र तैलदण्डाधिप था, जिसका पुत्र चावुण्ड महाराज का सान्धि-विग्रहिक मन्त्री था। उसका अनुज वामन था और पत्नी देकणब्बे थी। चावुण्ड मन्त्री के तीन पुत्र थे—माधव, पार्श्व और रकसिमय्य। इनमें से दण्डनायक पार्श्व, अपरनाम पारिसण्ण या पारिसय्य नरसिंह प्रथम के समय में राज्य का महाप्रधान-पट्टिसभण्डारी था और निरुगुण्डनाड के करिकुण्डनगर का स्वामी था। वह श्रीपाल त्रैविद्य के शिष्य वासुपूज्य-सिद्धान्तदेव का गृहस्थ-शिष्य था और बड़ा धर्मात्मा

था। उसकी पत्नी बिम्मलदेवी प्रसिद्ध दण्डनायक मरियाने की पुत्री और दण्डेश भरत की भतीजी थी। वह भी परम विदुषी एवं धर्मात्मा थी। पार्श्व ने निसूर में एक जिनालय भी बनवाया था। उसकी पट्टसिजव्वारी पदवी से लगता है कि वह राज्य के शस्त्रागार का महाप्रबन्धक भी था क्योंकि 'पट्टसि' का अर्थ भाला-बरछा होता है। इस पराक्रमी योद्धा ने आहवमल्ल को युद्ध में पराजित किया था और उसी युद्ध में वीरगति पायी थी। पारिसय्य और बिम्मलदेवी का पुत्र दण्डनायक शान्तियण्ण था।

दण्डनायक शान्तियण्ण—पारिसण्ण (पार्श्व) जैसे युद्धवीर एवं निपुण मन्त्री-श्रेष्ठ और जिनभक्त बिम्मलदेवी का सुपुत्र शान्तियण्ण भी अत्यन्त साहसी, वीर और धर्मात्मा था। उसके पिता के युद्ध में वीरगति प्राप्त करने पर महाराज नरसिंह ने शान्तियण्ण को उसके स्थान पर करिकुण्ड का स्वामी और राज्य का दण्डनायक बना दिया और उसकी वीरता से प्रसन्न होकर उसे एक ग्राम प्रदान किया। प्रसिद्ध युद्धवीरों एवं मन्त्रियों के कुल में उत्पन्न शान्तियण्ण भी वीर योद्धा और कुशल प्रशासक था। अपने कुल की मर्यादा के अनुसार, अपने जननी-जनक की भाँति ही शान्तियण्ण भी परम जिनभक्त था। उसके गुरु वासुपूज्य-सिद्धान्तदेव के शिष्य मल्लिषेणपण्डित थे। अपने पूज्य पिता दण्डनाथ पार्श्व की स्मृति में दण्डाधिप शान्तियण्ण ने अपने नगर करिकुण्ड में एक सुन्दर जिनालय निर्माण कराया और ११५८ ई. में उक्त जिनालय के लिए स्वगुरु मल्लिषेण को राजा से प्राप्त ग्राम पादप्रक्षालनपूर्वक समर्पित कर दिया। मल्लगौण्ड आदि ग्राम के प्रमुखों तथा समस्त प्रजाजन ने एक तेल का कोल्हू गाँव के घाट की आय और धान की फ़सल का एक भाग भी जिनालय के लिए दान कर दिया। उसी मन्दिर में प्राप्त तत्सम्बन्धी शिलालेख मल्लोजनामक शिल्पी द्वारा उत्कीर्ण किया गया था।

ईश्वर चमूप—महाप्रधान-सर्वाधिकारी सेनापति-दण्डनायक एरेयंग का पाद-पद्मोपजीवी (सहायक या अधीनस्थ) यह ईश्वर चमूपति था, और सम्भवतया उक्त एरेयंग का ही सुपुत्र था। वह वीर योद्धा और धर्मात्मा था। मन्दारगिरि की प्राचीन बसदि का उसने जीर्णोद्धार कराया था। उसकी पत्नी धर्मात्मा माचियक्के थी।

माचियक्के—यह धर्मात्मा नारीरत्न नाकि-सेट्टि और नागवे की पौत्री थी, तथा साहणि-बिट्टिग की पत्नी चन्द्रवे से उत्पन्न उसकी ज्येष्ठ पुत्री थी। ईश्वर चमूपति की वह भार्या थी और देशीगण-पुस्तकगच्छ के गण्डविमुक्तदेव की गृहस्थ-शिष्या थी। वह सुन्दरी, विदुषी, दानशीला, यशस्विनी, पुण्यवान् एवं धर्मात्मा युवती-रत्न थी। मयवोलल नामक तीर्थक्षेत्र पर उसने एक मनोरम जिनमन्दिर तथा पद्मावतीकेरे नामक सरोवर का निर्माण कराया था, और ११६० ई. में उक्त जिनालय के लिए बहुत-सी भूमियाँ अपने पति ईश्वर चमूप तथा महाराज नरसिंह की सहमतिपूर्वक स्वगुरु को दान कर दी थीं। यह महिला चतुःसमय-समुद्धरण कहलाती थी।

जक्कले—या जक्कब्बे होयसल नरेश नरसिंह प्रथम के महामन्त्री एवं प्रधान ताम्बूलवाहक चाविमय्य की धर्मात्मा पत्नी थी। हेरगु नामक स्थान की प्रशंसा सुनकर

उसने वहाँ चेन्न-पार्श्वनाथ-बसदि नाम का सुन्दर जिनालय बनवाया, और समस्त क्षेत्रीय सामन्तों एवं अधिकारियों की उपस्थिति में महाराज से प्रार्थना करके भूमियाँ प्राप्त कीं, जिन्हें उक्त जिनालय के लिए उसने स्वगुरु परम विद्वान् नयकीर्ति-सिद्धान्तदेव को पाद-प्रक्षालनपूर्वक समर्पित कर दी। उसकी बहन पधियक्के भी बड़ी धर्मपरायण महिला थी।

सामन्त गोव—होयसल नरसिंह का यह जैन सामन्त हुलियेरपुर का स्वामी था। उसकी भार्या शान्तले बड़ी उदार थी। परम जिनभक्त होते हुए भी वह शैव, वैष्णव, और बौद्धधर्मों को भी संरक्षण प्रदान करती थी। सम्भवतया इसी महिला का अपरनाम सिरियादेवी था, अथवा यह गोव सामन्त की द्वितीय पत्नी थी। एक अन्य पत्नी महादेवी नायकिति थी, या उक्त दोनों में से किसी की यह उपाधि थी। इस परिवार के गुरु देशीगण के चन्द्रायणदेव थे, जिनकी प्रेरणा से सिरियादेवी ने अपनी हुलियेरपुर की बसदि में एक मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। जब ११६० ई. में महादेवी का स्वर्गवास हो गया तो उसकी स्मृति में गोव सामन्त ने हेग्गरे में चेन्न-पार्श्व-बसदि निर्माण करायी, जिसके लिए उसके पुत्र सामन्त बिट्टिदेव ने स्वगुरु माणिकनन्दि-सिद्धान्त को भूमियाँ प्रदान कीं। राज्य के कई प्रमुख नागरिकों ने भी भूमि आदि के दान दिये थे। इस दान से एक सत्र की स्थापना भी की गयी। महासामन्त बल्लय्य नायक ने भी इस अवसर पर उक्त जिनालय के लिए कुछ भूमि स्थलवृत्ति के रूप में भक्तिपूर्वक दी थी।

शिवराज और सोमेय—नरसिंह होयसल के इन दोनों जैन राजमन्त्रियों ने ११६५ ई. में माणिकबोलल स्थान के होयसल-जिनालय को मुनि-आहार-दान आदि की व्यवस्था के लिए प्रचुर दान दिया था।

सामन्त बिट्टिदेव—होयसल नरेशों के प्राचीन हुलियेरपुर का अधीश्वर वीरतल-प्रहारि सामन्त भीम था। उसके चार पुत्र थे—माच, चट्ट, मल्ल और गोविदेव (गोव)। सामन्त चट्ट की पत्नी सातब्बे से यह सामन्त बिट्टिदेव (विष्णु) उत्पन्न हुआ था। इसे महाराज नरसिंह ने हाथियों के खर्च के लिए हेग्गरे ग्राम दिया था। जब सामन्त गोवि-देव ने ११६१ ई. में अपनी महादेवी-नायकिति (शान्तलदेवी) की स्मृति रक्षार्थ उक्त ग्राम में चेन्न-पार्श्व-जिनालय निर्माण कराया तो उस धर्मात्मा महिला (अपनी चाची) के पुत्रतुल्य इस सामन्त बिट्टिदेव ने अपनी पुण्य-समृद्धि के लिए उक्त जिनालय के हितार्थ भूमिदान किया तथा कालीमिर्च, अखरोट और पान के गट्ठों की आय भी समर्पित कर दी थी। इसके गुरु भी वही माणिकनन्दि थे। यह पूरा सामन्त परिवार जैनधर्म का अनुयायी था।

सामन्त बाचिदेव—बाचि, बाचय, गुलबाचिग या बाचिराज होयसल नरसिंह का महासामन्त, मान्यखेडपुरवराधीश्वर, मलगरेनाड का अधिपति, अदल लोगों के लिए सूर्य के समान, गुड्डगंग के पुत्र बसव नायक का वंशज और गंग का पुत्र था। उसकी माता का नाम बेनवाम्बिके था। यह अदलवंशी महासाहसी, पराक्रमी, वीर, यशस्वी,

दानी, उदार एवं धर्मात्मा वर-विद्या-निधि महासामन्त बाचिदेव मलपरेनाड की अपनी अतिशय शोभा से युक्त राजधानी कम्दाल में अतीव उच्च धर्म का पालन करते हुए सुखपूर्वक रह रहा था। अपने राज्य में उसने जिनेन्द्र, शिव, विष्णु सभी देवताओं के मन्दिरों का पोषण किया। उसने गंगेश्वरवास, श्रीनारायण गृह, चलवारिखेश्वर-मन्दिर, रामेश्वर-सदन, कई जिनमन्दिर तथा भीमसमुद्र एवं अदलसमुद्र नाम के दो सरोवर बनवाये, दिब्बूर के विप्रों को दान दिया, इस प्रकार चारों सम्प्रदायों की वृद्धि की थी। अपने पिता सामन्त गंग की स्मृति में उसने गंगेश्वरदेव जिनालय ११५० ई. में बनवाया और उसके लिए प्रभूत दानादि दिये। अपनी बहन (या पुत्री) कुमारी चेन्नवेनायकिती की स्मृति में रामेश्वरदेव-मन्दिर बनवाया और उसमें मुनियों के आहार की व्यवस्था के लिए दान दिये। अपनी स्वर्गीय प्रिय पत्नी, महासौभाग्य-शील-सौन्दर्य-सम्पन्न, परिवार-सुरभि, महासती रानी भीमले (भीमवे नायकिति) की स्मृति (परोक्ष विनय) में उसने अति-विशाल एवं सुन्दर भीम-जिनालय बनवाया, जिसमें उसने चेन्न-पार्श्वदेव की प्रतिष्ठापना की तथा उसी से सम्बद्ध भीमसमुद्र नाम का सुन्दर एवं विशाल सरोवर बनवाया था। रानी भीमले के इष्टदेव जिनेन्द्रदेव, पिता योहेरे नायक और जननी चिम्बले थी। बाचिराज ने उक्त जिनालय के चेन्नपार्श्वदेव के रंभोग-अष्टविधार्चन एवं ऋषिआहारदान के निमित्त भीमसमुद्र के आसपास की समस्त भूमि भेंट कर दी थी। उसी अवसर पर सम्यक्त्वचूडामणि सेनबोव मारमय्य ने भी सामन्त बाचिराज से भूमि प्राप्त करके मारसमुद्र नामक सरोवर बनवाया तथा उसे उक्त भीम-जिनालय के लिए दान कर दिया। राजा ने इन विभिन्न दानों को वाराणसी, प्रयाग आदि तीर्थों के समान पवित्र समझने का प्रजाजनों को आदेश दिया। यह महापराक्रमी, महादानी, सर्वधर्म-समभावी, महान् उदार जैन महासामन्त बाचिराज अपनी तरह का श्रेष्ठ उदाहरण है।

हेग्गडे जकय्य और जक्कब्बे—यह दोनों पति-पत्नी थे। इस दम्पति ने दिडगुरु में एक जिनालय बनवाकर उसमें तीर्थंकर सुपार्श्व की प्रतिमा प्रतिष्ठित की और देवपूजा एवं आहारदान के लिए स्वगुरु, काणूरगणमेषपाषाणगच्छ के बालचन्द्रदेव को धारापूर्वक भूमिदान दिया था। लगभग ११६० ई. में यह जिनालय बना था।

सामन्त सोम—होयसलों का वीर सेनानी अय्कण था जिसने चोल राज्य पर आक्रमण के समय एक जंगली मस्त हाथी को बाणों से मार गिराया और 'करिय-अय्कण' उपाधि प्राप्त की थी। उसका प्रिय पुत्र नाग था, जिसका ज्येष्ठ पुत्र सुरधेनु और कल्पवृक्ष समान सुग-गवुण्ड था। उसका पुत्र यह सामन्त सोम या सोवेयनायक था, जो जिन-पादकमलभृंग, जिननाथस्नपनजलपवित्रितगात्र, चतुर्विधदानविनोद, जिनसमयसमुद्धरण, भगवान् पार्श्वदेव का पादाराधक, परनारीपुत्र और भानुकीर्ति-सिद्धान्त का गृहस्थ-शिष्य था। उसकी दो पत्नियाँ थीं—सीता, रेवती, अरुन्धती एवं अतिमब्बे के समान मारव्वे और रति-जैसी सुन्दरी तथा जिनपादभक्त माचले। पहली से कई पुत्रियाँ हुईं और दूसरी से चट्टदेव एवं कलिदेव नाम के अनुपम, गुणवान् पुत्र। स्वयं सामन्त सोम कलुकणिनाड

का शासक था। उसने एककोटि-जिनालय नामक पार्श्वनाथ भगवान् का एक अति उत्तुंग एवं भव्यमन्दिर बनवाया और उसके लिए ११४२ ई. में सूरस्थगण के ब्रह्मदेव मुनि को पादप्रक्षालनपूर्वक एक ग्राम दान दिया था। इस सुन्दर जिनालय का निर्माता कलियुगी विश्वकर्मा शिल्पी मानोज था। धर्मात्मा सोम विष्णुवर्धन और नरसिंह प्रथम का वीर एवं स्वामिभक्त सामन्त था।

होयसल बल्लाल द्वितीय (११७३-१२२० ई.)—वीर बल्लाल प्रथम के नाम से सुप्रसिद्ध यह नरेश नरसिंह प्रथम की रानी एचलदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी था और अपने पितामह विष्णुवर्धन की भाँति ही प्रतापी, बड़ा वीर, महापराक्रमी, भारी विजेता और स्याद्वादमत (जैनधर्म) का पोषक एवं पक्षपाती था। उसने अपने वंश एवं राज्य को पूर्णतया स्वतन्त्र कर लिया और उसमें शान्ति एवं सुख-समृद्धि की उल्लेखनीय वृद्धि की। यौवराज्यकाल में ही वह पिता के राज्यकार्य में सक्रिय सहयोग देता था, जैसा कि ११६८ ई. के बन्दूर शिलालेख से प्रकट है। ऐसा लगता है कि जैसा कि उस समय वास्तविक राजा वही था। उसी से यह भी पता चलता है कि इस नरेश के गुरु द्रमिलसंघी श्रीपाल-त्रैविद्य के शिष्य वासुपूज्य-व्रती थे। सन् ११७३ ई. की श्रावण शुक्ल एकादशी रविवार के दिन वीर बल्लाल का पट्टबन्धोत्सव (राज्याभिषेक) हुआ था और उस उपलक्ष्य में उसने प्रभूत दान दिये थे। तभी महासन्धिविग्रहिक मन्त्री बूचिराज ने त्रिकूट-जिनालय बनवाकर उसके लिए राजा से मरिकलि नाम का ग्राम प्राप्त करके उक्त वासुपूज्य मुनि को भेंट किया था। उसके पिता के समय से चले आये महासेनापति हुल्लराज द्वारा श्रवणबेलगोल में निर्मापित चतुर्विंशति-बसदि के लिए हुल्ल के निवेदन पर राजा ने ११७४-७५ ई. में दो ग्राम भेंट किये थे। उसी स्थान की पार्श्वनाथ-बसदि के लिए भी दान दिया था और अपने पिता नरसिंह प्रथम द्वारा दान किये गये तीन ग्रामों के दान की पुष्टि की थी। देवीसेट्टि नामक धनी सेठ ने ११७६ ई. में राजधानी में वीर-बल्लाल-जिनालय नाम का एक सुन्दर मन्दिर राज्याश्रय से निर्माण कराया था और उसके लिए स्वगुरु बालचन्द्र मुनि को दान दिया था। स्वयं राजा ने भी उक्त मन्दिर के लिए कई ग्राम प्रदान किये। सन् ११९२ ई. में राजधानी के चार प्रमुख सेठों ने समस्त नागरिकों तथा अन्य नगरों के व्यापारियों के सहयोग से नगर-जिनालय नाम का विशाल एवं मनोरम जिनमन्दिर बनवाया, जिसका अपरनाम अभिनव-शान्तिदेव भी था। राज्यश्रेष्ठि के साथ प्रतापचक्रवर्ती-वीर बल्लालदेव स्वयं उक्त जिनालय में देवदर्शन के लिए गया, भगवान् की अष्टोपचारी पूजा देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसके लिए गुरु वज्रनन्दि-सिद्धान्त को कई ग्राम दान में दिये। सदैव की भाँति इस समय भी होयसलों की राजधानी द्वारसमुद्र जैनधर्म का केन्द्र और जैनों (भव्यों) की गढ़ थी। वीर बल्लाल ने स्वयं अनेक बार जैनतीर्थों की यात्रा की, जिनमन्दिरों के दर्शन किये और बसदियों एवं जैनगुरुओं को दानादि देकर सम्मानित किया था। जैनाचार्य श्रीपाल-त्रैविद्य और उनके शिष्य इस काल में होयसलों के राजगुरु

थे। राज्य के अनेक मन्त्री, सेनापति, सामन्त, प्रमुख राजपुरुष एवं श्रेष्ठि जैनधर्म के अनुयायी थे। हुल्ल, नागदेव, रेचिमय्य, बूचिराज, बाहुबलि, नरसिंह आदि ये जैन युद्धवीर, कुशल राजनीतिज्ञ एवं दक्ष प्रशासक ही वीर बल्लाल के राज्य के प्रधान स्तम्भ थे, उसकी सफलताओं और समृद्धि के आधार थे और उसके विस्तृत राज्य के समर्थ संरक्षक थे। कलचुरियों का सर्वप्रधान दण्डाधिनाथ रेचिमय्य उनके अन्तिम नरेश की वीर बल्लाल के हाथों पराजय होने और फलस्वरूप उस वंश का पूर्ण पतन हो जाने पर, साथ ही इस होयसल नरेश एवं उसकी प्रजा की रत्नत्रयधर्म में निष्ठा जानकर उसकी सेवा में आ गया था। यहाँ आकर भी उसने राज्याश्रय से अरसियकेरे का सुप्रसिद्ध सहस्रकूट-चैत्यालय अपरनाम एल्कोटि-जिनालय तथा अन्य कई नवीन मन्दिर बनवाये, पुरानों का जीर्णोद्धार किया, श्रवणबेलगोल आदि तीर्थों पर भी निर्माण कराये और स्वगुरुओं को दानादि दिये। वीर बल्लाल ने साहित्य को भी प्रोत्साहन दिया। उसके राजकवि नेमिचन्द्र ने 'लीलावती' नामक प्रेमगाथा लिखी, राजादित्य (११९० ई.) ने 'व्यवहारगणित', 'क्षेत्रगणित' और 'लीलावती' नामक गणित-ग्रन्थ रचे, महाकवि जन्न (१२०९ ई.) ने 'यशोधरचरित', जगद्दल्ल-सोमनाथ ने 'कल्याणकारक' नामक वैद्यक ग्रन्थ, बन्धुवर्म वैश्य ने 'हरिवंशाभ्युदय' और 'जीवसम्बोधन', शिशुमायन ने 'अंजनाचरित' और 'त्रिपुरदहन' और आनन्दमय्य ने 'मदनविजय' की रचना की थी। यह सब विद्वान् जैन थे और कन्नड साहित्य के पुरस्कर्ता थे। इस काल के जैनमन्दिर भी होयसल-कला के श्रेष्ठ नमूने हैं। राज्य की विस्तारवृद्धि भी हुई और वह दक्षिण भारत की सर्वाधिक शक्तिशाली राज्यसत्ता हो गया था।

माचिराज—एक उच्च पदस्थ अधिकारी था, जिसने वीर बल्लाल के राज्याभिषेक के अवसर पर, ११७३ ई. में, बोगवदि के श्रीकरण-जिनालय के भगवान् पार्श्वदेव के लिए स्वगुरु अकलंक-सिंहासन पद्मप्रभस्वामी को एक गाँव दान दिया था। सम्भवतया यह विष्णुवर्धन होयसल के प्रसिद्ध मन्त्री दण्डनायक बलदेवणके भतीजे माचिराज ही हैं।

नागदेव—नाग या नागदेव हेग्गडे होयसल नरसिंह प्रथम के सचिव बम्मदेव का उसकी पत्नी जोगाम्बासे उत्पन्न पुत्र था। स्वयं उसकी पत्नी का नाम चन्दाम्बिका (चन्दले या चन्दब्बे) था और पुत्र का मल्लिनाथ। वीर बल्लाल का सचिवोत्तम एवं पट्टणसामि (नगराध्यक्ष) यह मन्त्रीश्वर नागदेव देशीगण-पुस्तकगच्छ के नयकीर्ति-सिद्धान्तचक्रवर्ती का गृहस्थ-शिष्य था। उसने ११७७ ई. में श्रवणबेलगोलमें स्वगुरुकी निषद्या तथा कलापूर्ण सुन्दर स्मारक स्तम्भ बनवाया था। गुरु की स्मृति में उसने नागसमुद्र नाम का एक सरोवर तथा उद्यान भी बनवाया था और गुरु के शिष्यों प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्र एवं बालचन्द्र को दान दिया था। सन् ११९६ ई. में उसने श्रवणबेलगोल में नगर-जिनालय अपरनाम श्रीनिलय और कमठ-पार्श्वदेव-बसदि तथा उसके सम्मुख शिलाकुट्टम और रंगशाला बनवायी थीं तथा एतदर्थ गुरु के उपरोक्त मुनि-शिष्यों को दान दिया था। उक्त नगर-जिनालय में महाराज बल्लालदेव एवं युवराज नरसिंह

द्वितीय भगवान् की अष्टप्रकारी पूजा देखकर बड़े प्रसन्न और प्रभावित हुए थे। मन्त्री नागदेव 'जिनमन्दिर-प्रतिपाल' कहलाता था।

दण्डनायक भरत और बाहुबलि—विष्णुवर्धन होयसल के प्रसिद्ध महादण्डनायक मरियाने द्वितीय के सुपुत्र और भरतेश्वर दण्डाधीश के भतीजे, दोनों वीर भ्राता वीर बल्लाल के प्रमुख सेनापतियों में थे। वीरता, स्वामिभक्ति और धार्मिकता इन्हें अपनी कुलपरम्परा से प्राप्त थी। जब ११८३ ई. में वीर बल्लाल के युवराज वीर नरसिंह (नरसिंह द्वितीय) का जन्म हुआ तो उसकी खुशी में इन दोनों भाइयों ने देशीगण के देवचन्द्रपण्डित को अनेक बसदियों के लिए प्रभूत दान दिये थे। इन्होंने राजा से अपने कुल की परम्परागत सिन्दगेरे आदि की भूमियाँ प्राप्त करके पुनः दान कर दी थीं। इन भरत (भरतिमय्य) दण्डनायक की धर्मात्मा साध्वी पत्नी जकव्वे या जक्कले १२०३ ई. में समाधिमरणपूर्वक देह त्याग किया था। इस महासती के गुरु अनन्तकीर्ति मुनि थे, माता लच्चव्वे और पिता मण्डनमुद्द थे। समाधिलेख में उसके शील, संयम, तप, जिनभक्ति आदि की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है।

बूचिराज—वीर बल्लाल का सन्धिविग्रहिक-मन्त्री, श्रीकरणद एवं दण्डाधिप बूचिराज वीर योद्धा, कुशल राजनीतिज्ञ एवं प्रशासक और धर्मात्मा होने के साथ-साथ चतुर्विध-पाण्डित्य का धनी था। वह संस्कृत और कन्नड दोनों ही भाषाओं का सुविज्ञ एवं सुकवि था और 'कविता विशारद' कहलाता था। उसकी पत्नी शान्तले भी विदुषी और धर्मिष्ठ महिला थी। वह भरत दण्डेश की पुत्री और दण्डाधिप मरियाने की भतीजी थी। महाप्रधान बूचिराज ने वीर बल्लाल के राज्याभिषेकोत्सव के उपलक्ष्य में ११७३ ई. में सिगेनाड के मरिकली नगर में त्रिकूट-जिनालय नामक भव्य मन्दिर बनवाकर उसके लिए स्वगुरु वासुपूज्य-सिद्धान्त को पाद-प्रक्षालनपूर्वक ग्रामादि दान दिये थे। वह नरसिंह प्रथम के समय से ही राज्य-सेवा में था, ११६३ ई. के शिलालेख में उल्लिखित श्रीकरणद हेग्गडे बूचिमय्य ही उन्नति करके वीर बल्लाल के समय में मन्त्रीश्वर बूचिराज हो गया था। वासुपूज्य-सिद्धान्त से पूर्व उसके गुरु देवकीर्ति रहे प्रतीत होते हैं।

महादेव दण्डनायक—राज्यपदाधिकारियों के प्रतिष्ठित कुल में उत्पन्न हुआ था। उसके पिता सोवचमूप और माता सोवलदेवी थी। राम और केशव उसके अनुज थे। उसकी सुशीला एवं धर्मपरायणा पत्नी लोकलदेवी राज्य के एक प्रान्तीय शासक मसण सामन्त की पौत्री और सामन्त कीर्तिगावुण्ड की पुत्री थी। महादेव और लोकलदेवी काणूरगण के कुलभूषण के शिष्य सकलचन्द्र भट्टारक के गृहस्थ-शिष्य थे। इस महाप्रधान महादेव दण्डनायक ने ११८७ ई. में एरग-जिनालय का निर्माण कराके उसमें शान्ति-जिनेश की प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी और स्वगुरु को 'भेरुण्ड' दण्ड से नापकर तीन मत्तल शालि-क्षेत्र, दो कोल्हू और एक दुकान समर्पित की थी। उस अवसर पर वीर बल्लाल का एक प्रमुख महामण्डलेश्वर उद्धरे का शासक एक्कलरस भी उपस्थित था और

स्वयं उसने, उसके पट्टणसामि (राज्यसेठ), तैलव्यापारियों एवं अनेक नागरिकों ने भी दान दिये थे। उस समय महादेव उक्त महामण्डलेश्वर का ही महाप्रधान दण्डनायक था। उसके श्वसुर कोलिगाबुण्ड के आश्रित मल्लिसेट्टि और नेमिसेट्टि ने जब १२०८ ई. में शान्तिनाथ-जिनालय बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा की तो उस अवसर पर अपने श्वसुर और सालों के साथ महादेव दण्डनायक भी उपस्थित था और उसने भी दानादि में योग दिया था।

रामदेव विभु—गंगवाडि के मोनेगनकट्टे का शासक था, जहाँ उसने शान्तिनाथ भगवान् का एक विशाल जिनालय निर्माण कराके उसके लिए स्वगुरु मेघचन्द्र को जो देशीगण-पुस्तकगच्छ के नयकीर्ति के प्रशिष्य और बालचन्द्र अध्यात्मी के शिष्य थे, बनवसे के मोत्तदनायक तथा कई गवुण्डप्रभुओं से भूमिदान दिलाया था। जिनालय कनकाचल-कूट पर बनाया गया था। दान ११८६ ई. में दिया गया था। रामदेव विभु को श्रेष्ठगुणनिधान, बुध-निधि और सत्य-युधिष्ठिर कहा गया है।

नरसिंह सचिवाधीश—महासेनापति हुल्लराज की पुण्यात्मा पत्नी पद्मलदेवी से उत्पन्न उसका जिनभक्त धर्मात्मा सुपुत्र था। मुनि नयकीर्ति का वह गृहस्थ-शिष्य था। गुणवान्, पराक्रमी, युद्धवीर और गुरुभक्त था। उसने ११७३ ई. में बेक्कग्राम में एक जिनालय बनवाकर उसके लिए वही ग्राम राजा से स्वगुरु को दान में दिलवाया था।

हरियण्ण हेग्गडे—महाप्रधान सर्वाधिकारी-हिरिय-भण्डारी हुल्लराज का साला था और राजा का अश्वाध्यक्ष था। श्रीपाल योगी के शिष्य वादिराज की प्रेरणा से उक्त श्रीपाल के स्वर्गस्थ होने पर उनकी परोक्ष-विनय के रूप में परवादिमल्ल-जिनालय कुम्बेयनहल्लि ग्राम में १२०० ई. के लगभग निर्माण हुआ। यह जिनालय उक्त हरियण्ण के एक सम्बन्धी, कण्डच्चनायक की भार्या राजवेनायकिति के पुत्र कुन्दाड हेग्गडे नामक अधिकारी ने नयचक्रदेव की आज्ञा से बनवाया था और अश्वाध्यक्ष हरियण्णदेव ने उसमें जिनेन्द्रदेव की प्रतिष्ठा करायी थी।

कम्मटमाचय्य—राज्य का महाप्रधान-सर्वाधिकारी-तन्त्राधिष्ठायक था। उसने और उसके श्वसुर बल्लय्य ने कुम्बेयनहल्लि के परवादिमल्ल-जिनालय के लिए जो दान दिये थे, उनमें नित्य दीप जलाने के लिए तैल का टॅक्स भी सम्मिलित था। वादिराज ने उपर्युक्त अवसर पर (१२०० ई. में) प्राप्त समस्त दान अपने सधर्मा शान्तिसिंग आदि को सौंप दिये थे।

अमृत दण्डनायक—होयसल बल्लाल द्वितीय का यह महाप्रधान, सर्वाधिकारी, पहापसायत (आभूषणाध्यक्ष) एवं भेरुण्डन-मोत्त-विडायक (उपाधिधारियों का अध्यक्ष) दण्डनायक अमितय्य (अमृतचमूनाथ) चेट्टिसेट्टि और जकव्वे का पौत्र तथा हिरियमसेट्टि और सुगव्वे का पुत्र था। कल्ल, मसण और बसव उसके अनुज थे। लोक्कुगुण्डी उसका जन्मस्थान था, जहाँ उसने एक भव्य जिनालय एवं विशाल सरोवर बनवाया तथा एक सत्र, अग्रहार और प्रपा स्थापित किये थे। मन्दिर का नाम एक्कोटि-जिनालय था। अमृत दण्डाधीश के गुरु नयकीर्तिपण्डित थे। यद्यपि वह चतुर्थ वर्ण अर्थात् शूद्र जाति में

जन्मा था, उसे कविकुलज, धर्मिष्ठ, शुभमति, पुण्याधिक, सौम्यरम्याकृति और मन्त्रिचूड़ामणि कहा गया है। उसके तीनों भाई भी दण्डनायक आदि पदों पर आसीन थे। उक्त जिनालय के लिए अमृत दण्डाधिप ने १२०३ ई. में अपने भाइयों के साथ मिलकर प्रदेशके समस्त नायकों, नागरिकों एवं कृषकों की उपस्थिति में मूलनायक भगवान् शान्तिनाथ का नित्य अष्टविध-पूजन, मुनियों के आहारदान आदि के निमित्त स्वगुरु को भूमि आदि दान दिये थे। वह इतना उदारचेता था कि ब्राह्मणों के लिए भी उसने एक अग्रहार स्थापित किया था और अमृतेश्वर-शिव का मन्दिर भी बनवाया था।

मन्त्रीश्वर चन्द्रमौलि—भरतागम, तर्क, व्याकरण, उपनिषद्, पुराण, नाटक, काव्य आदि में निष्णात एवं विद्वन्मान्य शैवधर्मानुयायी, विद्वान् ब्राह्मण चन्द्रमौलि होयसल बल्लालदेव का मन्त्रिललाम और उसके दाहिने हाथ का दण्डस्वरूप था। यद्यपि वह स्वयं कट्टर शैव था, तथापि अपनी धर्मात्मा जैन पत्नी आचलदेवी के धार्मिक कार्यों में पूरा सहयोग देता था। उसके द्वारा निर्मापित जिनालय के लिए राजा से स्वयं प्रार्थना करके उसने ग्राम आदि दान कराये थे। यह उसकी तथा उक्त राज्य एवं काल की धार्मिक उदारता का परिचायक है। चन्द्रमौलि के पिता का नाम शम्भुदेव और माता का अक्कबे था।

धर्मात्मा आचलदेवी—मन्त्रीश्वर चन्द्रमौलि की पत्नी आचियक्क, आचाम्बा या आचलदेवी परम जिनभक्त थी। उसके पितामह शिवेयनायक मासवाडिनाड के प्रमुख थे और सद्श्रावक थे। उनकी धर्मात्मा पत्नी चन्दब्बे थी और पुत्र सोवणनायक था। सोवण की धर्मपत्नी बाचब्बे थी, पुत्र सोम और पुत्री यह आचलदेवी थी। देशीगण के नयकीर्ति-सिद्धान्तदेव के शिष्य बालचन्द्र मुनि की वह गृहस्थ-शिष्या थी। उस रूप-गुण-शील-सम्पन्न महिलारत्न ने ११८२ ई. में श्रवणबेलगोल में बड़ी भक्तिपूर्वक एक अति भव्य एवं विशाल पार्श्व-जिनालय निर्माण कराया था और स्वगुरु से उसकी ससमारोह प्रतिष्ठा करायी थी। आचियक्कन का संक्षिप्त रूप 'अक्कन' होने से वह मन्दिर अक्कन-बसदि के नाम से भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि मन्दिरों के उक्त नगर में यही एक जिनमन्दिर होयसल-कला का अवशिष्ट तथा उत्कृष्ट नमूना है। गर्भगृह, सुखनासि, नवरंग, मुखमण्डप आदि से युक्त इस सुन्दर जिनालय मे भगवान् पार्श्वनाथ की सप्तफणी पाँच फुट उत्तुंग मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठित है। सुखनासि के आमने-सामने धरणेन्द्र और पद्मावती की साढ़े तीन फुट ऊँची मूर्तियाँ है। द्वार के आजू-बाजू सुन्दर जालियाँ, नवरंग में कृष्ण पाषाण के चार चमकदार स्तम्भ, छत में कलापूर्ण नवछत्र, गुम्बद पर विविध प्रस्तरांकन और शिखर पर सिंहललाट है। इस मन्दिर के निर्वाह के लिए स्वयं उसके पति मन्त्रीश्वर चन्द्रमौलि ने महाराज से प्रार्थना करके बम्मेयनहल्लि ग्राम प्राप्त किया और उसके गुरु बालचन्द्र को दान दिलाया था। गोम्मटेश्वर की पूजा के लिए भी बेक्क नामक ग्राम को राजा से प्राप्त करके आचलदेवी ने दान कराया था। इस महिला ने अन्य जिनमन्दिर भी निर्माण कराये और धार्मिक कृत्य किये प्रतीत होते हैं।

महासति हर्य्यले—एक वीर सामन्त की पत्नी थी और उसका सुपुत्र बूचय-नायक भी वीर सामन्त था। उसका निवास स्थान करडालु था जहाँ उसने जिनालय बनवाया, जो अब ध्वस्त है। उस ध्वस्त बसदि के ११७४ ई. के लगभग के स्तम्भ-लेख के अनुसार 'अनुपम पुण्यभाजन, जिनेन्द्र पदाब्जविलीन-चित्त, पावन-सुचरित्र-महासति' हर्य्यले ने अपना अन्त समय निकट आने पर अपने प्रिय सुपुत्र बूचय-नायक को अपने पास बुलाकर कहा, "वत्स! स्वप्न में भी मेरा ध्यान न करना, अपितु धर्म में चित्त लगाना। उसी का सदैव चिन्तवन करना और सदैव धर्मकार्य करते रहना। ऐसा करने से ही नरेन्द्र, सुरेन्द्र, फणीन्द्र आदि के राज्य-वैभव और सुख तथा अन्त में मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति होगी। ऐसा निश्चय करके हे सत्यनिधि बूचय-नायक, तू धर्म और दान में चित्त लगा। पुण्य की अनुमोदना से भी असीम पुण्य प्राप्त होता है। अतएव हे धर्मधुरीण बुचिदेव, अपने और मेरे पुण्य के हेतु तू जिन-मन्दिरों का निर्माण कराना। मेरे देव (स्वर्गीय पति) के मित्रों का सदैव आदर करना और अपने छोटे (बालक) चाचा का सदैव ध्यान रखना।" पुत्र को यह अन्तिम उपदेश देने के पश्चात् धर्मात्मा रानी ने जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक किया और इस दृढ़ विश्वास के साथ कि भगवान् का पवित्र गन्धोदक उसके समस्त पापों को धो देगा, उसे भक्तिपूर्वक मस्तक पर चढ़ाया। तदनन्तर भगवान् जिनेन्द्रचन्द्र के चरणों के सान्निध्य में, सदैव अपने स्मरण में रहनेवाले पंच-मंगल महापद (पंच-नमस्कार-मन्त्र) का उच्च स्वर से उच्चारण करते हुए और जिस मोहपाश से वह अबतक घिरी हुई थी उसे छिन्न-भिन्न करते हुए, धर्मात्मा महासति हर्य्यले ने विधिपूर्वक समाधिमरण किया और परिणामस्वरूप 'इन्द्रलोक में प्रवेश किया। सुरेन्द्रलोक की देवियों ने वहाँ इस महानुभाव महिलारत्न का गीत-वाद्य-नृत्य आदि से महोत्सवपूर्वक भव्य स्वागत किया।' इस सामन्त-पत्नी और सामन्त-जननी महासती रानी हर्य्यलेदेवी का उक्त सुमरण मृत्यु पर विजय प्राप्त करनेवाले धर्मात्माजनों के लिए आदर्श है। यह महासती हर्य्यले, हरियलदेवी या हरिहरदेवी कौण्डकुन्दान्वय के चान्द्रायणदेव की गृहस्थ-शिष्या थी।

ईचण और सोवलदेवी—वीर बल्लाल का मन्त्री ईचण और उसकी रूपवती एवं गुणवती भार्या सोवलदेवी, दोनों परम जिन-भक्त थे। इस दम्पति ने गोग्ग नामक स्थान में वीरभद्र नामक सुन्दर जिनालय निर्माण कराया था। वैसा जिनालय पूरे बेलगवत्तिनाड में दूसरा नहीं था। इस सुन्दर जिनालय के निर्माण द्वारा उस प्रदेश को ईचण मन्त्री और सोवलदेवी ने मानो दूसरा कोप्पण ही बना दिया था। यह मन्दिर १२०५ ई. के लगभग बना था। इस सोवलदेवी ने १२०७ ई. में उसी मन्दिर के लिए अनेक प्रकार के धान्य का तथा अन्य दान पादप्रक्षालनपूर्वक स्वगुरु वासुपूज्यदेव को दिये थे। उसने इस अवसर पर एक कन्यादान भी किया था—अर्थात् एक निर्धन कन्या का विवाह स्वयं सम्पन्न कराया था। विरुपय्य नामक व्यक्ति ने भी मन्दिर के लिए भूमिदान दिया था। नागगौड को उक्त पुण्य की रक्षा का भार सौंपा गया था।

अपने अनुज की स्मृति में १२०८ ई. में उक्त विख्यात सन्धिविग्रहिक-मन्त्री ईचण की साध्वी पत्नी इस सोमलदेवी ने एक बसदि का निर्माण कराके उसके लिए दानादि दिया था। इस धर्मात्मा पतिपरायणा महिला की उपमा सीता और पार्वती से दी गयी है।

सोविसेट्टि—एरेयंक नाम का एक सम्भ्रान्त सज्जन था जिसने एक जिनालय, एक देवमन्दिर, एक तालाब, एक अण्डागार तथा मुदुवोलल में सुरासुर-युद्ध के चित्र बनवाये थे। उसका पुत्र बम्मिसेट्टि था जिसकी भार्या का नाम माचियक्क था। इन दोनों का पुत्र गन्धिसेट्टि हुआ जिसकी पत्नी का नाम माकवे था। इस दम्पति का पुत्र प्रस्तुत सोम या सोविसेट्टि था। उसकी सुशीला, गुणवान्, पुण्यवती सती भार्या का नाम मरुदेवी था और उसके गंजग, नारसिंग, सिंगण और बूचण नाम के चार पुत्र थे। इस प्रताप-होय्सल-पट्टणसामि सोविसेट्टि ने समुद्र-जैसे विशाल तीन सरोवर तथा पर्वत-जैसा उत्तुंग पार्श्व-जिनालय अपना ही नाम धारण करनेवाले नगर (सोमपुर) में भक्तिपूर्वक बनवाये थे। वह देशीगण-पुस्तकगच्छ के आचार्य नयकीर्ति के शिष्य तथा दामनन्दि-त्रैविद्य के अनुज, चन्द्रप्रभु-पादपूजक बालचन्द्र मुनीन्द्र का गृहस्थ-शिष्य था। उस समय वीर बल्लादेव के अधीनस्थ दक्षिण प्रदेश का राजा प्रभुगाविण्ड नरसिंह नायक था। इस सामन्त का आश्रित, उसका राज्यसेठ एवं नगरसेठ यह पट्टण-स्वामि सोविसेट्टि था। अपने स्वामी इस सामन्त नरसिंह-नायक की प्रसन्नता एवं अनुमति से सोविसेट्टि ने स्वनिर्मापित जिनालय में श्री पार्श्व-जिनेन्द्र की अष्टविधि-अर्चा, जिनालय का खण्ड-स्फुटित-जीर्णोद्धार और मुनि-आहार-दान की व्यवस्था के लिए ११७८ ई. में स्वगुरु बालचन्द्र को पाद-प्रक्षालनपूर्वक भूमिदान दिया था। उसी अवसर पर माधव-दण्डनायक की आज्ञा से नारन-बेर्गडे ने मन्दिर के दीप के लिए एक तेल-मिल तथा घाट पर उतरनेवाले माल की चुंगी का दशमांश समर्पित किया था। अभिलेख में सोविसेट्टि को जितात्म, चारित्राराम, परनारीपुत्र, शरणागत-वज्र-पंजर, गुणधाम, अपरिमित दानी, नव-तत्त्वविद्, अभिमान-मेरु, सज्जन-मित्र, निजकुल-कुवलय-चन्द्र, यशस्वी, दानविनोद, जिनपद-कमल-मधुकर, जिनमार्ग अलंकार इत्यादि कहा गया है।

देविसेट्टि—कडूर ज़िले के कलसापुर स्थान के आजनेय-जिनालय में प्राप्त ११७६ ई. के शिलालेख के अनुसार स्वगुरु देशीगच्छीय बालचन्द्र मुनि की प्रेरणा से धनकुबेर देविसेट्टि ने राजधानी द्वारसमुद्र में वीरबल्लाल-जिनालय नाम का भव्य जिन-मन्दिर बनवाया था और उसकी प्रार्थना पर महाराज वीरबल्लाल ने उक्त मन्दिर की पूजा, संरक्षण, पुजारियों आदि के लिए कई ग्राम तथा कतिपय राज्यकर उसके गुरु बालचन्द्र को दान दिये थे। सम्भवतया इसी श्रीमन्महा-बड्ड व्यवहारी (बड़े व्यापारियों के प्रमुख) देविसेट्टि और एक अन्य बड़े व्यापारी कवडमय्य ने राजधानी की शान्तिनाथ-बसदि के लिए तथा एक अन्य मल्लिनाथ-जिनालय के लिए दान दिये थे और अन्य लोगों से भी दिलवाये थे।

मारिसेट्टि, कामिसेट्टि, भरतिसेट्टि एवं राजसेट्टि—राजधानी द्वारसमुद्र के इन चार प्रधान जैन व्यापारियों एवं सेठों ने स्थानीय नागरिकों तथा समस्त विदेशी व्यापारियों के सहयोग से एक अत्यन्त सुन्दर एवं विशाल जिनालय भगवान् अभिनव-शान्तिनाथदेव के नाम से बनाया था, जो नगर का प्रमुख जिनभवन होने से नगर-जिनालय कहलाया। उक्त राज्यसेठों की प्रार्थना पर प्रताप-चक्रवर्ती वीरबल्लालदेव अपने कुमार (युवराज नरसिंह), समस्त प्रभु-गावुण्डों एवं नाड-गावुण्डों (सामन्त-सरदारों) के साथ उक्त जिनालय के दर्शन के लिए गया तो वहाँ भगवान् जिनेन्द्र के अष्टविध-पूजोत्सव एवं मुनियों को दिये जानेवाले आहारदान को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और समस्त सामन्तों की प्रार्थना पर उक्त जिनालय के लिए उसने मुनि वज्रनन्दि-सिद्धान्तदेव को दो ग्राम प्रदान किये। वह वज्रनन्दि द्रमिलसंघी आचार्य श्रीपाल-त्रैविद्य के शिष्य थे। उपर्युक्त चारों सेठ भी उन्हीं श्रीपाल-त्रैविद्य के गृहस्थ-शिष्य थे।

आदिगवुण्ड—महाप्रधान आदिगवुण्ड कालगवुण्ड का पौत्र, होन्नगवुण्ड और जक्के-गवुण्डि का पुत्र तथा मावुडि, मार, माच और नाक गवुण्डों का पिता था। वह वीरबल्लाल द्वितीय के दण्डेश बोप्पदेव का आश्रित था। यह परिवार द्रमिलसंघी वासुपूज्य मुनि के शिष्य पेरुमलदेव का गृहस्थ-शिष्य था। उक्त स्वगुरु के लिए आदिगवुण्ड और उसके पुत्रों ने एक विशाल जिनालय बनवाया था और उसके लिए १२४८ ई. में भूमि-दान दिया था जिसके देने में कोण्डलि के ४० जैन परिवारों के साथ समस्त ब्राह्मण भी सम्मिलित थे।

१२२० ई. में वीरबल्लाल की मृत्यु के उपरान्त होयसल वंश की अवनति प्रारम्भ हो गयी। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी नरसिंह द्वितीय का राज्य अल्पकालीन रहा। तदनन्तर नरसिंह के पुत्र सोमेश्वर ने १२४५ ई. तक राज्य किया। उसकी दो रानियाँ थी, जिनके पुत्रों में परस्पर राज्य के लिए संघर्ष चला, अन्ततः राज्य के दो टुकड़े हो गये—एक पर नरसिंह तृतीय (१२५४-१२९१ ई.) तथा दूसरे (दक्षिणी भाग) पर रामनाथ (१२५४-१२९७ ई.) पृथक्-पृथक् शासक रहे। ये दोनो ही राजे जिनधर्म-भक्त रहे प्रतीत होते हैं।

सोमेश्वर होयसल (१२२५-१२४५ ई.)—की परम्परागत उपाधि सम्यक्त्व-चूडामणि उसका जैन होना सूचित करती है। उसकी अनुमति से उसके मन्त्री रामदेव नायक द्वारा एक व्यवस्थापत्र तैयार किया गया था जिसके अनुसार श्रवणबेलगोल के भीतर राजकरों आदि पर सम्पूर्ण अधिकार वहाँ के जैनाचार्य का था। वहाँ व्यापारी भी प्रायः सब जैन ही थे। उनकी भी उक्त शासन में सहमति थी।

होयसल नरसिंह तृतीय—बिज्जलरानी से उत्पन्न सोमेश्वर का पुत्र था और प्राचीन कर्णाटक साम्राज्य के पैतृक भाग तथा राजधानी द्वारसमुद्र पर अधिकृत हुआ था। जब १२५४ ई. में वह राजधानी द्वारसमुद्र के सुप्रसिद्ध विजय-पार्श्वदेव-जिनालय में दर्शनार्थ गया तो वहाँ उसने देव-पूजन किया, मन्दिर के पूर्ववर्ती शासनों (फर्मानों) को

देखा, उन्हें स्वीकृत किया और स्वयं भी भूमिदान दिया। अपने बहनोई पद्मिदेव द्वारा प्रदत्त भूमि पर एक भवन बनवाकर भी उसने मन्दिर को दे दिया। अपने उपनयन-संस्कार के अवसर पर १२५५ ई. में भी इस पन्द्रह वर्ष आयुवाले किशोर राजा ने भगवान् विजय-पार्श्वदेव की पूजा के लिए दान दिया था। उसके गुरु मूलसंघ-बलात्कार-गण के कुमुदेन्दुयोगि के शिष्य और 'सार-चतुष्टय' के रचयिता माघनन्दि-सिद्धान्त थे। राजा ने १२६५ ई. में राजधानी के कलि-होयसल-जिनालय में दर्शनार्थ पधारकर अपने महाप्रधान सोमेय दण्डनायक के सहयोग से त्रिकूट-रत्नत्रय-शान्तिनाथ-जिनालय के संरक्षण के लिए स्वगुरु को पन्द्रह ग्राम दान किये थे। तभी से वह मन्दिर नरसिंह-जिनालय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजधानी के नागरिकों ने १२५७ ई. में द्रव्य एकत्रित करके भगवान् शान्तिनाथ की एक नवीन प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी, जिसके लिए राजा ने दान दिया। उपरोक्त सोमय्य दण्डनायक ने १२७१ ई. में राजधानी के निकट एक प्राचीन बसदि का पुनरुद्धार किया था। राजधानी के नगर-जिनालय के १२८२ ई. के शिलालेख में स्पष्टतया लिखा है कि आचार्यश्रेष्ठ महामण्डलाचार्य माघनन्दि-सिद्धान्त इस होयस नरेश के राजगुरु थे, जिन्हें उस वर्ष भी उसने दान दिया था। राजा के माधव नामक एक अन्य दण्डनायक ने १२८३ ई. में कोप्पणतीर्थ की चतुर्विंशति-तीर्थंकर-बसदि में एक नवीन जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठापित करके उन्हीं गुरु माघनन्दि को दान दिया था। उसी वर्ष श्रवणबेलगोल के समस्त जौहरियों (माणिक्य नगरंगल) ने उक्त स्थान के नगर-जिनालय के आदिदेव की पूजन के हेतु अपने गुरु उक्त माघनन्दि को भूमिदान दिया था और १२८८ ई. में उन्होंने द्रव्य एकत्र करके उसका जीर्णोद्धार कराया थ तथा अपनी आय का एक प्रतिशत दान किया था। इसी राजा के प्रश्रय में मल्लिकार्जुन के पुत्र जैन विद्वान् केशिराज (१२६० ई.) ने 'शब्दमणिदर्पण' नामक प्रामाणिक कन्नड व्याकरण लिखा था और कुमुदेन्दु ने १२७५ ई. में कन्नडी भाषा में जैन-रामायण रची थी।

रामनाथ होयसल—सोमेश्वर की दूसरी रानी देवलदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र रामनाथ तमिल प्रदेश एवं कोलर प्रान्त का शासक हुआ। कन्ननूर (विक्रमपुर) को उसने अपनी राजधानी बनाया और १२५४ से १२९७ ई. तक राज्य किया। उसने १२७६ ई. में कोगलि नामक स्थान में चेन्न-पार्श्व-रामनाथ-बसदि का निर्माण कराया था, जिसके लिए उसके राज्य-सेठ नालप्रभु देविसेट्टि ने भूमिदान दिया था। दो तिथिरहित शिलालेखों में स्वयं राजा द्वारा उक्त जिनालय के लिए स्वर्ण-दान दिये जाने का उल्लेख है। कोगलि के जैनगुरु उभयाचार्य का भी इस राजा ने सम्मान किया था और कोल्हापुर के सामन्त-जिनालय को भी दान दिया गया था।

होयसल बल्लाल तृतीय (१२९१-१३३३ ई.)—नरसिंह तृतीय का पुत्र एवं उत्तराधिकारी वीरबल्लाल तृतीय इस वंश का अन्तिम नरेश था। होयसलों की राज्य-शक्ति पतनोन्मुख थी, जिसे अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुग़लुक के बर्बर आक्रमणों

एवं भयंकर लूटमार ने धराशायी कर दिया। तथापि यह वीरबल्लाल अन्त तक अपने स्वदेश की स्वतन्त्रता और राज्य की रक्षा के लिए वीरतापूर्वक जूझता रहा। धर्म की ओर ध्यान देने का उसे अवकाश ही नहीं था। स्वराज्य की रक्षा के प्रयत्न में उसने वीरगति पायी। यद्यपि अपने वंश एवं राज्य की रक्षा करने में वह सफल नहीं रहा तथापि मरने के पूर्व ऐसी व्यवस्था कर गया, जिसके फलस्वरूप उसकी मृत्यु के तीन वर्ष के भीतर ही विजयनगर साम्राज्य का उसके द्वारा बोया हुआ बीज अंकुरित हो उठा और शीघ्र ही लहलहाने लगा। इस वीरबल्लाल के शासनकाल में भी जैनधर्म ही कर्णाटक देश का सर्वोपरि एवं प्रधान धर्म था और यह राजा भी उसका पोषक और संरक्षक यथासम्भव रहा। जब १३०० ई. में राजधानी द्वारसमुद्र में महामुनि रामचन्द्र-मलधारिदेव ने समाधिमरण किया तो समस्त जनता ने उत्सव मनाया और उक्त जैन-गुरु की मूर्तियाँ बनवाकर स्थापित कीं। उसी वर्ष रट्टकवि नामक जैन विद्वान् ने राज्याश्रय में प्रकृति-विज्ञान पर 'रट्टसूत्र' या 'रट्टमाला' नाम का ग्रन्थ रचा। राजा के महा-प्रधान-सर्वाधिकारी केतेय दण्डनायक ने १३३२ ई. में एडेनाड की कोलुगण-बसदि नामक जिनालय को दो ग्राम प्रदान किये थे।

सेनापति सातण्ण—सम्यक्त्व-चूडामणि आदि विरुदधारी होयसलनरेश सोमेश्वर के सैन्याधिनाथ (प्रधान सेनापति) शान्त-दण्डेश विजयण्ण मन्त्री के वंश में उत्पन्न हुए थे। यह सेनानाथ-शिरोमणि बन्दिजन-चिन्तामणि, सुजन-वनज-वन-पतंगे थे। इनका अनुज काम श्रीजिनेन्द्र के चरण-कमलों का भ्रमर, यशस्वी राजपुरुष था। उसकी पत्नी नाकव्य की पुत्री दुर्गाम्बिका थी और सोम एवं राम नाम के दो पुत्र थे। यह सोम या सोवरस भी करण-गणाग्रणी अर्थात् राज्य के प्रमुख लेखाधिकारी थे। यह पुरुषरत्न अमल गुणगणधाम थे। सोवरस की धर्मात्मा पत्नी से उत्पन्न उनके पुत्र यह सात या सातण्ण थे। सातण्ण की पत्नी वनिता-गुण-रत्न बोघवे थी। यह परिवार देशीगण-पुस्तक-गच्छ के आचार्य भानुकीर्ति के शिष्य माघनन्दि-व्रती का गृहस्थ-शिष्य था। सातण्ण को सातिशय-चरित-भरित, भूतभवद्भावि-भव्यजन-संसेव्य, अमलगुण-सम्भूत, विद्यादि-गुण-रूप-निलय, जिनपदपयोरुहाकरहंस इत्यादि कहा गया है। इस धर्मात्मा सातण्ण ने अपने इष्ट-गोत्र-मित्र-पुत्र-कलत्र आदि की सुखसम्भूति के निमित्त १२४८ ई. में मनलकेने नामक स्थान में श्री शान्तिनाथ भगवान् का मन्दिर पुनः निर्माण कराकर उसपर स्वर्णकलश चढ़ाया था, प्रतिष्ठा करायी थी और मन्दिर में जिनार्चन एवं आहारदान के हेतु भूमि का दान स्वगुरु माघनन्दी-व्रती को दिया था।

नलप्रभु देविसेट्टि—होयसल रामनाथ के समय में प्रसिद्ध राज्यश्रेष्ठि था। जब १२७६ ई. में उक्त राजा ने कोगलि में चेन्न-पार्श्व-रामनाथ-बसदि नामक जिनालय बनवाया था तो उसके लिए इस सेठ ने प्रभूत भूमिदान दिया था।

माधव दण्ड नायक—होयसल नरसिंह तृतीय के समय में एक जैन सेनापति था जिसने कोप्पण तीर्थ पर एक व्रत के उद्यापनस्वरूप एक जिनालय का निर्माण कराया

था और उसके लिए मूलसंघ-देशीगण के माघनन्दि सिद्धान्त को दान दिया था। वह उनका गृहस्थ-शिष्य था।

सोमेय दण्डनायक—होयसल नरसिंह तृतीय के महाप्रधान सोमेय दण्डनायक ने राजधानी के त्रिकूट-रत्नत्रय-नरसिंह-जिनालय के लिए तथा उसमें शान्तिनाथ जिनेन्द्र की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए राजा से तथा द्वारसमुद्र के नागरिकों से माघनन्दि मुनि को दान दिलाया था और उक्त दानशासन की व्यवस्था की थी।

केतेय दण्डनायक—वीरबल्लाल तृतीय का महाप्रधान, सर्वाधिकारी एवं सेनापति केतेय दण्डनायक परम जैन था। उसने १३३२ ई. में एडेनाड की कोलुगण-बसदि (जिनालय) के लिए दो ग्रामों के राज्यकरों का दान दिया था।



पूर्व मध्यकालीन दक्षिण के उपराज्य एवं सामन्त वंश

उत्तरवर्ती गंगराजे

बम्मंदेव-पेर्म्मानडि भुजबलगंग—गंगवंश के उत्तरवर्ती राजाओं में रक्कसगंग द्वितीय का भतीजा और कलियंग का पुत्र बम्मंदेव अधिक प्रसिद्ध हुआ। उसकी रानी गंग-महादेवी भी यशस्वी महिला-रत्न थी। यह दोनों राजा-रानी मूलसंघ-काणूरगण-मेषपाषाणगच्छ के प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव के गृहस्थ-शिष्य थे। बम्मंदेव महामण्डलेश्वर कहलाते थे। इनके चार पुत्र थे—मारसिंग, सत्य (नन्निय) गंग, रक्कसगंग और भुजबलगंग तथा पौत्र मारसिंहदेव-नन्नियगंग था। बम्मंदेव ने १०५४ ई. के लगभग गंगों के प्राचीन मण्डलि-तीर्थ की पट्ट-बसदि को, जो पहले लकड़ी की बनी थी, पाषाण मे निर्मित कराकर उसके लिए हुलियकेरे ग्राम का दान दिया और अपने द्वारा शासित नाड (प्रान्त) के गाँवों में कुलदेवी पद्मावती को पाँच पण की शाश्वत भेंट दी। रानी गंगमहादेवी पाण्ड्यकुल में उत्पन्न हुई थी और रत्नत्रय-धर्म की आराधिका थी। बम्मंदेव का छोटा भाई गोविन्दर था। जब गंग-पेर्म्माडिदेव (बम्मंदेव) अपने उक्त भाई व अन्य परिवार के साथ सुख से राज्य कर रहा था तो १०७९ ई. में उसने तट्टकेरे नामक स्थान मे आकर उस प्रदेश का पूरा शासन-भार अपने धर्मात्मा सामन्त नोकय्य को सौंप दिया और उसके धर्म-कार्यों में प्रोत्साहन दिया था। स्वयं यह गंगनरेश इस काल में चालुक्य सम्राटों का महासामन्त था। उसने (या उसके पुत्र ने) धर्मात्मा केतब्बे के पुत्र बिट्टिदेव, बम्मगावुण्ड और नालप्रभु के साथ १११० ई. मे मुनिचन्द्र-सिद्धान्त को दान दिया था।

सामन्त नोक्कय्य—गुणवान् पोलेयम्म की पत्नी रमणीरत्न केलेयब्बे से उनका कुलदीपक सुपुत्र पेर्गडे-नोक्कय्य हुआ। उसका विवाह मण्डलि के कँवगावुण्ड की पुत्रियों कालेयब्बे और मल्लियब्बे के साथ हुआ था। पहली रानी से गुज्जण नाम का पुत्र हुआ था जो पेर्म्माडि-गावुण्ड के नाम से विख्यात हुआ। दूसरी पत्नी से जिनदास नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब नोक्कय्य अपने दोनों पुत्रों के साथ सुख से रह रहा था तो १०७९ ई. में उसके स्वामी गंगपेर्म्माडिदेव (बम्मंदेव-भुजबलगंग) ने तट्टकेरे आकर वहाँ का समस्त शासन-भार नोक्कय्य को सौंप दिया। नोक्कय्य ने तट्टकेरे में एक जिनमन्दिर बनवाया और एक विशाल सरोवर खुदवाया। उसने और भी कई जिनमन्दिर हरिगे और नेल्लवत्ति मे बनवाये। तट्टकेरे और नेल्लवत्ति की बसदियों के लिए राजा बम्मंदेव ने उसे दो भेरी, एक मण्डप, चामर तथा बड़े नगाड़े राज्य की ओर से प्रदान किये और

राजा को उसने जो भेंट दी थी उसके बदले राजा ने उसे आठ गाँवों की गावुण्ड-वृत्ति, बीस घोड़े, पांच सौ दास तथा पनसवाड़ी प्रदान की। राजा का यह प्रिय पेर्गडे-नोक्कय्य उसका महाप्रधान भी था। वह स्वामिभक्त, बुद्धिमान्, धैर्यवान्, सौजन्यतीर्थ, कलियुग-साधक, गंगनरेश के लिए हनुमान् और जिनचरणों का आराधक था। उसके गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्त थे। ऐसा लगता है कि उपर्युक्त पाँच या छह मन्दिरों में से एक उसने अपने पुत्र जिनदास की स्मृति (परोक्ष विनय) में बनवाया था। राज्य के सन्धि-विग्रहिक मन्त्री दामराज ने यह शासन लिखा था और सान्तोज पद्म ने उसे उत्कीर्ण किया था।

महारानी बाचलदेवी—आलहल्लि के ११९२ ई. के शिलालेख में गंगनरेश बर्म्मदेव-भुजबलगंग-पेर्म्माडिदेव (गंगरस) के नाम के साथ प्राचीन गंगराजाओं की सभी परम्परागत उपाधियों का प्रयोग हुआ है और लिखा है कि उसकी पट्टरानी गंग-महादेवी ने, जो परिवार-सुरभि और अन्तःपुर-मुख्यमण्डन थी, अपने छोटे भाई पट्टिगदेव के लिए गंगवाडि का मुकुट धारण किया था—सम्भवतया वह बर्म्मदेव के साथ उसका विवाह कराने में मुख्य कारण रहा होगा। समस्त रानियों और राजाओं में वह सर्वाधिक प्रतिष्ठित थी। उसके चारों पुत्र भी महान् वीर योद्धा थे। उसकी एक सपत्नी, महामण्ड-लेश्वर बर्म्मदेव की दूसरी रानी, बाचलदेवी थी। जब शेष परिवार मण्डलि-एक हजार प्रान्त में अपने निवास स्थान एडेहल्लि में ११९२ ई. में सुखपूर्वक रह रहा था, रानी पेर्गडे-बाचलदेवी बन्निकेरे में निवास कर रही थी। लोक में जैसे समुद्र-परिवेष्टित गंगवाडि देश प्रसिद्ध है और उसमें भी मण्डलिनाड प्रान्त, उसी प्रकार मण्डलिनाड की नाक यह बन्निकेरे नगर था। इस रानी ने अपने बड़े भाई 'जिनपदाम्बुज-भृंग' बाहुबलि से परामर्श करके उस नगर में पार्श्वनाथ भगवान् का एक अति सुन्दर जिनालय बनवाया और अपने पति बर्म्मदेव, गंगमहादेवी, कुमार गंगरस, मारसिंगदेव, गोग्गिदेव, कलियंग-देव, समस्त मन्त्रियों और नाडप्रभुओं की उपस्थिति में उक्त जिनालय की प्रतिष्ठा कराके उसके लिए राजकर से मुक्त करके कुछ भूमि, एक बाग, दो कोल्हू और बन्निकेरे एवं बूदंगेरे दोनों नगरों की चुंगी की आय का दान दिया था। अन्य लोगों ने भी दान दिया। दान देशीगण के शुभचन्द्र मुनि को दिया गया था। इस अभिलेख में रानी बाचलदेवी की प्रभूत प्रशंसा की गयी है—उसे दानचिन्तामणि, दानकल्पलता, पतिप्रिया, पतिपरायणा, यशस्विनी, संगीत एवं नृत्य विद्या में निपुण, चतुर-विद्या-विनोद, कस्तूरी-कामोद, जिनगन्धोदकपवित्रीकृत-विनीलनील-कुन्तल, निखिल-कुल-पालिका, सौभाग्य-शची, परोपकारकमलाकरचक्रवाक, जिनशासन-साम्राज्य-यश-पताका इत्यादि कहा गया है। उसने अपने पति राजा को भी 'पात्र-जग-दले' उपाधि दी थी।

नन्नियगंग—बर्म्मदेव और गंग-महादेवी का पुत्र था। अपने कुल की परम्परानुसार वह एक धार्मिक राजा था। वह चालुक्य सम्राट् त्रिभुवनमल्ल का माण्डलिक सामन्त था। जिस समय यह धर्म-महाराजाधिराज नन्नियगंग-पेर्म्माडिदेव सुख-शान्ति से राज्य कर रहा था, तो १११७ ई. में कलंबूरु नगर के अधिपति पट्टणसामि बम्मिसेट्टि ने

अपने नगर में एक भव्य जिनालय बनवाया और उसमें देव की पूजा-अर्चा तथा मुनि-आहारदान आदि के लिए राजा नन्नियगंग से भूमि प्राप्त करके स्वगुरु मेषपाषाणगच्छ के शुभकीर्ति भट्टारक को समर्पित कर दी। नन्नियगंग की पट्टमहादेवी का नाम कंचल-महादेवी था। वह भी अपने पिता की भाँति प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव का गृहस्थ-शिष्य था। उसने ११२१ ई. में मण्डलि की पट्टदि-तीर्थ-बसदि में पचीस नवीन चैत्यालय बनवाये और उक्त बसदि के लिए स्वगुरु के शिष्य बुधचन्द्र-पण्डितदेव को भूमिदान दिया था। कल्लूरगुड्ड के इस ११२१ ई. के शिलालेख से पता चलता है इन गंग-राजाओं का शासन अपनी पैतृक जागीर मण्डलि-हजार प्रान्त पर था और उसके एडदोरे-सत्तर विषय में स्थित पूर्वोक्त पट्टदि-बसदि गंगवंश का अति प्राचीनकाल से राज्यदेवालय रहता आया था। मूलतः गंगवंश-संस्थापक दड्डिग और माधव ने ही उस जिनालय की स्थापना की थी। अनेक उत्थान-पतनों के बीच से गुजरते हुए भी अपने कुल के इस इष्ट देवायतन का सभी गंगराजाओं ने संरक्षण किया था। इस उत्तरकाल में भी बम्मदेव ने उस काष्ठ-निर्मित बसदि को पाषाण में १०५४ ई. के लगभग बनवाया था और दान दिया था। तदनन्तर उसके पुत्र मारसिंग ने जो माघनन्दि सिद्धान्त का गृहस्थ-शिष्य था १०६५ ई. में उसके लिए स्वयं भूमिदान दिया, तथा १०७० ई. में अपने भाई सत्य अपरनाम नन्नियगंग के साथ मिलकर दान दिया। तीसरे भाई भुजबलगंग ने जो मुनिचन्द्र सिद्धान्त का गृहस्थ-शिष्य था, ११०५ ई. में उसके लिए भूमिदान किया था। इस नन्निय-गंग अपरनाम सत्यगंग ने १११२ ई. में कुप्पलीतीर्थ में गंग-जिनालय बनवाकर उसके लिए गुरु माधवचन्द्र को पादप्रक्षालनपूर्वक भूमि का दान दिया था। इस राजा का पुत्र गंग-कुमार वीर, दानी और धर्मात्मा था। गंग राजे इस समय चालुक्य सम्राट् के महा-मण्डलेश्वर होयसल-नरेशों के माण्डलिक सामन्त थे।

सिंगण दण्डनायक—के पिता बोप्पण-दण्डनायक थे, माता नागियक्के थी और गुरु हरिनन्दिदेव थे। उद्धरे के महामण्डलेश्वर एक्कलरस के इस समर-सुभटाग्रणी, जैनचूडामणि वीर दण्डाधिपति सिंगण ने जिनपदों का ध्यान करते हुए सद्गति प्राप्त की थी, सम्भवतया ११८९ ई. में।

गंगराजा एक्कलरस—गंगवंश की एक शाखा का शासन बनवासि देश के जिड्डुलिगे प्रदेश पर था और उद्धरे उसका मुख्य नगर था। इस शाखा में चट्टिग नाम का एक विख्यात वीर पुरुष हुआ। उसका पुत्र 'कीर्तिराज,' 'रणमुखरसिक' आदि विरुदधारी मारसिंग नृप था, जिसका पुत्र एक्कलनृप था जो गंग-कुल-कमल-दिनकर, दानविनोद, उत्तुंगयश, परमार्थवीर, रूपवान्, भारती का कण्ठहार, सत्यभाषी, सुभटोत्तम, पराक्रमी इत्यादि गुणसम्पन्न था और नाना देशों के विद्वानों एवं कवियों के लिए अंगराज कर्ण के जैसा दानी था। वह होयसल नरेश वीर बल्लाल का महामण्डलेश्वर था। उसकी माता का नाम लकमादेवी था और उसकी बहन सुप्रसिद्ध चट्टियब्बरसि या चट्टलदेवी थी। राजा एक्कलरस के मन्त्री बाल-चमूनाथ का वंशज होयसलों का

वीर सेनापति महादेव-दण्डनाथ था। उसने जब ११९७ ई. में एरग-जिनालय बनवाकर उसमें शान्तिनाथदेव की प्रतिष्ठा की और उसके लिए स्वगुरु सकलचन्द्र को भूमि आदि दान दिये उस अवसर पर एक्कलरस भी सपरिवार उपस्थित थे और उक्त धर्म-कार्यों में उनका योग था।

सुग्गियब्बरसि—गंगनृप मारसिंग की बहन और एक्कलरस की बुआ थी। उसने पंच-बसदि का निर्माण कराया था, उसके लिए दान दिये थे और मुनियों के आहारदान की व्यवस्था की थी। वह माघनन्दिव्रती की गृहस्थ-शिष्या थी तथा पंचपरमेष्ठी की परमभक्त, मुनिजनसेवी, चारुचरित्र, गुणपवित्र और दानशीला रमणी थी।

कनकियब्बरसि—सुग्गियब्बरसि की बहन थी। इस राजकुमारी ने अपनी बहन के धर्मकार्यों में सहयोग दिया, उसके दिये दान आदि में वृद्धि की, जहाँ जिनमन्दिर नहीं थे, वहाँ उन्हें बनवाया और जहाँ जिस जिनालय या गुरु को आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति के हेतु दान दिये।

चट्टियब्बरसि—उद्धरे के शासक गंगराज मारसिंग की पुत्री, एक्कलरस की छोटी बहन, दशवर्म की पत्नी, एरग, केशव और सिंगदेव की जननी थी। यह प्रसिद्ध धर्मात्मा महिला बड़ी दानशीला थी। कामधेनु और चिन्तामणि से उसकी उपमा दी जाती थी।

शान्तियक्के—इस धर्मात्मा महिला के पिता का नाम कोटि-सेट्टि था, माता का बोपव्वे, चाचा का बोप्प-दण्डेश और पति का केति-सेट्टि था। यह परिवार गंग भूपाल एक्कलरस के आश्रय में उद्धरे नगर में निवास करता था। उसके पति केतिसेट्टि को सम्यक्त्व-रत्नाकर कहा गया है। वह स्वयं परम जिनभक्त, गुरुचरणों की सेविका, भव्य-शिखामणि, दान-सत्त्व और सुमति-निवास थी। उसके गुरु भानुकीर्ति सिद्धान्त थे। उसने और उसके पति ने उद्धरे की वह प्रसिद्ध बसदि बनवायी थी जो कनक-जिनालय के नाम से प्रसिद्ध हुई। स्वयं राजा एक्कलरस ने इस जिनालय के लिए उक्त गुरु को भूमिदान दिया था।

हुमच्च के सान्तर राजे

पोम्बुर्च्चपुर (हुमच्च) के सान्तर उग्रवंशी क्षत्रिय थे और सान्तलिगे—१००० प्रदेश के शासक थे। आठवीं शताब्दी में इस वंश का उदय हुआ और इसके राजे पहले राष्ट्रकूटों और तदनन्तर कल्याणी के चालुक्यों के प्रमुख सामन्तों में से थे। यह वंश प्रारम्भ से प्रायः अन्त तक जैनधर्म का भक्त अनुयायी रहा। दक्षिण भारत में जैनधर्म को शक्तिशाली बनाने में इस वंश का पर्याप्त योगदान था।

जिनदत्तराय—उत्तर मथुरा में राहु नाम का राजा हुआ जो मथुरा-भुजंग (वीर) के नाम से प्रसिद्ध था। वह उसी उग्रवंश में उत्पन्न हुआ था जिसमें तीर्थंकर पार्श्व का जन्म हुआ था। उसके वंश में अनेक पीढ़ियों के उपरान्त सहकार नाम का दुष्ट

राजा हुआ जो अन्ततः नरमांस-भक्षी हो गया। उसकी धर्मात्मा पत्नी से जिनदत्तराय का जन्म हुआ था, जिसे अपने पिता के आचरण पर बड़ी ग्लानि हुई। अतएव अपनी माता की सहमति से जन्मभूमि का त्याग करके वह दक्षिण देश चला गया। वहाँ उसने सिंहरथ नामक असुर का वध करके जक्कियब्बेदेवी को प्रसन्न किया और उससे सिंह-लांछन प्राप्त किया, अन्धकासुर का वध करके अन्धासुरनगर बसाया, कनकासुर का वध करके कनकपुर बसाया और कुन्द के दुर्ग से कर तथा करदूषण को भगाकर पद्मावतीदेवी को प्रसन्न किया। देवी वहीं एक लोक्किवृक्ष पर निवास करने लगी और उसने लोंकियब्बे नाम धारण करके वीर जिनदत्तराय के लिए सुन्दर राजधानी बसा दी जो कनकपुर अपरनाम पोम्बुर्च्चपुर (वर्तमान हुमच्च) के नाम से प्रसिद्ध हुई। हुमच्च की यह जैन यक्षी पद्मावती ही उसकी इष्टदेवी एवं कुलदेवी हुई। इस देवी की साधना से जिनदत्तराय को अद्भुत मन्त्रसिद्धि हुई थी। उसने साम्तलिगी-हजार प्रदेश पर अधिकार करके अपने राज्य की और वंश की, जिसका नाम उसने सान्तर रखा, स्थापना की। सम्भवतया सिद्धान्तकीर्ति नाम के जैनाचार्य उसके धर्मगुरु एवं राजगुरु थे। एक अभिलेख में जिनदत्तराय को कलस-राजाओं के कनक-कुल में उत्पन्न हुआ बताया है। उसने सर्वप्रथम अपनी कुलदेवी लोक्कियब्बे (पद्मावती) का मन्दिर हुमच्च में बनवाया और तदनन्तर अनेक जिनालय बनवाये थे और जिनाभिषेक के लिए कुम्बसेपुर गाँव दान में दिया था। उसी प्रेरणा से उसके बोम्मरस गौड आदि कई सामन्तों एवं सेट्टियों ने उक्त जिनालयों के लिए वार्षिक दान दिया था। जिनदत्त ने मधुराधीश्वर, पट्टि-पोम्बुर्च्चपुरवरेश्वर, महोग्रवंशललाम, पद्मावती-लब्ध-वर-प्रसाद, वानर-ध्वज और जिनपादाराधक आदि जो विरुद धारण किये थे, वे सब उसकी वंश परम्परा में चलते रहे। जिनदत्त का समय लगभग ८०० ई. है।

तोलपुरुष-विक्रम सान्तर—जिनदत्तराय का पुत्र या पौत्र था जो बड़ा प्रतापी, वीर और धर्मात्मा था। महोग्र-कुल-तिलक, निर्दोषसम्यग्दृष्टि, नय-प्रताप-सम्पन्न, न्याय करने में प्रसिद्ध, शत्रु राजाओं के शूरवीरों को पकड़ने में दक्ष, राम-जैसे धनुर्धारी इस नरेश ने अपने गुरु कोण्डकुन्दान्वय के मौनि-सिद्धान्त भट्टारक के लिए पाषाण का एक जिनालय बनवाकर उसके लिए उक्त मुनि को ८९७ ई. में दान दिया था। इस नरेश की महारानी पालियक्के ने अपनी माता सामियब्बे की स्मृति में पाषाण की एक बसदि (जिनालय) निर्माण कराकर उसकी प्रतिष्ठा माधवचन्द्र त्रैविद्य के शिष्य नागचन्द्रदेव के पुत्र मादेय-सेनबोव से करायी थी और उसके लिए राजा की सहमतिपूर्वक बहुत-सा दान दिया था। अगले वर्ष स्वयं राजा ने हुमच्च में गुड्डद-बसदि बनवायी और उसमें भगवान् बाहुबलि की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। इस राजा ने एक महादान दिया था, जिसके कारण वह दानविनोद और कन्दुकाचार्य कहलाया। इस राजा का समय लगभग ८५०-९०० ई. है। उसकी रानी का नाम लक्ष्मीदेवी था जिससे उसका पुत्र चागि-सान्तर हुआ जिसने चागि-समुद्र नामक सरोवर का निर्माण कराया था।

चागिसान्तर की पत्नी एज्जलदेवी से वीर-सान्तर हुआ, जिसकी पत्नी जाकलदेवी (शान्तिवर्मन की पुत्री) से कन्नर-सान्तर और कावदेव नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। वीर के पश्चात् कन्नर राजा हुआ और कन्नर के उपरान्त उसके भाई कावदेव की पत्नी चन्दलदेवी (वीरबयलनाथ की पुत्री) से उत्पन्न कावदेव का पुत्र त्यागि-सान्तर राजा हुआ। त्यागि-सान्तर की रानी नागलदेवी कदम्बवंशी हरिवर्मा की पुत्री थी। उसका पुत्र नन्नि-सान्तर हुआ, जिसकी पत्नी अरिकेसरी की पुत्री सिरियादेवी थी और पुत्र राय-सान्तर था। उसकी पत्नी अक्कादेवी से चिक्क-वीर-सान्तर हुआ। चिक्कवीर की पत्नी बिज्जलदेवी से अम्मणदेव-सान्तर हुआ। अम्मणदेव की रानी का नाम होचलदेवी था। इनका पुत्र तैलपदेव था और पुत्री बीरबरसि थी जो बंकियाल्व की रानी हुई। इस प्रकार लगभग ९०० से १०५० ई. पर्यन्त, कोई डेढ़ सौ वर्ष के बीच, तोलपुरुष-विक्रम-सान्तर के ये विभिन्न वंशज क्रमशः उसके राज्य के अधिकारी होते रहे। वे सब जैनधर्म के अनुयायी थे, किन्तु उनके कार्यकलापों के विषय में विशेष ज्ञातव्य उपलब्ध नहीं है। उपरोक्त तैलसान्तर (प्रथम) की दो रानियाँ थीं, एक तो बंकियाल्व की छोटी बहन (बीरबरसि की ननद) मांकब्बरसि थी और दूसरी गंगवंश-तिलक पायलदेव की सुता केलेयब्बरसि थी। इस राजा के तीन पुत्र थे— बीरदेव, सिंगन और बर्म्मदेव।

बीरदेव सान्तर—तैल-सान्तर प्रथम और महादेवी केलेयब्बरसि का ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी था, चालुक्य सम्राट् त्रैलोक्य मल्ल का वह महासामन्त था और अपने पैतृक राज्य सान्तलिगे-हजार का अधिपति तथा राजधानी पोम्बुर्च्चपुर का स्वामी था। वह जिनपादाराधक, शौर्यपरायण, कीर्तिनारायण, नीति-शास्त्रज्ञ, सर्वज्ञ, त्रैलोक्य-मल्ल आदि विरुद-धारी था। अपनी प्रसिद्ध राजधानी (हुमच्च) में इस वीर भूपाल ने अनेक जिनमन्दिर बनवाये थे, जिनमें नोकेयब्बेय या लोक्किय-बसदि सर्वोपरि थी। इस जिनालय को वस्तुतः उसके सहयोग एवं सहमति से उसके पट्टणसामि नोक्कय्यसेट्टि ने बनवाया था, जिसके लिए उसने तथा राजा ने १०६२ ई. में प्रभूत दान दिया था। वीर-देव-सान्तर की धर्मात्मा रानी चागलदेवी ने उसी वर्ष उक्त जिनालय के सामने मकरतोरण बनवाया था, दान दिये थे और अन्य धार्मिक कार्य राजा की प्रसन्नतापूर्वक किये थे। राजा की पट्टमहादेवी गंग-राजकुमारी कंचलदेवी अपरनाम वीर-महादेवी थी, जिससे उसके चार पुत्र—तैल, गोग्गिग, ओड्डुग और बर्म्म उत्पन्न हुए थे। इसकी दो अन्य रानियाँ बिज्जलदेवी और अचलदेवी थी। बिज्जलदेवी नोलम्ब-नरेश नारसिंग-देव की पुत्री थी।

रानी चागलदेवी—त्रैलोक्यमल्ल-वीर-सान्तरदेव की मनो-नयन-वल्लभा प्रिय रानी चागलदेवी रूप, गुण और शीलसम्पन्न धर्मात्मा महिलारत्न थी। वह सान्तर नरेश की वाक्श्री, कीर्ति-वधू और विजय-श्री थी, विनययुक्त और पतिपरायणा थी, रूप में रति और पतिभक्ति में पार्वती से उसकी उपमा दी जाती थी। उसने १०६२

ई. में अपने पति के कुलदेवतारूप नोक्कय्य (लोक्किय)-बसदि के सम्मुख एक अति सुन्दर मकर-तोरण बनवाया था, बल्लिगाँवे में चागेश्वर नाम का जिनालय बनवाया था, अनेक ब्राह्मणों को कन्यादान देकर अर्थात् अनेक ब्राह्मण कन्याओं का अपनी ओर से विवाह करके महादान पूर्ण किया था और प्रशंसकों तथा आश्रितों के समूह को यथेष्ट दान देकर स्वयं को दानी प्रसिद्ध किया था। चागलदेवी की जननी अरसिकब्बे ने भी अपनी धार्मिकता के लिए बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इस काल में सान्तर-राज्य का सर्वप्रधान ब्रह्माधिराज कालिदास था और लोक्किय-बसदि के लिए देकरस नामक श्रावक ने गुरु माधवसेन को एक ग्राम दान में दिया था।

पट्टणसामि नोक्कय—वीर-सान्तरदेव का आश्रित, उसका राज्यसेठ एवं नगर-सेठ, राजधानी की शोभा, सान्तर-राज्य का अभ्युदय करनेवाला, आहार-अभय-भैषज्य-शास्त्र-दान-तत्पर, विशद-यशोनिधान, श्री जैनधर्म का अतिशय प्रभावक, जिनागमोक्त आचरणवाला, जिनागम-निधि, जिनेन्द्र के चरणकमलों में लीन, 'सम्यक्त्व-वारासि' विरुदधारी धनकुबेर एवं धर्मात्मा श्रेष्ठि पट्टणसामि-नोक्कय्य था। उसने १०६२ ई. में राजधानी हुमच्च मे पट्टणसामि-जिनालय अपरनाम नोक्कय्य (या लोक्किय)-बसदि का निर्माण कराया, जो अत्यन्त भव्य, मनोहर और विशाल था। इस जिनालय के लिए उसने एक गाँव राजा से लेकर तथा एक अन्य गाँव स्वगुरु दिवाकरनन्दि-सिद्धान्त के शिष्य और अपने सहधर्मा सकलचन्द्र-पण्डितदेव को समर्पित कर दिये। उसने मन्दिर में प्रतिष्ठित प्रतिमा को रत्नों से मढ़ दिया और स्वर्ण, रजत, मूँगा एवं विविध रत्नों की तथा पंच धातु की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित की थीं। उसके इष्टदेव जिनेन्द्र थे, गुरु 'तत्त्वार्थसूत्र' की कन्नडी बालावबोधवृत्ति के कर्ता औरर चन्द्रकीर्ति भट्टारक के अग्रशिष्य सिद्धान्त-रत्नाकर दिवाकरनन्दि थे, स्वामी और शासक वीरदेव-सान्तर थे और पिता अम्मण-श्रेष्ठि थे। पट्टणसामि नोक्कय्य-सेट्टि के नाम से पट्टणसामिगेरे नाम का गाँव बसा था, जिसमें तथा अन्य तीन ग्रामों मे उसने चार सरोवर बनवाये थे और एक सौ स्वर्ण गद्याण देकर उगुरेनदी का सौलंग के पागिनगल सरोवर में प्रवेश कराया था। इस लेख को सकलचन्द्र मुनि के गृहस्थ-शिष्य मल्लिनाथ ने लिखा था। नोक्कय्य-सेट्टि का सुपुत्र वैश्य-वंश-तिलक, रूपवान्, विनयी, परोपकारी, पुण्यनिधि इन्दर था। एक दूसरा पुत्र मल्ल था जो विद्वान् और सुकवि था।

तैलपदेव (द्वितीय)-भुजबलसान्तर—वीरदेव-सान्तर का ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी यह तैल या तैलप (द्वितीय) था जिसने अपने भुजबल से सान्तर-राज्य का मुकुट प्राप्त किया था और भुजबल-सान्तर के नाम से शान्तिपूर्वक राज्य किया था। यह भी चालुक्य सम्राट् त्रैलोक्यमल्ल का महामण्डलेश्वर था और इसने भी त्रैलोक्यमल्ल उपाधि धारण की थी तथा सर्वत्र ख्याति अर्जित की थी। वह बड़ा शूरवीर और जिनपादाराधक था। उसने अपनी राजधानी हुमच्च मे, १०६५ ई. में, भुजबल-सान्तर-जिनालय का निर्माण कराके इसके लिए स्वगुरु कनकनन्दि को हरवरि

गाँव का दान दिया था। इस राजा ने पट्टण-स्वामि नोक्कय्य-सेट्टि द्वारा निर्मित तीर्थद-बसदि के लिए बीजकन-बयल का दान दिया था। अपनी पूज्या मौसी चट्टलदेवी तथा अपने तीनों भाइयों के निर्माण एवं धार्मिक कार्यों में इसका पूरा सहयोग रहता था।

नन्नि-सान्तर—वीरदेव और बीरल-महादेवी का दूसरा पुत्र गोग्गिग या गोविन्दर ही नन्नि-सान्तर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सन् १०७७ ई. में जब यह जिनपादाराधक नरेश अपनी मातृतुल्या चट्टलदेवी और छोटे भाइयों आड्डेयरस और बर्म्मदेव सहित शान्ति से राज्य कर रहा था तो इन लोगों ने हुमच्च की सुप्रसिद्ध पंचकूट-बसदि का निर्माण प्रारम्भ कराया था और उसकी नींव श्रेयान्सपण्डित से रखवायी थी। उस अवसर पर बहुत-से दानादि भी किये थे। इस राजा के गुरु कमलभद्र थे जो श्रीविजय-ओडेयदेव के शिष्य थे। दान भी उन्हें ही दिये गये थे।

विक्रम-सान्तर—भुजबल और नन्नि-सान्तर का अनुज और वीरदेव का तीसरा पुत्र ओड्डुग या ओड्डेयरस विक्रम-सान्तर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस राजा ने १०८७ ई. में पूर्वोक्त पंच-बसदि के लिए स्वगुरु अजितसेन-वादीभसिंह को दान दिया था। यही आचार्य सुप्रसिद्ध 'क्षत्र-चूडामणि' और 'गद्यचिन्तामणि' नामक संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता हैं। सेनबोव शोभनय्य दिगम्बरदास ने उक्त दान-प्रशस्ति को लिखा था। बीरदेव और उनके पुत्रों के प्रधान मन्त्री नगुलरस को भी १०८१ ई. के एक शिलालेख में जिनधर्म का सुदृढ़ दुर्ग कहा गया है।

तैल (तृतीय)-सान्तर—अपरनाम त्रिभुवनमल्ल-सान्तर पूर्वोक्त ओड्डुग अपरनाम विक्रम-सान्तर का ज्येष्ठ पुत्र था। उसकी जननी पाण्ड्य राजकुमारी चन्दलदेवी थी और छोटे भाई गोविन्द और बोप्पुग थे। यह राजा तार्किक-चक्रवर्ती अजितसेन-पण्डितदेव वादिघरट्ट का गृहस्थ-शिष्य था। उसने ११०३ मे अपनी पूज्या चट्टलदेवी के साथ अपनी पितामही बीरलदेवी की स्मृति मे पंचबसदि के सामने एक नवीन बसदि की नींव का पत्थर रखा था और उसके लिए तीनों भाइयों ने दानादि दिये थे। इस राजा की एक उपाधि 'जगदेकदानी' थी। उसकी रानी चट्टलदेवी से उसके दो सन्तानें थी, पुत्री पम्पादेवी और पुत्र श्रीबल्लभ जो विक्रम-सान्तर (द्वितीय) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दूसरी रानी अक्कादेवी से काम, सिंगन और अम्मण नाम के तीन पुत्र हुए थे। यह रानी नन्नि-सान्तर की पत्नी की छोटी बहन थी।

महिलारत्न चट्टलदेवी—या चट्टले, गंग-राजकुमारी थी। गंगनरेश रक्कसगंग प्रथम का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई नीतिमार्ग था। एक दूसरा भाई राजा वासव था, जिसकी पत्नी कंचलदेवी से पराक्रमी गोविन्ददेव और अरुमुलिदेव नाम के दो पुत्र हुए। इस अरुमुलिदेव अपरनाम रक्कसगंग द्वितीय की रानी गावब्बरसि मध्यदेशाधिपति हैहयवंशी अय्यण-चन्दरसंग की पुत्री थी। इन दोनों की सुपुत्री यह चट्टलदेवी थी, जिसका भाई राजविद्याधर था और बहन कंचल अपरनाम बीरलदेवी थी। इस प्रकार चट्टलदेवी रक्कसगंग प्रथम की पौत्री और रक्कसगंग द्वितीय की पुत्री थी। कांची के

पल्लवनरेश कडुवेट्टि की वह रानी थी। उसके पति की असमय मृत्यु हो गयी प्रतीत होती है, अतएव उसने अपनी छोटी बहन बीरलदेवी के पुत्रों को ही अपना पोष्यपुत्र बना लिया। बीरदेव-सान्तर की वह महादेवी बीरल अपने तैल (भुजबल), गोग्गिग (नन्नि), ओड्डुग (विक्रम) और बर्म्मदेव नामक चार शिशु पुत्रों को छोड़कर असमय काल-कवलित हो गयी थी। कुछ समय उपरान्त राजा बीरदेव-सान्तर का भी निधन हो गया। अतएव उन मातृ-पितृ-विहीन चारों सान्तर राजकुमारों की माता एवं अभिभाविका का स्थान उनकी इस स्नेहवत्सला मौसी चट्टलदेवी ने लिया। उसी ने मातृवत् उनका पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा एवं कुशल पथ-प्रदर्शन किया। वे चारों राजकुमार भी उसे अपनी सगी जननी ही मानते-समझते थे, उसे पूरा पुत्र-स्नेह, आदर और सम्मान देते थे तथा उसके आज्ञानुवर्ती रहने में स्वयं को धन्य मानते थे। द्रमिलसंघ-नन्दिगण की तियंगुडि के निडुम्बरे-तीर्थ से सम्बद्ध अरुंगलान्वय के आचार्य ओडेयदेव अपरनाम श्री-विजय 'पण्डित-पारिजात' की वह गृहस्थ-शिष्या थी। सान्तरों की राजधानी पोम्बुर्च्चपुर (हुमच्च) में, जिसे अब उसने अपना स्थायी निवासस्थान बना लिया था, चट्टलदेवी ने अनेक जिनमन्दिर निर्माण कराये। इनमें प्रधान एवं सर्वप्रसिद्ध पंच-बसदि जिनालय था जो अपनी सुन्दरता के कारण ऊर्व्वितिलक-जिनालय (पृथ्वी का आभूषण) कहलाता था। यह विचार कर कि धर्म ही मनुष्य का सर्वप्रधान एवं चिन्तनीय कर्तव्य है, उसने निश्चय किया कि अपने पिता अरुमुलिदेव, माता गावब्बरसि, बहन बीरलदेवी और भाई राजादित्य की पुण्य-स्मृति (परोक्ष-विनय) में एक अद्वितीय पंचकूट-जिनमन्दिर निर्माण किया जाये। इस देवालय के निर्माण सम्बन्धी १०७७ ई. के शिलालेख में लिखा है कि 'गोग्गि (नन्नि-सान्तर) की माता ने बहुत उत्सुकता से विश्व में अग्रगण्य स्थान प्राप्त करनेवाले पंचकूट-जिनमन्दिर को बनवाया। क्षितिज और आकाश से बात करने वाले उक्त मन्दिर और एक नवीन सरोवर का निर्माण करके सान्तरों की माँ चट्टलदेवी ने बहुत यश प्राप्त किया।' अपने चार सान्तर-पुत्रों के साथ उक्त जिनालय की प्रतिष्ठा कराके उसके लिए उसने स्वगुरु श्रीविजय के शिष्य कमलभद्रदेव को पादप्रक्षालनपूर्वक प्रभूत दान दिया था। इस धर्मात्मा राजमहिला ने अन्य अनेक जिनालय, चैत्यालय, सरोवर, कूप, बावड़ी, प्रपा, उद्यान, स्नान-घाट, सत्र आदि लोकोपकारी निर्माण किये और आहार-अभय-भैषज्य-शास्त्र (विद्या) रूप चतुर्विध दान सतत दिये। उसने अपने पौत्र और विक्रम-सान्तर के पुत्र तैल-सान्तर (तृतीय) के सहयोग से ११०३ ई. में बहन बीरलदेवी की स्मृति में हुमच्च के आनन्दूर मोहल्ले में स्थित उक्त पंचबसदि के सामने एक अन्य बसदि (जिनालय) के निर्माण की नींव रखी थी और उसके लिए तथा पंचबसदि के लिए भूमिदान दिया था। यह दान वादिघरट्ट अजितसेनपण्डित को दिया गया था। शिलालेखों में उस धर्मात्मा महिला के गुणों एवं धार्मिक कार्यकलापों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है और उसकी तुलना भुवन-स्तुता रोहिणी, चेलना, सीता, प्रभावती-जैसी प्राचीन नारी-रत्नों के साथ की गयी है। जैनधर्म में उसका अद्भुत

अनुराग था, धर्मकथाओं के सुनने का उसे चाव था, सान्तरों के राज्य की अभिवृद्धि का वह आधार थी, जिनधर्म के लिए वह कामधेनु थी, उसकी कीतिपताका दिग्-दिगन्त-व्यापी थी।

विक्रम-सान्तर (द्वितीय)—तैल तृतीय का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। यह वीर, पराक्रमी और धर्मात्मा था और अजितसेनपण्डितदेव का गृहस्थ-शिष्य था। अपनी धर्मात्मा बड़ी बहन पम्पादेवी के सहयोग से उसने उर्व्वितिलक-जिनालय में उत्तरीय पट्टशाले की स्थापना करके ११४७ ई. में उसको प्रतिष्ठा करायी थी और वासुपूज्य मुनि को उसके लिए दान दिया था। इसी राजा का अपरनाम श्रीवल्लभदेव था।

विदुषी पम्पादेवी—तैल तृतीय की पुत्री और विक्रम (द्वितीय)-सान्तर की बड़ी बहन राजकुमारी पम्पादेवी बड़ी धर्मात्मा थी। हुमच्च के ११४७ ई. के शिलालेख के अनुसार उसके द्वारा नवनिर्मापित चित्रित चैत्यालयों के शिखरों से पृथ्वी भर गयी थी, उसके द्वारा मनाये गये जिनधर्मोत्सवों के तूर्य एवं भेरीनाद से दिग्-दिगन्त व्याप्त हो गये थे और जिनेन्द्र की पूजा के हेतु फहरायी जानेवाली ध्वजाओंसे आकाश भर गया था, प्रसिद्ध महापुराण मे वर्णित भगवान् जिननाथ के पुण्य चरित्र का श्रवण ही उसके कानों का आभूषण था, मुनियों को चतुर्विध दान देना उसके हस्त-कंकण थे, जिनेन्द्र की भक्ति और स्तवन ही उसकी कण्ठ-मालाएँ थी—इन अनुपम अलंकारों के रहते क्या तैलभूप की वह सुता अपने शरीर पर सामान्य आभूषणों का भार ढोने की चिन्ता करती? एक मास के भीतर ही उसने उर्व्वितिलक-जिनालय के साथ सुन्दर शासन-देवता-मन्दिर निर्माण कराकर प्रतिष्ठापित कर दिया था। वह अनन्य पण्डिता थी, इसलिए साक्षात्-शासनदेवी भी कहलाती थी। उसने 'अष्ट-विधार्चन-महाअभिषेक' और 'चतुर्भक्ति' नामक ग्रन्थोंकी रचना की थी। आचार्य अजितसेन-वादीभसिंह की वह गृहस्थ-शिष्या थी। इस धर्मात्मा, विदुषी पम्पादेवी ने अपने अनुज विक्रम-सान्तर के साथ उर्व्वितिलक-जिनालय की उत्तरी पट्टशाला बनवाकर प्रतिष्ठित करायी और उसके लिए वासुपूज्य गुरु को दान दिया था।

बाचलदेवी—पम्पादेवी की सुपुत्री, तैल-सान्तर (तृतीय) की दौहित्री और विक्रम-सान्तर (द्वितीय) की भानजी भी अपनी माँ की भाँति बड़ी धर्मात्मा राजकुमारी थी। वह अत्यन्त रूपवान्, शीलवान्, विनयी, दानशीला और परम जिनभक्त थी। इस पवित्र-चरित्र एवं शील-पुंज राजकुमारी की प्रथम एवं सतत रुचि जिनेन्द्र भगवान् की अष्टविध पूजा-अर्चा में, भगवान् के महा-अभिषेक में और त्रिसान्ध्यिक चतुः-भक्ति में रहती थी। अपने उपर्युक्त सद्गुणों के कारण वह नूतन या अभिनव अत्तिमब्बे कहलाती थी। अपनी जननी और मामा के धर्मकार्यों में सहयोगिनी थी, यथा ११४७ ई. के निर्माण एवं दान आदि में। पम्पादेवी के गुरु अजितसेनपण्डितदेव ही बाचलदेवी के भी गुरु थे।

काम-सान्तर—विक्रम-सान्तर (द्वितीय) के उपरान्त उसका सौतेला भाई

काम-सान्तर अपरनाम शान्तरादित्यदेव राजा हुआ जो तैल-तृतीय की पत्नी अक्कादेवी से उत्पन्न हुआ था। सन् ११५९ ई. के हेरेकेरी शिलालेख में इस कामभूपति को पार्श्वनाथान्वयी, तीव्र-तेजोनिधि, कामदेव के समान रूपवान्, वीर और धर्मात्मा लिखा है। उसकी रानी बिज्जलदेवी पाण्ड्य कुल में उत्पन्न हुई थी। वह बड़ी सुन्दर, शीलवती, पुण्यवती, दयालु, जिनेन्द्र भगवान् के चरणकमलों की भक्त, पति की विजयश्री एवं उसके कुल की अभिवृद्धि करनेवाली थी। उसके दो पुत्र जगदेव और सिंगिदेव थे तथा एक पुत्री अलियादेवी थी। दोनों पुत्र शस्त्र-शास्त्रकुशल, दान-विनोद, सच्चरित्र और शूरवीर थे।

अलियादेवी—काम-सान्तर और रानी बिज्जलदेवी की सुपुत्री तथा जगदेव और सिंगिदेव की भगिनी राजकुमारी अलियादेवी विशुद्ध आचार एवं निर्मल गुणोंवाली बड़ी धर्मात्मा नारीरत्न थी। उसका विवाह कदम्बकुल में उत्पन्न, कोंकण प्रदेश के रक्षपाल शूरवीर राजा होन्नेयरस के साथ हुआ था। इन दोनों का पुत्र जिनेन्द्र-पाद-पंकज-मद-भृंग, गुणवान् और पुण्यवान् कुमार जयकेशिदेव था। रानी अलियादेवी चतुर्विध दान में तत्पर, निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुणसम्पन्न, जिनराज की भक्ति में निमग्न दूसरी अत्तिमब्बे ही थी। उसने ११५९ ई. में सेतु में भक्तिपूर्वक एक भव्य जिनराजागार (जिनमन्दिर) बनवाया और उसके लिए अपने पति एवं पुत्र सहित स्वगुरु भानुकीर्तिदेव को धारापूर्वक भूमिदान दिया था। यह गुरु काणूरगणतिन्त्रिणीगच्छ के मुनि थे और बन्दनिके-तीर्थ के आचार्य थे।

वीर सान्तर—काम-सान्तर का पुत्र या पौत्र था जो ११७३ ई. में विद्यमान था। इसका विरुद भी जिनपाद-भ्रमर था। इसके उपरान्त सान्तरवंश में लिंगायत मत की प्रवृत्ति होने लगी और साथ ही वंश की अवनति भी।

सौन्दत्ति के रट्ट-राजे

राष्ट्रकूटों की ही किसी शाखा से मूलतः उत्पन्न रट्टवाडी के शासक रट्ट-राजाओं का राष्ट्रकूट सम्राटों के सामन्तों के रूप में उदय हुआ। सुगन्धवर्ति (सौन्दत्ति) इनकी राजधानी थी। इस वंश में प्रारम्भ से अन्त पर्यन्त जैनधर्म की प्रवृत्ति रही।

पृथ्वीराम रट्ट—रट्टवंश में सर्वप्रथम प्रसिद्ध नाम पृथ्वीराम का है जो मैलापतीर्थ के कारेयगण के गुणकीर्ति मुनि के शिष्य इन्द्रकीर्तिस्वामी का छात्र (विद्याशिष्य) था और सत्यनिष्ठ मेरड (या मेचड) का ज्येष्ठ पुत्र था। राष्ट्रकूट अमोघवर्ष प्रथम के समय उसका अभ्युदय हुआ और राष्ट्रकूट कृष्णराज द्वितीय के समय तक वह समधिगतपंच-महाशब्द-महासामन्त हो गया था और उस सम्राट् का दाहिना हाथ बन गया था। इस रट्टराज ने ८७६ ई. में अपने स्वस्थान सुगन्धवर्ति में एक जिनेन्द्रभवन का निर्माण कराया था और उसके लिए अठारह निवर्तन भूमि का सर्वनमस्य दान दिया था। तत्सम्बन्धी शिलालेख में पृथ्वीराम को कृष्णराज का पादपद्मोपजीवी सेवक, महासामन्त, मृत्य-

चिन्तामणि, सुभटचूड़ामणि, वीरलक्ष्मीकान्त, विरोधि-सामन्त-नगवज्रदण्ड, विद्वज्जन-कमलमार्तण्ड आदि कहा गया है। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी वत्सराज था।

पतवर्म—पृथ्वीराम का पौत्र और वत्सराज का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। वह बड़ा वीर और पराक्रमी था। अजवर्मा नामक शत्रु राजा को युद्ध में पराजित करके उसने कीर्ति प्राप्त की थी। इस पिट्टग अपरनाम पतवर्म ने रट्ट-पट्ट-जिनालय बनवाया था, जिनेन्द्र का पूजोत्सव किया था और दीपावली पर्व को अपनी राजधानी में सोल्लास मनाया था। उसकी ज्येष्ठ रानी रूपवती, सुशीला, पतिभक्त एवं धर्मात्मा नीजिकब्बे थी जो अरुन्धती के समान थी। इनका पुत्र शान्तिवर्मन था।

शान्तिवर्म—पतवर्म (पिट्टग) का पुत्र एवं उत्तराधिकारी शान्तनृप या शान्तिवर्मरस जिनभक्त, विजेता, गुणगणालंकार, मार्ग का निर्णय करनेवाला, तत्त्व-विचार-निपुण, गमक, चतुर्विधदान-तत्पर, वीर एवं धर्मात्मा राजा था। उसकी ज्येष्ठ रानी का नाम चन्दिकब्बे था। शान्तवर्म और उसकी जननी काणूरगण के बाहुबलि भट्टारक के गृहस्थ-शिष्य थे। इस राजा ने सौन्दत्ति में एक जिनालय बनवाकर उसके लिए स्वगुरु को ९८१ ई. में १५० मत्तर भूमि का दान दिया था। उतना ही दान उक्त जिनालय के लिए उसकी जननी नीजिकब्बे ने भी दिया था। शान्तनृप की रानी चन्दिकब्बे भी बड़ी धर्मात्मा थी और उक्त धर्मकार्यों में उसका सहयोग था। यह राजा कल्याणी के प्रथम चालुक्य सम्राट् तैलदेव का महासामन्त था।

शान्तनृप का पुत्र नन्नभूप था जिसका पुत्र प्रतापी कार्तवीर्य (प्रथम) चालुक्य आहवमल्ल का पाद-पद्मोपसेवक था और कुहुण्डिदेश का शासक था। उसका अनुज कन्नमहीपति था, जिसके पुत्र दायिम और एरग थे। दायिम की अग्रमहिषी मैललादेवी से उत्पन्न उसका ज्येष्ठ पुत्र सेन (कालसेन) भूपति था। कन्न (कन्नकर) की नृत्य-गीतादि कोविद के रूप में ख्याति थी और उसके धर्मगुरु कनकप्रभ-सिद्धान्तदेव थे, जिन्हें उसने भूमिदान दिया था। सेन का अनुज कार्तवीर्य (द्वितीय) था जो चालुक्य सोमेश्वर द्वितीय और त्रिभुवनमल्ल का महामण्डलेश्वर था। इस काल में ये रट्टराजे लत्तलूर्पुर-वराधीश्वर भी कहलाते थे। कालसेन ने सौन्दत्ति में भक्तिपूर्वक एक जिनमन्दिर बनवाया था जिसके लिए १०९६ ई. में भूमिदान दिया था। तदुपरान्त कालसेन, कार्तवीर्य, कन्नकेर आदि कई राजा हुए, जो सब अपने पूर्वजों की भाँति जैनधर्म के अनुयायी थे। इनमें से कार्तवीर्य तृतीय ने शिलाहारों की राजधानी कोल्हापुर के गोंकि-जिनालय में नेमिनाथ भगवान् की प्रतिमा ११२३ ई. में प्रतिष्ठित करायी थी और माघनन्दि-सिद्धान्त को दान दिया था।

कार्तवीर्य चतुर्थ—बारहवीं शती ई. के उत्तरार्ध में रट्टवंश का एक प्रतापी और धर्मात्मा नरेश कार्तवीर्य चतुर्थ था। वह कार्तवीर्य तृतीय का पौत्र और लक्ष्मी-भूपति का पुत्र था। शिलाहार नरेशों के राज्य में स्थित एकसाम्बी के नेमीश्वर-जिनालय की ख्याति सुनकर वह ११६५ ई. में दर्शनार्थ वहाँ गया और उक्त जिनालय की पूजा, संगीतवाद्य,

मुनियों के आहार-दान, खण्डस्फुटित संस्कार आदि के लिए यापनीयसंघ पुन्नागवृक्षमूलगण के मण्डलाचार्य विजयकीर्ति को उदार दान दिया। कार्तवीर्य ने अपनी माता चन्द्रिका-महादेवी द्वारा निर्मापित रट्टों के जैनमन्दिर के लिए १२०१ ई. में तत्कालीन कुलगुरु शुभचन्द्र भट्टारक को कई गाँवों की भूमियाँ दान की थीं। इस राजा का अनुज मल्लिकार्जुन भी भारी योद्धा और धर्मात्मा था और वीर सेनापति बूचिराज भी परम जैन था, जिसने बेलगाश में रट्ट-जिनालय नाम का मन्दिर निर्माण कराया था। कार्तवीर्य का अनुज मल्लिकार्जुन ही उसके समय में युवराज था तथा उसके राज्यकार्य में योग देता था। कार्तवीर्य चतुर्थ ने १२०४ ई. में भी अपनी माता द्वारा बनवाये गये मन्दिर के लिए दान दिया था, १२०५ ई. में स्वगुरु को अन्य भूमिदान दिया और उसी वर्ष सेनापति बूचिराज द्वारा निर्मापित मन्दिर के लिए भी उदार दान दिया था।

लक्ष्मीदेव—कार्तवीर्य की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र लक्ष्मीदेव द्वितीय राजा हुआ। उसके गुरु मुनिचन्द्रदेव थे। अपने उन राजगुरु की आज्ञा से लक्ष्मीदेव ने १२२९ ई. में अनेक दान दिये थे, जो उसने स्वनिर्मापित मल्लिनाथ-मन्दिर के निमित्त दिये थे। मुनिचन्द्रदेव राजा के धर्मगुरु ही नहीं शिक्षक और राजनीतिक पथप्रदर्शक भी थे। उन्हीं की देख-रेख में शासन-कार्य चलता था। स्वयं राजा लक्ष्मीदेव ने उन्हें 'रट्टराज्य-संस्थापक-प्राचार्य' उपाधि दी थी। कहा जाता है कि संकटकाल में उन्होंने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण कर लिया था और राज्य के शत्रुओं का दमन करने के लिए शस्त्र भी धारण किये थे। संकट की निवृत्ति के उपरान्त वह फिर से साधु हो गये थे। यह काणूरगण के आचार्य थे। राज्यकार्य में उनके प्रमुख सहायक एवं परामर्शक शान्तिनाथ, नाग और मल्लिकार्जुन थे। यह मल्लिकार्जुन लक्ष्मीदेव के चाचा से भिन्न, सामासिग-वंशीय महादेव-नायक का पुत्र, गौरी का पति और केशिराज का पिता था। यह परिवार लिंगायत मतानुयायी था। तेरहवीं शताब्दी के मध्य के लगभग सौन्दत्ति का रट्टवंश समाप्त-प्राय हो गया।

कोंकण के शिलाहार राजे

पश्चिमी दक्षिणापथ के कोंकण प्रदेश में १०वीं शती ई. में कई शिलाहार (सेलार, सिलार) वंशी सामन्त घरानों का उदय हुआ। ये विद्याधरवंशी क्षत्रिय थे और स्वयं को पौराणिक वीर जीमूतवाहन की सन्तति में हुआ मानते थे। इनका मूल-स्थान तगरपुर (पैठन से ९५ मील दूर स्थित तेर) था, अतः अपने नाम के साथ तगर-पुरवराधीश्वर उपाधि प्रयुक्त करते थे।

रट्टराज-शिलार—शिलाहारों की एक शाखा बलिपट्टन (बलबडे) दुर्ग में शासन करती थी और उसमें १००८-१०१० ई. में धम्मियर का वंशज और इन्द्रराज का पुत्र एवं उत्तराधिकारी रट्टराज-सिलार चालुक्यों का महामण्डलेश्वर था, बड़ा वीर, पराक्रमी और प्रतापी था और जैनधर्म का अनुयायी था। उसका सन्धिविग्रहिक मन्त्री

'महाश्री' देवपाल था। रट्टराज ने अपनी वंशावली धम्मियर के प्रपितामह सिलार से प्रारम्भ की है और वह स्वयं धम्मियर की सातवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था। सिलार के पौत्र, सिंहल के पुत्र और धम्मियर के पिता सणफुल्ल को कृष्णराज का कृपापात्र बताया गया है, अतएव राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम ने दक्षिणी कोंकण की विजय करके अपने जिस शिलाहार सामन्त को उस प्रदेश का शासक नियुक्त किया था वह यही प्रतीत होता है।

रट्टराज के साथ ही सम्भवतया यह शाखा समाप्त हो गयी अथवा उस दूसरी शाखा में विलीन हो गयी जो ११वीं शती के प्रारम्भ में चालुक्यों के सामन्तों के रूप में उदित हो रही थी। इस दूसरी शाखा की प्रारम्भिक राजधानी करहाटक (करहद) थी और तदनन्तर वह क्षुल्लकपुर (कोल्हापुर) में स्थायी हुई। बलिपट्टन (बलवडे), करहद और कोल्हापुर के अतिरिक्त पन्हाला (पद्मालय) दुर्ग भी उनका एक प्रमुख गढ़ था, किन्तु प्रधान राजधानी कोल्हापुर ही थी, जिसके अपरनाम कोल्लपुर, कोल्लगिरि, क्षुल्लकपुर और पद्मालय थे। इस नगर की प्राचीन अधिष्ठात्री पद्मावतीदेवी को ही, जो महालक्ष्मी के नाम से भी प्रसिद्ध हो चली थी, शिलाहारों ने अपनी इष्टदेवी एवं कुलदेवी बनाया। इस शाखा का प्रथम ज्ञात राजा जतिग प्रथम था जो १०वीं शती ई. के मध्य के लगभग राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय का सामन्त था। उसका पुत्र ननिवर्मन और पौत्र चन्द्र था। चन्द्र का पुत्र जतिग द्वितीय (लगभग १०००-१०२० ई.) कल्याणी के चालुक्यों का प्रसिद्ध सामन्त और अपने वंश की प्रतिष्ठा का संस्थापक था। गोंक, गुवल, कीर्तिराज और चन्द्रादित्य नाम के उसके चार पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र गोंक का राज्य अल्पकालीन रहा, किन्तु वह ऐसा जिनभक्त था कि उसने जो गोंक जिनालय बनवाकर प्रतिष्ठित किया था उसके अनुकरण पर इस प्रदेश में अगले सौ-डेढ़ सौ वर्ष में कई गोंक-जिनालय स्थापित हुए। उसके पश्चात् उसका अनुज गुवल प्रथम राजा हुआ जिसने लगभग १०५५ ई. तक राज्य किया। तदनन्तर गोंक का पुत्र मारसिंह राजा हुआ जिसने लगभग बीस वर्ष राज्य किया। सम्भव है कि मारसिंह ने ही अपने प्रिय पिता गोंक की स्मृति में वह प्रथम प्रसिद्ध गोंक-जिनालय निर्माण कराया हो। इस राजा के एक पुत्री और चार पुत्र हुए। पुत्री राजकुमारी विद्याधरा अपरनाम चन्द्रलदेवी या चन्द्रलेखा का विवाह चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६-११२८ ई.) के साथ हुआ था, जिसके कारण कोल्हापुर के शिलाहारों की प्रतिष्ठा और शक्ति बहुत बढ़ गयी। मारसिंह के उपरान्त उसके चारों पुत्रों ने क्रमशः राज्य किया—गूवल-गंगदेव (१०७६-१०८६), बल्लाल (१०८६-१०९५), भोज प्रथम १०९५-१११०) और चन्द्रादित्य (१११०-११४० ई.)।

बल्लालदेव शिलाहार—अपने ज्येष्ठ भ्राता गूवल-गंगदेव का उत्तराधिकारी था। इस महामण्डलेश्वर ने अपने अनुज गण्डरादित्य के साथ, पुन्नागवृक्षमूलगण के आचार्य रात्रिमतिकान्ति के गृहस्थ-शिष्य बम्मगावुण्ड द्वारा निर्मापित पार्श्वनाथ-बसदि के लिए एक पक्का विशाल भवन दान किया था। यह पार्श्वप्रतिमा कोल्हापुर ज़िले में

कागल के निकट होन्नूर के जिनमन्दिर में है और लेख प्रतिमा के अभिषेकस्थल (पाण्डुक-शिला) के सामने उत्कीर्ण है।

भोज प्रथम शिलाहार—अपने भाई बल्लाल का उत्तराधिकारी था। उसने लगभग १०९५ ई. से ११९० ई. तक राज्य किया। इस राजा के प्रश्रय में कोल्हापुर में कोण्डकुन्दान्वय-देशीगण-पुस्तकगच्छ के आचार्य कुलचन्द्रदेव के शिष्य आचार्य माघनन्दि-सैद्धान्त ने शिलाहार नरेश गोंक या मारसिंह द्वारा निर्मापित गोंक-जिनालय के निकट सुप्रसिद्ध रूपनारायण-बसदि की स्थापना की और उसे ही अपना स्थायी निवास बनाया। अपनी उक्त बसदि को आचार्य ने जैन संस्कृति और शिक्षा का केन्द्र बनाया और उसमें एक विशाल एवं महत्त्वपूर्ण विद्यापीठ विकसित किया जिसमें त्यागी, व्रतियों, मुनियों आदि के अतिरिक्त सामन्तपुत्र, राजपुरुष तथा सामान्य जन भी शिक्षा प्राप्त करते थे। इस राजा का एक विरुद 'रूप-नारायण' भी रहा प्रतीत होता है—उसके भतीजे विजयादित्य का तो यह विरुद था ही। अब या तो आचार्य ने तत्कालीन राजा भोज के विरुद के नाम पर अपने संस्थान का नामकरण किया अथवा उसके प्रश्रयदाता एवं संरक्षक होने के कारण इन नरेशों ने उसके नाम को अपना विरुद बना लिया।

गण्डरादित्य (१११०–११४० ई.)—भोज के उपरान्त उसका अनुज चन्द्रादित्य अपरनाम गण्डरादित्य राजा हुआ। वह इस वंश का प्रसिद्ध प्रतापी नरेश था और नाममात्र के लिए ही चालुक्यों के अधीन था। उसने अनेक युद्ध किये, विजय प्राप्त की और शत्रुओं से अपने राज्य को सुरक्षित रखा। वह भारी दानी था और जैनधर्म का पोषक होते हुए भी सर्वधर्म-समदर्शी था। कोल्हापुर के निकट प्रयाग (नदी-संगम) में उसने एक हजार ब्राह्मणों को भोजन कराया था और निकट ही अर्जुरिका (अजरेना) नामक स्थान में एक सुन्दर जिनालय बनवाया था। इरुकुडि में गण्ड-समुद्र नामक एक विशाल सरोवर बनवाकर उसके तट पर उसने ऐसे देवालय बनवाये थे जिनमें जिनेन्द्र, शिव और बुद्ध तीनों देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित थीं। उसका प्रधान सामन्त एवं सेनापति वीर निम्बदेव परम जैन था और उसके धार्मिक कार्यों में राजा का सहयोग था। इस राजा के समय के तेरिदाल स्थान के नेमिनाथ जिनालय में प्राप्त ११२३ ई. के बृहत् शिलालेख में वीरगोंक-क्षितीश्वर की वंशजा (पौत्री) का, जो चालुक्य त्रैलोक्यमल्ल से विवाही थी, और उसके पुत्र पेर्म्माडिराय का उल्लेख है जिसने अपने नाना के राज्य में आकर अपनी जननी के पुण्यवर्धन हेतु उक्त धर्मकार्य में योग दिया था। सौन्दत्ति के रट्ट-राजा कार्तवीर्य तृतीय का भी उस कार्य में सहयोग था। ऐसा लगता है कि पूर्वोक्त गोंक शिलाहार का ही एक वंशज गोंकदेवरस था जो तेरदाल का शासक था। उसका पिता वीर मल्लिदेव था और माता धर्मात्मा बाचलदेवी थी। उक्त नेमिनाथ जिनालय का निर्माण, प्रतिष्ठा, दानादि में मुख्य प्रेरक वही थी। इन सबके गुरु रूपनारायण-बसदि के आचार्य कोल्हापुरीय माघनन्दि-सिद्धान्त चक्रवर्ती थे, उन्हीं के

शिष्यों को दानादि दिये गये थे। एक अभिलेख में गण्डरादित्य को वैरिकान्ता-वैधव्य-दीक्षागुरु, धार्मिक धर्मज्ञ और सकलदर्शन-चक्षुष कहा है।

विजयादित्य शिलाहार (११४०-११७५ ई.)—गण्डरादित्य का पुत्र एवं उत्तराधिकारी बड़ा पराक्रमी वीर था। उसने अपने पिता के समय में ही गोआ के जयकेशिन को हराया था। उसने चालुक्यों की पराधीनता का जुआ उतार फेंका और वह बिज्जलकलचुरि द्वारा चालुक्यों को पदच्युत करके उसके कल्याणी का स्वामी बनने में प्रधान सहायक था। किन्तु जब बिज्जल ने उसे भी अपने अधीन करना चाहा तो दोनों में भयंकर युद्ध हुआ, जिसमें उसके सेनापति निम्बदेव ने वीरगति पायी, किन्तु कलचुरियों को भी पराजित करके भगा दिया। विजयादित्य को शत्रुओं के लिए यमराज कहा गया है। 'कलिकाल विक्रमादित्य' एवं 'रूपनारायण' उसके प्रसिद्ध विरुद थे। अपने धार्मिक उत्साह के कारण वह 'धर्मैकबुद्धि' भी कहलाता था। वह परम जैन था, श्रावक के व्रतों का पालन करता था और अपने गुरु माणिक्यनन्दि-पण्डितदेव की बड़ी विनय करता था। कोल्हापुर तथा अन्य स्थानों के जिनमन्दिरों को उसने अनेक दान दिये थे। निम्बदेव के अतिरिक्त उसका वीर सेनापति, बोप्पण मन्त्री लक्ष्मीधर और सामन्त कालन भी परम जिनभक्त थे। उनके धार्मिक कार्यों में इस राजा की सहमति एवं सहयोग था। सन् ११४३ ई. में उसने अपने एक सामन्त कामदेव के आश्रित वासुदेव द्वारा कोल्हापुर में निर्मापित जिनालय के लिए कई गाँवों की भूमियाँ माघनन्दि के शिष्य माणिक्यनन्दि को दान दी थीं। उस समय राजा बलवाड मे निवास कर रहा था। वहीं रहते हुए उसने ११५० ई. में अपने मामा सामन्त लक्ष्मण की प्रेरणा पर मडलूर मे चौधोरे-कामगावुण्ड द्वारा निर्मापित जिनालय के लिए माघनन्दि के एक अन्य शिष्य अर्हनन्दि को कुछ भूमि, एक वाटिका तथा एक मकान दान दिया था।

भोज द्वितीय शिलाहार (११७५-१२१५ ई.)—विजयादित्य का पुत्र एवं उत्तराधिकारी भोज द्वितीय इस वंश का प्रायः अन्तिम नरेश था, किन्तु बड़ा प्रतापी, उदार और धर्मात्मा था। प्रारम्भ से ही उसने सम्राट् पद के विरुद धारण कर लिये थे। दक्षिण में उस समय कोई अन्य साम्राज्य सत्ता रह ही नही गयी थी। अपने पूर्वजों की भाँति भोज द्वितीय भी जैनधर्म का पोषक और भक्त था। विशालकीर्ति-पण्डितदेव उसके गुरु थे। इसी वीर भोजदेव के शासनकाल में १२०५ ई. में आचार्य सोमदेव ने जैनेन्द्र-व्याकरण की 'शब्दार्णवचन्द्रिका' नामक प्रसिद्ध टीका गण्डरादित्य द्वारा अर्जुरिका ग्राम में निर्मापित त्रिभुवनतिलक-नेमिनाथ-जिनालय में उक्त विशालकीर्ति के सहयोग से रची थी। राजधानी क्षुल्लकपुर (कोल्हापुर) को भी इस राजा ने अनेक सुन्दर जिनालयों से अलंकृत किया था। सन् १२१२ ई. में सिंघण यादव के हाथों वह बुरी तरह पराजित हुआ और अन्ततः शिलाहार राज्य यादवराज्य में सम्मिलित हो गया।

बाचलदेवी—तेरिदाल के शिलाहार राजा गोंकिरस की माता और वीर मल्लिदेव की धर्मात्मा पत्नी थी। माघनन्दि-सिद्धान्त चक्रवर्ती उसके गुरु थे और भगवान्

नेमिनाथ उसके इष्टदेव थे। वह सीता के समान सती और धर्मात्मा रानी थी। तेरिदाल के नेमिनाथ-जिनालय की स्थापना और ११२३ ई. में उसकी प्रतिष्ठा एवं उसके लिए दिये गये दानादि में मुख्य प्रेरक थी।

गोंकिरस—तेरिदाल का शिलाहार राजा गोंकिरस परम जिनभक्त था। उसकी माता बाचलदेवी, पिता मल्लमहोप (मल्लिदेव), गुरु कोल्हापुर की रूपनारायण-बसदि के आचार्य माघनन्दि-सिद्धान्त और इष्टदेव भगवान् नेमिनाथ थे। वह कोल्हापुर के अपने सगोत्रीय गण्डरादित्य का मण्डलिक राजा था, उसका ध्वजचिह्न मयूर-पिच्छ था, इष्टदेवी एवं कुलदेवी पद्मावती थी। अतएव मयूर-पिच्छ-ध्वज, पद्मावतीदेवी-लब्धवरप्रसाद, जिनधर्म-केलिविनोद, जिनमताग्रणी, शौर्य-रघुजात, समर-जयोत्तुंग, रणरंगसिंह आदि उसके विरुद थे। अपनी राजधानी तेरिदाल में उसने एक अति सुन्दर श्री नेमिनाथ-जिनालय अपरनाम गोंक-जिनालय निर्माण कराया था और ११२३ ई. में बड़े समारोह से उसकी प्रतिष्ठा की थी, जिनमें चालुक्य विक्रमादित्य का राजकुमार पेर्म्माडिदेव, रट्टराज कार्तवीर्य तृतीय, सामन्त निम्बरस आदि कई पड़ोसी नरेश भी सम्मिलित हुए थे। उक्त जिनालय के लिए उसने स्वगुरु को प्रभूत भूमि आदि का दान पादप्रक्षालनपूर्वक दिया था। यह गुणवान् धर्मात्मा राजा जिन-व्रतों के पालन में भी दृढ़ था।

महासामन्त निम्बदेव—गण्डरादित्य शिलाहार का प्रधान सामन्त और वीर सेनापति निम्बरस या निम्बदेव राज्य का प्रमुख स्तम्भ था और शिलाहार नरेश का दाहिना हाथ बन गया था। शिलालेखों में इस वीर की बड़ी प्रशंसा पायी जाती है। उसे विजय-सुन्दरी-वल्लभ, सामन्तशिरोमणि, शत्रुसामन्तों के संहार के लिए प्रचण्ड पवन, सुजन-चिन्तामणि, गण्डरादित्यमहावक्ष-दक्षिण-भुजदण्ड इत्यादि कहा गया है। राजा ने उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उसके नाम से निम्बसिरगाँव नामक नगर बसाया था। गण्डरादित्य के उत्तराधिकारी विजयादित्य के समय में भी वह अपने पद पर आसीन रहा। बिज्जल कलचुरि के साथ इस शिलाहार नरेश का जो भीषण युद्ध हुआ उसका संचालन भी निम्बदेव ने ही किया था। उसी युद्ध में इसने वीरगति पायी थी किन्तु मरते-मरते भी अपने शौर्य एवं युद्ध पराक्रम से वह कलचुरियों को इतना आतंकित कर गया कि वे मैदान छोड़कर भाग गये। वीर योद्धा होने के साथ ही साथ सामन्त निम्बदेव बड़ा धर्मात्मा था। उसकी जिनभक्ति असीम थी, जिसके कारण सम्यक्त्व-रत्नाकर, जिनचरण-सरसिरुह-मधुकर-जैसे विरुद उसने प्राप्त किये थे। कोल्हापुर के आसपास कोई बसदि या जिनालय ऐसा नहीं था जिसने उसकी उदार दानशीलता का लाभ न उठाया हो। स्वयं राजधानी कोल्हापुर में सुप्रसिद्ध महालक्ष्मी (पद्मावती) मन्दिर के निकट उसने अत्यन्त सुन्दर एवं कलापूर्ण नेमि-जिनालय बनवाया था। इस मन्दिर के शिखर की कर्णिका पर ७२ खड्गासन जिन-प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। वर्तमान में इस मन्दिर पर वैष्णवों का अधिकार है। और मूल-नायक नेमिनाथ का स्थान विष्णुमूर्ति ने ले लिया है। तेरिदाल के गोंकि-जिनालय

की प्रतिष्ठा के अवसर पर ११२३ ई. में सामन्त निम्बदेव भी उपस्थित था और उक्त धर्मकार्य में सहयोगी था। कोल्हापुर की रूपनारायण-बसदि का वह प्रमुख संरक्षक था और उस संस्थान के आचार्य वही कोल्हापुरीय माघनन्दि-सिद्धान्तचक्रवर्ती उसके गुरु थे। श्रवणबेलगोल में महानवमी मण्डप के ११६३ ई. के एक स्तम्भलेख में सामन्त निम्बदेव को 'दान-श्रेयांस' कहा है और उसे सामन्त केदारनाकरस एवं सामन्त कामदेव के साथ-साथ उक्त माघनन्दि का प्रमुख गृहस्थ-शिष्य बताया है। ये दोनों सामन्त भी परम जैन थे और निम्बदेव के साथी रहे प्रतीत होते हैं। कोल्हापुर में प्राप्त ११३५ ई. के एक शिलालेख के अनुसार महासामन्त निम्बदेवरस ने कवडेगोल्ल के सन्तेय-मुद्गोडे में भगवान् पार्श्वनाथ का एक भव्य मन्दिर बनवाया था और उसके लिए सात अन्य धर्मात्मा श्रावकों के साथ कोल्हापुर की रूपनारायण-बसदि के तत्कालीन आचार्य श्रुतकीर्ति-त्रैविद्य को, जो माघनन्दि के शिष्य थे, स्थानीय राजकरों आदि का दान दिया था। निम्बदेव मन्त्रशास्त्र का भी ज्ञाता था और शासनदेवी पद्मावती का उसे इष्ट था। वह धर्मशास्त्र का भी ज्ञाता था और श्रावकों को धर्मानुकूल आचरण करने के लिए सदैव प्रेरित एवं प्रोत्साहित करता रहता था। इस युद्धवीर, कर्मवीर और धर्मवीर महासामन्त निम्बदेव ने इतनी ख्याति अर्जित की थी कि उसके कई सौ वर्ष बाद कन्नड कवि पार्श्वदेव ने 'निम्बदेव-चरित्र' नामक काव्य रचकर उसकी यशोगाथा गायी थी। शुभचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि ने भी अपनी 'एकत्व-सप्तति' में उसे सामन्त-चूड़ामणि कहा है।

सेनापति बोप्पण—शिलाहार विजयादित्य का जैन सेनापति था, जिसके विषय में किदारपुर-शिलालेख में लिखा है कि वह राजा विजयादित्य के लिए वैसा ही था जैसा हरि के लिए गरुड, राम के लिए मारुति (हनुमान्) और कामदेव के लिए बसन्त। युद्धभूमि में शत्रुओं का संहार करने में वह अद्वितीय था। राजा के लिए एक विशाल जिन-मन्दिर के निर्माण कराने का कार्य उसने अपने हाथ में लिया था किन्तु उसके पूरा होने के पूर्व ही बोप्पण की मृत्यु हो गयी।

मन्त्री लक्ष्मीदेव—या लक्ष्मीधर विजयादित्य शिलाहार का प्रमुख जैन मन्त्री था। वह पार्वतीय दुर्ग किलेकल के दुर्गपति गोवर्धन का पुत्र और उच्च पदाधिकारी गोपय का जामाता था। राज्यप्रबन्ध में कुशल और युद्धभूमि में निपुण सैन्यसंचालक लक्ष्मीदेव साहित्यरसिक और धर्मात्मा भी था। वह 'सम्यक्त्व-भण्डार' कहलाता था और नेमिचन्द्र मुनि का गृहस्थ-शिष्य था तथा कन्नड 'नेमिनाथपुराण' के कर्ता जैनकवि कण्णपार्य का आश्रयदाता था।

सामन्त कालन—विजयादित्य शिलाहार का एक विद्वान्, शास्त्रज्ञ, कलामर्मज्ञ, धर्मात्मा जैन सामन्त एवं वीर सेनापति था। जब सेनापति कालन अपने पत्नी, बच्चों और मित्रों के साथ सुखपूर्वक रह रहा था तो एकदा उसने विचार किया कि इस लोक और परलोक के परमार्थ साधन का एकमात्र उपाय धर्म ही तो है। अतएव उसने ११६५ ई. में एक सन्तीनगर में नेमीश्वर-बसदि नाम का विशाल एवं कलापूर्ण जिनालय

बनवाया था जिसका उत्तुंग गोपुर कलापूर्ण प्रस्तरांकनों एवं मणि-खचित कलशों से युक्त था। उसके लिए स्वगुरु यापनीयसंघ-पुन्नागवृक्षमूलगण के मुनि कुमारकीर्ति के शिष्य महामण्डलाचार्य विजयकीर्ति को उसने प्रभूत दान दिया था। इस सुन्दर जिनालय की ख्याति सुनकर रट्टराज कार्त्तवीर्य चतुर्थ उसके दर्शनार्थ आया था और प्रसन्न होकर उसके लिए उक्त गुरु को दान भी दे गया था। धर्मात्मा कालन सामन्त द्वारा स्थापित इस बसदि में नित्य देवपूजा, मुनियों एवं धर्मात्माजनों के आवास तथा चारों दानों की नियमित व्यवस्था थी। सामन्त कालन सप्तभंगी-न्याय का वेत्ता था और पंच-महा-कल्याणक, अष्टमहाप्रातिहार्य तथा चौंतीस अतिशय सम्पन्न जिनेन्द्रदेव का परम भक्त एवं आराधक था।

वासुदेव—ब्राह्मणजातीय धर्मात्मा श्रावक था जो विजयादित्य शिलाहार के एक सामन्त कामदेव का आश्रित था, क्षुल्लकपुर-श्रीरूपनारायण-जिनालयाचार्य माघनन्दि-सिद्धान्त चक्रवर्ती का वह प्रिय छात्र (विद्या-शिष्य) और गृहस्थ-शिष्य (श्रावक) था। शान्तरस-प्रधान जिनदेव ही उसके इष्टदेव थे। उसने ११४३ ई. में पार्श्वनाथ भगवान् का एक सुन्दर जिनालय बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा करायी थी और उसके अष्टविध-अर्चा, खण्ड स्फुटित जीर्णोद्धार एवं मुनि आहार-दान के हेतु राजा विजयादित्य से अपने स्वामी सामन्त कामदेव की सहमतिपूर्वक कई ग्रामों की भूमि स्वगुरु के शिष्य माणिक्यनन्दि-पण्डितदेव को पादप्रक्षालनपूर्वक दान करायी थी। लेख में धर्मात्मा वासुदेव को सकल-गुणरत्नपात्र, जिनपदपद्मभृंग, विप्रकुल-समस्तुग-रंग कहा गया है।

चौधौरे कामगावुण्ड—शिलाहार विजयादित्य के मातुल लक्ष्मण सामन्त के अधीन मडलूर का ग्राम-प्रमुख एवं शासक था। वह समागमय्य और चंधव्वे का पुत्र, पुन्नकब्बा का पति तथा जेन्तगावुण्ड और हेमगावुण्ड का पिता था। उसने ११५० ई. में मडलूर में पार्श्वनाथ-जिनालय बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा करायी थी और लक्ष्मण सामन्त के निवेदन पर राजा ने उक्त जिनालय के लिए कुछ भूमि, एक पुष्पवाटिका तथा एक मकान का दान आचार्य माघनन्दि के एक अन्य शिष्य अर्हनन्दि-सिद्धान्त चक्रवर्ती को पादप्रक्षालनपूर्वक समर्पित किया था।

महामात्य बाहुबलि—भोजराज द्वितीय शिलाहार के महाप्रधान एवं मन्त्रीश थे। इन्हें पंचांगमन्त्र-बृहस्पति भोजराज के राज्य के समुद्धरण में समर्थ, बाहुबलयुक्त, दानादि-गुणोत्कृष्ट आदि कहा गया है। इनकी प्रेरणा से आचार्य माधवचन्द्र-त्रैविद्य ने क्षुल्लकपुर में १२०३ ई. में 'क्षपणासार' ग्रन्थ रचकर पूर्ण किया था।

गंगधारा के चालुक्य

प्राचीन चालुक्यवंश की एक शाखा पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर) प्रदेश पर राष्ट्रकूटों के सामन्तों के रूप में लगभग ८०० ई. से शासन करती आ रही थी। लक्ष्मेश्वर एक प्राचीन जैन तीर्थ था और विशेषकर भट्टाकलंकदेव की परम्परा के देवसंघी मुनियों एवं

विद्वानों का केन्द्र रहता आया था। दसवीं शताब्दी में इस वंश की राजधानी के रूप में गंगधारा का नाम मिलता है जो सम्भवतया पुलिगेरे का ही अपरनाम या उपनगर था। इस वंश का प्रथम राजा युद्धमल प्रथम सम्भवतया बातापी के अन्तिम चालुक्य कीर्तिवर्मन द्वितीय का ही निकट वंशज था। उसके उपरान्त अरिकेसरी प्रथम, मारसिंह प्रथम, युद्धमल्ल द्वितीय, बद्दिग प्रथम, मारसिंह द्वितीय और अरिकेसरी द्वितीय क्रमशः राजा हुए। अरिकेसरी द्वितीय कन्नडी भाषा के सर्व महान् कवि आदिपम्प (९४१ ई.) का जो जैन थे, आश्रयदाता था। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी बद्दिग द्वितीय के समय में देवसंघ के आचार्य सोमदेव ने उसी की राजधानी गंगधारा में निवास करते हुए, ९५९ ई. में अपने सुप्रसिद्ध यशस्तिलक-चम्पू की रचना की थी। नीतिवाक्यामृत नामक राजनीतिशास्त्र की रचना वह उसके कुछ पूर्व ही कर चुके थे। यह राजा इन आचार्य की बड़ी विनय करता था और उनकी प्रेरणा पर उसने अपनी राजधानी लेंबूपाटक में शुभधाम-जिनालय नामक मन्दिर बनवाया था। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी अरिकेसरी तृतीय ने ९६३ ई. में उन्ही सोमदेवाचार्य को उसी जिनालय के लिए ग्रामदान दिया था। सम्भवतया इसी नरेश के समय ९६८ ई. में गंगनरेश मारसिंह ने पुलिगेरी की प्राचीन शंखतीर्थ-वसतिमण्डल में गंगकन्दर्प-जिनालय बनावाकर उक्त तीर्थ के परम्पराचार्य देवगण के देवेन्द्र भट्टारक के प्रशिष्य और एकदेव के शिष्य जयदेव पण्डित को भूमिदान दिया था। ये सब अकलंकदेव के परम्पराशिष्य थे। अरिकेसरी तृतीय के पश्चात् इस वंश का कोई उल्लेख प्राप्त नही होता। इस वंश में प्रारम्भ से अन्त तक जैनधर्म की प्रवृत्ति थी।

नागरखण्ड के कदम्ब राजे

इनका वर्णन कल्याणी के चालुक्यों और कलचुरियों के अन्तर्गत आ चुका है, जिनके वे सामन्त थे। इस वंश में हरिकेसरीदेव, कीर्तिदेव, रानी माललदेवी, सोविदेव, बोप्पदेव आदि प्रसिद्ध जिनभक्त हुए हैं।

कोंगाल्व राजे

कोंगाल्ववंशी सामन्त राजे वर्तमान कर्णाटक राज्य के कुर्ग और हासन जिलों के अथवा कावेरी और हेमवती नामक नदियों के मध्य, स्थित कोंगलनाड ८००० प्रान्त के शासक थे। मूलतः ये प्राचीन उरैयूर (त्रिचनापल्ली) के चोल नरेशों की सन्तति में उत्पन्न हुए थे और अपने लिए उरैयूर-पुरवराधीश्वर, सूर्यवंश-शिखामणि, जटाचोलकुलो-दयाचलगभस्तिमाली-जैसे विरुद प्रयुक्त करते थे। सन् ९०० ई. के लगभग गंग-राजकुमार एयरप्प ने इस वंश के प्रथम ज्ञात व्यक्ति को इस प्रदेश में अपना सामन्त नियुक्त किया था, किन्तु कोंगाल्वों का वास्तविक अभ्युदय तब से हुआ जब १००४ ई. में सम्राट् राजराजा चोल ने इस वंश के पंचव-महाराय को उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर 'क्षेत्रिय-

शिखामणि कोंगाल्व विरुद दिया, मालेब्बि प्रदेश दिया और अपना प्रमुख सामन्त बनाया था। उसका उत्तराधिकारी बडिवकोंगाल्व था। तदुपरान्त राजेन्द्रचोल-पृथ्वीमहाराज हुआ, जिसकी ज्ञात तिथि १०२२ ई. है। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी राजेन्द्रचोल कोंगाल्व था।

राजेन्द्रचोल कोंगाल्व—इस राजा की प्रथम ज्ञात तिथि १०२६ ई. है और उसने लगभग १०५० ई. तक राज्य किया प्रतीत होता है। यह राजा परम जैन था और उसके गुरु नन्दिसंघ-द्रविलगण-अरुंगलान्वय के गुणसेन पण्डितदेव थे। इस राजा ने मुल्लूरमें एक जिनालय का निर्माण कराया था। उसकी रानी पोचब्बरसि भी बड़ी धर्मात्मा थी तथा पुत्र राजेन्द्र कोंगाल्व भी परम जैन था। इसी राजा के समय में, १०५० ई. के लगभग, उसके एक सरदार मदुवंगवाड के स्वामी और किरिवि के सामन्त अय्य ने बारह दिन के सल्लेखनाव्रत पूर्वक चंगाल्व बसदि में समाधिमरण किया था जहाँ उसके पुत्रों बाकि और बुकि ने उसका स्मारक बनवाया था। प्रायः उसी समय उसी स्थान में बिलियसेट्टि नामक धनी व्यापारी ने भी गुरुचरणों में समाधिमरण किया था। प्रायः उसी वर्ष मुल्लूर में राजगुरु गुणसेन पण्डित ने नगर के व्यापारियों से एक नागवापी (बावड़ी) निर्माण करायी थी।

रानी पोचब्बरसि—राजेन्द्र-चोल कोंगाल्व की धर्मपत्नी और राजेन्द्रकोंगाल्व की जननी रानी पोचब्बरसि बड़ी धर्मात्मा और जिनभक्त थी। वह मुल्लूर के पूर्वोक्त द्रविलसंघी गुणसेन पण्डित की गृहस्थ-शिष्या थी। इस रानी ने १०५८ ई. के लगभग पार्श्वनाथ-बसदि नामक भव्य-जिनालय बनवाया था और स्वगुरु गुणसेन पण्डित की एक मूर्ति भी बनवाकर स्थापित की थी।

राजेन्द्र कोंगाल्व—राजेन्द्रचोल कोंगाल्व और रानी पोचब्बरसि का सुपुत्र यह राजा बडा प्रतापी और धर्मात्मा था। उसने राजधानी मुल्लूर में अपने पिता द्वारा निर्मापित जिनालय के लिए स्वगुरु गुणसेन पण्डितदेव को १०५८ ई. में कई ग्रामों में भूमियाँ प्रदान की थीं। उसकी माता के भी अधिकांश धर्मकार्य उसी के शासनकाल में उसकी सहमति और सहयोग से निष्पन्न हुए थे। राजा ने स्वगुरु गुणसेन पण्डित के रहने के लिए भी १०६० ई. के लगभग उपयुक्त स्थान मुल्लूर में बनवाया था। उसी काल के एक अभिलेख में कहा गया है कि वह गुरुदेव इतने प्रसिद्ध थे कि उनके गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता। मुल्लूर में ,ही १०६४ ई. में गुणसेन पण्डित ने, जो परम-आर्हन्त्यादि-रत्नत्रय-सकल-महाशास्त्रागमादि-स्थिर-षट्-तर्क-प्रवीण व्रतिपति थे और पुष्पसेन व्रतीन्द्र के शिष्य थे, मोक्षलक्ष्मी का निवास प्राप्त किया, अर्थात् समाधिमरण किया था। अपनी माता के स्वर्गस्थ हो जाने पर उसकी पुण्यस्मृति में भी इस राजा ने एक जिनालय बनवाया था और उसके लिए दान दिये थे। लगभग ३०० वर्ष बाद, १३९१ ई. में, किसी धर्मात्मा रानी सुगुणीदेवी ने उक्त मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था। राजेन्द्र कोंगाल्व ने अपने स्वामी चोल सम्राट् की ओर से प्रारम्भिक होयसलों से

अमकर लोहा लिया था। उसने लगभग १०६६ ई. तक शासन किया। अब कोंगाल्व राजे महामण्डलेश्वर कहलाने लगे थे।

राजेन्द्र पृथ्वीकोंगाल्व-अटरादित्य (१०६६-११०० ई.)—राजेन्द्र कोंगाल्व का पुत्र एवं उत्तराधिकारी भी बड़ा प्रतापी और धर्मात्मा नरेश था। उसकी धर्मात्मा रानी ने १०७० ई. के लगभग, सम्भवतया स्वगुरु की स्मृति में, स्मारक बनवाया था। स्वयं राजा ने १०७९ ई. में कोंगाल्व-जैनगृह अपरनाम अटरादित्य-चैत्यालय नाम का भव्य जैन-मन्दिर बनवाया था और उसकी पूजादि के लिए भूमिदान दिया था। यह राजा मूलसंघ-काणूरगण-तगरिलगच्छ के आचार्य गण्डविमुक्त सिद्धान्तदेव का गृहस्थ-शिष्य था। स्वगुरु के लिए भी उसने एक बसदि निर्माण करायी थी। दान भी इन्हीं गुरु को दिये गये थे। यह राजा प्रभाचन्द्र-सिद्धान्त की भी बड़ी विनय करता था। उसका यह दानशासन चार भाषाओं के ज्ञाता उसके सन्धि-विग्रहिक मन्त्री नकुलार्य ने लिखा था। लेख में इस महामण्डलेश्वर अटरादित्य को वीराग्रणी, गुणाम्भोराशि, विजेता, सद्भक्त, सद्धर्मी इत्यादि कहा है। उसके एक सामन्त नल्लरस ने १०८० ई. के लगभग अरकेरे में स्वगुरु कलाचन्द्र के शिष्य-प्रमलचन्द्र भट्टारक के लिए एक बसदि बनवाकर राजा की अनुमति-पूर्वक दान दिया था।

इस राजा का पुत्र एवं उत्तराधिकारी त्रिभुवनमल्ल चोल कोंगाल्व-अटरादित्य था जिसके पादाराधक रावसेट्टि के पौत्र सामन्त बूबेय नायक ने ११०० ई. के लगभग पद्मनन्दिदेव को भूमि का दान दिया था। तदनन्तर कोंगाल्वराज दुद्धमल्लरस ने जो सम्भव है कि उक्त त्रिभुवनमल्ल का सम्बन्धी, भाई आदि या सगोत्री महासामन्त हो, प्रभाचन्द्रदेव को एक बसदि के निर्माण और जीर्णोद्धार आदि के लिए एक ग्राम प्रदान किया था। त्रिभुवनमल्ल-चोल कोंगाल्व का उत्तराधिकारी सम्भवतया वीर कोगाल्वदेव था, जो देशीगण-पुस्तकगच्छ के मेघचन्द्र त्रैविद्य के शिष्य प्रभाचन्द्र-सिद्धान्त चक्रवर्ती का गृहस्थ-शिष्य था। उसने सत्यवाक्य जिनालय बनवाकर उसके लिए स्वगुरु को ग्रामदान दिया था।

चंगाल्ववंश

इस वंश के राजे प्रारम्भ में चंगनाड (मैसूर राज्य का हुनसूर तालुका) के शासक थे, बाद में मैसूर एवं कुर्ग ज़िलों में भी इनके अधिकार का विस्तार हुआ। ये स्वयं को यादववंशी क्षत्रिय कहते थे और प्रारम्भ में चोलों के, तदनन्तर होयसलों के सामन्त हुए। ग्यारहवीं से लगभग पन्द्रहवीं शती तक इस वंश का अस्तित्व रहा। इसके अधिकांश राजे शैवमतानुयायी थे, किन्तु कतिपय परम जैन भी थे।

राजेन्द्रचोल-नन्नि चंगाल्व—इस वंश का सर्वप्रसिद्ध जैन नरेश था। इस वीरराजेन्द्र नन्नि चंगाल्वदेव ने १०६० ई. के लगभग चिक्कहनसोगे में देशीगण-पुस्तक-गच्छ की एक बसदि निर्माण करायी थी। उसी स्थल में प्राचीन काल में दाशरथी राम

ने जो जिनालय मूलतः बनवाया था और उसके लिए भूमि समर्पित की थी, कालान्तर में गंगनरेश मारसिंह ने वैसा ही किया था, इस चंगाल्व नरेश ने उस बसदि को फिर से बनवाया और उसके लिए उक्त भूमि पुनः समर्पित की थी। इस राजा ने अन्य अनेक जिनालय बनवाये थे। हनसोगे की जिन-बसदि के नवरंग-मण्डप के द्वार पर उत्कीर्ण लगभग १०८० ई. के लेख से प्रकट है कि इस प्रसिद्ध चंगाल्व-तीर्थ की आदीश्वर-बसदि आदि समस्त जिनालयों पर देशीगण-पुस्तकगच्छ-कोण्डकुन्दान्वय के दिवाकरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के ज्येष्ठ गुरु दामनन्दि भट्टारक का अधिकार था। उनके पश्चात् उन तथा अन्य आसपास की बसदियों पर उक्त गुरु के शिष्य-प्रशिष्यों का अधिकार रहा। प्रायः उसी काल के उसी नगर की शान्तीश्वर-बसदि के द्वार पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार मूलतः भगवान् रामद्वारा प्रदत्त दान एवं बसदियों का संरक्षण इस काल में पनसोगे (हनसोगे) के देशीगण-होत्तगेगच्छ पुस्तकान्वय के मुनिसमुदाय के हाथ में था, इन्हीं में परम तेजस्वी जयकीर्ति मुनि थे जो अनेक उपवास और चान्द्रायण व्रत करने के लिए विख्यात थे। इस तीर्थ पर भगवान् राम द्वारा प्रतिष्ठापित ६४ बसदियाँ चली आ रही थी। इन्हीं में एक प्रसिद्ध जिनालय बन्दतीर्थ-बसदि था, जिसके लिए पूर्वकाल में गंगनरेशों ने दान दिया था और अब उस बसदि का इस राजेन्द्रचोल-नन्नि चंगाल्वदेव ने पुनर्निर्माण कराया था तथा उसके निमित्त दान दिया था। यह घटना १०८० ई. के लगभग की अनुमानित की जाती है। इसके थोड़े बाद के एक शिलालेख मे, जो हनसोगे की नेमीश्वर-बसदि के द्वार पर उत्कीर्ण है, चंगाल्व नरेश द्वारा उक्त बसदियो के लिए पुरातन दानों की पुष्टि एवं नवीन भूमिदान का विवरण है। उसमें इस तीर्थ के तत्कालीन आचार्य जयकीर्ति अपरनाम चान्द्रायणीदेव की गुरुपरम्परा भी दी है। वह दामनन्दि भट्टारक के सधर्मा चन्द्रकीर्ति के प्रशिष्य और दिवाकरनन्दि के शिष्य थे।

१०९१ ई. के एक शिलालेख के अनुसार चंगाल्वराज मरियपेर्गडे पिल्दुवय्य ने पिल्दुवि-ईश्वरदेव नामक मन्दिर बनवाकर उसमें मुनियों के आहारदान के लिए भूमिदान दिया था। यह राजा और उसके द्वारा निर्मापित उक्त मन्दिर जैन थे, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। ऐसा लगता है कि यह व्यक्ति उपर्युक्त नन्निचंगाल्व का अनुज अथवा कोई निकट सम्बन्धी था।

अलुपवंश

अलुप या अलुववंशी सामन्त राजे तुलुवनाड के शासक थे। इनका उदय १०वीं शती में हुआ, किन्तु यह प्रदेश उसके बहुत पूर्व से ही जैनधर्म का गढ़ रहता आया था। मूडबिद्री, गेरुसप्पे, भट्कल, कार्कल, बिलिग, सोदे, केरेवासे, हाडुहल्लि, होन्नावर आदि उसके प्रायः सब ही प्रसिद्ध नगर जैनधर्म के केन्द्र थे और प्रायः पूरे मध्यकाल मे भी बने रहे। भुजबल-अलुपेन्द्र (१११४-५५ ई.) इस वंश का प्रसिद्ध राजा था। उसके उत्तराधिकारी के समय में राजकुमार कुमारराय ने ११६१ ई. में जैन केन्द्र केरेवासे में

एक जिनालय के बनवाने में सहयोग दिया था। कुलशेखर-अलुपेन्द्र प्रथम (११७६-१२०० ई.) के समय में तुलुदेश में जैनधर्म को राजकीय प्रश्रय प्राप्त था। इस राजा ने मलधारिदेव, माधवचन्द्र, प्रभाचन्द्र आदि तत्कालीन जैन गुरुओं का सम्मान किया था। पाण्ड्यदेव-अलुपेन्द्र ने १२९६ ई. मे नल्लूर की जैन बसदि के लिए दान दिया था। कुलशेखर-अलुपेन्द्र तृतीय (लगभग १३८४ ई.) बड़ा वैभवशाली राजा था, रत्नसिंहासन पर बैठता था और मूडबिद्री के पार्श्वनाथदेव का परम भक्त था।

बंगवाडि का बंगवंश

तुलुवदेश के एक भाग का नाम बंगवाडि था। इसके संस्थापक बंगराजे सोमवंशी क्षत्रिय थे और प्राचीन कदम्बों की एक शाखा में से थे। गंगवाडि के गंगों के अनुकरण पर उन्होंने स्वयं को बंग और अपने राज्य को बंगवाडि नाम दिया लगता है। यह वंश प्रारम्भ से अन्त पर्यन्त, गंगों की ही भाँति, जैनधर्म का अनुयायी रहा। ये राजे क्रमशः राष्ट्रकूटों, चालुक्यों और होयसलों के सामन्त रहे। इस वंश के चन्द्रशेखरबंग प्रथम को ११४० ई. के लगभग विष्णुवर्धन होयसल ने पराजित करके युद्ध में मार डाला था और उसके राज्य को हस्तगत कर लिया था। परन्तु बंगराज के स्वामिभक्त पुरोहित, मन्त्री आदि ने उसके बालकपुत्र वीरनरसिंह को मलेनाड में छिपाकर रखा। होयसल नरसिंह प्रथम के समय मे जब बालक वयस्क हुआ तो उसने अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया और ११५७ से १२०८ ई. तक राज्य किया। तदनन्तर उसके ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रशेखरबंग द्वितीय ने १२०८ से १२२५ ई. तक, द्वितीय पुत्र पाण्ड्यप्प-बंग ने १२२५ से १२३९ ई. तक और पुत्री विट्ठलादेवी ने १२४० से १२४४ ई. तक राज्य किया।

रानी विट्ठलादेवी और कामिराय वीर नरसिंह बंगनरेन्द्र—राजपुत्री महारानी विट्ठलादेवी बडी विदुषी, धर्मात्मा और सुयोग्य शासिका थी। अपने लगभग ४ वर्ष के शासनकाल मे उसने राज्य की अच्छी अभिवृद्धि की और अपने पुत्र कामिराय को समुचित शिक्षा-दीक्षा दी। उसके वयस्क हो जाने पर राज्यकार्य उसे सौंप दिया और स्वयं उससे विराम लेकर अपना समय धर्मध्यान में व्यतीत किया। उसका प्रिय पुत्र एवं उत्तराधिकारी कामिराय वीरनरसिंह बंगनरेन्द्र विद्यारसिक, उच्चशिक्षित युवक एवं कुशल प्रशासक था। उसके विद्यागुरु, राजगुरु एवं धर्मगुरु आचार्य अजितसेन थे। उन्होने अपने इस प्रिय शिष्य के लिए शृंगारमंजरी और अलंकार-चिन्तामणि नामक संस्कृत ग्रन्थो की रचना की थी और विजयवर्णी ने उसी के लिए शृंगारार्णव-चन्द्रिका की रचना की थी। इस राजा ने १२४५ से १२७५ ई. के लगभग तक राज्य किया। वह राय, रायभूप, जैनभूप और मात्र कामिराय भी कहलाता था। उसे गुणार्णव और राजेन्द्रपूजित भी कहा गया है। उसी प्रकार उसकी माता भी शीलविभूषण विट्ठलाम्बा या विट्ठलमहादेवी अपने गुणों के लिए सर्वत्र विख्यात थी।

वारंगल के ककातीय नरेश

११वीं शताब्दी ई. के मध्य के लगभग तैलंगाने में ककातीय वंश का उदय हुआ। वारंगल उसकी राजधानी थी। शीघ्र ही यह अच्छा स्वतन्त्र राज्य हो गया था और १३वीं शती में अपने चरम उत्कर्ष पर था। वारंगल अपरनाम एकशैलपुर पहले से ही जैनधर्म का केन्द्र रहा था। इस प्रदेश में जिला विशाखापट्टनम जैनों का गढ़ था और उसी ज़िले में रामतीर्थ का जैन संस्थान दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। इसी ज़िले के भोगपुर नगर में पूर्वी गंगनरेश अनन्तवर्मन के आश्रय में राज्यश्रेष्ठि कण्णम-नायक ने राज-राज-जिनालय नाम की बसदि का निर्माण कराया था तथा ११८७ ई. में उसी सेठ के नेतृत्व में उस ज़िले के प्रमुख व्यापारियों ने उक्त मन्दिर के लिए प्रभूत दान दिया था। अनन्तपुर ज़िले के ताडपत्रिनगर के निवासी सोमदेव और कंचलादेवी के धर्मात्मा पुत्र उदयादित्य ने ११९८ ई. में जैनमन्दिर बनवाकर उसके लिए स्वगुरुओं को दान दिया था। इसी काल में उसी ज़िले के पेनुगोण्डानगर में सुप्रसिद्ध पार्श्वनाथ-बसदि विद्यमान थी जिसके अध्यक्ष उस समय जिनभूषण भट्टारक थे। बेलारी ज़िले में तो कई जैन केन्द्र थे, जिनमें कोगुलि प्रमुख था। उसकी चेन्न-पार्श्व-बसदि को कल्याणी के चालुक्यों एवं होयसलों का भी संरक्षण प्राप्त था। सोमि, कोट्टर आदि अन्य जैनकेन्द्र थे। इस काल में वारंगल में रुद्रदेव प्रथम ककातीय का शासन था। उसका उत्तराधिकारी गणपतिदेव (११९९–१२६० ई.) इस वंश का प्रसिद्ध और शक्तिशाली नरेश था, किन्तु उसी के समय से उस प्रदेश में जैनधर्म की अवनति भी प्रारम्भ हुई। अन्तिम राजा रुद्रदेव द्वितीय (१२९१–१३२१ ई.) था, जिसे पराजित करके मुहम्मद तुग़लुक ने इस हिन्दू राज्य को समाप्त कर दिया। इसी राजा के समय में जैन कवि, अय्यपार्य ने कन्नडीकाव्य जिनेन्द्र-कल्याणाभ्युदय की रचना की थी।

देवगिरि के यादव नरेश

इस वंश का संस्थापक सुएन प्रथम था जो ९वीं शताब्दी में राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम के अधीन एक छोटा-सा सामन्त था और सुएन देश का जागीरदार था। इसी कारण यह सुएन-वंश भी कहलाता है। इस वंश का भिल्लम द्वितीय कल्याणी के चालुक्यवंश के संस्थापक तैलप द्वितीय का सहायक था। उसकी छठी पीढ़ी में सुएनचन्द्र तृतीय (११४२ ई.) जैनधर्म का विशिष्ट पोषक था। उसका वंशज भिल्लम पंचम (११८७-९१ ई.) देवगिरि के यादवराज्य का वास्तविक संस्थापक था। वह और उसके उत्तराधिकारी होयसलों के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। होयसल राज्य की भाँति ही १४वीं शती के प्रारम्भ में मुसलमानों ने देवगिरि के यादववंश एवं राज्य का भी अन्त कर दिया था। इस वंश के राजे प्रायः जैन नहीं थे, किन्तु जैनधर्म के प्रति असहिष्णु भी नहीं थे। इनके राज्य में जैनधर्म जीवित रहा। कम से कम एक प्रसिद्ध जैन वीर कूचिराज देवगिरि के यादव राज्य की देन है।

सुएन तृतीय—या सेउणचन्द्र तृतीय इस वंश का १३वाँ राजा था। उसने ११४२ ई. में अंजनेरी के चन्द्रप्रभ-जिनालय के लिए नगर की तीन दुकानें दान की थीं। उसी अवसर पर नगर के साधु वत्सराज, साधु लाहड और साधु दशरथ नामक तीन धनी व्यापारियों ने भी एक दुकान एवं एक मकान उसके लिए समर्पित कर दिया था। यह दान शासन कालेश्वर पण्डित के पुत्र दिवाकर पण्डित ने लिया था।

सामन्त कूचिराज—देवगिरि के यादवनरेश कन्नरदेव अपरनाम कृष्ण (१२४७-६० ई.), उसके अनुज महादेवराय (१२६०-७० ई.) और पुत्र रामदेव अपरनाम रामचन्द्रराय (१२७०-१३०९ ई.) का जैन सामन्त कूचिराज या कूचदण्डेश यादव राजाओं की ओर से पाण्ड्यदेशान्तर्गत बेतूरप्रदेश का शासक था। वह अत्यन्त शूरवीर, सैन्यसंचालन-निपुण और कुशल प्रशासक होने के साथ ही साथ बड़ा धार्मिक था। उसके पिता का नाम सिंहदेव और माता का मल्लाम्बिका था। अत्यन्त रूपवान्, चम्पक-वर्ण-गात्र, शीलवान्, विविधकला- प्रवीण, गुणागरी लक्ष्मीदेवी उसकी धर्मपत्नी थी, और बड़ा भाई विद्वज्जनबन्धु, व्रतियों का आदर करनेवाला, मन्त्रीश्रेष्ठ चट्टराज था, तथा सुपुत्र प्रतापी, शूरवीर, यशस्वी और दानी बोणदेव था। मन्त्री चट्टराज और सेनापति कूचिराज इन दोनों भाइयों की जोड़ी भरत और बाहुबलि तथा राम और लक्ष्मण के समान समझी जाती थी। भगवत् वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र की शिष्य सन्तति में उत्पन्न मूलसंघ-सेनगण पोगरिगच्छ के मुनि महासेन के शिष्य पद्मसेन यतिनाथ का यह परिवार गृहस्थ-शिष्य था। विशेषकर कूचिराज को उक्त योगीश्वर का पद-पद्म-आराधक और उसके पुत्र बोणदेव को पद-युग-भक्त कहा है। जब कूचिराज की प्रिय पत्नी धर्मात्मा लक्ष्मीदेवी का स्वर्गवास हो गया तो स्वगुरु पद्मसेन भट्टारक के उपदेश से उसने उसकी स्मृति में लक्ष्मी-जिनालय नाम का भव्य मन्दिर निर्माण कराकर उसमें मूलनायक के रूप में भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की और ११७१ ई. में उस जिनालय के लिए एक ग्राम स्वगुरु को पादप्रक्षालन-पूर्वक समर्पित किया। वह ग्राम उसने पूर्व नरेश महादेवराय से प्राप्त किया था और तत्कालीन नरेश रामदेवराय की सहमति से उसे दान किया था। उसी अवसर पर उसकी प्रेरणा से माचि के पुत्र हरियगौड, माक के पुत्र योगगौड और सोम के पुत्र रामगौड नामक उक्त मण्डल के प्रमुखों और सेट्टियों ने भी सुपारी का एक उद्यान, एक दुकान तथा अन्य दान दिया था। लेख में लिखा है कि रामदेव भूपाल का पादपद्मोपजीवी यह सामन्त कूचिराज दण्डेश स्थिर-पुण्य, उत्तमयश-प्राप्त, साहित्य-सत्याश्रय था और परम राजगुरु श्रीमज्जिन-भट्टारकदेव की प्रभावना में सतत प्रयत्नशील रहता था।

दण्डेश माधव—अपरनाम माडिगौड राजा रामचन्द्रराय का एक सेनापति था, भट्टारक माधवचन्द्र का गृहस्थ-शिष्य था और महादेवण्ण तथा रामा का पुत्र था। इस दण्डनायक नालप्रभु माडिगौड ने एक जिनालय बनवाया और समस्त सांसारिक बन्धनों का परित्याग करके १२९२ ई. में समाधिमरण किया था।

शिरियमगौडि—यादव रामदेव के मण्डलेश्वर कोटिनायक का नालप्रभु शिरियमगौड रामचन्द्र-मलधारी का शिष्य और कल्लगौड का पुत्र था। उसने १२९६ ई. में समाधिमरण किया था। उसकी भार्या शिरियमगौडि ने १२९९ ई. में समाधिमरण किया था। वह बड़ी गुणवान्, शीलवती, उदार और धर्मात्मा थी। अनेक जिनालयों का उसने जीर्णोद्धार कराया था। सम्यक्त्व रत्नाकर, दानविनोद, जिनगन्धोदक-पवित्री-कृतोत्तमांग आदि उसके विरुद थे।

निडुगलवंशी राजे

१२वीं-१३वीं शताब्दी में इस वंश का राज्य मैसूर प्रदेश के उत्तरी भाग के एक हिस्से पर था। ये राजे अपने आपको चोल महाराज, मार्तण्ड-कुलभूषण और उरैयूर-पुरवराधीश्वर कहते थे। इस वंश का तीसरा राजा मंगिनृप था। उसका पुत्र बब्बिनृप था जिसका पुत्र गोविन्दर हुआ। गोविन्दर का पुत्र इरुंगोल प्रथम गुणचन्द्र के शिष्य नयकीर्ति सिद्धान्त चक्रवर्ती का गृहस्थ-शिष्य ११७७ ई. था। उसका पुत्र भोगनृप हुआ। भोगनृप का पुत्र बर्म्मनृप था, जिसकी भद्र लक्षणोंवाली रानी बाचलदेवी कलिवर्म की पुत्री थी। इन दोनों का पुत्र इरुंगोल द्वितीय था। इस राजा ने १२३२ ई. में अपने आश्रित गंगेयन-मारेय के निवेदन पर उसके द्वारा निर्मापित जिनालय के लिए भूमिदान दिया था। यही राजा अथवा इसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी इरुंगोलदेव-चोल-महाराज था, जिसने १२७८ ई. में मल्लिसेट्टि द्वारा निर्मापित जिनालय के लिए प्रभूत दान दिया था। ये राजे निगलंक-मल्ल, परनारी-सहोदर, शरणागतवज्रपंजर, महामण्डलेश्वर आदि विरुदधारी थे। इनके पहाड़ी दुर्ग एवं प्रधान गढ़ का नाम कालांजन था। उसकी चोटियाँ बहुत ऊँची थीं जिसे देखकर लोक मे उसका नाम निड्गल प्रसिद्ध हुआ। इस वंश मे सामान्यतया जैनधर्म की प्रवृत्ति थी और कई राजे तो परम जैन थे, यथा इरुंगोल प्रथम, जिसे ११४९ मे विष्णुवर्धन होयसल ने एक युद्ध में पराजित किया था और जिसके धर्मगुरु देशीगण-पुस्तकगच्छ के नयकीर्ति-सिद्धान्तदेव थे, और उपर्युक्त इरुंगोल द्वितीय एवं तृतीय।

गंगेयन-मारेय और बाचले—निडुगलवंशी राजा इरुंगोल द्वितीय के पादपद्मोपजीवी गंगेयनायक की पत्नी चामा से उत्पन्न पुत्र गंगेयन-मारेय बड़ा धर्मात्मा सम्भ्रान्त श्रावक था। उसने नेमिपण्डित से श्रावक के व्रत लिये थे और कोण्डकुन्दान्वय-पुस्तक-गच्छ-वाणद-बलिय के वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य विश्वविश्रुत पद्मप्रभमलधारि-देव की चरणसेवा करके उसने अपने मनोभिलषित अर्थ की प्राप्ति की थी। उसकी भार्या बाचले भी बड़ी धर्मात्मा थी। इस दम्पति ने निडुगल पर्वत के ऊपर, बदरताल के दक्षिण में एक शिला के अग्रभाग पर पार्श्वजिन-बसदि का निर्माण कराया था, जिसे जोगवट्टिगे-बसदि भी कहते थे। इस जिनालय में भगवान् की नित्यपूजा, महाभिषेक और चतुर्विधदान के लिए गंगेयन-मारेय की पत्नी बाचले की प्रार्थना पर महाराज इरुंगोल

द्वितीय ने १२३२ ई. में धारापूर्वक कुछ भूमियों का दान दिया था। गंगेयन-मारेयन-हल्लि नामक ग्राम के किसानों ने भी अखरोट, पान आदि का और तेलियों ने तेल का दान दिया था।

मल्लिसेट्टि—संगय का पौत्र और बोम्मिसेट्टि का पुत्र था। उसकी जननी का नाम मेळब्बे था। वह मूलसंघ-देशीगण-पुस्तकगच्छ-इंगुलेश्वरबलि के आचार्य त्रिभुवन-कीर्ति-राबुल के प्रधान शिष्य बालेन्दुमलधारिदेव का प्रिय गृहस्थ-शिष्य था। उसने स्वस्थान तैलंगेरे के जोगमट्टिगे मुहल्लेमें ब्रह्मजिनालय निर्माण कराके उसमें प्रसन्न-पार्श्व-देव की प्रतिष्ठा की थी और १२७८ ई. में, जब इरुंगोलदेव-चोलमहाराज अपने पृथ्वी-निडुगल के प्रासाद में सुखपूर्वक रह रहे थे, उनकी सहमति-पूर्वक उक्त जिनालय के लिए सुपारी के २००० वृक्षों की फ़सल के दो भाग (दो या दस प्रतिशत) सदैव के लिए स्वगुरु को समर्पित करा दिये थे। श्री नयनगिरि और बालेन्दु-मलधारि के प्रिय शिष्य तथा दीपनायक और पौन्नवे के पुत्र चेल्लपिल्ले को इस दान की व्यवस्था का भार सौंपा गया था।

अन्य विशिष्ट जन

भूपाल गोल्लाचार्य—गोल्लदेश के नूतनचन्दिल-वंशी राजा, जिनका नाम सम्भवतया भूपाल था, किसी कारण को पाकर संसार से विरक्त हो गये और जैन मुनि बने थे तथा गोल्लाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। गृहस्थ अवस्था मे रहते ही वह परम जिनभक्त थे और ११वीं शती ई. के प्रारम्भ के लगभग उन्होंने सुप्रसिद्ध भूपाल-चतुर्विशति-स्तोत्र की रचना की थी, जिसकी गणना भक्तामर, कल्याणमन्दिर आदि पंचस्तोत्रों में की जाती है। कोण्डकुन्दान्वय मूलसंघ-देशीगण-पुस्तकगच्छ के महेन्द्रकीर्ति के शिष्य वीरनन्दि उनके दीक्षा गुरु थे और उनके उपरान्त यही उनके पट्टधर हुए। गोल्लाचार्य के शिष्य त्रैकाल्ययोगी थे, जिनके प्रशिष्य सकलचन्द्र के पट्टधर मेघचन्द्र त्रैविद्य ने १११५ ई. में समाधिमरण किया था। तद्विषयक शिलालेखों मे उन्होंने 'गोल्लाचार्य इति प्रसिद्धमुनिपोऽभूद्गोल्लदेशाधिपः', भूपाल-मौलि-द्युमणि, विदलिताङ्घ्रि-अब्ज-लक्ष्मीविलास, शुद्धरत्नत्रयात्मा, सिद्धात्मार्थ-सार्थ-प्रकटन-पटु, सिद्धान्त-शास्त्राब्धि-वीचि आदि कहा गया है।

पार्श्वदेव—मन्त्रीश नेमदण्डेश के पुत्र थे और उनकी पत्नी मुद्दसि गंगवंश में उत्पन्न हुई थी। कम्बदहल्लि प्राचीन और प्रसिद्ध जैन केन्द्र था। वहीं इन धर्मात्मा पार्श्व ने बिडिगनविले के प्राचीन जिनमन्दिर का जीर्णोद्धार कराके मन्दिर के लिए, दिव्य व्रतियों के लिए और विद्यार्थियों के निर्वाह के लिए भूमिदान करके हनसोगे के जैनाचार्यों को ११६७ ई. में समर्पित कर दिया था।

खचरकन्दर्प सेनमार—कोई विद्याधरवंशी राजा था। इसके राज्य में देवगण-पाषाणान्वय के अंकदेव भट्टारक के शिष्य महीदेव भट्टारक के गृहस्थ-शिष्य निरवद्यय्य ने

महेन्द्रबोलल प्राप्त करके १०६० ई. के लगभग कडवन्ति में बेलसचट्टान पर निरवद्य-जिनालय नाम का मन्दिर बनवाया था। राजा सेनमार ने उससे प्रसन्न होकर कृपापूर्वक उसे एक मान्य प्रदान किया था, जिसे जक्किमान्य का नाम देकर उसने उक्त जिनालय की भेंट कर दिया था। उस प्रदेश के किसानों ने भी अपने धान्य की फ़सल का एक अंश उक्त जिनालय के लिए सदैव देते रहने का संकल्प किया था।

धर्मात्मा चिक्कतायि—अच्युतराजेन्द्र के सुपुत्र अच्युत-वीरेन्द्र-शिक्यप नाम के राजा का राजवैद्य धरणीय ब्रह्मकुल में उत्पन्न, जैनधर्माब्ज-भानु, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता, बुधजन-सेवी, मुनिजनपद-भक्त, बन्धुसत्कारदक्ष, भिषग्वर था। उसकी कुलवनिता (पत्नी) चिक्कतायि त्रिवर्ग के संसाधन में सावधान, साध्वी, शुभाकारयुता, सुशीला, जिनेन्द्रपदाम्बुज-भक्तियुक्ता, महाप्रसिद्धा थी और विद्यानन्दस्वामी की गृहस्थ-शिष्या थी। उसका सुपुत्र भिषग्राज विद्यासार भी सदाकार, सुमना, बन्धुपोषक, पूज्यहृदय और तत्त्वशील था। धर्मात्मा चिक्कतायि ने कनकाचल के भगवान् पार्श्वेश की पंचवर्षीय पूजा, मुनियों के नित्य आहारदान और सदैव शास्त्रदान के निमित्त ११८१ ई. मे किन्नरपुर का दान दिया था।

राजकुमारी उदयाम्बिका और वीराम्बिका—चालुक्य त्रैलोक्यमल्ल की ओर से जब दण्डनायक मने-बेर्गडे-अनन्तपालय्य बनवासि आदि सप्तार्द्ध-लक्ष देश का शासक था तो उसका उपसामन्त गोविन्दरस बनवासि-१२००० का रक्षक था। इसका पुत्र राजभक्त सोम या सोवरस था, जिसकी पत्नी सोमाम्बिका रूप-लावण्य में रति के समान और सम्यग्दर्शन में रेवती रानी के समान थी। इस सोमनृप की दो पुत्रियाँ थी—बीराम्बिका और उदयाम्बिका, जो साक्षात् जिन-शासन देवियों के समान धर्मरक्षक और धर्मात्मा थी। उदयाम्बिका का विवाह जूजिननृप के महापराक्रमी एवं यशस्वी पुत्र जूजकुमार अपरनाम कुमार गजकेसरी के साथ हुआ था। इस राजपुत्री एवं राजरानी ने अपनी बहन के साथ सण्ड में, ११०० ई. के लगभग, देवेन्द्र-विमान और नागराज-भवन-जैसा सुन्दर और हेमाचल-जैसा उत्तुंग, मणिमाणिक्य-खचित भव्य जिनेन्द्रभवन बनवाया था।

बोदण्णगौड—११५४ ई. में पार्श्वसेन भट्टारक ने, जो साधुओं के समस्त गुणों से सम्पन्न थे, होल्लकेरे की शान्तिनाथ-बसदि का जीर्णोद्धार कराया था और विमान शुद्धि, नाँदीमंगल, ध्वजारोहण-भेरीताड़न, अंकुरारोपण, बृहच्छान्तिक, मन्त्रन्यास, अंक-न्यास, केवलज्ञान का महाहोम, महास्नपनाभिषेक, अग्रोदकप्रभावना, कलशप्रभावना आदि रूप से विधिवत् प्रतिष्ठोत्सव किया था। तदनन्तर जिनालय के संरक्षण तथा उसमें अक्षयतृतीया, अष्टाह्निका, अनन्तचतुर्दशी, महावीर-निर्वाण एवं ऋषभनिर्वाणरूपी जिनरात्रि महोत्सवों आदि समस्त धार्मिक पर्वों और महोत्सवों के मनाये जाने की व्यवस्था की थी। उनके इस धर्म-कार्य में मूलसंघ-आम्नायी बोदण्णगौड और उसके धर्मात्मा सत्पुत्रों सोमण्णगौड, शान्तण्णगौड और आदण्णगौड का पूरा सहयोग था—उक्त

व्यय और भूमिदानादि का प्रधान अंश उन्होंने ही दिया था। स्थानीय शासक प्रताप-नायक से भी उन्होंने कुछ भूमि इस हेतु भेंट देकर प्राप्त की थी।

श्रावकोत्तम चक्रेश्वर—श्रीयर्द्धनापुर (श्रीवर्द्धनपुर) निवासी धनवान् एवं धर्मात्मा सेठ राणुगी श्रावक के पुत्र श्रावक म्हालुगि थे, जिनकी धर्मपत्नी का नाम स्वर्णा था। इनके चार पुत्रों में सबसे जेठे श्रावक चक्रेश्वर थे, जो महादानी, धर्मकमूर्ति, स्थिर-शुद्ध-दृष्टि, दयावान्, सतीवल्लभ, अपनी उदारता में कल्पवृक्ष के समान और निर्मल धर्मरक्षक थे। प्राचीन धर्मतीर्थ एवं कलातीर्थ एलउर (एलोरा-महाराष्ट्र राज्य के औरंगाबाद जिले में स्थित) में पर्वत के ऊपर इन श्रावक चक्रेश्वर ने १२३४ ई. में पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकर भगवानों के विशाल बिम्ब समारोहपूर्वक प्रतिष्ठित कराये थे। कहा गया है कि अपने इस कार्य से चक्रेश्वर ने इस स्थान (एलोरा) को ऐसा सुतीर्थ बना दिया था जैसा कि पूर्व काल में भरत चक्रेश्वर ने अपने ऐसे ही कार्यों द्वारा कैलासपर्वत को बना दिया था।

बमुविसेट्टी—और उसके पुत्र नाम्बि, बोकि, जिन्नि एवं बाहुबलि नामक सेट्टियों ने १२०० ई. के लगभग श्रवणबेलगोल की विन्ध्यगिरि पर चौबीसी प्रतिष्ठापित की थीं तथा अन्य निर्माण कराये थे। यह सेट्टि परिवार नयकीर्ति सिद्धान्तचक्रवर्ती का गृहस्थ-शिष्य था।

शिलालेखों में दण्डिकराज, सामन्त नागनायक, यशकीर्ति का सम्मान करनेवाले सिंहलनरेश, चतुर्मुखदेव को 'स्वामी' की उपाधि देनेवाले पाण्ड्यनरेश, वीरपल्लवराय, गरुड़केसिराज, वत्सराज बालादित्य, गण्डविमुक्त के श्रावक शिष्य कोडय्य दण्डनायक, हेग्गडे बम्मदेव और नागदेव, सिग्यपनायक, राजा गुम्मट, पण्डितार्य के शिष्य सामन्त हरियण्ण और सामन्त माणिक्कदेव हेर्ग्गडेकण्ण, युद्धवीर मावन गन्ध-हस्ति, बोयिग आदि अन्य अनेक जैन राजाओं, सामन्त-सरदारों तथा गावुण्डों, सेट्टियों, धर्मात्मा महिलाओं आदि के पूर्व-मध्यकाल मे नामोल्लेख मिलते हैं। अनेक धर्मात्माओं द्वारा श्रवणबेलगोल आदि मे किये गये दान या अन्य धर्म कार्यों के सकेत भी मिलते है।



उत्तर भारत

(लगभग २०० ई.–१२९० ई.)

नाग-वकाटक युग

तीसरी शती ई. के मध्य के लगभग कुषाणों का पराभव होने पर मथुरा, कौशाम्बी, अहिच्छत्रा आदि में स्थानीय मित्रवंशी राज्य, कई प्रदेशों में यौधेय, मद्रक, अर्जुनायन आदि युद्धोपजीवी गणराज्य और अनेक क्षेत्रों में भारशिव नागों की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हुई। तीसरी शती में पूर्वी एवं मध्य भारत में ये शैवधर्मानुयायी नाग राजे ही सर्वाधिक शक्तिशाली थे। धर्म के विषय में वे प्रायः उदार और सहिष्णु थे। विदिशा, पद्मावतीपुर, मथुरा, अहिच्छत्रा आदि उनके कई प्रमुख केन्द्र जैनधर्म के भी पवित्र तीर्थ और अच्छे केन्द्र थे। जैन अनुश्रुतियों में नाग जाति को विद्याधरों का वंशज कहा है। बाद में श्रमणधर्मी व्रात्य-क्षत्रियों में इनकी गणना होने लगी। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के साथ इस जाति का घनिष्ठ सम्बन्ध था। किन्तु इस काल मे यह जाति शैवमतानुयायी थी। जैनधर्म को कोई राज्याश्रय प्राप्त नहीं था। कोई उल्लेखनीय जैन भी उस काल में नही हुआ। जैनों की पद्मावतीपुरवाल जाति यह अवश्य सूचित करती है कि नागों की एक प्रमुख राजधानी पद्मावतीपुर (ग्वालियर राज्य का पवाया) उस काल में जैनों का अच्छा गढ रहा होगा।

नागों के प्राय. साथ ही साथ विशेषकर मध्य एवं पश्चिम भारत मे वकाटकवंशी राजे हुए जो चौथी शती ई. के प्रायः मध्य तक अच्छे सत्ताधारी रहे। उनके युग एवं राज्य में भी जैनो की नागों के समय-जैसी स्थिति रही।

गुप्तकाल

३२० ई. के लगभग गुप्त-राज्य की स्थापना हुई और चौथी शताब्दी के मध्य से लेकर प्रायः छठी शताब्दी ई. के मध्य तक गुप्त-साम्राज्य ही सम्पूर्ण उत्तर भारत की सर्वोपरि राज्यशक्ति था। यह युग भारतीय साहित्य और कला का स्वर्णयुग माना जाता है। देश समृद्ध और सुखी था। पाटलिपुत्र गुप्त-साम्राज्य की प्रधान राजधानी थी और उज्जयिनी उपराजधानी थी। गुप्तनरेश वैष्णव धर्मानुयायी परम-भागवत थे और पौराणिक हिन्दू धर्म के विकास के साधक तथा उसके प्रबल पोषक एवं समर्थक थे। जैनधर्म के प्रति वे भी असहिष्णु नहीं थे,. किन्तु उसे राज्याश्रय भी प्राप्त नहीं था।

वंशसंस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम (३१९-३२५ ई.) का पिता श्री गुप्त बौद्ध था, किन्तु वह स्वयं शायद ब्राह्म धर्म का ही अनुयायी था, वैसे उसके अभ्युदय का मूलाधार भगवान् महावीर के कुल में उत्पन्न पाटलिपुत्र के तत्कालीन लिच्छविनरेश की एकमात्र दुहिता कुमारदेवी के साथ उसका विवाह होना था। उसी लिच्छविरानी का पुत्र भारी विजेता समुद्रगुप्त हुआ। उसका उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त (३७५-३७९ ई.) था, जिसका अनुज एवं उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७९-४१४ ई.) इस वंश का सर्वाधिक प्रसिद्ध, प्रतापी एवं शक्तिशाली सम्राट् था। उसके पुत्र कुमारगुप्त (४१४-४५५ ई.) और पौत्र स्कन्दगुप्त (४५५-४६७ ई.) के समय मे साम्राज्य की शक्ति एवं प्रतिष्ठा बनी रही, किन्तु तदुपरान्त अवनति प्रारम्भ हो गयी और विशेषकर श्वेत हूणों के आक्रमणों तथा सामन्तों के विद्रोहों के परिणामस्वरूप छठी शती ई. के मध्य के लगभग समाप्तप्राय हो गयी। गुप्त-युग में जैनधर्म को प्रायः कोई राज्याश्रय प्राप्त नही था। राज्यवंश के अतिरिक्त कोई बडा सामन्त-सरदार, राज्यपदाधिकारी और सेठ-साहूकार भी प्रायः जैन नहीं था। तथापि, कुछ-एक उल्लेखनीय नाम प्राप्त होते हैं। अनेक पुराने जैन केन्द्र भी बहुत कुछ फलते-फूलते रहे, दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के जैन साधुओ का पश्चिमोत्तर सीमान्त से लेकर बिहार, बंगाल और उड़ीसा पर्यन्त स्वछन्द विहार था और चीनी-यात्री फाह्यान के यात्रावृत्त से प्रकट है कि साम्राज्य के जनसामान्य पर खान-पान सम्बन्धी जैनी अहिंसा का पूरा प्रभाव था—मद्य-मांस-सेवन का प्रचार अत्यन्त विरल था।

सर्वप्रथम प्राप्त उल्लेख गुप्त संवत् ५७ (३७६ ई.) का है, जब मथुरा में एक जिन प्रतिमा प्रतिष्ठित की गयी थी।

महाराजाधिराज रामगुप्त—द्वारा प्रतिष्ठापित कई जिनमूर्तियाँ विदिशा के निकट दुर्जनपुर से प्राप्त हुई है। उनमें से दो चन्द्रप्रभु (८वें तीर्थकर) की है और एक पुष्पदन्त (९ वें तीर्थंकर) की है। इन प्रतिमाओं को उक्त गुप्त सम्राट् ने पाणिपात्र (दिगम्बर) मुनि चन्द्रक्षमाचार्य श्रमण के प्रशिष्य, आचार्य सर्पसेन क्षमण के शिष्य और गोलक्यान्त्य के सुपुत्र चेलु-श्रमण के उपदेश से प्रतिष्ठापित किया था।

दण्डनायक आमकारदेव—उन्दान का पुत्र और सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का एक वीर दण्डनायक था। गुप्त संवत् ९३ (४१२ ई.) के साँची के एक शिलालेख के अनुसार इस जैन सेनानायक ने काकनाबोट के विहार में नित्य जैन साधुओं के आहार-दान के निमित्त तथा रत्नगृह में दीपक जलाने के लिए ईश्वरवासक नाम का गाँव और २५ स्वर्ण दीनारों का दान किया था।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्न—इस विद्वद्रत्नों में परिगणित क्षपणक नामक विद्वान् को आधुनिक इतिहासकार एक दिगम्बर मुनि रहा मानते है। वस्तुतः सुप्रसिद्ध द्वात्रिंशिकाओं के रचयिता आचार्य सिद्धसेन (प्रथम) ही यह गुप्तकालीन क्षपणक थे जो श्रेष्ठकवि, महान् तार्किक और अत्यन्त उदार एवं प्रगतिवादी विद्वान् थे।

उज्जयिनी के महाकाल-मन्दिर में उनके द्वारा किये गये चमत्कारों को लेकर कई कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। सुप्रसिद्ध अमरकोषकार अमरसिंह भी जैन थे, ऐसा कई विद्वानों का विश्वास है और ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर निर्युक्तियों के रचयिता जैनाचार्य भद्रबाहु के बड़े भाई थे, ऐसी मान्यता है।

अश्वपति सुभट के पुत्र संघल—गुप्तवंशी नरेश (कुमारगुप्त) के समय में पद्मावतीपुर निवासी और शत्रुओं का मान भंग करनेवाले 'अश्वपति' उपाधिधारी सुभट के पुत्र शम-दम-वान संघल ने, जो भद्रान्वय के भूषण एवं आर्यकुल में उत्पन्न आचार्य गोशर्म के शिष्य थे, (मध्यप्रदेश में विदिशा के निकट) उदयगिरि पर स्थित गुहामुख मे वीतराग जिनवर पार्श्वदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। इसमें उनका हेतु कर्मरूपी शत्रुओं का क्षय करना और पुण्य उपार्जन करना था। यह संघल विधिपूर्वक यतिमार्ग में स्थित होकर (मुनिदीक्षा लेकर) शंकर मुनि कहलाये थे। 'अश्वपति' उपाधि राजा-महाराजाओं या बड़े सामन्तों की होती थी, अतएव उपरोक्त सुभट-अश्वपति गुप्तों के कोई बड़े सामन्त और पद्मावतीपुर के शासक रहे प्रतीत होते है। यह प्रतिष्ठा कार्तिक कृष्णा पंचमी, गुप्त-संवत् १०६, अर्थात् ४२६ ई. में हुई थी। उपर्युक्त पार्श्व-प्रतिमा उसी स्थान में अखण्डितरूप में अभी भी विद्यमान है, लेख उसके निकट ही दीवार पर अंकित है।

श्राविका शामाढ्या—कोट्टियगण की विद्याधरी शाखा के दत्तिलाचार्य की गृहस्थ-शिष्या थी, भट्टिभव की पुत्री थी और ग्रहमित्रपालित की कुटुम्बिनी (धर्मपत्नी) थी। उसका पति प्रातारिक (नदी के घाट का अधिकारी) था। इस धर्मात्मा श्राविका ने सम्राट् कुमारगुप्त के राज्य मे, गुप्त सं. ११३ अर्थात् ४३२ ई. में मथुरा में एक जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा करायी थी।

श्रावक भद्र—सोमिल का पुत्र, जैन साधुओं के संसर्ग से पवित्र, प्रचुरगुणनिधि महात्मा-भट्टिसोम था। उसका पृथुलमति-यशा पुत्र रुद्रसोम अपरनाम व्याघ्र था। व्याघ्र का पुत्र भद्र या मद्र था जो द्विज, गुरु और यतियों (जिन मुनियों) मे प्रीति रखनेवाला, पुण्यस्कन्ध और संसार के आवागमन चक्र से भयभीत, धर्मात्मा श्रावक था। उसने अपने कल्याण के लिए सम्राट् स्कन्दगुप्त के राज्य में, गुप्त सं. १४१ (सन् ४६० ई.) के ज्येष्ठ मास में, ककुभ (उत्तर प्रदेश के देवरिया ज़िले का कहायूँ) नामक ग्रामरत्न में, अर्हन्तों में प्रमुख पंच-जिनेन्द्र (आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्व और महावीर) का गिरिवर के शिखर समान सुचारु शिलास्तम्भ बनवाकर प्रतिष्ठापित किया था। कहायूँ का यह प्रसिद्ध पंच-जिनेन्द्र स्तम्भ अब भी विद्यमान है।

वलभीनरेश-भटार्क—पाँचवीं शती ई. के मध्य लगभग गुजरात के वलभी-नगर में गुप्त सम्राटों का करद सामन्त और उस प्रदेश का शासक भटार्क था जिसका अपरनाम सम्भवतः धरसेन या ध्रुवसेन भी था। यही राजा वलभी के मैत्रकवंश का संस्थापक था। उसके प्रश्रय में ४५३ ई. (मतान्तर से ४६६ ई.) मे आचार्य देवर्द्धिगणि-

क्षमाश्रमण ने एक यतिसम्मेलन बुलाकर उसमें श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित आगम सूत्रों का वाचन और संकलन किया तथा प्रथम बार उन्हें लिपिबद्ध किया था। जैन-श्वेताम्बर साहित्य के इतिहास में यह घटना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यों वलभी उसके दो-एक शताब्दी पहले से ही जैनों का एक गढ़ रहता आया था—चौथी शती के प्रारम्भ में भी नागार्जुनसूरि ने वहाँ आगमों की बाँचना की थी।

हूणनरेश तोरमाण—पश्चिम सीमान्त से भारत में प्रविष्ट होनेवाले बर्बर हूणों के दुर्दान्त आक्रमणों ने गुप्त-साम्राज्य को जर्जर कर दिया था। जिस बर्बर, क्रूर, भारतीय धर्म-विरोधी, विदेशी और अत्याचारी हूण सरदार ने लगभग ४० वर्ष पर्यन्त गुप्त सम्राटों और भारतीय जनता को त्रस्त किये रखा, वही जैन अनुश्रुति का, महावीर-निर्वाण के एक सहस्र वर्ष के भीतर होनेवाली, चतुर्मुख कल्कि रहा प्रतीत होता है। और कल्कि की मृत्यु के उपरान्त उसके अजितंजय नामक जिस पुत्र के धर्मराज्य का उल्लेख आता है, वह उक्त हूण सरदार का पुत्र एवं उत्तराधिकारी तोरमाण या तोरारगय ही प्रतीत होता है। चन्द्रभागा (चिनाब) के किनारे स्थित पवैया नामक नगरी उसकी राजधानी थी। सम्पूर्ण पश्चिमोत्तर सीमान्त, पंजाब, मथुरा पर्यन्त उत्तर प्रदेश और मध्यभारत के ग्वालियर, एरण आदि प्रदेशों पर उसका अधिकार था। वह शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि सब धर्मों के प्रति सहिष्णु एवं उदार और अपेक्षाकृत सौम्य प्रकृति का था। एक जैन अनुश्रुति के अनुसार गुप्तवंश में ही उत्पन्न जैनमुनि हरिगुप्त ने उस बर्बर हूणनरेश पर आध्यात्मिक एवं नैतिक विजय प्राप्त करके उसे अपना भक्त बना लिया था। उसके आग्रह पर वह कुछ वर्ष उसकी राजधानी में भी रहे। लगभग ४७३ से ५१५ ई. तक उसका राज्यकाल रहा।

श्रावक नाथशर्मा—बंगाल देश के पहाड़पुर स्थान का निवासी यह सद्गृहस्थ और उसकी पत्नी बड़े जिनभक्त और धर्मात्मा थे। पहाड़पुर-ताम्रपत्र के अनुसार गुप्त सम्राट् बुधगुप्त के शासन काल में, गुप्तसंवत् १५९ अर्थात् ४७८ ई. में, इस दम्पति ने राजपुरुषों की साक्षी से बंगदेशस्थ पुण्ड्रवर्धन के वटगोहाली नामक विशाल जैनविहार को स्वर्णमुद्राओं का दान किया था। इस संस्थान के संस्थापक एवं संरक्षक पंच-स्तूप-निकाय के वाराणसी-निवासी जैनाचार्य गुहनन्दि के शिष्य-प्रशिष्य थे। उक्त दान का मुख्य हेतु जिन प्रतिमा की स्थापना और अर्हन्तों की नित्यपूजा की व्यवस्था थी। दिगम्बर मुनियों की पंचस्तूपान्वयी शाखा, जो कालान्तर में मूलसंघान्तर्गत सेनसंघ में परिवर्तित हो गयी और जिसका निकास मूलतः सम्भवतया हस्तिनापुर के पंचस्तूप से था, उस काल में पर्याप्त प्रभावशाली थी। उत्तर में हस्तिनापुर, मथुरा और काशी, पूर्व में बंगाल और दक्षिण में महाराष्ट्र एवं कर्णाटक पर्यन्त उसका प्रसार था।

राजर्षि देवगुप्त—गुप्तनरेश महासेनगुप्त के पुत्र कुमारामात्य देवगुप्त ने मालवा पर अधिकार करके छठी शताब्दी के मध्य के लगभग वहाँ अपना स्वतन्त्र शासन स्थापित किया था। वह जैनधर्म का अनुयायी था और श्रेष्ठ युद्धवीर एवं राजनीतिज्ञ

था। थानेश्वर के राज्यवर्धन के हाथों पराजित होने पर वह संसार से विरक्त हो गया और अपने ही वंश के जैन मुनि हरिगुप्त से दीक्षा लेकर जैन साधु हो गया था।

गुप्तकाल के जैन मन्दिरों और मूर्तियों के भग्नावशेष बंगाल, बिहार, उड़ीसा, गुजरात, मध्यभारत, उत्तरप्रदेश, पंजाब और उत्तर-पश्चिमी सीमान्त तक में प्राप्त हुए हैं। मथुरा, हस्तिनापुर, देवगढ़, कहायूँ, वाराणसी, राजगिरि (बिहार), पुण्ड्रवर्धन, विदिशा, वल्लभी, उज्जयिनी आदि उस काल के प्रसिद्ध जैन केन्द्र थे।

कन्नौज के मोखरि और वर्धन

छठी शताब्दी के मध्य के लगभग गुप्तों के पराभव पर उनके ही एक मोखरि सामन्त ने कन्नौज को राजधानी बनाकर कन्नौज से विहार पर्यन्त अपनी स्वतन्त्र सत्ता जमा ली थी। बंगाल के शशाक द्वारा अन्तिम मोखरि गृहवर्मा की युद्ध मे मृत्यु हो जाने पर इस वंश का अन्त हुआ और उसका स्थान उसके साले, थानेश्वर के हर्षवर्धन ने लिया।

सम्राट् हर्षवर्धन (६०६-६४७ ई.)—प्रतापी नरेश था और शीघ्र ही प्रायः पूरे उत्तरापथ पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करने में सफल हो गया था। बौद्धधर्म की ओर उसका विशेष झुकाव था, तथापि वह सर्वधर्म-समदर्शी, विद्वानों का आदर करनेवाला, उदार और दानी नरेश था। अपनी राजधानी कन्नौज में तथा प्रयाग मे वह विद्वत्-सम्मेलन करता था जिनमें वह बौद्ध, जैन (निर्ग्रन्थ), शैव और वैष्णव साधुओं एवं विद्वानो को आमन्त्रित करता और यथेच्छ दान देकर उन्हे सन्तुष्ट करता था। उसके समय मे चीनी बौद्ध यात्री ह्वेनसांग भारत आया था, राजधानी में भी रहा था। उसके यात्रा-वृत्तान्त से पता चलता है कि पश्चिम मे अफ़गानिस्तान से लेकर पूर्व में बंगाल पर्यन्त और उत्तर मे हिमालय से लेकर दक्षिण में कुमारी अन्तरीप पर्यन्त प्रायः प्रत्येक प्रदेश मे निर्ग्रन्थ (जैन साधु) और उनके अनुयायी पाये जाते थे। वीरदेव क्षपणक नामक जैन विद्वान् हर्ष के राजकवि बाण का मित्र था और सम्भवतया हर्ष की राजसभा का एक विद्वान् था। सुप्रसिद्ध भक्तामरस्तोत्र के रचयिता जैनाचार्य मानतुंग भी इसी समय हुए माने जाते है। जैकोबी आदि कतिपय विद्वान् उनका सम्बन्ध हर्ष से जोड़ते हैं। सम्भव है कि उपरोक्त वीरदेव क्षपणक मानतुंग के शिष्य हो। इसी काल मे वलभी के मैत्रकवंशी नरेश शिलादित्य प्रथम के आश्रय मे श्वेताम्बराचार्य जिनभद्रगणी-क्षमाश्रमण ने अपना सुप्रसिद्ध विशेषावश्यक-भाष्य ६०९ ई. मे रचा था और कर्णाटक के जैनाचार्य भट्टाकलंकदेव ने कलिंगनरेश हिमशीतल की राजसभा में बौद्ध विद्वानों को वाद में पराजित किया था। बड़ौदा के निकट अकोटा नामक स्थान से प्रायः इसी काल की कई जैन धातुमूर्तियाँ खुदाई में प्राप्त हुई है। मूर्तियाँ अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हैं। उनमें से कुछ लेखांकित भी हैं और एक पर जिनभद्र क्षमाश्रमण का नाम भी अंकित है। एक अन्य मूर्ति पर जो लेख पढ़ा गया है उसके अनुसार चन्द्रकुल की जैन महिला

नागेश्वरीदेवी ने देवधर्म के रूप में 'जीवन्तस्वामी' की यह मूर्ति निर्माण करायी थी। एक प्रतिमा ऋषभदेव की है, कुछ यक्ष-यक्षियों की हैं। सन् ६२३ ई. में चेदि के कलचुरि नरेश शंकरगण ने जैनतीर्थ कुल्पाक की स्थापना की थी।

हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त लगभग आधी शताब्दी उत्तर-भारत में अराजकता रही जो ऐतिहासिक दृष्टि से एक प्रकार का अन्धयुग है। इस काल की, ६८७ ई. की दो लेखांकित जैन धातुमूर्तियाँ बसन्तगढ़ में प्राप्त हुई थीं, और लगभग ७०० ई. में बारानगर के सत्ति (शक्ति)-भूपाल के आश्रय में जैनाचार्य पद्मनन्दि ने अपने प्राकृत भाषा के जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति-संग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

कन्नौजनरेश यशोवर्मन

८वीं शती के पूर्वार्ध मे इस नरेश ने अराजकता का अन्त करके शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित की। वह अच्छा प्रतापी, विजेता और विद्यारसिक नरेश था। कहा जाता है कि इस नरेश का राजकवि और प्राकृत काव्य गौड़वहो का रचयिता वाक्पति जैन था।

कन्नौज का आयुधवंश

यशोवर्मन की मृत्यु के कुछ समय उपरान्त कन्नौज पर आयुधवंशी नरेशों का अधिकार हुआ, जिनमें वज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध ने ८वी शती के उत्तरार्ध में क्रमशः राज्य किया। इनमें से इन्द्रायुध का उल्लेख ७८३ ई. मे रचित अपने हरिवंश-पुराण में पुन्नाटसंघी जैनाचार्य जिनसेन ने उत्तर दिशा के राजा के रूप में किया है। उसी शती के अन्त के लगभग आयुधों की सत्ता का अन्त गुर्जर-प्रतिहारों ने किया।

गुर्जर-प्रतिहार नरेश

प्राग्मुस्लिमकालीन राजपूत वंशों में प्रमुख गुर्जरप्रतिहार स्वयं को राम के प्रतिहार लक्ष्मण का वंशज कहते थे। मारवाड़ के भिन्नमाल अपरनाम श्रीमाल नगर को इन्होंने अपना प्रथम केन्द्र और राजधानी बनाया था। उस काल मे यह स्थान जैनधर्म का प्रसिद्ध गढ था। जैनों की सुप्रसिद्ध श्रीमाल या श्रीमाली जाति का निकास इसी नगर से है। श्रीमाल के गुर्जरप्रतिहार वंश का संस्थापक हरिश्चन्द्र था, किन्तु वंश और राज्य का अभ्युदय नागभट प्रथम (७४०-७५६) ई.) के समय से हुआ। उसने सिन्ध के अरबों को हराकर बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थी और अनेक छोटे-छोटे राज्यों को अधीन करके पर्याप्त शक्ति बढ़ा ली थी। यह राजा जैनधर्म का पोषक और सम्भवतया अनुयायी भी था। उसका भतीजा एवं उत्तराधिकारी कक्कुक तो परम जैन था और उसने भिन्नमाल में एक विशाल जिनमन्दिर बनवाया था जिसे उसने धनेश्वरगच्छ के यतियों को सौंप दिया था।

वत्सराज—कुक्कुक के अनुज एवं उत्तराधिकारी देवराज का पुत्र वत्सराज (७७५-८०० ई.) कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक था। वह बड़ा प्रतापी, पराक्रमी और विजेता था। उसने इन्द्रायुध से कन्नौज छीनकर उसे अपने नवोदित साम्राज्य की राजधानी मनोनीत किया था, यद्यपि उसके समय में प्रधान राजधानी भिन्नमाल ही बनी रही। समस्त पूर्वी राजस्थान, मालवा, मध्यभारत, गुजरात और उत्तर प्रदेश के पर्याप्त भाग उसके राज्य के अन्तर्गत थे। दक्षिण के राष्ट्रकूट और बंगाल के पाल उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। जैनाचार्य उद्योतनसूरि ने कुवलय माला (७७८ ई.) में और जिनसेनसूरि पुन्नाट ने हरिवंश-पुराण (७८३ ई.) में इस 'रणहस्ति', 'परभट-भृकुटि-भंजक' आदि विरुदधारी गुर्जर-प्रतिहार नरेश वत्सराज का भारतवर्ष के तत्कालीन सर्वमहान् नरेशों में उल्लेख किया है। कुवलय की रचना जाबालिपुर (जालोर) के ऋषभदेव-जिनालय में हुई थी। वह नगरी स्वयं वत्सराज की ही एक उप-राजधानी थी। राजा बहुधा वहीं रहता था। हरिवंश की रचना वर्धमानपुर (मध्यप्रदेश में पुराने धार राज्य का बदनावर नगर जो उज्जैन से ४० मील पश्चिम में स्थित है) की नन्नराज-बसति में प्रारम्भ की गयी थी और उसके लगभग १२ मील पश्चिम में स्थित दोस्तटिका (दोतरिया) के शान्तिनाथ-जिनालय में उसे पूर्ण किया गया था। इसी काल में आचार्य हरिभद्रसूरि ने चित्तौड़ में निवास करते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया था। वत्सराज जैनधर्म का बड़ा समर्थक एवं पोषक था। जैनयति बप्पभट्टि का वह बड़ा सम्मान करता था। उसी के समय में मथुरा में श्वेताम्बर और दिगम्बर मन्दिर सर्वप्रथम पृथक्-पृथक् बने लगते हैं। वह दोनों ही सम्प्रदायों के साथ समान व्यवहार करता था। श्रीमाल, ओसिया आदि नगरों में उसने विशाल जिन-मन्दिर निर्माण कराये थे। कन्नौज में उसने १०० हाथ ऊँचा भव्य जिन-मन्दिर बनवाया था, जिसमें भगवान् महावीर की स्वर्णमयी प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी, और ग्वालियर में उसने एक २३ हाथ ऊँची तीर्थंकर प्रतिमा स्थापित की थी। मोधरा, अन्हिलवाड़ आदि स्थानों में भी उसने जिनमन्दिर बनवाये बताये जाते हैं। इसी काल में, ७८१ ई. में श्रीपट्टन के मन्त्रीश्वर जिननाग की भार्या नारायणदेवी एक प्रसिद्ध धर्मात्मा जैन महिला थी।

नागभट्ट द्वितीय नागावलोक 'आम' (८००-८३३ ई.) — वत्सराज का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था और उसके समान ही प्रतापी, विजेता और जैनधर्म का पोषक था। बीच में कुछ समय के लिए कन्नौज गुर्जरप्रतिहारों के हाथ से निकल गया था, किन्तु इस राजा ने उसपर पुनः स्थायी अधिकार करके अपने साम्राज्य की प्रधान राजधानी बनाया। यह गुर्जरेश्वर जैनधर्म का भारी प्रश्रयदाता था। जैन साहित्य और अनुश्रुतियों में उनकी प्रभूत प्रशंसा पायी जाती है। आचार्य बप्पभट्टिसूरि का वह परम भक्त था। अनेक विद्वानों के अनुसार बप्पभट्टिचरित्र में उल्लेखित ग्वालियर का राजा आम यह गुर्जरप्रतिहार नागभट्ट द्वितीय ही था। कुछ अन्य विद्वान् कन्नौज के पूर्वोक्त

नरेश यशोवर्मन के पुत्र एवं उत्तराधिकारी के साथ 'आम' का समीकरण करते हैं। प्रभावक-चरित्र के अनुसार इस नरेश की मृत्यु ८३३ ई. में गंगा में समाधि लेकर हुई थी। मथुरा के प्राचीन जैनस्तूप का जीर्णोद्धार भी इसी के समय में हुआ बताया जाता है। यह धर्मात्मा राजा जिनेन्द्रदेव की भाँति विष्णु, शिव, सूर्य और भगवती का भी भक्त था।

मिहिरभोज (८३६-८८५ ई.)—नागभट्ट द्वितीय का पौत्र और रामभद्र या रामदेव का पुत्र एवं उत्तराधिकारी, कन्नौज के गुर्जरप्रतिहार वंश का सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं सर्वमहान् नरेश था। उसके समय में इस साम्राज्य की शक्ति एवं समृद्धि चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो गयी थी। अपनी कुलदेवी भगवती का वह उपासक था; किन्तु बड़ा उदार और सहिष्णु था तथा जैनधर्म का भी प्रश्रयदाता था। घटियाला के ८६१ ई. के शिलालेख से प्रतीत होता है कि इस समय उसके पूर्वज कक्कुक द्वारा निर्मापित जिनालय में कुछ संवर्धन हुआ था। कांगड़ा (पंजाब) में भी ८५४ ई. में कोई जिन-प्रतिष्ठा हुई थी। विक्रम सं. ९१९, शक ७८४ (सन् ८६२ ई.) की आश्विन शुक्ल चतुर्दशी, बृहस्पति के दिन उत्तर-भाद्रपदा नक्षत्र में इस परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री भोजदेव के राज्य में और उसके द्वारा नियुक्त उसके महासामन्त विष्णुराम के साक्षात् शासन और प्रश्रय में लुअच्छगिरि (उत्तर प्रदेश के झाँसी ज़िले का देवगढ) में भगवान् शान्तिनाथ के मन्दिर के सामने आचार्य कमलदेव के शिष्य श्रीदेव ने श्रावक बाजु और गंगा नामक दो भाइयों द्वारा कलापूर्ण मानस्तम्भ निर्मापित एवं प्रतिष्ठापित कराया था। धर्मात्मा भ्रातृद्वय की उपाधि गोष्ठिक थी, जिससे लगता है कि वे किसी व्यापारी निगम के सम्भ्रान्त सदस्य थे और उक्त शान्त्यायतन के ट्रस्टी थे। बड़नगर या बारो (पथारि के निकट ज्ञाननाथ पर्वत की तलहटी में एक झील के किनारे स्थित) नामक स्थान में ८७६ ई. में दिघहा नामक धनपति ने कोई जिनालय बनाकर उसके लिए दान दिया था। उस स्थान में उस काल के मन्दिरों आदि के अनेक भग्नावशेष हैं। उन्हीं में गडरमर (गडरिये का मन्दिर) के पश्चिम ओर स्थित जैन मन्दिर समूह के चतुष्कोण प्रांगण के बाहर यह शिलालेख मिला है। सौराष्ट्र के जैन तीर्थ गिरनार के नेमिनाथ-मन्दिर के दक्षिणी प्रवेशद्वार के निकट एक छोटे मन्दिर की दीवार पर अंकित भग्न शिलालेख में भगवान् नेमिनाथ को नमस्कार करके लिखा है कि किसी महीपाल नामक सामन्त राजा के सम्बन्धी (या आश्रित) वयरसिंह की भार्या फाउ, पुत्रों साइआ और मेलामेला तथा पुत्रियों रुडी एवं गागी ने उक्त नेमिनाथ जिनालय बनवाकर उसे भद्रसूरि के पट्टधर मुनिसिंह (भन्द्र) द्वारा प्रतिष्ठित कराया था। यह प्रतिष्ठा फाल्गुन शुक्ल पंचमी गुरुवार को हुई थी। वर्ष नहीं दिया है, किन्तु अनुमान यही किया जाता है कि यह लेख उक्त भोजदेव के समय का है।

मिहिरभोज का पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम (८८५-९०८ ई.) भी शक्तिशाली शासक और विद्वानों का प्रश्रयदाता था। तदनन्तर भोज द्वितीय (९०८-९१० ई.) और महीपाल

(९१०-९४० ई.) राजा हुए। सम्भव है उपरोक्त गिरनार शिलालेख का महीपाल यही राजा हो। उसका उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल द्वितीय (९४०-९४६ ई.) भी भारी विद्याप्रेमी था। जैनाचार्य सोमदेव ने इसी राजा से लिए, राजनीतिशास्त्र के अपने महान् ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत एवं महेन्द्र-मातलि संजल्प की रचना की थी, ऐसा विश्वास करने के कारण है। तदुपरान्त देवपाल आदि यशपाल पर्यन्त कई राजा हुए, किन्तु गुर्जरप्रतिहारों की यह अवनति का काल था। महमूद गजनवी के आक्रमण ने उनकी सत्ता पर मारणान्तिक आघात किया। कुछ दशकों तक अराजकता रही, कन्नौज पर बदायूँ के राष्ट्रकूटों का भी अधिकार रहा। तदनन्तर लगभग एक सौ वर्ष गहडवालों ने शासन किया, जिसके अन्तिम राजा जयचन्द के साथ मुहम्मद गोरी के हाथों गहडवालों का भी अन्त हुआ। इस काल की मथुरा में दो जैन मूर्तियाँ मिली हैं, एक ९८१ ई. की और दूसरी १०७७ ई. की।

साँभर के चाहमान

अजयमेरु (अजमेर) के निकट शाकम्भरी (साँभर) में चाहमान (चौहान) राजपूतों का राज्य ७०० ई. के लगभग प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे नाडोल, धोलपुर (धोलका), आबू, रणथम्भौर, परतापगढ़, चन्द्रवाड (इटावा के निकट यमुना तट पर) आदि कई स्थानों में भी इस वंश की शाखा-उपशाखाओं का राज्य हुआ। वसुदेव द्वारा संस्थापित सपादलक्ष या सांभर का वंश इनमें सर्वप्रमुख था, जिसमें अनेक राजा हुए। इनमें पृथ्वीराज प्रथम जैनधर्म का परम भक्त था। उसने रणथम्भौर के जिन-मन्दिर पर स्वर्णकलश चढ़ाया था। अजमेर में ११३८ ई. में किन्हीं पं. गुणचन्द्र ने आचार्य गदानन्दि से शान्तिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। पृथ्वीराज द्वितीय भी परम जैन था और बिजौलिया-पार्श्वनाथ तीर्थ के जैन गुरुओं का भक्त था। उसने एक जिनालय के लिए मोरकुटो (मोराझरी) गाँव का दान दिया था। राजा अर्णोराज को आचार्य जिनदत्तसूरि ने अपने उपदेशामृत से प्रभावित किया था।

सोमेश्वर चौहान—अर्णोराज का पुत्र, विग्रहराज चतुर्थ एवं पृथ्वीराज द्वितीय का अनुज और उत्तराधिकारी गुजरात के सोलंकीनरेश जयसिंह सिद्धराज का दौहित्र एवं दत्तक पुत्र, कुमारपाल सोलंकी का प्रतिद्वन्द्वी, दिल्ली के अनंगपाल तोमर का जामाता और सुप्रसिद्ध रायपिथौरा (पृथ्वीराज तृतीय) का पिता, सोमेश्वर अपरनाम चाहड, अजमेर के चौहानों में जैनधर्म का सर्वाधिक पोषक एवं भक्त नरेश था और १२वीं शताब्दी ई. के मध्य के लगभग विद्यमान था। वह बड़ा वीर और पराक्रमी था, अतः 'प्रतापलंकेश्वर' कहलाता था। स्वर्ग प्राप्ति की आकांक्षा से इस नरेश ने रेवातट स्थित श्रीपार्श्वनाथ-जिनालय के लिए रेवण नाम का ग्राम दान दिया था। बिजौलिया-पार्श्वनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर भी उसके द्वारा अथवा उसके आश्रय में निर्मित हुआ था। उस तीर्थ पर उसके एक धर्मात्मा श्रावक श्रेष्ठिलोलाक ने तो ११६९ ई. में अनेक निर्माण कार्य

एवं उत्सव उसकी सहमति एवं सहयोगपूर्वक किये थे। जब सोमेश्वर दिल्ली आया था तो सम्भवतया उसने अपने नगरसेठ, अजमेर के देवपाल सोनी के साथ हस्तिनापुर तीर्थ-क्षेत्र की भी यात्रा की थी। उसी अवसर पर उक्त देवपाल सोनी ने हस्तिनापुर में ११७६ ई. में भगवान् शान्तिनाथ की एक खड्गासन विशाल पुरुषाकार मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। लगभग चालीस वर्ष हुए उक्त स्थान के एक टीले की खुदाई में वह मूर्ति प्राप्त हुई थी। साधु वुल्हा के पुत्र हालू ने अजमेर में ११७७ ई. में पार्श्वप्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी, ११८२ ई. में लाहड की पत्नी तोलो ने तथा अन्य तीन श्राविकाओं ने मल्लिनाथ की प्रतिमा और आर्यिका मदनश्री ने समस्त गोष्ठिकों के सहयोग से माणिक्यदेव के शिष्य सोमदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। अजमेर में ही साधु हालण के पुत्र वर्धमान ने तथा महिपाल ने ११८७ ई. में वासुपूज्य-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी, और महीपालदेव की सम्मानित माता श्राविका आस्ता ने ११९० ई. में पार्श्व-प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। ये प्रतिष्ठाएँ दिल्ली-अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज तृतीय के समय में हुई थीं।

श्रेष्ठि लोलाक—श्रीमाल शैलप्रवर के प्राग्वाट (पोरवाड़) वंश में उत्पन्न वैश्रवण नामक धर्मात्मा श्रावक ने मनोहर क्षेत्र तडागपत्तन में एक जिनमन्दिर बनवाया था। उसके पुत्र श्रेष्ठि चच्चुल ने व्याघ्रेरक आदि स्थानों मे जिनमन्दिर बनावाये थे। वह सद्बुद्धि, परोपकारी और यशस्वी था। उसका पुत्र कीर्तिवान शुभंकर था, जिसका पुण्यवान् पुत्र श्रेष्ठि जासट था। आमुष्या और धर्मा नाम की जासट की दो पत्नियाँ थीं, पहली से अम्बर और पद्मट और दूसरी से लक्ष्मट और देसल नाम के पुत्र हुए थे। इन भाइयों ने कई जिनमन्दिर बनवाये थे। लक्ष्मट के मुनीन्दु और रामेन्दु नाम के गुणवान् एवं समानशीलवाले दो पुत्र थे और देसल के दुद्दल-नायक, मोसल, कामजित, देव, सीयक और साहक नाम के छह पुत्र थे जो षट्कर्मदक्ष, षट्खण्डागम के भक्त, षडिन्द्रियों को वश मे करनेवाले, षाड्गुण्य-चिन्ताकरा इत्यादि गुणसम्पन्न थे। इन भाइयों ने अनेक धर्मोत्सव किये थे और अजमेर नगर का आभूषण, देवेन्द्र विमान-जैसा सुन्दर श्री वर्द्धमान भगवान् का मन्दिर बनवाया था। इन भाइयों में से श्रेष्ठिभूषण सीयक ने मेण्डणकर महादुर्ग को जिन-मूर्तियों से अलंकृत किया था और देवाद्रिश्रृंग (देवगढ) पर स्वर्णकलशों से मण्डित चमचमाता नेमि-जिनालय बनवाया था तथा अष्टापदशैलश्रृंग पर भी जिनालय बनवाये थे। यह श्रेठिप्रवर सीयक न्यायाम्बरसेचनैक-जलद, कीर्तिनिधान, सौजन्याम्बुजनि-विकासन-रविः, पापाद्रिभेदे-पविः, कारुण्यामृत-वारिधि और साधुजनोपकार-करण-व्यापार-बद्धादर था। नागश्री और मामटा नाम की उसकी दो भार्याएँ थी। पहली से नागदेव, लोलाक और उज्जवल नाम के तीन और दूसरी से महीधर एवं देवधर नाम के दो पुत्र हुए। सीयक सेठ के ये पाँचों सुपुत्र पंचाचार-परायण, पंचांगमन्त्रोज्ज्वल, पंचज्ञान-विचारणासुचतुर, पंचेंद्रियार्थोज्जयी, श्रीमत्पंचगुरुः प्रणामपनसः और पंचाणु-शुद्धवृत्ताः थे। उज्जवल सेठ के यशस्वी पुत्र दुर्लभ और लक्ष्मण थे। श्रेष्ठि लोलाक की रूपगुण-

सम्पन्ना एवं पतिपरायणा तीन पत्नियाँ थीं जिनके नाम ललिता, कमलश्री और लक्ष्मी थे। इनमें से सेठ को सेठानी ललिता विशेष प्रिय थी। एकदा सेठानी ललिता ने अपने प्रासाद में सुखपूर्वक शयन करते हुए एक सुन्दर स्वप्न देखा जिसमें नागराज धरणेन्द्र ने उससे कहा कि श्री पार्श्वनाथ भगवान् का प्रासाद बनवाओ। सेठानी ने अपने पति से स्वप्न की बात कही और अनुरोध किया कि रेवती-तीरवर्ती पार्श्वनाथ-तीर्थ का उद्धार करें। अस्तु, जलधि के समान गम्भीर, सूर्य के समान स्थिर-अंचल तेजस्वितावाले, चन्द्रमा के समान सौम्य और गंगा के समान पवित्र, पंचाणुव्रतधारी, पंचपरमेष्ठि के परम भक्त, सुकृति, ज्ञानी, दानी, उदार और धर्मात्मा श्रेष्ठि शिरोमण लोलार्क (लोलाक) ने धनधान्य-पूर्ण विन्ध्यवल्ली के (विजौलिया) के उस भीमाटवी नामक वन में जहाँ दुष्ट कमठ ने भगवान् पार्श्वनाथ पर वह पुराणप्रसिद्ध घोर उपसर्ग किया था, पार्श्वतीर्थ का उद्धार करने का संकल्प किया। उक्त स्थान में सुप्रसिद्ध रेवतीकुण्ड के तट पर उसने अत्यन्त भव्य एवं उत्तुंग पार्श्वनाथ-जिनालय बनवाया और उसके चहुँओर छह अन्य जिनमन्दिर बनवाये। इस सप्तायतन के अवशेषों पर ही कालान्तर में वह पंचायतन या पाँच मन्दिरों का समूह—एक मध्य में और चार चार कोनों पर—बना जो बिजौलिया-तीर्थ पर विद्यमान है। श्रेष्ठि लोलाक ने निकट ही एक चट्टान पर उन्नतिशिखर-पुराण नामक ग्रन्थ पूरा का पूरा उत्कीर्ण करा दिया था (अन्यत्र इसकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं है) और एक अन्य शिलापर अपनी वह बृहत् प्रशस्ति अंकित करायी थी जिसमें चौहान नरेशों की वंशावली और अपने पूर्वपुरुषों का तथा उसके धर्मकार्यों का उल्लेख करने के पश्चात् स्वयं उसके धर्मकार्यों का विवरण है। मन्दिरों का निर्माण कराके सेठ ने वहाँ एक महान् प्रतिष्ठोत्सव एवं पूजोत्सव किया, जिसमें असंख्य जनता एकत्र हुई, नृत्य-गीत-वाद्य आदि सहित अनेक उत्सव हुए। ये समस्त धर्म-कार्य सेठ ने अजयमेरु (अजमेर) के चौहान नरेश प्रतापलंकेश्वर सोमेश्वर के आश्रय में उसकी सहमतिपूर्वक विक्रम संवत् १२२६ (सन् ११६९ ई.) को फाल्गुन कृष्णा तृतीया, गुरुवार के दिन, हस्तनक्षत्र, धृतियोग और तैतिल-करण मे निष्पन्न किये थे। उस अवसर पर सेठ ने तथा विभिन्न ग्रामों के अनेक धार्मिक जनों ने तीर्थ के लिए भूमि आदि के दान भी दिये थे। प्रशस्ति की रचना कवियों के कण्ठभूषण माथुरसंघी गुणभद्र महामुनि ने की थी, जो कि उक्त श्रेष्ठि लोलाक के गुरु थे। आचार्य जिनचन्द्र का भी वह भक्त था। नैगम कायस्थ क्षितिय के पुत्र केशव ने उसे लिखा था। नालिम के पुत्र गोविन्द और पाल्हण के पुत्र देल्हण ने सेठ द्वारा निर्मापित कीर्ति-स्तम्भ के निकट यह प्रशस्ति उत्कीर्ण की थी। मन्दिरों का निर्माण सूत्रधार (शिल्पी) हरिसिंह के पुत्र पाल्हण और पौत्र नाहड ने किया था। उपरोक्त तीर्थ इस सेठ के नाम पर 'लोलार्कवरतीर्थ' भी कहलाया। वहाँ उसने श्री जिनचन्द्रसूरि के चरणचिह्न भी स्थापित कराये लगते हैं। सन् ११७० और ११७५ ई. में भी बिजोल्या में कोई प्रतिष्ठा आदि धर्म-कार्य हुए थे।

उस काल के अन्य चौहान वंशों में धवलपुरी (धोलका) का चण्डमहासेन

(९४२ ई.) अधिक प्रसिद्ध है और वह जैनधर्म का भी पोषक था। दिल्ली के चौहान भी जैनधर्म के प्रति असहिष्णु नहीं थे। नाडौल में चौहान राज्य ९६० से १२५२ ई. तक रहा और इस वंश के लाखा, दादराव, अश्वराज, अल्लुलदेव, कल्हण, गजेसिंह, कृतिपाल आदि राजे जैन थे। अश्वराज परम जिनभक्त था और उसने अपने राज्य में पशुहिंसा पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। उसका पुत्र अल्लुलदेव अपने पिता से भी अधिक उत्साही जैन था और भगवान् महावीर का परम भक्त था। उसके समय में ११६१ ई. में नाडोल में एक प्रतिष्ठा हुई थी और स्वयं उसने ११६२ ई. मे नादरा में एक विशाल महावीर-जिनालय बनवाया था तथा उसके लिए कतिपय श्रावकों एवं मुनियों की सुरक्षा में बहुत-सी सम्पत्ति दान कर दी थी। अन्त में राज्य का त्याग करके वह जैनमुनि हो गया था। सन् १२२८ ई. के एक ताम्रशासन से उसके दान और मुनि हो जाने का पता चलता है।

उत्तर प्रदेश में आगरा के निकट चन्दवाड (चन्द्रपाठ) के चौहानवंश मे सर्वप्रथम नाम चन्द्रपाल का मिलता है। तदनन्तर क्रमशः भरतपाल, अभयपाल, जाहड और श्रीबल्लाल नाम के राजे ११-१२वीं शती ई. में हुए। ये राजे स्वयं तो जैनी शायद नही थे, किन्तु उसके पोषक अवश्य थे और उनके मन्त्री तो बराबर जैन ही होते रहे। अभयपाल का मन्त्री सेठ अमृतपाल था जिसने चन्दवाड में एक जिनमन्दिर बनवाया था। जाहड का मन्त्री सोढू साहु था। यह चौहान वंश आगे भी १६वी शताब्दी तक चलता रहा। इसी की एक शाखा इटावा जिले के असाईखेड़ा में स्थापित थी। उस स्थान से भी ११वीं-१२वीं शती की कई जिन-मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। स्वयं वंश-संस्थापक चन्द्रपाल ने और उसके लमेचूजातीय जैन दीवान रामसिंह-हारुल ने ९९६ और ९९९ ई. में अपने इष्टदेव चन्द्रप्रभु को स्फटिक की प्रतिमा चन्द्रपाठ में अपने बनाये मन्दिर में प्रतिष्ठापित की थी। इसी नगर मे ११७३ ई. में माथुरवंशी नारायणसाहू की देव-शास्त्र-गुरु-भक्त भार्या रूपिणी ने श्रुतपंचमव्रत के फल को प्रकट करने वाली भविष्यदत्त-कथा कवि श्रीधर से लिखवायी थी।

दिल्ली के तोमर

दिल्ली, ढिल्ली, जोगिनपुर (योगिनीपुर) आदि नामों से प्रसिद्ध मध्यकाल के प्रारम्भ से आजपर्यन्त रहनेवाली भारत की राजधानी दिल्ली की प्रसिद्धि सर्वप्रथम तोमर राजाओं के समय में हुई। इस वंश का संस्थापक ८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राणा बाजू था। उसका अथवा उसके उत्तराधिकारी का नाम अनंगपाल प्रथम था, जिसने ७९६ ई. में यह नगर बसाया था। इस वंश में अनेक राजे हुए जो जैनधर्म के प्रति सहिष्णु थे।

अनंगपाल तृतीय—दिल्ली का तोमर नरेश ११३२ ई. में विद्यमान था। उसके समय में दिल्ली में कई जिनमन्दिर बने। उसका राज्य-मन्त्री नट्टलसाहु बड़ा धर्मात्मा

श्रावक था, और उसके आश्रय में कवि श्रीधर ने अपना अपभ्रंश भाषा पासणाह-चरिउ रचा था।

नट्टलसाहु—दिल्ली के अनंगपाल तृतीय तोमर का राज्यसेठ नट्टलसाहु, जो सम्भवतया राजा का एक मन्त्री या अमात्य भी था, श्री अग्रवाल-कुल-कमल-मित्र (सूर्य), निर्मल-गुण-रत्नराशि, शुभधर्म-कर्म में प्रवृत्ति करनेवाले साहु जेजा की शीलगुणालंकृत लज्जावती तथा बान्धवजनों को सुख देनेवाली भार्या मेमडि से उत्पन्न उसका तृतीय पुत्र था। उसके दो बड़े भाई राहव (राघव) और सोढल थे। साहु नट्टल अपने कुल-कमलाकर का राजहंस, गुणनिधान, रत्नत्रय का धारी, परदोष-प्रकाशन से विरक्त, चतुर्विधदान-तत्पर, परनारी-रति से विरत, रूपवान्, अपने वचन का पक्का, कीर्तिवान्, सद्दर्शनामृत-पान-पुष्ट, उत्तमधी, जिनभक्त, विद्यारसिक, धर्मात्मा श्रावक और धनकुबेर था। उसका व्यापार देश-विदेश में दूर-दूर तक फैला था। उसके दोनों भाई भी बड़े विद्यारसिक और धर्मात्मा थे। उस समय हरियाणा का निवासी, गोल्हपिता और वील्हा माता का पुत्र, अग्रवालकुल में ही उत्पन्न श्रीधर नाम का सुकवि था। उसने चन्द्रप्रभु-चरित्र की रचना की थी। उसे लेकर यमुनानदी पार करके वह दिल्ली में आया, जो सुदृढ दुर्ग, गोपुरों, मन्दिरों, मठों, हाट-बाजारों, उद्यान-वाटिकाओं आदि से सुशोभित सुन्दर महानगरी थी। वहाँ हम्मीरवीर का दमन करनेवाला प्रबल प्रतापी अनंगपाल नरनाथ राज्य करता था। वहाँ उसकी भेंट अल्हणसाहु नामक श्रावक सेठ से हुई जिसे कवि ने अपना चन्द्रप्रभचरित्र सुनाया। उसे सुनकर अल्हण बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कवि को नट्टलसाहु से मिलाया। नट्टलसाहु के उदार आश्रय में रहते हुए उसके अनुरोध पर कवि ने ११३२ ई. में अपने प्रसिद्ध पार्श्वनाथ चरित्र की रचना की थी। उसी समय के लगभग नट्टलसाहु ने दिल्ली में भगवान् आदिनाथ (ऋषभदेव) का अत्यन्त भव्य, कला-पूर्ण एवं विशाल मन्दिर निर्माण कराकर उसकी प्रतिष्ठा करायी थी। इस जिन-मन्दिर तथा उसके आसपास स्थित अन्य जैन एवं हिन्दू मन्दिरों को ध्वस्त करके उनकी सामग्री से ही १३वीं शती के प्रारम्भ में दिल्ली के प्रथम सुल्तान गुलामवंशी कुतुबुद्दीन ऐबक ने वहाँ कुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद बनवायी थी। इस मसजिद के भग्नावशेष कुतुबमीनार के निकट विद्यमान है और उनमें आज भी उक्त जिनमन्दिर के अंश स्पष्ट लक्षित हैं।

मदनपाल तोमर—अनंगपाल चतुर्थ का पुत्र एवं उत्तराधिकारी, इस वंश का दिल्ली का अन्तिम नरेश था। वह श्वेताम्बराचार्य युगप्रधान जिनदत्तसूरि के पट्टधर मणिधारी जिनचन्द्रसूरि का परम भक्त था। यह बड़े प्रभावक आचार्य थे और अल्प वय में ही दिल्ली में उनका स्वर्गवास ११६६ ई. में हुआ था। इसके थोड़े समय उपरान्त उसी वर्ष उनके भक्त इस राजा का भी देहान्त हो गया। सूरिजी के समाधिमरण के स्थान पर श्रावकों ने बड़े समारोह के साथ उनका अन्त्येष्टि संस्कार करके एक स्तूप का निर्माण कराया था। वह स्थान अब भी 'बड़े दादाजी' के नाम से प्रसिद्ध है। सूरिजी ने दिल्ली में एक पोसहसाला भी स्थापित की थी। दिल्ली में कुलचन्द्र, लोहड, पाल्हण आदि

उनके अनेक भक्त श्रावक थे। कुलचन्द्र तो अत्यन्त निर्धन था और उनकी कृपा से करोड़पति हो गया था, वह उनका अनन्य भक्त था। मदनपाल तोमर की स्थिति इतिहास में कुछ सन्दिग्ध है। अनंगपाल के उपरान्त पृथ्वीराज चौहान का ही उल्लेख मिलता है। सम्भव है कि चौहानों का दिल्ली राज्य पर अधिकार होने और पृथ्वीराज के वहाँ आकर रहने लगने के मध्य, तीन चार वर्ष, यह मदनपाल तोमर स्थानापन्न शासक रहा हो।

धारा के परमार राजे

उपेन्द्र अपरनाम कृष्णराज या गजराज ने ९वीं शती के उत्तरार्ध में मालवा देश की धारानगरी में परमार राज्य की स्थापना की थी। उसका उत्तराधिकारी सीयक द्वितीय उपनाम हर्ष प्रतापी नरेश और स्वतन्त्र राज्य का स्वामी था। अपने पोषित पुत्र मुंज को राज्य देकर ९७४ ई. के लगभग सीयक परमार ने एक जैनाचार्य से मुनि दीक्षा लेकर शेष जीवन एक जैन साधु के रूप में व्यतीत किया था। वाक्पतिराज मुंज अपरनाम उत्पलराज बड़ा वीर, पराक्रमी, कवि और विद्याप्रेमी था। प्रबन्धचिन्तामणि आदि जैन ग्रन्थों में मुंज के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ मिलती हैं। अनेक संस्कृत कवियों का वह प्रश्रयदाता था, जिनमें जैन कवि धनपाल भी था। जैनाचार्य महसेन और अमितगति का वह बहुत सम्मान करता था। उन्होंने उसके आश्रय में कई ग्रन्थ भी रचे थे। मुंज जैनी था या नहीं, किन्तु जैनधर्म का पोषक अवश्य था। सन् ९९५ ई. के लगभग उसकी मृत्यु हुई। उसका उत्तराधिकारी उसका अनुज सिन्धुल या सिन्धुराज (९९६-१००९ ई), जिसके विरुद कुमारनारायण और नव-साहसांक थे, प्रद्युम्नचरित के कर्ता मुनि महसेन का गुरुवत् आदर करता था। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी भोजदेव परमार (१०१०-१०५३ ई.) प्राचीन वीर विक्रमादित्य की ही भाँति भारतीय लोक-कथाओं का एक प्रसिद्ध नायक है। वह वीर, प्रतापी और पराक्रमी होने के साथ ही साथ परम विद्वान्, सुकवि, कलामर्मज्ञ, विद्वानों का प्रश्रयदाता और जैनधर्म का पोषक था। उसके समय में धारानगरी दिगम्बर जैनधर्म का एक प्रमुख केन्द्र थी और राजा जैन मुनियों एवं विद्वानों का बड़ा आदर करता था। अमितगति, माणिक्यनन्दि, नयनन्दि, महापण्डित प्रभाचन्द्र आदि अनेक ग्रन्थों के रचयिता दिग्गज जैनाचार्यों ने परमार भोजदेव से आश्रय एवं सम्मान प्राप्त किया था। आचार्य शान्तिसेन ने तो उसकी राजसभा मे अनेक अजैन विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। धनपाल आदि कई गृहस्थ जैन कवि और विद्वान् भी भोजदेव के आश्रित थे, और उसका सेनापति कुलचन्द्र भी जैन था। इस राजा ने जैन-मन्दिरों का निर्माण भी कराया बताया जाता है। उस काल मे प्रतिष्ठापित अनेक जैन-मूर्तियाँ मालवा प्रदेश में यत्र-तत्र प्राप्त होती हैं। राजधानी धारानगरी को भोजदेव ने अनेक सुन्दर भवनों से अलंकृत किया था। वहाँ सरस्वती-मन्दिर या शारदा-सदन नामक एक महान् विद्यापीठ की भी स्थापना की थी और बेतवा नदी से पानी काटकर भोजसागर (भोपाल-ताल) का निर्माण कराया था।

भोज का उत्तराधिकारी जयसिंह प्रथम (१०५३-१०६० ई.) भी विद्वानों का प्रश्रयदाता था। जैन पण्डित नयनन्दि ने अपना सुदर्शनचरित्र उसके समय में धारा में रचा था। तदनन्तर परमार शक्ति निर्बल और सीमित हो गयी। राजा नरवर्मदेव (११०४-११०७ ई.) भी वीर योद्धा और जैनधर्म का अनुरागी था। उज्जैन के महाकाल-मन्दिर में जैनाचार्य रत्नदेव का शैवाचार्य विद्याशिवादी के साथ शास्त्रार्थ उसी के समय में हुआ था। इस राजा ने जैन यति समुद्रघोष और श्रीवल्लभसूरि का भी सम्मान किया था। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी यशोधर्मदेव ने भी जैनधर्म और जैन गुरुओं का आदर किया था। जिनचन्द्र नामक एक जैन को उसने अपने गुजरात प्रान्त का शासक नियुक्त किया था। तदनन्तर परमारनरेश विन्ध्यवर्मा, सुभटवर्मा, अर्जुनवर्मा, देवपाल और जैतुगिदेव ने आचार्यकल्प पं. आशाधर प्रभृति अनेक जैन विद्वानों को आश्रय दिया था और उनका सम्मान किया था। उस काल से, ११६६ में, मालव प्रदेश के बम्बागंज नामक स्थान में कलिकाल के कल्मष का ध्वंस करनेवाले और राजाओं द्वारा सम्मानित लोकनन्दि मुनि के प्रशिष्य तथा संघ-तिलक, धर्मज्ञान-तपोनिधि देवनन्दि मुनि के शिष्य रामचन्द्रमुनि ने एक सुन्दर जिनालय बनवाया था। यह बड़े तपस्वी, सत्त्वनिष्ठ और कीर्तिवान् थे। अनेक राजा इनके चरण पूजते थे।

पण्डितप्रवर आशाधर—मूलतः सपादलक्ष्य के भूषण शाकम्भरी के अन्तर्गत मण्डलगढ दुर्ग के निवासी थे। यह जैनधर्मानुयायी व्याघ्रेरवाल (बघेरवाल) वंशी श्रावक थे। इनके पिता सल्लक्षण माण्डलगढ़ के दुर्गपति या उच्चपदस्थ कर्मचारी थे और इनकी जननी का नाम रत्नी था। जब ११९३ ई. में मोहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज का अन्त करके और दिल्ली पर अधिकार कर लेने के उपरान्त अजमेर पर चढ़ाई करके लूटमार मचायी और उस प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया था तो सल्लक्षण ने अपने परिवार एवं अन्य अनेक व्यक्तियों सहित जन्मभूमि का परित्याग करके धारानगरी में परमारनरेशों के आश्रय में शरण ली। सल्लक्षण ने अपनी योग्यता से धाराधीश को प्रसन्न कर लिया और राज्य-सेवा में नियुक्त हो गये। धीरे-धीरे उन्नति करके राजा अर्जुनवर्मा (१२१०-१२१८ ई.) के समय में वह मालवराज्य के सन्धिविग्रहिक मन्त्री (परराष्ट्र सचिव) हो गये। स्वयं आशाधर ने धारा में आकर पण्डित महावीर-जैसे विद्वानों के निकट अपनी शिक्षा पूरी की और अपने अध्यवसाय से विविध-विषय-पटु प्रकाण्ड विद्वान् बन गये। उनकी पत्नी सरस्वती उनकी यथार्थ अनुगामिनी थी। राजधानी धारा के कोलाहल से बचने के लिए और शान्तिपूर्ण वातावरण में साहित्य साधना करने के उद्देश्य से आशाधर ने निकटवर्ती नलकच्छपुर (नालछा) को अपना आवास बनाया, वहाँ अपना एक विशाल विद्यापीठ स्थापित किया और एकचित्त हो ग्रन्थ रचना में जुट गये। उन्होंने लगभग १२२५ ई. से १२४५ ई. के बीच विविध-विषयक साधिक चालीस ग्रन्थ रचे। नय-विश्व-चक्षु, प्रज्ञापुंज, कविराज, कवि कालिदास, सरस्वतीपुत्र, आचार्य-कल्प, सूरि आदि अनेक सार्थक विरुद इन्हें तत्कालीन जैन और अजैन विद्वानों से प्राप्त

हुए थे। पण्डितजी के अनेक शिष्य और भक्त थे जिनमें गृहस्थ श्रावक ही नहीं, त्यागी और मुनि भी थे। इनमें उदयसेन मुनि, वादीन्द्र विशालकीर्ति, जिन्हें पण्डितजी ने न्याय-शास्त्र का अध्ययन कराया था और उन्हें अनेक प्रतिद्वन्द्वियों पर वादविजय करने में समर्थ बनाया था, शासन-चतुर्विंशतिका के कर्ता यतिपति मदनकीर्ति, पं. देवचन्द्र जिन्हे पण्डित-जी ने व्याकरणशास्त्र में पारंगत किया था, भट्टारक विनयचन्द्र जिन्हें पण्डितजी ने धर्म-शास्त्र का अध्ययन कराया था और जिनको प्रेरणा पर उन्होंने स्वयं इष्टोपदेश-टीका की रचना की थी, भव्य-कण्ठाभरण-पंचिका, पुरुदेवचम्पू और मुनिसुव्रत-काव्य के रचियता कवि अर्हद्दास जिन्हें पण्डितजी की उक्तियों, सूक्तियों और सद्ग्रन्थों से बोध एवं सन्मार्ग प्राप्त हुआ था, और पं. जाजाक जिनके नित्य स्वाध्याय के लिए पण्डितजी ने त्रिषष्टि-स्मृतिशास्त्र की रचना की थी, इत्यादि प्रमुख है। राज्य के प्रधानामात्य विल्हणकवीश और बाल-सरस्वती महाकवि मदनोपाध्याय-जैसे अजैन प्रकाण्ड विद्वानों ने आशाधरजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। खण्डेलवाल श्रावक अल्हण के प्रपौत्र, पापा के पौत्र, पद्मसिंह के भतीजे, बहुदेव के पुत्र और उदयदेव एवं स्तम्भदेव के ज्येष्ठ भ्राता, धर्मात्मा हरदेव, पौरपाटान्वय (परवार या पोरवाड़) के समुद्धर श्रेष्ठि के पुत्र महीचन्द्र साहु, खण्डेलवाल श्रावक केल्हण, श्रावक धनचन्द्र तथा खण्डेलवाल श्रावक महण और कमलश्री के पुत्र धीनाक उनके गृहस्थ भक्तों में प्रमुख थे, जिनकी प्रेरणा पर आशाधरजी ने विभिन्न ग्रन्थ रचे थे। स्वयं आशाधर के पुत्र छाहड़ अपने पितामह मन्त्रीश्वर सल्लक्षण के प्रशिक्षण में रहकर राजा अर्जुनवर्मा के प्रिय पात्र थे। अन्तिम जीवन में पण्डितप्रवर आशाधरजी संसार-देह-भोगों से निरक्त उदासीन त्यागी व्रती श्रावक के रूप में आत्म-साधन मे रत रहे।

ग्वालियर के कच्छपघात राजे

ग्वालियर प्रदेश के कच्छपघात (या कच्छपघट)-वंशी राजाओं में १०वी शती ई. के मध्य के लगभग माधव का नाम सर्वप्रथम मिलता है। सम्भवतया वही, गुर्जर-प्रतिहार भोज के सामन्त के रूप मे इस वंश एवं राज्य का संस्थापक था। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी महिचन्द्र ने ९५६ ई. में सुहोनिया नामक स्थान में विपुल द्रव्य व्यय करके एक जिनमन्दिर बनवाया था। इसी वंश के महाराजाधिराज वज्रदामन ने ९७७ ई. मे सुहोनिया में ही एक जिनमन्दिर प्रतिष्ठापित किया था। यह नरेश परम जैन था। सुहोनिया का मूल नाम सुधीनपुर था जिसे ग्वालियर के संस्थापक राजा सुधनपाल या सूरजपाल ने बसाया था। उसकी रानी कोकनवती ने भी एक विशाल जिनमन्दिर यहाँ बनवाया था, किन्तु यह वज्रदामन के बहुत पूर्व की बात है। उसके समय के पूर्व से ही वहाँ कई जिनमन्दिर थे और जायसवाल जैनों की बस्ती भी उस प्रदेश में १०वीं ११वीं शती ई. से तो थी ही।

राजा विक्रमसिंह कच्छपसिंहघात—अर्जुन भूपति के प्रपौत्र, भोज परमार से

प्रशंसित राजा अभिमन्यु के पौत्र और राजा विजयपाल के पुत्र महाराजाधिराज विक्रमसिंह कच्छपघात ने १०८८ ई. में चण्डोभ (दूबकुण्ड) में, जो उसकी राजधानी थी, अपने राज्य के धनी श्रेष्ठियों द्वारा बनवाये गये जिनमन्दिर के लिए एक गाँव की भूमि, एक पुष्पोद्यान, अनाज पर लगनेवाले राज्यकर का एक अंश, तेल इत्यादि का दान दिया था। राजा स्वयं परम जैन था।

श्रेष्ठि दाहड—चण्डोभ (दूबकुण्ड) में जायस से निकलनेवाले (जायस) वंश में उत्पन्न वणिक्-श्रेष्ठ जासूक था जो सम्यग्दृष्टि, पात्रों को चतुर्विध दान देने में सदैव तत्पर, जिनेन्द्र के चरणों का भक्त-पूजक, यशस्वी, धनी सेठ था। उसका वैभवशाली पुत्र जयदेव था जो सज्जनता की सीमा था। जयदेव की भार्या यशोमती स्त्रियों के रूप, शील, कुल आदि समस्त गुणों से पूर्ण थी। इस दम्पति के ऋषि और दाहड नाम के दो अत्यन्त गुणवान् पुत्र थे। वे दोनों महाराज विक्रमसिंह के अति प्रियपात्र थे, अतएव राजा ने उन्हें नगरसेठ के पद पर प्रतिष्ठित किया था। लाटवर्गटगच्छ के गुरुदेवसेन के प्रशिष्य और दुर्लभसेन के शिष्य मुनि शान्तिषेण के पट्टधर विजयकीर्ति मुनि के परमागमसारभूत धर्मोपदेश को सुनने से प्रबोध को प्राप्त श्रेष्ठिवर दाहड ने तथा उनके साथी अन्य कई श्रेष्ठि-श्रावकों ने विचारा कि लक्ष्मी, बन्धु-बान्धवों और शरीर का समागम नाशवान् है। अतएव धर्मात्मा सेठ दाहड ने, विवेकवान् कूकेक, सुकृति सूर्पट, शुद्ध धर्म-कर्म धुरन्धर देवधर, गुणवान् महीचन्द्र तथा अन्य भी कई दानविचक्षण श्रावकों के सहयोग से चण्डोभ में एक अत्यन्त विशाल (लगभग १०,००० फ़ुट क्षेत्रफल का) एवं मनोहर जिनमन्दिर बनवाया, उसमें भगवान् ऋषभनाथ, शान्तिनाथ और चन्द्रप्रभु की प्रतिमाएँ, सम्भवतया गौतम गणधर और सरस्वती देवी की मूर्तियाँ भी, बड़े समारोह के साथ प्रतिष्ठापित कीं, और उक्त जिनेश्वर-मन्दिर में नित्यपूजन तथा उसके संरक्षण के लिए महाराजाधिराज विक्रमसिंह से ग्राम, वाटिका, वापी, गेहूँ के राजकर का अंश, मुनियों के अभ्यंजनार्थ दो घड़े नियमित तेल आदि का प्रभूत दान दिलाया, जो धर्मात्मा राजा ने सहर्ष समर्पित किया। यह दानोत्सव १०८८ ई. को भाद्रपद शुक्ला तृतीया, सोमवार के दिन सम्पन्न हुआ। शुद्धधी उदयराज ने यह प्रशस्ति लिखी और शिलाकूट तील्हण ने उसे अंकित किया था। उसी नगर (दूबकुण्ड) में काष्ठासंघ के महाचार्य देवसेन का स्वर्गवास होने पर १०९५ ई. की वैशाख सुदि पंचमी के दिन उनकी चरणपादुका ससमारोह स्थापित की गयी थी।

१२वीं शती के मध्य के लगभग तक कच्छपघात राजाओं का शासन ग्वालियर प्रदेश में चलता रहा। स्वयं ग्वालियर के दुर्ग में उनके द्वारा प्रतिष्ठापित उस कालकी तीर्थंकर पार्श्वनाथ की विशाल प्रतिमा अभी तक विद्यमान है। वंश की एक शाखा का शासन नरवर में था और उस कुल के इष्टदेव भगवान् पार्श्वनाथ थे। सम्भवतया ग्वालियर की प्रतिमा नरवर के राजाओं की कृति हो। कालान्तर में ग्वालियर के कच्छपघातों के वंशज ही आमेर के कछवाहा राजपूतों के रूप में प्रसिद्ध हुए।

बयाना के यादव

वर्तमान राजस्थान के भरतपुर जिले के बयाना नगर का मूल नाम श्रीपथ था और यह प्रदेश भद्रानक कहलाता था, जिसका प्राकृत-अपभ्रंश में भयाणय हुआ और मुसलमानों ने भियाना या बयाना कर दिया। मथुरा (महाबन) के यदुवंशी राजा इन्द्रपाल या जयेन्द्रपाल (९६६–९९२ ई.) के ११ पुत्रों में से एक विजयपाल था, जिसने महमूद गजनवी द्वारा मथुरा का विध्वंस एवं यादव राज्य का अन्त कर दिये जाने के उपरान्त बयाना में स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और १०४० ई. में इसी प्रदेश में विजयमन्दिरगढ नामक दुर्ग का निर्माण किया। उसके १८ पुत्रों में सर्वाधिक प्रतापी एवं पराक्रमी त्रिभुवनपाल (तिहुणपाल या तवनपाल) था, जिसने परमभट्टारक महाराजाधिराज-परमेश्वर, उपाधि धारण की और बयाना से १५ मील पश्चिम-दक्षिण में त्रिभुवनगिरिदुर्ग (त्रिभुवनगढ़, तिहुनगिरि, ताहणगढ़ या तवनगढ़) नामक सुदृढ़ क़िला पहाड़ के ऊपर निर्माण किया। यह राजा जैनधर्म का परम पोषक था। उसी के समय में जायसवालवंशीय जैनों के एक बड़े दल ने उसके राज्य में आश्रय लिया। उनमें से कुछ को दुर्ग के अन्दर स्थान मिला और उनके वंशज उपरोतिया कहलाये। जो दुर्ग के बाहर पर्वत के नीचे बस्ती में रहे वे तिरोतिया कहलाये। कहा जाता है कि एक होनहार जैन युवक के साथ राजा ने अपने वंश की एक राजकन्या भी विवाह दी थी। ये जैसवाल बड़े पुरुषार्थी और प्रभावशाली थे। आसपास के कई राज्यों में राज्यश्रेष्ठि, मन्त्री आदि पद पाते रहे। कवि लक्ष्मण-जैसे विद्वान् साहित्यकार भी उस काल में उनमें हुए। श्वेताम्बर यतियों का भी इस राजधानी में आना-जाना था और १०४४ ई. में उन्होंने वहाँ कोई प्रतिष्ठोत्सव किया था। उक्त दुर्ग और बयाना में उस काल के दिगम्बर जैन-मन्दिरों और मूर्तियों के अवशेष अभी तक प्राप्त होते हैं। त्रिभुवनपाल का पुत्र हरपाल था, जिसका पुत्र कोशपाल था। कोशपाल का पुत्र यशपाल इस वंश का अन्तिम राजा रहा प्रतीत होता है—१२वीं शती के अन्त के लगभग मुसलमानों ने बयाना पर अधिकार कर लिया। कालान्तर मे बयाना के इन्हीं यादवों के वंशज करौली के राजाओं के रूप में चले आये।

अलवर के बड़गूजर

१०वीं से १२वीं शती ई. के मध्य किसी समय बडगूजर राजा बाघसिंह ने (अलवर के निकट) राजगढ़ नाम का नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया था और उसके बाहर बघोला-बाँध का निर्माण कराया था। यह राजा जैनधर्मानुयायी रहा प्रतीत होता है। उस काल की अनेक जैन-मूर्तियों और मन्दिरों के अवशेष उक्त राजगढ़ के खण्डहरों में प्राप्त हुए हैं। सम्भवतया इसी राजगढ़ का अपरनाम कुम्भनगर था। राजा लक्ष्मीनिवास के राज्यकाल मे कुम्भनगर में दुर्गदेव ने रिष्ट-समुच्चय-शास्त्र की

१०३२ ई. में रचना की थी और कुम्भनगर में ही कालान्तर में भीमभूपाल के समय में पं. योगदेव ने तत्त्वार्थ सूत्र-सुबोधवृत्ति की रचना की थी।

श्रावस्ती के ध्वजवंशी राजे

प्राचीन कोसल राज्य की उत्तरवर्ती राजधानी श्रावस्ती (उत्तरप्रदेश के बहराइच जिले का सहेट-महेट) में ९वीं-११वीं शताब्दी में एक जैनधर्मानुयायी वंश का राज्य था, जिसमें सुधन्वध्वज, मकरध्वज, हंसध्वज, मोरध्वज, सुहिलध्वज और हरिसिंहदेव नाम के राजा क्रमशः हुए। यह वंश, सम्भव है सरयूपारवर्ती कलचुरियों (चेदियों) की कोई शाखा हो, अथवा प्राचीन भर-जातीय हो। उन दोनों में ही जैनधर्म की प्रवृत्ति थी। मोरध्वज का उत्तराधिकारी सुहिलध्वज या सुहेलदेव बड़ा वीर और पराक्रमी होने के साथ ही साथ जिनभक्त था। उसने १०३३ ई. के लगभग महमूद गजनवी के पुत्र के सिपहसालार सैयद-मसऊद-गाज़ी को बहराइच के भीषण युद्ध में बुरी तरह पराजित करके ससैन्य समाप्त कर दिया बताया जाता है। स्थानीय लोककथाओं और किंवदन्तियों में वीर सुहेलदेव प्रसिद्ध है और उनसे उसका जैन होना भी प्रकट है। सुहेलदेव का पौत्र हरिसिंहदेव इस वंश का अन्तिम नरेश था, जिसके राज्य का अन्त ११३४ ई. के लगभग कन्नौज के गहड़वालों ने कर दिया।

अयोध्या के श्रीवास्तव राजे

उत्तरप्रदेश के अवध आदि पूर्वी भागों में बहुलता के साथ पायी जानेवाली कायस्थों की प्रसिद्ध उपजाति श्रीवास्तव का निवास मूलतः श्रावस्ती नगरी से हुआ बताया जाता है। इनके एक नेता चन्द्रसेनीय श्रीवास्तव त्रिलोकचन्द्र ने ९१८ ई. में सरयूनदी को पार करके अयोध्या पर अधिकार किया और वहाँ अपना व्यवस्थित राज्य जमाया था। उसके वंशज वहाँ लगभग ३०० वर्ष तक राज्य करते रहे। उनके राज्य का अन्त १२वीं शताब्दी के अन्त के लगभग (१२९४ ई. में) मुहम्मद गोरी के भाई मखदूमशाहजूरन गोरी ने किया। उसी ने अयोध्या का भगवान् ऋषभदेव का प्राचीन मन्दिर ध्वस्त करके उसके स्थान पर मस्जिद बनायी थी। भगवान् आदिदेव ऋषभ के उक्त जन्मस्थान पर, जो 'शाहजूरन का टीला' नाम से प्रसिद्ध है, उक्त भग्न मस्जिद के पीछे भगवान् की टोंक अभी है। श्री पी. कारनेगी (१८७० ई.) के अनुसार अयोध्या का यह सरयूपारी श्रीवास्तव राज्य-वंश जैन धर्मानुयायी था। अनेक प्राचीन देहुरे (जिनायतन) जो वर्तमान काल में प्राप्त हैं वे मूलतः इन्हीं श्रीवास्तव राजाओं के बनवाये हुए थे, यद्यपि इधर उनमें से जो बचे थे उनका जीर्णोद्धार हो चुका है। अवध गजेटियर (१८७७ ई.) से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है और ला. सीताराम कृत अयोध्या के इतिहास में भी लिखा है कि 'अयोध्या के श्रीवास्तव अन्य कायस्थों के संसर्ग से बचे रहे तो मद्य नहीं पीते और बहुत कम मांसाहारी हैं। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि यह लोग पहले जैन ही थे।'

अवध आदि के भर राजे

जिस काल में श्रावस्ती में ध्वज और अयोध्या में श्रीवास्तव राजाओं का शासन था, उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों में अनेक स्थानों पर छोटे-छोटे भर राज्य स्थापित थे। ये भर लोग पुराने भारशिव नागों के वंशज थे, या अन्य आदिम व्रात्य जातियों की सन्तति में से थे, किन्तु थे वीर, स्वतन्त्रता के उपासक और ब्राह्मण विद्वेषी। राजपूत लोग भी उनसे घृणा करते थे और राजपूतों एवं मुसलमानों ने मिलकर ही अन्ततः १४वीं-१५वीं शती तक उनकी समस्त सत्ताओं का अन्त कर दिया। फैजाबाद, रायबरेली, उन्नाव आदि जिलों से भरों के समय की अनेक जिन-मूर्तियाँ मिली हैं। अँगरेज सर्वेक्षक कारनेगी, कनिंघम आदि का भी मत है कि उस काल के ये भर लोग जैनधर्म के अनुयायी थे।

मेवाड़ के गुहिलोत राणा

राजस्थान के मेवाड़ (मेदपाट) प्रदेश की पुरानी राजधानी चित्तौड़ (चित्रकूटपुर) प्राचीन काल में भी एक प्रसिद्ध नगरी थी। आठवीं शती ई. के मध्य तक वहाँ मौर्यवंश की एक शाखा का राज्य रहा। चित्तौड़ का अन्तिम मौर्य नरेश राहप्पदेव था जो धवलप्पदेव का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था और सम्भवतया उन वीरप्पदेव का ज्येष्ठ भ्राता था जो आगे चलकर श्रीधवल आदि विशाल आगमिक टीकाओं के कर्ता वीरसेनस्वामी के रूप में प्रसिद्ध हुए। चित्रकूटपुर में निवास करनेवाले एलाचार्य के निकट इन्होंने सिद्धान्त शास्त्रों का अध्ययन किया था और तदनन्तर राष्ट्रकूटों के राज्य के अन्तर्गत वाटनगर में अपना विद्यापीठ बनाया था, जहाँ उन्होंने अपने उक्त महान् ग्रन्थों की रचना की। राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ने राहप्पदेव को पराजित करके उसकी श्रीवल्लभ उपाधि और श्वेतच्छत्र भी अपना लिये थे। राहप्पदेव निस्सन्तान था, अतएव उसके पश्चात् उसका भानजा बप्पारावल कालभोज उपनाम खोम्मण प्रथम, ७५० ई. के लगभग, चित्तौड़ का प्रथम सूर्यवंशी, गुहिलोत एवं सीसौदिया राणा हुआ। उसके समय में चित्तौड़ के एक राजमान्य ब्राह्मण विद्वान् श्वेताम्बर आर्यिका याकिनी-महत्तरा के उपदेश से प्रभावित होकर साधु हो गये और हरिभद्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। वहीं इन महान् आचार्य ने संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं में विविध-विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। दशवी शती में इस वंश के राजा शक्तिकुमार के समय में चित्तौड़ का सर्वप्रसिद्ध जैन जयस्तम्भ सम्भवतया मूलतः बना था। राजाओं का कुलधर्म शैव था, किन्तु जैनधर्म के प्रति वे प्रारम्भ से अन्त तक अत्यन्त उदार और सहिष्णु रहे। कई राजे, राजवंश के कितने ही स्त्री-पुरुष तथा मन्त्री, अमात्य, दीवान, भण्डारी, सामन्त-सरदार, दण्डनायक एवं अन्य कर्मचारियों में से अनेक जैनी होते रहे हैं। कहा जाता है कि मेवाड़ राज्य में दुर्ग की वृद्धि के लिए जब-जब उसकी नींव रखी जाती थी तो साथ ही एक जैनमन्दिर बनवाने की प्रथा थी। चित्तौड़ के प्राचीन महलों के निकट प्राचीन जिनमन्दिर आज भी खड़े हैं। अनेक जैनमन्दिर मेवाड़ नरेशों ने स्वयं या अपनी अनुमति

से बनवाये और कितने ही जिनायतनों आदि के लिए दान दिये। मेवाड़ के सुप्रसिद्ध जैनतीर्थ केसरियानाथ ऋषभदेव को जैन ही नहीं, शैव, वैष्णव और भील लोग भी आजतक पूजते आते हैं। सूर्यास्त के उपरान्त भोजन करना राज्य-भर में राजाज्ञा द्वारा मना था। जैन साधु-साध्वियों का राज्य में निर्बाध विहार होता रहा है। यह राजवंश अनेक उत्थान-पतनों के बीच से होता हुआ वर्तमान पर्यन्त चला है और मध्यकाल में तो बहुधा राजपूत राज्यों का शिरमौर रहा है। मेवाड़ के राहडपुर एवं नलोटकपुर के निवासी सेठ नेमिकुमार बड़े धर्मात्मा, विद्वान्, दानी और यशस्वी थे। इन्होंने नेमिनाथ एवं पार्श्वनाथ के दो मन्दिर बनवाये थे। उनके बड़े भाई राहड ने २२ जिनमन्दिर बनवाये थे, नेमिकुमार के पुत्र वाग्भट ने १२वीं शती में छन्दोऽनुशासन की रचना की थी।

हथूण्डी के राठौड़ राजे

राजस्थान के हथूण्डी (हस्तिकुण्डी) नामक नगर में १०वीं शताब्दी में राठौड़वंशी जैन धर्मानुयायी राजपूत राजाओं का शासन था। सम्भवतया ये राठौड़ दक्षिणापथ के राष्ट्रकूटों की ही किसी शाखा से सम्बन्धित थे। दसवीं शती के प्रारम्भ में हथूण्डी का राठौडनरेश विदग्धराज जैनधर्म का परम भक्त था। उसने ९१६ ई. में अपनी राजधानी हथूण्डी में तीर्थंकर ऋषभदेव का विशाल मन्दिर बनवाया था और उसके लिए पुष्कल भूमिदान किया था। उसके गुरु बलभद्र या वासुदेवसूरि थे। इस राजा ने स्वयं को स्वर्ण से तुलवाकर वह सारा सोना उक्त मन्दिर एवं स्वगुरु को दान कर दिया था। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी महाराज मम्मट ने भी ९३९ ई. में उक्त जिनालय के लिए विपुल द्रव्य दान किया था और उसने अपने पिता द्वारा प्रदत्त दान-शासन की भी पुष्टि की थी। मम्मट का पुत्र महाराज धवल भी परम जिनभक्त था। उसने ९९७ ई. में उपरोक्त मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया, उसमें भगवान् ऋषभदेव की एक नवीन प्रतिमा प्रतिष्ठापित की और उसके लिए दान दिया था। इस राजा के गुरु वासुदेवसूरि के शिष्य शान्तिभद्रसूरि थे और किन्हीं सूराचार्य ने उसकी दान-प्रशस्ति लिखी थी। जैनधर्म की प्रभावना के लिए इस नरेश ने अन्य भी अनेक कार्य किये थे।

अर्थणा का भूषण सेठ

राजस्थान के स्थलि प्रदेश में तलपाटक नाम का सुन्दर नगर था। वहाँ नागरवंश के तिलक, अशेष-शास्त्राम्बुधि, जिनकी अस्थि-मज्जा जैनेन्द्रागम की वासना के रसामृत से ओत-प्रोत थी, ऐसे अम्बर नाम के गृहस्थ वैद्य राज थे जो संयमी एवं देशव्रती थे। वह षट्आवश्यक कर्मों का निष्ठापूर्वक पालन करते थे। उनकी उपासना के फलस्वरूप उन्हें चक्रेश्वरीदेवी सिद्ध हो गयी थी, जिसके प्रताप से उन्होंने अनेक चमत्कारी इलाज किये थे। उनके सुपुत्र पापाक विमल बुद्धिवाले, श्रुत के रहस्य के ज्ञाता, सम्पूर्ण आयुर्वेद में पारंगत और अनुकम्पापूर्वक विभिन्न रोगों से पीड़ित

रोगीजनों को नीरोग करने में दक्ष थे। उनके आलोक, साहस और ल्लुक नाम के तीन शास्त्र-विशारद सुपुत्र हुए। इनमें ज्येठ आलोक सहज विशद प्रज्ञा से भासमान, सकल इतिहास एवं तत्त्वार्थ के ज्ञाता, संवेग आदि गुणों के सम्यक् प्रभाव की अभिव्यक्ति, दानी, अपने परिवार के आधार, साधुसेवी, सबको आनन्द देनेवाले, भोगी और योगी एक साथ थे। वह मथुरान्वयरूपी आकाश के सूर्य तथा अपने व्याख्यानों से समस्त सभाजनों का रंजन करनेवाले श्री छत्रसेनगुरु के चरणारविन्द के अनन्य भक्त थे। इन आलोक की प्रशस्त अमल शीलवती हेला नाम की श्रेष्ठ धर्मपत्नी थी और उससे उनके नय-विवेकवन्त तीन पुत्ररत्न उत्पन्न हुए, जिनके नाम क्रमशः बाहुक, भूषण और लल्लाक थे। इनमें पाहुक या बाहुक गुरुजनों के भक्त और ऐसे कुशाग्रबुद्धि थे कि जिनवाणी-विषयक उनके प्रश्नजाल में गणधर भी विमुग्ध हो जायें, और किसी की तो बात क्या। करणानुयोग, चरणानुयोग-विषयक अनेक शास्त्रों में प्रवीण, इन्द्रिय-विषय-त्यागी, दान-तत्पर, शमनियमितचित्त, संसार से विरक्त और उपासकीय व्रतों के धारी थे। बाहुक की सीडका नाम की पत्नी थी और अम्बट नाम का शुभ लक्षणवाला पुत्र था। बाहुक के छोटे (मझले) भाई संसार प्रसिद्ध भूषण थे जो कल्याण के पात्र, सरस्वती के क्रीडागिरि, अमल-बुद्धि, क्षमावल्या-कन्द, सक्रिय कृपा के निलय, कामदेव-जैसे रूपवान्, बलिष्ठ, कुबेर के समान सम्पत्तिशाली, विवेकवान्, गम्भीरचित्त, विद्याधर-जैसे, जैनेन्द्रशासन-सरोवर-राजहंस, मुनीन्द्रपाद-कमलद्वय-चंचरीक, अशेष-शास्त्र-सागर में अवगाहन करनेवाले, सीमन्तिनी-नयन-कैरव-चारुचन्द्र, विदग्ध-जनवल्लभ, सरस-सार-श्रृंगारवानुदार-चरित, सुभग, सौम्यमूर्ति, सुधी, सबको सुख देनेवाले, भयंकर विपत्ति में भी स्थिरमति रहनेवाले और वैभव के शिखर पर रहते भी अत्यन्त विनीत थे। ऐसे इन श्रावकोत्तम भूषण की लक्ष्मी और सीली नाम की चरित्रगुण-भूषित एवं पतिव्रता दो भार्याएँ थीं। सोली से भूषण के आलोक, साधारण, शान्ति आदि पुत्र हुए जो सुयोग्य, गुरु-देव-भक्त और स्वबन्धु-चित्ताब्जविकासभानु थे। भूषण का छोटा भाई लल्लाक नित्य देव-पूजा करनेवाला और अपने भाई (भूषण) का आज्ञाकारी था। अपने इस भरे-पुरे परिवार में सांसारिक सुखों का उपभोग करते हुए भूषण सेठ ने चिन्तवन किया कि आयु तो तप्त-लोहे पर पड़ी जलबिन्दु के समान नश्वर है और लक्ष्मी द्विपकर्ण से भी अधिक चंचला है, अतएव शास्त्रों से यह सुनिश्चित रूप से जानकर कि अपने यश को स्थायी बनाने और परमार्थ साधने का उपाय पृथ्वी का आभूषण हो ऐसा जिनगृह बनाया जाये, भूषण ने उच्छूणक-नगर (डूंगरपुर का अर्यूणा नामक स्थान) में श्री वृषभनाथ भगवान् का भव्य जिनालय निर्माण कराकर वि. सं. ११६६ (सन् ११०९ ई.) की वैशाख शुक्ल तृतीया (अक्षय-तृतीया) सोमवार के दिन उसमें भगवान् की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की। उस समय उक्त प्रदेश पर धाराधिप सिन्धुराज परमार के मण्डलीक कन्ह के पौत्र और चामुण्डराज के पुत्र विजयराज का शासन था, जो स्वयं सम्भवतया परमारवंशीय ही था। श्रावक भूषण की इस प्रशस्ति को बुध कटुक ने तथा भाइल्लवंशी द्विज सावड के पुत्र भादुक ने

रचा था, वलभी कायस्थ राजपाल के पुत्र सन्धिविग्रहिक-मन्त्री वासव ने उसे लिखा (और रजिस्ट्री किया) था, और वैज्ञानिक सूमाक ने उसे उत्कीर्ण किया था।

सिन्ध देश

सिन्ध प्रान्त (अब पाकिस्तान) में गौड़ी-पार्श्वनाथ का प्रसिद्ध जैनतीर्थ था। वहाँ पीरनगर (पारकर) के सोडवंशी राजपूत राजे १०वीं-१२वीं शती में जैन थे और गौड़ी-पार्श्वनाथ उनके कुलदेवता थे। मुलतान (मूलस्थान) नगर भी जैनों का प्रसिद्ध केन्द्र था और आधुनिक युग तक—पाकिस्तान बनने के पूर्व तक बना रहा।

बंगाल

बंगदेश प्राचीन काल में चिरकाल तक जैनों का गढ़ रहा। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इस प्रान्त के समतट (व्याघ्रतटी) पुण्ड्रवर्धन, ताम्रलिप्ति आदि स्थानों में अनेक जिनमन्दिर और निर्ग्रन्थ (दिगम्बर जैन) साधु देखे थे। पुण्ड्रवर्धन से प्राप्त प्राचीन खण्डित जिनप्रतिमा, चटगाँव ज़िले के सीताकुण्ड के निकट चन्द्रप्रभु और सम्भवनाथ के प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर, टिपरा ज़िले मे कमिल्ला के निकट स्थित मैनावती और लालभाई की पहाड़ियों मे विद्यमान प्राचीन जिनमन्दिरों के भग्नावशेष, बाँकुड़ा जिले में वर्दमान (बर्धमान) और आसनसोल के मध्य प्राचीन जैन स्तूपों के ऊपर निर्मित ईंटों का सुन्दर बना प्राचीन मन्दिर जिसमें शिवमूर्ति के साथ तीर्थंकर पार्श्व की प्राचीन मूर्ति अब भी विद्यमान है, छोटानागपुर मे दुलमी, देवली, सुइसा, पाकबीरा आदि स्थानों में तथा आसपास अनेक प्राचीन जैनमन्दिर, जिनप्रतिमाएँ, यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियाँ आदि, और बंगाल-बिहार-उड़ीसा के कई भागों मे प्राचीन जैन श्रावकों के वंशज सराकजाति के लोग, उस प्रान्त मे प्राचीन काल में जैनधर्म के व्यापक प्रसार के सूचक है। बंगदेश के विभिन्न भागों मे बिखरे उपरोक्त जैन अवशेष ईसवी सन् के प्रारम्भ से लेकर १०वीं-११वी शताब्दी पर्यन्त के हैं।

कलिंगदेश

कलिंगदेश (उड़ीसा) अति प्राचीन काल से जैनधर्म का गढ़ रहता आया था। जैन सम्राट् महामेघवाहन ऐल खारवेल के पश्चात् वहाँ लगभग दो-तीन शताब्दियों तक उसके वंशजों का राज्य चलता रहा। ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी मे उनकी दो शाखाएँ, एक कपिलपुर में और दूसरी सिंहपुर मे स्थापित थी, जिनकी आपसी फूट का लाभ उठाकर सातवाहनों ने इस प्रान्त पर अधिकार कर लिया था। दूसरी शती ई. के अन्त के लगभग कलिंग में इक्ष्वाकु वंश का राज्य स्थापित हुआ। लगभग चौथी शताब्दी तक वहाँ जैनधर्म ही प्रधान बना रहा। बौद्ध ग्रन्थ दाथावंश के अनुसार उक्त शती में हुए कलिंगनरेश गुहाशिव ने जैनधर्म का परित्याग करके बौद्धधर्म अंगीकार किया था और कहा जाता है कि उसने सब निर्ग्रन्थों को देश से बाहर निकाल दिया था। किन्तु

निष्कासन अल्पकालीन ही रहा प्रतीत होता है क्योंकि ७वीं शताब्दी में ह्वेनसांग ने कलिंग में जैनधर्म और उसके निर्ग्रन्थ मुनियों की विद्यमानता का उल्लेख किया है। जैनसाहित्य के अनुसार उस काल में पुरी जिले का केन्द्रीय नगर पुरिय (पुरिमा या पुरी) अपनी 'जीवितस्वामी' प्रतिमा के लिए प्रसिद्ध था। लगभग छठी-सातवीं शताब्दी के बाणपुर-शिलालेख से प्रकट है कि उस समय कलिंग के शैलोद्भववंशी नरेश धर्मराज की रानी कल्याणदेवी ने धार्मिक कार्यों के लिए एक जैन मुनि को भूमिदान दिया था। निशीथचूर्णि के अनुसार पुरी एक प्रसिद्ध जलपट्टण (बन्दरगाह) और समुद्री व्यापार का प्रधान केन्द्र था। इसी प्रकार कांचनपुर भी सिंहलद्वीप आदि के साथ व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। पाँचवीं-छठी शताब्दी में कलिंगदेश में चार राज्यवंशों का उदय हुआ। पहला पूर्वी-गंगों का था जो कर्णाटक के पश्चिमी गंगों की ही एक शाखा था। यह वंश किसी न किसी रूप में मध्यकाल तक चलता रहा और जैन न होते हुए भी जैनधर्म के प्रति सहिष्णु था। दूसरा वंश तोसलि के भौमकरों का था। कियोंझर का भंजी-राज्य उन्हीं की सन्तति में हुआ। इस राज्य के आनन्दपुर तालुके में नगर से १० मील दूर वन में सिंगडि और बदखिया नाम की प्राचीन बस्तियाँ हैं, जिनके आसपास वनों और पहाड़ियों में जैन तीर्थंकरों एवं देवी-देवताओं की प्राचीन मूर्तियों, मन्दिरों, स्मारकों, सरोवरों आदि के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। जैन अनुश्रुतियों में वर्णित ऋषितड़ाग, जो वार्षिक अष्टाह्निकोत्सव के लिए प्रसिद्ध था, यहीं रहा प्रतीत होता है। तीसरा वंश कोंगद के शैलोद्भव नरेशों का था। इसी वंश के आठवें राजा महाभीत धर्मराज की रानी कल्याणदेवी द्वारा जैन मुनियों को दान देने का ऊपर उल्लेख किया गया है। चौथा वंश कलिंगदेशान्तर्गत कोसल के सोमवंशियों का था। इस वंश की प्रथम शाखा ने ४थी से ६वी शती-पर्यन्त और दूसरी ने छठी से १२वीं शती पर्यन्त राज्य किया। ह्वेनसाग ने अपने वृत्तान्त में इसी वंश के कलिंग-नरेश का वर्णन किया है। अकलंकदेव सम्बन्धी जैन अनुश्रुति का त्रिकलिंगाधिपति हिमशीतल इस वंश का राजा रहा प्रतीत होता है।

राजा हिमशीतल—जैनाचार्य अकलंकदेव के समय (७वी शती ई. के मध्योत्तर काल) में कलिंगनरेश महाराजाधिराज हिमशीतल था। वह बौद्धों के महायानी सम्प्रदाय का अनुयायी था, किन्तु उसकी राजमहिषी मदनावती परम जिनभक्त थी। एक समय जब वह उड़ीसा के हीरकतट पर स्थित अपनी उपराजधानी रत्नसंचयपुर में निवास कर रहा था तो कार्तिकी-अष्टाह्निका निकट थी। महारानी तथा उसके प्रश्रय में स्थानीय जैनों ने पर्व को विशाल रथोत्सव द्वारा समारोहपूर्वक मनाने का विचार किया, किन्तु राजा के बौद्ध गुरु इस कार्य में बाधक हुए। अन्ततः राजा ने निर्णय दिया कि यदि कोई जैन विद्वान् बौद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर देंगे तो जैनों को अपना उत्सव मनाने और रथ निकालने की अनुमति दे दी जायेगी। रानी तथा अन्य जैनीजन बड़े चिन्तित हुए। उनके सौभाग्य से उसी समय नगर के बाहर उद्यान में महाराष्ट्र के दिग्गज जैनाचार्य भट्टाकलंकदेव पधारे थे। रानी के साथ श्रावक लोग तुरन्त उनके

दर्शनार्थ वहाँ गये और उनसे अपनी समस्या निवेदन की। आचार्य ने बौद्धों की चुनौती स्वीकार की। हिमशीतल नरेश की राजसभा में यह शास्त्रार्थ जोर-शोर के साथ चला—कोई कहते हैं कि छह महीने तक चला। बौद्धाचार्य घट में स्थापित तारादेवी की सहायता से शास्त्रार्थ कर रहे थे। अन्त में अकलंकदेव ने तारा का विस्फोट करके बौद्धों को शास्त्रार्थ में पूर्णतया पराजित किया। राजा बड़ा प्रभावित हुआ और उसने तथा उसके अनेक प्रजाजनों ने जैनधर्म अंगीकार कर लिया। परिणामस्वरूप अनेक बौद्ध देश को छोड़कर सम्भवतया सुदूरपूर्व के भारतीय राज्यों एवं उपनिवेशों में चले गये। जैनों ने बड़े उत्साह से यह विजयोत्सव एवं अपना धर्मोत्सव मनाया। आचार्य अकलंकदेव ने वापस स्वदेश पहुँचकर अपने भक्त वातापी के पश्चिमी चालुक्य-नरेश साहसतुंग, सम्भवतया विक्रमादित्य प्रथम (६४३-६८० ई.) को, जैनधर्म की रक्षार्थ क्यों और कैसे उन्होंने यह वादविजय की थी, उसका वर्णन सुनाया था। कलिंगदेश का उपरोक्त राजा हिमशीतल सोमवंशी त्रिकलिंगाधिपति नगहुष महाभवगुप्त चतुर्थ प्रतीत होता है।

कलिंगनरेश उद्योतकेसरी ललाटेन्दु—११वीं शताब्दी में कलिंग का प्रसिद्ध जैन नरेश उद्योतकेसरी था जो देशीगणाचार्य भट्टारक कुलचन्द्र के शिष्य खल्ल शुभचन्द्र का भक्त एवं गृहस्थ-शिष्य था। उड़ीसा की उदयगिरि-खण्डगिरि की गुफाओं में इस नरेश के राज्यकाल के ५वें वर्ष से १८वें वर्ष तक के कई शिलालेख मिले हैं। उसके ५वें वर्ष के ललाटेन्दुगुफा (या सिन्धराजगुफा) के लेख के अनुसार इस राजा ने सुप्रसिद्ध कुमारीपर्वत पर नष्ट सरोवरों एवं जिनमन्दिरों का पुनर्निर्माण कराके वहाँ २४ तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं। उसने खण्डगिरि की नवमुनिगुफा में अपनी-अपनी यक्षियों (शासन-देवियों) सहित दस तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण करायीं, और बारभुजीगुफा में चौबीसों तीर्थंकरों की उनकी पृथक्-पृथक् यक्षियों सहित मूर्तियाँ अंकित करायीं। हनुमानगुफा में भी प्रायः उसी काल के मूर्तांकन हैं। मुक्तेश्वर मन्दिर की चहारदीवारी की बाहरी रथिकाओं पर उत्कीर्ण तीर्थंकर प्रतिमाएँ भी प्रायः उसी काल की हैं। राजा के गुरु कुलचन्द्र और खल्ल-शुभचन्द्र भी इन्हीं गुफाओं में निवास करते थे। एक लेख में इन शुभचन्द्र के छात्र विजो का भी उल्लेख है। सम्भवतया उड़ीसा (कलिंग) का यह परम जैन नरेश उद्योतकेसरी ललाटेन्दु सोमवंशी ही था।

महाकोसल के कलचुरि राजे

कलिंग के पश्चिमी भाग अर्थात् दक्षिण कोसल, विदर्भ और मध्य-प्रदेश के कुछ भागों से महाकोसल राज्य का निर्माण हुआ था। मगध के नन्द, मौर्य आदि सम्राटों के पश्चात् कलिंग-चक्रवर्ती खारवेल और उसके वंशजों का, तदनन्तर आन्ध्र सातवाहनों का इस प्रदेश पर अधिकारी रहा, जिनके उपरान्त वकाटकों का राज्य ३री से ५वीं शती पर्यन्त चला। सम्भवतया वकाटकों के सामन्तों के रूप में ही कलचुरि वंश की, जिसे हैहय या चेदि वंश भी कहा गया है, और सम्भव है कि जो चेतिवंशी खारवेल के वंशजों

की ही एक शाखा थी, २४९ ई. में यहाँ स्थापना हुई। इसी वर्ष से कलचुरि, चेदि या त्रैकूटक संवत् का प्रारम्भ माना जाता है। डाहडमण्डल में त्रिपुरी (मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले का तेवर) इन कलचुरियों की प्रधान राजधानी थी। दक्षिण चेदि या दक्षिण कोसल के कलचुरियों की राजधानी रतनपुर (बिलासपुर) थी। कलचुरियों की एक शाखा सरयूपारी थी जिसका राज्य गोंडा-बहराइच में था। त्रिपुरी का कलचुरि वंश अति प्रतिष्ठित माना जाता था। विभिन्न राजवंशों के नरेश इनके साथ विवाह सम्बन्ध करने में गौरव मानते थे। इस वंश का उत्कर्ष काल ७वीं से १२वीं शताब्दी तक रहा। सातवीं शती में शंकरगण प्रथम इस वंश का प्रसिद्ध राजा था। उसने ६२३ ई. जैन-तीर्थ कुल्पाकक्षेत्र की स्थापना की थी। इस राज्य में जैनधर्म की प्रवृत्ति प्रायः बनी रही। जो राजे जैन नहीं थे, वे भी इस धर्म के प्रति सहिष्णु और उसके पोषक रहे प्रतीत होते हैं। राजधानी त्रिपुरी (तेवर) के खण्डहरों से तथा महाकोसल, विदर्भ आदि के अनेक स्थानों से पूर्वमध्यकाल की अनेक मनोज्ञ एवं कलापूर्ण जिनमूर्तियाँ तथा जैनमन्दिरों भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। आठवीं शती में लक्ष्मणराज और कोक्कल प्रथम हुए, और ९वीं शती में शंकरगण द्वितीय या शंकिल (८७८-९०० ई.) प्रतापी नरेश था। मुग्धतुग, प्रसिद्धधवल और रणविग्रह उसके विरुद थे। तदुपरान्त बालहर्ष और युवराज केयूरवर्ष (९२५-९५०) हुए। केयूरवर्ष ने रत्नपुर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया था। उसकी पुत्री कुणालदेवी राष्ट्रकूट अमोघ तृतीय से बिवाही थी और उसके उत्तराधिकारी लक्ष्मणराज तृतीय की पुत्री बोन्थादेवी चालुक्य तैलप द्वितीय की जननी थी। तदनन्तर शंकरगण तृतीय, युवराज द्वितीय, कोक्कल द्वितीय, गंगेयदेव विक्रमादित्य (१०१५-४१ ई.), कर्णदेव (१०४१-७० ई), यश.कर्ण (१०७१-११२५ ई) और गयकर्णदेव (११२५-५४ ई.) नामक नरेश हुए। गयकर्णदेव भी जैनधर्म का आदर करता था। उसके महासामन्ताधिपति गोल्हणदेव राठौर ने, जो जैनधर्म का अनुयायी था, जबलपुर से ४२ मील उत्तर में स्थित बहुरीबन्द के खनुवादेव नाम के प्रसिद्ध जैनतीर्थ की जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। तदनन्तर विजयसिंहदेव कलचुरि (११९५ ई.) तो निश्चित रूप से परम जैन था। उसके समय में राज्य एवं प्रजा का प्रधान धर्म जैन ही था।

कलचुरियों के शासनकाल में महाकोसल प्रदेश में जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्य एवं मूर्तकला का अभूतपूर्व विकास हुआ। इनमें से कोई-कोई जैनकृतियाँ तो सम्पूर्ण तत्कालीन भारतीय कला की उत्कृष्टता का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखती है। अनेक जैनतीर्थ एवं सांस्कृतिक केन्द्र इस प्रदेश में स्थापित हुए, यथा कुल्पाक, खनुवादेव, रामगिरि, जोगीमारा, कुण्डलपुर, कारंजा, आरंग, एलोरा, अचलपुर, धाराशिव आदि। कारंजा प्राचीन काल से ही एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र रहता आया है। अपभ्रंश भाषा के सुप्रसिद्ध जैन महाकवि पुष्पदन्त इसी प्रदेश के रोहणखेड स्थान के निवासी थे। रायपुर जिले के आरंग नामक स्थान में एक प्राचीन जैन-मन्दिर है, जिसके निर्माता तत्कालीन राजा को

राजर्षितुल्य कहा गया है। सम्भवतया वह राजर्षि खारवेल की सन्तति में उत्पन्न हुआ था। विदर्भ का अचलपुर नगर भी प्राचीन जैन केन्द्र था, जहाँ से ७वीं शती ई. का एक जैन ताम्रपत्र प्राप्त हुआ था। श्वेताम्बराचार्य जयसिंहसूरि ने अपनी धर्मोपदेशमाला-वृत्ति (८५६ ई.) में लिखा है कि 'इस अचलपुर मे दिगम्बर जैन आम्नाय का भक्त अरिकेसरी नामक राजा राज्य करता है, जिसने अनेक महाप्रासाद निर्माण कराके उनमें तीर्थंकर प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित करायी है।' इसी नगर में ९८७ ई. में जैनकवि धनपाल ने अपना 'धर्मपरीक्षा' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचा था। विदर्भ-नरेश ईल या ऐल (१०८५ ई.) भी जैनधर्म का अनुयायी और आचार्य अभयदेवसूरि का भक्त था। एलउर (एलोरा) तो और भी पूर्वकाल से जैनतीर्थ रहता आया था। उपरोक्त धर्मोपदेशमाला-वृत्ति (८५६ ई.) में ही यह भी लिखा है कि समयज्ञ नामक श्वेताम्बर मुनि भृगुकच्छ से चलकर एलउर नगर आये थे और इस स्थान की दिगम्बर बसही (बसदि या संस्थान) में ठहरे थे। इससे प्रकट है कि इस काल में एक दिगम्बर जैन केन्द्र के रूप में एलोरा की दूर-दूर तक प्रसिद्धि थी। उसके इन्द्रसभा, जगन्नाथसभा आदि गुहामन्दिर उस काल के पूर्व ही निर्मित हो चुके थे। इस प्रकार कलचुरि (चेदि) नरेशों और उनके अधीनस्थ राजाओं, सामन्तों आदि के द्वारा पोषित जैनधर्म पूर्व मध्यकाल में महाकोसल, विदर्भ आदि प्रदेशों में खूब फल-फूल रहा था।

जेजाकभुक्ति के चन्देलवंशी राजे

गुप्त सम्राटों के समय में वर्तमान विन्ध्यप्रदेश (बुन्देलखण्ड) उनके साम्राज्य की एक प्रसिद्ध भुक्ति (प्रान्त) थी। देवगढ, खजुराहो आदि उसके प्रमुख नगर थे। इस प्रदेश में कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार नरेशों के सामन्त के रूप में, ८३१ ई. में नन्नुक चन्देल ने अपने वंश और राज्य की स्थापना की और खर्जुरवाहक (खजुराहो) को अपनी राजधानी बनाया। चन्देलों का मूल सम्बन्ध चेदि से रहा प्रतीत होता है और इनका उद्गम भर एवं गोंड जातियों से हुआ अनुमान किया जाता है, यद्यपि वे स्वयं को आत्रेय ऋषि और चन्द्र की सन्तान बताते है। जो हो, चन्देले राजपूतों का यह राज्य मुसलमान-पूर्व युग के उत्तर भारत के सर्वप्रमुख, समृद्ध एवं शक्तिशाली राज्यों में से था। नन्नुक का उत्तराधिकारी वाक्पति था, जिसके पुत्र जेजा (जयशक्ति, और बेजा (विजयशक्ति) थे। जेजा के नाम से ही यह प्रदेश जेजाकभुक्ति कहलाया, जिसका बिगड़कर जुझौती हो गया। बेजा के बाद राहिल और तदनन्तर हर्ष चन्देल (९००-९२५ ई.) राजा हुआ। इसी के समय से चन्देलों का वास्तविक उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ और सम्भवतया खजुराहो के उन जैन, शैव और वैष्णव मन्दिरों का भी निर्माण प्रारम्भ हुआ जो शनैः-शनैः अगले दो-अढ़ाई सौ वर्ष पर्यन्त बनते रहे और जिनके अवशेषों के कारण खजुराहो विश्व-प्रसिद्ध कलाधाम तथा देशी-विदेशी पर्यटकों का प्रायः सर्वोपरि आकर्षण केन्द्र आज भी बना हुआ है। कहते हैं कि चन्देल काल में खजुराहो में ८४ विशाल मन्दिर बने थे,

जिनमें से लगभग आधे हो अब बचे हैं। इनमें भी जैन-मन्दिरों की संख्या ३२ मानी जाती है, किन्तु २२ ही शिखरबन्द हैं और उनमें से भी प्रमुख एवं विशेष दर्शनीय चार हैं—घण्टाई, आदिनाथ, पारसनाथ (जिननाथ) और शान्तिनाथ। इन चारों महान् कलापूर्ण जिन-मन्दिरों का तथा उस स्थान के अन्य अधिकांश जिनालयों का निर्माण हर्षचन्देल और उसके उत्तराधिकारियों यशोवर्मन् अपरनाम लक्षवर्मन् (९२५-५४ ई.), धंगचन्देल (९५४-१००२ ई.), गण्ड, विद्याधर, कीर्तिवर्मन् और मदनवर्मन् के शासन-कालों में विभिन्न समयों में हुआ। ये सब प्रबल प्रतापी और पराक्रमी तथा कलाप्रेमी नरेश थे। चन्देल राजे प्रायः सब शिवभक्त थे और मनियादेवी उनकी कुलदेवी थी, तथापि वे सर्वधर्म सहिष्णु थे और उनके शासनकाल में जैनधर्म को पर्याप्त प्रश्रय प्राप्त था। धंगचन्देल के प्रथम वर्ष (९५४ ई.) में ही पाहिल्ल-श्रेष्ठि ने जिननाथ का भव्य भवन बनवाकर उसके लिए प्रभूत दान दिया था। विद्याधर के समय में, १०२८ ई. में, खजुराहो के शान्तिनाथ-मन्दिर में आदिनाथ की विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गयी थी। कीर्तिवर्मन् के शासनकाल में, १०६३ ई. में, देवगढ़ में सहस्रकूट-चैत्यालय का, तथा १०६६ ई. में अहार-मदनपुरा में एक जैनमन्दिर का निर्माण हुआ था और १०८५ ई. में बीवतसाह ने खजुराहो में एक जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। कीर्तिवर्मन् के मन्त्री वत्सराज ने १०९७ ई. में देवगढ़ का नवीन दुर्ग बनवाकर उसका नाम कीर्तिगिरी रखा था और सम्भवतः उस समय वहाँ कोई जिन-मन्दिर भी बना था। कीर्तिवर्मा के उत्तराधिकारी जयवर्मा के समय में महोबा में, ११२२ ई. में, कई जिन-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हुई थीं। बारहवी शताब्दी के मध्य में चन्देलनरेश मदनवर्मा भारी निर्माता था। अनेक नगरों, सरोवरों तथा जैन और वैष्णव मन्दिरों का उसने निर्माण कराया था। उसके समय में महोबा में, ११५४ ई. में, रूपकार लाखन द्वारा निर्मित नेमिनाथ-प्रतिमा की, उसी शिल्पी द्वारा निर्मित सुमतिनाथ-प्रतिमा की ११५६ ई. में तथा एक अन्य प्रतिमा की ११४६ ई. में प्रतिष्ठा हुई थी। वहीं ११६३ ई. में साहु रत्नपाल के परिवार ने कई प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करायी थी। सन् ११४५ ई., ११५८ ई. आदि की जैन-प्रतिमाएँ महोबा से मिली हैं। इस काल में चन्देलों की राजधानी महोबा ही हो चला था। मण्डलिपुर (बुन्देलखण्ड का एक नगर) में महीपति नाम के सेठ के परिवार ने ११५१ ई. में नेमिनाथ-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी, और खजुराहों में ११४८ ई. में साहु पाणिधर ने कई मन्दिर और प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं। वहीं ११५५ ई. में रूपकार कुमारसिंह द्वारा निर्मित वीरनाथस्वामी (भगवान् महावीर) की प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई थी और ११५८ ई. में साहू सोल्हे ने सम्भवनाथ का मन्दिर और प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। मदनवर्मा का उत्तराधिकारी परमार्दिदेव अपरनाम चन्देल परमाल (११६५-१२०३ ई.) इस वंश का अन्तिम महान् नरेश था। जगनिक के आल्ह-खण्ड ने उसे सर्वत्र प्रसिद्ध कर दिया। उसके शासनकाल में भी अनेक जिनमन्दिर और जिन-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हुई। राजधानी महोबा में इस कालंजराधिपति परमार्दिदेव

के शासनकाल के तीसरे वर्ष, ११६७ ई. में, एक जैन-मन्दिर का निर्माण और प्रतिष्ठा हुई लगती है और ११७७ ई. में खजुराहो में एक जिन-प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई थी। अहार-क्षेत्र की तीर्थंकर शान्तिनाथ की विशाल मनोज्ञ खड्गासन प्रतिमा की प्रतिष्ठा भी इसी राजा के शासनकाल में ११८० ई. में हुई थी। इस प्रतिमा का निर्माता कुशल रूपकार पापट था। इस नरेश के राज्य में विलासपुर नगर में आचार्य गुणभद्र ने अपने धन्यकुमार-चरित्र की रचना आचार्य शुभचन्द्र के गृहस्थ-शिष्य लम्ब-कांचुक (लमेचू)-वंशी श्रावक वल्हण के लिए की थी। तेरहवीं शती के उत्तरार्ध में चन्देलराज वीरवर्मनदेव के समय की, १२७४-७८ ई. की लेखांकित जैन मूर्तियाँ मिलती है। अन्ततः मुसलमानों द्वारा चन्देल राज्य का अन्त १३१० ई. के लगभग हो गया। अकेले देवगढ़ में ९९९ से १२५० ई. तक के डेढ़ दर्जन से अधिक जैन प्रतिमालेख, शिलालेख आदि प्राप्त हुए हैं।

चन्देल नरेशों के शासनकाल में देवगढ़-खजुराहो, महोबा, कालंजर, अजयगढ़, अहार-मदनपुरा, मदनसागरपुर, बानपुर, पपौरा, चन्देरी, दूदाही, चन्दपुरा आदि चन्देल राज्य के प्रायः सभी प्रमुख नगरों में समृद्ध जैनों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ थीं। उनके श्रीदेव, वासवचन्द्र, कुमुदचन्द्र आदि अनेक निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुओं एवं विद्वान् आचार्यों का राज्य में उन्मुक्त विहार था। अनेक भव्य विशाल जिनमन्दिरों एवं जैन-कलाकृतियों का उक्त स्थानों में निर्माण हुआ। जैनकला के चन्देल-कालीन अवशेष तत्कालीन भारतीय कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में परिगणित हैं और उस काल की कला शैली का सफल प्रतिनिधित्व करते हैं। राज्य के जैनों ने भी उस राज्य की सर्वतोमुखी उन्नति में पूरा योगदान दिया। अनेक उल्लेखनीय जैन निर्माता और धर्मात्मा श्रावक उस काल में हुए।

श्रेष्ठि पाहिल—अपने कुल की कीर्ति को धवल बनानेवाला, दिव्यमूर्ति, सुशील, क्षम-दम-गुणयुक्त, सर्व-सत्त्वानुकम्पी (समस्त प्राणियों पर दयाभाव रखनेवाला), स्वजनों से पूर्णतया सन्तुष्ट या सुजनों को सदा तुष्ट रखनेवाला, चन्देलनरेश धंगराज द्वारा सम्मान-प्राप्त और गुरु श्री वासवचन्द्र महाराज का भक्त एवं गृहस्थ-शिष्य श्रेष्ठि पाहिल (पाहिल्ल)। उसने भगवान् जिननाथ को प्रणाम करके उनके प्रासाद के संरक्षण के निमित्त राजा की सहमतिपूर्वक ९५४ ई. में पाहिलवाटिका, चन्द्रवाटिका, लघुचन्द्र-वाटिका, शंकरवाटिका, पंचायतनवाटिका, आम्रवाटिका और धंगवाटिका नामक सात विस्तृत उद्यानों का दान किया था। दान-शासन के अन्त में भव्य पाहिल्ल ने यह भावना की थी कि कोई भी राजा इस पृथ्वी पर शासन करे वह पाहिल्ल को अपना दासानुदास समझकर उसके द्वारा प्रदत्त उक्त सात वाटिकाओं की भूमि का संरक्षण करता रहे।

यह शिलालेख खजुराहो के तथाकथित पारसनाथ मन्दिर के द्वार की दाहिनी ओर उत्कीर्ण है। यह मन्दिर खजुराहो में स्थित पूर्वी समूह के जैन-मन्दिरों में तीसरा है और उनमें सर्वाधिक विशाल, कलापूर्ण एवं भव्य है। मूलतः यह आदिनाथ भगवान् का मन्दिर था और जिननाथ-मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध था। आदिनाथ की मूलनायक

प्रतिमा के न रहने पर १८६० ई० में उसके स्थान पर पार्श्वनाथ की मनोज्ञ प्रतिमा स्थापित कर दी गयी थी, जिसके कारण यह पारसनाथ-मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध हो गया। मन्दिर में ऋषभदेव की भक्त शासनदेवी चक्रेश्वरी की अष्टभुजी, गरुडारूढ सुन्दर मूर्ति और ऋषभपुत्र भगवान् बाहुबलि की भी प्रतिमा स्थापित हैं। द्वार के बायीं ओर चौंतीसा-यन्त्र उत्कीर्ण है। माहुल, गोहल, देवशर्मा, जयसिंह और पीथन के नाम भी फ़र्श, दीवारों आदि पर अंकित है। ये उस अनुपम मन्दिर के कुशल शिल्पी रहे प्रतीत होते हैं। एक स्थान पर 'आचार्य श्री देवचन्द्र शिष्य कुमुदचन्द्रः' अंकित है। इन मुनिराज का उक्त मन्दिर के साथ उस काल में अथवा कालान्तर में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा प्रतीत होता है। सम्भव है कि उक्त देवचन्द्र पूर्वोक्त वासवचन्द्र के शिष्य या प्रशिष्य हों और इस संस्थान के परम्परागत आचार्य हों। मन्दिर नं. २५ के द्वार के स्तम्भ पर भी उक्त दोनों मुनियों के नाम इसी प्रकार अंकित हैं। बहुत सम्भव है कि इस महान् मन्दिर का निर्माण स्वयं उक्त श्रेष्ठि पाहिल्ल ने किया हो। इसी मन्दिर के निकट घण्टाई, आदिनाथ और शान्तिनाथ के प्रायः उसी काल के अत्यन्त मनोहर जिनालय हैं।

ठाकुर देवधर—आचार्यपुत्र ठाकुर देवधर और उनके पुत्रों शिवचन्द्र एवं चन्द्रदेव ने १०२८ ई. में खजुराहो में शान्तिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। लेख शान्तिनाथ-मन्दिर की मूलनायक शान्तिनाथ-प्रतिमा के नीचे अंकित है, अतएव सम्भवतया ये ही लोग उक्त मन्दिर के निर्माता और प्रतिष्ठाता थे।

श्रेष्ठि पाणिधर—गृहपति-अन्वय (गहोई जाति) के श्रेष्ठि पाणिधर और उसके तीन पुत्रों त्रिविक्रम, आल्हण और लक्ष्मीधर नामक श्रेष्ठियों ने खजुराहो में ११४८ ई. की माघ वदि ५ के दिन एक श्यामवर्ण की जिनप्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। उन्हीं श्रेष्ठि पाणिधर का नाम उसी वर्ष की वहाँ की दो अन्य प्रतिमाओं पर भी अंकित है। ऐसा लगता है कि उन्होंने भी इस नगर में एक भव्य जिनालय निर्माण कराया था। ये लेख खजुराहो के मन्दिर नं. २७ में प्राप्त हुए हैं, वही वह जिनालय होगा।

श्रेष्ठि महीपति—गृहपति (गहोई) वंश के श्रेष्ठि माहुल के पुत्र श्रेष्ठि महीपति और जाल्हू थे। महीपति के पुत्र पापे, कूके, साल्हू, देदू, आल्हू, विवीके और सबपते थे। श्रेष्ठि महीपति ने अपने इस पूरे परिवार सहित ११५१ ई. की वैशाख वदि ५ गुरुवार के दिन मण्डलिपुर में नेमिनाथ तीर्थंकर की प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। यह प्रतिमा वर्तमान में हौर्निमन म्यूज़ियम लन्दन में है—१८९५ ई. में बिककर वहाँ पहुँची थी।

श्रेष्ठि बीबतसाह और सेठानी पद्मावती—इस धर्मात्मा दम्पति ने १०८५ ई. में खजुराहो में एक जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। यह प्रतिमा घण्टाई मन्दिर में थी। सम्भव है कि उक्त मन्दिर के निर्माण में भी इस श्रेष्ठि-दम्पति का योग रहा हो। यह मन्दिर भी अत्यन्त कलापूर्ण है।

साहु साल्हे—ग्रहपतिवंशी श्रेष्ठि देदू के पुत्र पाहिल्ल थे और उनके पुत्र साहु

साल्हे थे। साल्हे के पुत्र महागण, महीचन्द्र, श्रीचन्द्र, जितचन्द्र, उदयचन्द्र आदि थे। महाराज मदनवेव के राज्य में ११५८ ई. की माघ सुदि ५ के दिन साहु साल्हे ने अपने पुत्रों सहित खजुराहो में रूपकार (मूर्तिकार) रामदेव से निर्मित कराके तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथ की मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। श्यामपाषाण में निर्मित यह मूर्ति भी उस स्थान के मन्दिर नं. २७ में प्राप्त हुई है। इस लेख के साहु साल्हे के पिता पाहिल्ल को प्रायः पूर्वोक्त ९५४ ई. के भव्य पाहिल से अभिन्न समझ लिया जाता है, किन्तु यह दोनों सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं, दोनों के बीच सौ वर्ष से अधिक का अन्तर है। 'वही संवत् १२१५, (अर्थात् ११५८ ई.) उसी मन्दिर की एक अन्य श्यामवर्ण पाषाण की आदिनाथ प्रतिमा की चरण-चौकी पर अंकित है और साथ में श्री चारुकीर्ति मुनि और उनके शिष्य कुमारनन्दि के नाम भी। सम्भव है ये मुनिराज प्रतिमा के तथा शायद मन्दिर के भी प्रतिष्ठाचार्य हों।

साहु रत्नपाल—साधु देवगन संघव्य के पुत्र साधु श्री रत्नपाल ने अपनी भार्या साधा और पुत्रों कीर्तिपाल, अजयपाल, वस्तुपाल और त्रिभुवनपाल के साथ महोबा में ११६३ ई. की ज्येष्ठ सुदि अष्टमी रविवार के दिन भगवान् अजितनाथ की तथा एक अन्य जिनप्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी, सम्भवतया कोई जिनमन्दिर भी बनवाया था। नामों से लगता है कि यह परिवार सुशिक्षित एवं सम्भ्रान्त था।

पाड़ाशाह (भैंसाशाह)—बुन्देलखण्ड में बहुप्रचलित किंवदन्तियों के अनुसार वहाँ १२वीं-१३वीं शताब्दी ई. के लगभग एक अग्रवाल जैन धनकुबेर हो गया है, जो पाड़ाशाह या भैंसाशाह के नाम से प्रसिद्ध है। उसका मूल नाम क्या था, कोई नहीं जानता। प्रारम्भ में यह व्यक्ति अति साधारण श्रेणी का एक वणिक् था जो अपने पड़े या पाड़े (भैंसे) पर तेल के कुप्पे लादकर गाँव-गाँव जाकर तेल बेचा करता था। कहा जाता है कि एक दिन जब मार्ग के एक जंगल में वह सुस्ता रहा था तो उसने देखा कि उसके भैंसे के खुर की लोहे की नाल सोने की हो गयी है। आश्चर्यचकित हो उसने आसपास खोजा तो उसे उसका कारण, अर्थात् पारस-पथरी मिल गयी। अब क्या था, पारस-पथरी के प्रसाद से वह शीघ्र ही धनकुबेर हो गया। अपने उस भाग्यदूत भैंसे के कारण ही वह भैंसाशाह या पाड़ाशाह कहलाया। अपने अटूट धन का भी उसने सदुपयोग किया। बुन्देलखण्ड प्रदेश के विभिन्न स्थानों में हज़ार-आठ सौ वर्ष पुराने जो सैकड़ों जैनमन्दिर या उनके अवशेष पाये जाते हैं, प्रायः उन सबके निर्माण का श्रेय उक्त पाड़ाशाह को ही दिया जाता है। वह बड़ा उदार और दानी था, अनेक कूप, बावड़ी, तड़ाग आदि लोकहित के निर्माण के अतिरिक्त कोई भी याचक उसके द्वार से खाली हाथ नहीं लौटता था। जितना जो चाहता उसे दे डालता था। अन्त में वह अपने समाप्त न होनेवाले धन से ऊब गया और उक्त पारस-पथरी को एक दिन एक गहरी झील में फेंककर सन्तोष की साँस ली। पाड़ाशाह सम्बन्धी दन्तकथाओं में तथ्यांश कितना है, नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि पारस-पथरीवाली बात जनमानस की कल्पना-प्रसूत हो। किन्तु ऐसा कोई

धर्मात्मा, दानी और भारी मन्दिर-निर्माता धनकुबेर अग्रवाल श्रावक उस काल में और उस प्रदेश में हुआ अवश्य है, भले ही उसका वास्तविक नाम पाड़ाशाह या भैंसाशाह न भी रहा हो। हो सकता है कि खजुराहो के विपुलद्रव्य साध्य मन्दिरों का निर्माता श्रेष्ठि पाहिल या अन्य वैसा ही कोई सेठ इस उपनाम से प्रसिद्ध हो गया हो।

गुजरात-सौराष्ट्र

पश्चिम भारत का वह बड़ा भूभाग जो वर्तमान गुजरात राज्य (प्रान्त) के नाम से जाना जाता है, अत्यन्त प्राचीन काल से, कम से कम महाभारतकालीन बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि या नेमिनाथ के समय से, जैनधर्म का एक प्रमुख गढ़ रहता आया है। इतिहासकाल में यदुवंशियों के उपरान्त मौर्यों, शक, क्षहरातों और महाक्षत्रपों तथा तदनन्तर वलभी के मैत्रकवंशी राजाओं का यहाँ शासन रहा। शैव, वैष्णव, बौद्ध आदि अन्य धर्म भी यहाँ फले-फूले, साथ ही जैनधर्म की प्रवृत्ति भी जनता में चलती रही। कई एक राजा भी जैन हुए और जो जैन नहीं थे वे भी इस धर्म के प्रति सहिष्णु और उसके प्रश्रयदाता रहे। मैत्रक नरेश शिलादित्य प्रथम (५९५-६१५ ई.) आदि के प्रश्रय में जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण-जैसे जैनाचार्यों ने विपुल साहित्य रचा। सातवी शती के मध्य के लगभग मैत्रकवंश का अन्त हुआ। उस काल में यह भूभाग सौराष्ट्र के सैन्धव, भड़ौच के गुर्जर, लाट के चालुक्य, सौरमण्डल के वराह, अन्हिलवाड़े के चावड़ा आदि कई छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। जैनाचार्य जिनसेन के हरिवंशपुराण (७८३ ई.) के अनुसार उस समय सौरमण्डल में महावराह के पुत्र या पौत्र जयवीर-वराह का शासन था। प्रायः उसी समय से गुर्जर-प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के बीच गुजरात को हस्तगत करने की होड़ लगी, जिसमें राष्ट्रकूट सफल रहे और ८वीं शती के प्रारम्भ से लेकर १०वीं शती के प्रथम पाद पर्यन्त राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय के अनुज इन्द्र के कर्क, ध्रुव, कृष्ण आदि वंशज मान्यखेट के सम्राटों के प्रतिनिधियों के रूप में गुजरात देश के बहुभाग के प्रायः स्वतन्त्र शासक रहे। यह राजे भी जैनधर्म के पोषक थे। जैन सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम का चचेरा भाई एवं प्रतिनिधि लाटाधिप कर्कराज-सुवर्णवर्ष जैनधर्म का भक्त था। उसके शासनकाल में नवसारिका (नवसारी) में एक जैन विद्यापीठ की स्थापना हुई थी, जिसके अधिष्ठाता दिगम्बराचार्य परवादिमल्ल के प्रशिष्य थे। उन्हें उक्त संस्थान के लिए कर्कराज ने अपने ८२१ ई. के नवसारी ताम्रशासन द्वारा भूमि आदि का प्रभूत दान दिया था। वलभी के मैत्रकों के उपरान्त गुजरात में जो स्थानीय राज्यवंश उदय में आये उनमें जैनधर्म की दृष्टि से तथा ऐतिहासिक दृष्टि से भी चूड़ासमास, चापोत्कट, चाप या चावड़ा वंश सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

वनराज चावड़ा—जयशेखर चापोत्कट का पुत्र वनराज गुजरात के चावड़ा वंश एवं राज्य का संस्थापक था। उसने स्वगुरु जैनाचार्य शीलगुणसूरि के उपदेश, आशीर्वाद

और सहायता से मैत्रकों का उच्छेद करके ७४५ ई. में अपने राज्य की स्थापना की थी और अन्हिलपुर पाटन (अन्हिलवाड़ा) नाम का नवीन नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया था। गुरुदक्षिणा के रूप में जब वनराज ने शीलगुणसूरि को अपना पूरा राज्य समर्पित करना चाहा तो उन्होंने उसके बदले में एक सुन्दर जिनमन्दिर बनवाने के लिए राजा से कहा। अतएव राजा ने अपनी राजधानी में पंचासर-पार्श्वनाथ नामक प्रसिद्ध जिनालय बनवाया था। जिनालय के लिए मूलनायक पार्श्व-प्रतिमा पंचासर से लाकर विराजमान की गयी थी, इसी कारण वह पंचासर-पार्श्वनाथ-जिनालय कहलाया। वनराज चावड़ा ने और भी कई जिनमन्दिर बनवाये थे। उसका प्रधान-मन्त्री चम्पा नामक जैन वणिक् श्रेष्ठि था, जिसने चम्पानेर नगर बसाया। निन्नय नामक एक अन्य धनवान् जैन श्रेष्ठि ने, जिसे वनराज पितातुल्य मानता था, अन्हिलवाड़ा में भगवान् ऋषभदेव का मन्दिर बनवाया था। इसी निन्नय सेठ का पुत्र लाहोर वनराज का वीर सेनापति था। इस प्रकार स्वयं राजा वनराज चावड़ा के अतिरिक्त उसके राज्य के अधिकांश प्रभावशाली वर्ग, मन्त्री, सेनापति, उच्चपदस्थ कर्मचारी, महाजन और व्यापारी आदि जैन थे। वनराज के उपरान्त योगराज, रत्नादित्य, क्षेमराज, आकडदेव और भूयडदेव अपरनाम सामन्तसिंह नाम के राजा इस वंश में क्रमशः हुए। दसवीं शती ई. के उत्तरार्ध में मूलराज सोलंकी ने इस वंश का अन्त किया। वर्धमान नगर में भी चापवंश की एक शाखा का राज्य था, जिसमें चार-पाँच राजा हुए और गिरनार जूनागढ़ के चूडासमास राजे तो १०वीं से प्रायः १६वी शती पर्यन्त चलते रहे। इन विभिन्न चावड़ा राज्यवंशों के क्षेत्रों में यद्यपि शैव और शाक्त धर्म भी राज्य-मान्य थे, जैनधर्म ही बहुधा राजधर्म रहा और जो राजे जैनी नही हुए, वे भी उसके प्रति सहिष्णु रहे।

अन्हिलवाड़ा का सोलंकीवंश प्राचीन चालुक्यवंश की ही एक शाखा थी, इसीलिए सोलंकी नरेश स्वयं को बहुधा चौलुक्य कहते थे। गुजरात के इतिहास में सोलंकीवंश का सर्वोपरि महत्त्व है। इनके समय में वह देश उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा और एक शक्तिशाली साम्राज्य का रूप लेने में समर्थ हुआ। साथ ही जैन इतिहास को उसने कम से कम एक जैन सम्राट्, दर्जनों जैन मन्त्री और वीरसेनानायक, सैकड़ों प्रसिद्ध धनाढ्य श्रेष्ठि, अनेक दिग्गज जैन विद्वान् और चिरस्मरणीय सांस्कृतिक उपलब्धियाँ प्रदान कीं। सन् ९४१ ई. में मूलराज सोलंकी ने इस वंश की स्थापना की थी, ९७४ ई. तक वह प्रायः सम्पूर्ण गुजरात पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करने और चावड़ा राजाओं की राजधानी अन्हिलपाटन पर अधिकार करके उसे अपनी राजधानी बनाने में सफल हो गया था, जिसके लगभग २० वर्ष पश्चात् उसकी युद्ध में मृत्यु हुई। जैन न होते हुए भी उसने और उसके वंशजों ने जैनधर्म के प्रति अपने पूर्ववर्ती नरेशों की नीति को ही अपनाया। सोमनाथशिव इस वंश के कुलदेवता, राष्ट्रदेवता और इष्टदेवता थे, किन्तु जिनदेव को भी पूरा सम्मान और मान्यता दी गयी। फल-

स्वरूप जैन मन्त्रियों, सेनापतियों, दण्डनायकों और योद्धाओं, सेठों और साहूकारों, विद्वानों और कलाकारों के स्वयं को सोलंकी राज्य की अतुल शक्ति और अपार समृद्धि का मूलाधार एवं सुदृढ़ स्तम्भ निरन्तर चरितार्थ किया। इतिहास ने भी उनकी देन को स्वीकार किया। मूलराज का पुत्र एवं उत्तराधिकारी चामुण्डराज (९९५-१०१० ई.) था, जिसके पुत्र दुर्लभराज ने कुछ मास ही राज्य किया। तदनन्तर दुर्लभराज का पुत्र भीमदेव प्रथम (१०१०-६२ ई.) राजा हुआ, जिसके समय में महमूद गजनवी ने सोमनाथ का विध्वंस किया, और जिसका मन्त्री प्रसिद्ध विमलशाह था। भीमदेव का पुत्र एवं उत्तराधिकारी कर्णदेव (१०६३-९३ ई.) था और उसका पुत्र सुप्रसिद्ध जयसिंहसिद्धराज (१०९४-११४३ ई.) था। इसका उत्तराधिकारी सुप्रसिद्ध जैन सम्राट् कुमारपाल (११४३-११७३ ई.) था। तदनन्तर अजयपाल, भीमदेव द्वितीय, मूलराज द्वितीय और त्रिभुवनपाल नामक अपेक्षाकृत पर्याप्त निर्बल नरेश ११७४ से १२४३ ई. के मध्य हुए। अन्तिम सोलंकी राजा को गद्दी से उतारकर धोलका के सामन्त बीसलदेव ने १२४३ ई. में गुजरात के सिंहासन पर अधिकार किया और बघेला (व्याघ्रपत) वंश की स्थापना की। वह स्वयं सोलंकी नरेश भीम द्वितीय के अन्तःपुर-रक्षक लवणप्रसाद नामक जैन अधिकारी का वंशज, सम्भवतया पौत्र था। बघेलों का अन्त १२९८ ई. में दिल्ली के मुसलमान सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने किया। जैनधर्म और जैनों के प्रति बघेले राजाओं की भी प्रायः वही नीति रही जो उनके पूर्ववर्ती सोलंकी नरेशों की थी।

मन्त्रीवर विमलशाह—श्रीमालजातीय एवं पोरवाडवंशी जैन श्रेष्ठि विमलशाह गुजरात के प्रतापी सोलंकी नरेश भीमदेव प्रथम (१०१०-१०६२ ई.) का कृपापात्र एवं स्वामिभक्त अमात्य था। सोलंकीयुग में राजधानी अह्निलवाड़े का प्रथम नगरसेठ बनने का सौभाग्य विमलशाह को ही प्राप्त हुआ था। वह मात्र एक धनी वणिक् सेठ ही नहीं था वरन् राजा का एक प्रमुख कुशल मन्त्री भी था और ऐसा प्रचण्ड सेनानायक भी था कि उसने गुजरात की सेना को सिन्धुनद के नीर में तैराकर गजनी की भी सीमा को पददलित किया था। अपने राजा के लिए उसने अनेक भयंकर युद्धों का सफल संचालन किया था। यह वीर योद्धा बड़ा धर्मानुरागी, उदार और दानी भी था। आबू-पर्वत (अर्बुदगिरि) का विश्वविख्यात कलाधाम भगवान् आदिनाथ का मन्दिर, जो विमल-बसही भी कहलाता है, विपुल द्रव्य व्यय करके १०३२ ई. में इस मन्त्रीराज विमल सेठ ने ही बनवाया था।

जयसिंह सिद्धराज—भीम प्रथम का पौत्र और कर्ण सोलंक का पुत्र एवं उत्तराधिकारी गुजरात का चौलुक्यनरेश जयसिंह सिद्धराज (१०९४-११४३ ई.) बड़ा शक्तिशाली, प्रतापी, धार्मिक, विद्यारसिक, उदार नरेश था। वह महादेव का उपासक था, तो महावीर का भी भक्त था। उसने रुद्रमाल शिवालय बनवाया, तो महावीर-जिनालय भी बनवाया। शैवतीर्थ सोमनाथ का वह रक्षक था, तो जैनतीर्थ शत्रुंजय की

यात्रा करके उसमें उक्त स्थान के आदिनाथ-जिनालय को बारह ग्राम समर्पित किये थे। सिद्धपुर में रायविहार नामक सुन्दर आदिनाथ-जिनालय तथा गिरनार तीर्थ पर भगवान् नेमिनाथ का मुख्य मन्दिर बनवाने का श्रेय भी इसी राजा को दिया जाता है। वह मन्त्रशास्त्र का भी ज्ञाता था और सिद्ध-चक्रवर्ती कहलाता था। महाराज जयसिंह के शासन के पूर्वार्ध में उसका प्रधान मन्त्री मुंजाल मेहता नामक एक ओसवाल जैन था। वह उसके पिता कर्ण के समय से ही मन्त्रीपद पर आरूढ़ था। राजमाता मीनलदेवी (कर्ण की रानी और जयसिंह की जननी) मुंजाल मेहता को बहुत मानती थी। यह अत्यन्त स्वामिभक्त, कूटनीतिज्ञ, प्रशासनकुशल और युद्ध-विद्या-विशारद था और अपने स्वामी के राज्यविस्तार एवं शक्ति संवर्धन में उसका प्रधान सहायक था। उसके साथी और शिष्य उदयन, शान्तनु, आलिग, पृथ्वीपाल आदि राज्य के कई अन्य जैन मन्त्री राजा जयसिंह के शक्तिस्तम्भ थे। प्रायः ये सब राजनीति-कुशल, प्रशासनपटु वीरयोद्धा थे और साथ ही धनी व्यापारी-व्यवसायी भी थे। उन्होंने राज्यहित के अतिरिक्त अनेक धार्मिक कार्य और निर्माण भी किये थे। मन्त्री पृथ्वीपाल ने आबू के एक मन्दिर (विमलवसही) में अपने सात पूर्वजों की हाथीनशीन (गजारूढ़) मूर्तियाँ बनवाकर स्थापित की थीं। मन्त्रीराज उदयन ने सोरठ के दुर्धर राजा खेंगार को पराजित करके जयसिंह को चौलुक्य-चक्रवर्ती विरुद दिलाया था और कर्णावती (अहमदाबाद) में एक भव्य जिनालय निर्माण कराकर उसमें ७२ बहुमूल्य प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं। उदयन मन्त्री के पुत्र आहड, बाहड, अम्बड और सोल्ला भी विचक्षण राजमन्त्री और प्रचण्ड सेनानायक थे। राजा भोज परमार की धारानगरी की भाँति ही जयसिंह सोलंकी ने अपने अन्हिलपाटन को ज्ञान और कला का अनुपम केन्द्र बनाने का निश्चय किया और वहाँ एक विशाल विद्यापीठ की स्थापना की। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य 'कलिकालसर्वज्ञ' उपाधिधारी हेमचन्द्रसूरि को उसने अपने आश्रय में होनेवाली साहित्यिक प्रवृत्तियों के नेतृत्व का भार सौंपा। राजा उनका बहुत आदर करता था। कक्कल, वाग्भट, रामचन्द्र, गुणचन्द्र, महेन्द्रसूरि, देवचन्द्र, उदयचन्द्र, वर्धमानगणी, यशश्चन्द्र, बालचन्द्र, आनन्द-सूरि, अमरचन्द्र आदि अनेक जैनगृहस्थ एवं साधु विद्वान् आचार्य के सहयोगी अथवा शिष्य थे। उन सबने राजा से सम्मान प्राप्त किया और संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के बीसियों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की उसके प्रश्रय में रचना की। इस राजा को दार्शनिक शास्त्रार्थ कराने और सुनने का भी चाव था, जिनमें से एक स्याद्वादरत्नाकर के कर्ता श्वेताम्बरा-चार्य देवसूरि और कल्याणमन्दिर स्तोत्र के रचयिता कर्णाटक के दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के मध्य जयसिंह सिद्धराज की राजसभा में ही हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि चौलुक्य-चक्रवर्ती सिद्धराज जयसिंह का शासनकाल गुजरात के इतिहास का स्वर्णयुग था और उसे वह रूप देने का प्रधान श्रेय उसके आश्रित जैन मन्त्रियों, सेनापतियों, सेठों, कला-कारों, विद्वानों और साधुओं को है। हेमचन्द्राचार्य ने इस राजा के लिए सिद्धहेम-शब्दा-नुशासन नामक प्रसिद्ध व्याकरण की रचना की थी। उसने उन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' की,

उनके शिष्य नाट्यकार रामचन्द्रसूरि को 'कविकटारमल्ल' की, आनन्दसूरि को 'व्याघ्र-शिशुक' की और अमरचन्द्रसूरि को 'सिंहशिशुक' की उपाधियाँ प्रदान करके सम्मानित किया था।

सम्राट् कुमारपाल सोलंकी (११४३-७३ ई.)—जयसिंह सिद्धराज के कोई पुत्र नहीं था, केवल एक पुत्री काचनदेवी थी जो सपादलक्ष (साँभर-अजमेर) के चौहान नरेश अर्णोराज के साथ विवाही थी और जिसका पुत्र सोमेश्वर उपनाम चाहड था। अपनी मृत्यु के समय इस चाहड को ही जयसिंह ने अपना दत्तकपुत्र एवं उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। किन्तु राजमन्त्रियों का बहुमत, आचार्य हेमचन्द्र और राजपुरोहित देवश्री कुमारपाल के समर्थक थे, अतः राज्यसिंहासन उसे ही प्राप्त हुआ। वह भीमदेव की उपपत्नी चौला नामक नर्तकी से उत्पन्न क्षेमराज का प्रपौत्र, देवप्रसाद (देवपाल या हरपाल) का पौत्र और त्रिभुवनपाल का ज्येष्ठ पुत्र था। राजा का ज्येष्ठ पुत्र होते हुए भी क्षेमराज अपने सौतेले अनुज कर्ण को राज्य देकर तपस्वी हो गया था और उसका पुत्र देवपाल कर्ण की मृत्यु होने पर जीते जी चिता में प्रवेश कर गया था। उसका पुत्र त्रिभुवनपाल जो जयसिंह का भतीजा लगता था, बड़ा राज्यभक्त, सदाचारी और नीतिपरायण क्षत्रिय वीर था। राजा भी उसका आदर करता था, किन्तु अपने जीवन के अन्तिम पाद में उससे रुष्ट हो गया था और कहते हैं कि उसने त्रिभुवनपाल की हत्या करा दी थी तथा कुमारपाल की भी हत्या कराने का प्रयत्न किया था। त्रिभुवनपाल की पत्नी कशमीरादेवी थी जिससे उसके कुमारपाल आदि तीन पुत्र और प्रमिला एवं देवल नाम की दो पुत्रियाँ हुई थीं। प्रमिला का विवाह जयसिंह के एक दण्डनायक कन्हदेव के साथ हुआ था, जो कुमारपाल के प्रधान सहायकों में से था। कुमारपाल का जन्म अपने पिता की जागीर दधिस्थली (देथली) में १०९३ ई. में हुआ था। राज्यवंश में जयसिंह का निकटतम उत्तराधिकारी वही था, किन्तु उसके पिता तथा स्वयं राजा की दीर्घायु के कारण उसे चिरकाल तक प्रतीक्षा करनी पड़ी और जब उसके पिता की भी हत्या करा दी गयी तो राजा की दुरभिसन्धि के कारण उसका जीवन संकट में पड़ गया। उस समय राजधानी के ही अलिंग नामक एक कुम्हार की सहायता से कुमारपाल की जीवनरक्षा हुई और वह भागकर भृगुकच्छ चला गया जहाँ खम्भात के राजा केलम्बराज ने उसे आश्रय दिया। तदनन्तर वह पैठन, उज्जैन, चित्तौड़ आदि विभिन्न स्थानों में विपन्न अवस्था में कई वर्ष भटकता रहा। चित्तौड़ में उसकी एक दिगम्बर मुनि, सम्भवतया रामकीर्ति से भेंट हुई, जिनसे उसने बहुत ज्ञान और उपदेश ग्रहण किया। अन्ततः वह नगेन्द्रपट्टन में अपने बहनोई कन्हदेव के पास चला गया। इस संकटकाल में उसने बड़े कष्ट सहे, हर समय राजा का भय बना रहता था, यदि कोई सम्बल थे तो वह स्वगुरु हेमचन्द्रसूरि की भविष्यवाणी और आश्वासन तथा अपने सहायकों एवं समर्थकों की सद्-इच्छा में विश्वास ही थे। अन्ततः लगभग ५० वर्ष की आयु में ११४३ ई. में कुमारपाल सोलंकी गुजरात के सिंहासन पर बैठा। राज्य प्राप्त

करते ही उसने अपने समर्थकों एवं संकटकाल के सहायकों को उदारतापूर्वक सन्तुष्ट किया। महामन्त्री उदयन के सुयोग्य पुत्र बाहड (बाग्भट) को उसने अपना प्रधान मन्त्री बनाया। उदयन के पुत्र आहड, बाहड और अम्बड भी राजा के मन्त्री और सेनानायक बने, केवल छोटा पुत्र सोल्ला व्यापारी हुआ। स्वयं वृद्ध मन्त्रीश्वर उदयन का भी परामर्श उसे प्राप्त रहा—उदयन की मृत्यु उसी के राज्यकाल में ११५० ई. के लगभग हुई थी। अपने रक्षक कुम्भकार अलिंग को कुमारपाल ने अपनी राजसभा का प्रमुख सदस्य बनाया और पुरोहित देवश्री आदि को विपुल द्रव्य प्रदान किया। चित्तौड़ के जिस साजन नामक कुम्भकार ने काँटों के ढेर में छिपाकर उसकी जयसिंह सिद्धराज के सैनिकों से रक्षा की थी उसके नाम चित्तौड़ प्रदेश के ७०० ग्रामों की वार्षिक आय का पट्टा लिख दिया। कुमारपाल की ११५० ई. की चित्तौड़ प्रशस्ति के रचयिता दिगम्बराचार्य जयकीर्ति के शिष्य रामकीर्ति मुनि थे। राज्य के प्रथम कुछ वर्ष तो कुमारपाल को अपने विरोधियों, प्रतिद्वन्द्वियों तथा अन्य आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओं से अपना मार्ग निष्कण्टक करने में बीते, तदनन्तर उसने राज्य एवं शासन को सुसंगठित किया और अपने विजय यात्रा अभियान चलाये। साँभर के अर्णोराज चौहान, धारा के बल्लालदेव परमार, चन्द्रावती के विक्रमसिंह, मारवाड़ और चित्तौड़ के राजाओं, कोंकण के मल्लिकार्जुन, गोपालपट्टन (गोआ) के कदम्बराजा इत्यादि अनेक नरेशों को पराजित एवं अपने अधीन करके सम्राट् कुमारपाल सोलंकी ने अपने साम्राज्य का दूर-दूर तक विस्तार किया था। उत्तर में तुरुष्क देश (गजनवी सुल्तानों के अधीन पश्चिमी पंजाब), पूर्व में गंगातट, पश्चिम में समुद्रतीर और दक्षिण में सह्याद्रि के सुदूर शिखरपर्यन्त गुजरात का ताम्रचूड़-विजयध्वज फहराया। गुर्जर साम्राज्य में अब १८ देश सम्मिलित थे और वह उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच गया था। स्वयं महाराज की महत्त्वाकांक्षा और शूरवीरता के अतिरिक्त इस महती सफलता का प्रधान श्रेय उसके जैन मन्त्रियों एवं प्रचण्ड जैन सेनापतियों को था। उदयन-पुत्र अम्बड (आम्रभट) उसका प्रधान सेनापति था। शिलाहारनरेश को पराजित करने के उपलक्ष्य में राजा ने उसे शिलाहारों का विशिष्ट विरुद 'राजपितामह' प्रदान किया था। विन्ध्य-अटवी को पददलित करनेवाला और गजयूथों को प्रशिक्षित करके अह्निलवाडे की गजसैन्य को अजेय बना देनेवाला, धनुर्विद्या-प्रवीण महादण्डनायक लहर भी जैन ही था। कुमारपाल के पूरे राज्यकाल में फिर कोई स्वचक्र या परचक्र का उपद्रव नहीं हुआ, न कोई दुर्भिक्ष ही पड़ा। लक्ष्मी के समान प्रकृति भी देश पर प्रसन्न थी जिसके कारण उसने अभूतपूर्व समृद्धि और प्रजा ने अप्रतिम सुख और शान्ति का उपभोग किया। कहते हैं कि प्रायः राज्यप्राप्ति के समय तक कुमारपाल, अकबर की भाँति ही निरक्षर था, किन्तु अपने अध्यवसाय से वह थोड़े ही समय में सुविज्ञ हो गया। ज्ञान-विज्ञान और कला की उसके समय में महती अभिवृद्धि हुई और धार्मिकता के प्रवाह में राजा एवं प्रजा ने सुखपूर्वक निमज्जन किया। प्रारम्भ में अन्य सोलंकी नरेशों की भाँति उसका भी कुलधर्म शैव और

इष्टदेव सोमनाथ-शिव थे। पशुबलि में भी उसका विश्वास था और मद्य-मांस का भी सेवन करता था। रक्तपात करने और विनाशक युद्धों के छेड़ने में उसे कोई हिचक नहीं होती थी। किन्तु आचार्य हेमचन्द्रसूरि के संसर्ग से उसमें शनैः-शनैः सद्धर्म की भावना जागृत होने लगी और उनके उपदेशों के प्रभाव से वह जैनधर्म का परम भक्त हो गया। यहाँ तक कि ११५९ ई. में उसने प्रकट रूप से जिनधर्म अंगीकार कर लिया। वह चरित्रवान् एवं एक-पत्नी-व्रत का पालक था और उसने श्रावक के व्रत धारण करके 'परम-आर्हत' विरुद प्राप्त किया था। उसने युद्धों से विराम लिया, राज्य में पशु-हिंसा, पशुबलि, शिकार, मद्यपान, जुआ आदि का राजाज्ञा से निषेध किया, मृत्युदण्ड बन्द कर दिया, राज्य-भर में अमीरी घोषणा करा दी, दीन-दुखियों का पालन किया, निस्सन्तान विधवाओं के सत्त्व की रक्षा की और संघपति बनकर चतुर्विध संघ के साथ शत्रुजय, गिरनार आदि धर्म-क्षेत्रों की तीर्थयात्रा की। निर्माता भी ऐसा था कि उसने १४४० नवीन जैनमन्दिरों का निर्माण और १६०० पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया बताया जाता है। स्वयं अपनी राजधानी को उसने अनेक सुन्दर जिनालयों से अलंकृत किया था, जिनमें सर्वोपरि त्रिभुवनपाल-विहार था जिसे उसने अपने पिता की स्मृति में बनवाया था। विद्वानों की संगति एवं वाद-विवाद, तत्त्वचर्चा आदि में उसे आनन्द आता था। स्वयं आचार्य हेमचन्द्र के पथप्रदर्शन में राजकार्य एवं सांस्कृतिक कार्यों का संचालन होता था। उन्होंने तथा उनके बृहत् शिष्यमण्डल ने प्रभूत साहित्य की रचना की। कई शास्त्र-भण्डार और ग्रन्थ-लिपि-कार्यालय भी स्थापित हुए। अनेक अन्य कवि, चारण, जैनाजैन पण्डित और विद्वान्, साधु और तपस्वी उसके राजसभा की शोभा बढ़ाते थे। ब्राह्मण विद्वानों और कवियों ने तथा आधुनिक इतिहासकारों ने भी इस आदर्श एवं सर्वतः सफल जैन नरेश की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। किसी ने उसे राजर्षि कहा है तो किसी ने सम्राट् अशोक महान् से उसकी तुलना की है। श्रेणिक, सम्प्रति, खारवेल और अमोघवर्ष-जैसे महान् जैन सम्राटों के समकक्ष उसे स्थान दिया जाता है। उसकी समस्त दिनचर्या ही अति धार्मिक श्रमणोपासक एवं आदर्श नरेश के उपयुक्त थी। प्रसिद्ध विद्वान् मुनि जिनविजय के शब्दों में, उसका जीवन एक महाकाव्य के समान था जिसमें शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत और शान्त सभी रसों का परिपाक हुआ था। उसकी जीवन कविता में माधुर्य, ओज और प्रसाद का अद्भुत सम्मिश्रण था। देशत्याग, संकट, सहाय-असहाय, क्षुधा-तृषा, भिक्षायाचन, हर्ष, शोक, अरण्याटन, जीवित-संशय, राज्यप्राप्ति, युद्ध, शत्रुसंहार, विजययात्रा, नीति-प्रवर्तन, धर्मपालन, अभ्युदयारोहण और अन्त में अनिच्छित भाव से मरण इत्यादि एक महाख्यायिका के वर्णन के लिए आवश्यक सभी रसोत्पादक सामग्री उसके जीवन में विद्यमान थी। काव्यमीमांसकों ने काव्य के लिए जो धीरोदात्त नायक की कल्पना की है उसका वह यथार्थ आदर्श था।" गुजरात के ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में जैन सम्राट् कुमारपाल सोलंकी का विशिष्ट स्थान है। धार्मिक सहिष्णुता भी उसमें ऐसी थी कि

यदि शत्रुंजय का संरक्षक था तो सोमनाथ को भी विस्मरण नहीं किया और अपनी गर्वोन्नत राजधानी अन्हिलपुर में तीर्थंकर पार्श्वनाथ का कुमारविहार-जिनालय बनाया तो उसके निकट शम्भु का कुमारपालेश्वर-शिवालय भी बनवाया। उसके प्रिय गुरुवर हेमचन्द्राचार्य का ११७२ ई. में अकस्मात् स्वर्गवास हो गया। यह वियोग कुमारपाल के लिए असह्य हो गया और छह मास के भीतर ही वह स्वयं भी मृत्यु को प्राप्त हो गया। एक मत के अनुसार आचार्य की मृत्यु के ३२ दिन बाद ही स्वयं उसके भतीजे अजयपाल ने विष द्वारा उसकी हत्या कर दी थी। इसी समय से सोलंकी राज्य की अवनति प्रारम्भ हो गयी। कुमारपाल की साध्वी रानी भोपलादेवी थी और एक मात्र सन्तान पुत्री लीलू थी, जिसके पुत्र प्रतापमल्ल को वह अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था।

अजयपाल बड़ा धर्मविद्वेषी और अत्याचारी था। मन्त्री कापर्दि, कवि रामचन्द्र-सूरि, महादण्डनायक अम्बडभट-जैसे कुमारपाल-भक्तों पर उसने भीषण अत्याचार किये। अजयपाल ने अम्बड से कहा कि उसे अपना स्वामी स्वीकार कर ले, तो उस वीर ने उत्तर दिया कि 'इस जन्म में तो अर्हत् भगवान् ही मेरे इष्टदेव, हेमचन्द्र मेरे गुरु और कुमारपाल ही मेरे स्वामी है—अन्य किसी व्यक्ति के सम्मुख यह सिर नहीं झुक सकता।' उस वीर ने अन्यायी के सामने झुकने के बजाय मृत्यु पसन्द की। उसके एक जैन मन्त्री यशपाल ने मोहपराजय-नाटक लिखा था। एक द्वारपाल ने ११७७ ई. में अजयपाल की हत्या कर दी और भीम द्वितीय राजा हुआ।

पण्डित सालिवाहन ठक्कुर—श्री उज्जयन्त तीर्थ (गिरनार) के नेमिनाथ-मन्दिर की दीवार पर अंकित ११५८ ई. के एक शिलालेख के अनुसार उक्त वर्ष ठक्कुर भरथ के पुत्र सन्घवी ठक्कुर सालिवाहन ने, जो एक विद्वान् पण्डित भी थे, शिल्पी जसहड और सावदेव से समस्त जैन देवताओं की प्रतिमाएँ बनवाकर उस वर्ष की चैत्र शुक्ल ८ रविवार के दिन उक्त तीर्थ पर प्रतिष्ठित करायी थीं और नागझरिशिरा नामक कुण्ड बनवाकर, उसकी चहारदीवारी भी बनवायी और उसमें कुण्ड की अधिष्ठात्री अम्बिकादेवी की मूर्ति तथा अन्य चार बिम्ब निर्माण कराकर स्थापित किये थे।

सेनापति सज्जन—सोलंकी नरेश भीम द्वितीय का प्रधान सेनापति सज्जन भारी युद्धवीर और साथ ही परम धार्मिक जैन श्रावक था। भीम जब गद्दी पर बैठा तो बालक ही था। अतः उसका और उसके राज्य का वास्तविक संरक्षक यह जैन वीर सज्जन ही था। राजमाता का भी उसपर पूर्ण विश्वास था, जिसे सज्जन के विद्वेषियों की चुगली भी विचलित नहीं कर सकी। सज्जन के त्रिकाल सामयिक का नियम था। युद्धभूमि में हाथी के ऊपर बैठे-बैठे समय पर वह एकाग्रचित होकर दो घड़ी अपने इस आध्यात्मिक कृत्य का सम्पादन कर लेता और फिर रणभेरी फूँककर अपने क्षात्रधर्म का पालन प्रचण्डता के साथ करता। उसी के सेनापतित्व में संचालित गुजरात की सेना ने आबू पर्वत की तलहटी में शिहाबुद्दीन गोरी-जैसे प्रचण्ड यवन आक्रमणकारी और विजेता

को पराजित करके भगा दिया था। इस तथ्य को मुसलमान इतिहासकार भी स्वीकार करते हैं। उसके पश्चात् ११९५ ई. कुतुबुद्दीन ऐबक को पराजित करने का श्रेय भी वीर सज्जन को ही है। भीम द्वितीय का अन्तःपुररक्षक लवणप्रसाद भी जैन था जो उसके उत्तराधिकारियों के समय में राज्य का कुछ काल के लिए प्रायः सर्वेसर्वा था। धोलका (धवलपुरी) इसकी निजी जागीर थी।

मन्त्रीश्वर वस्तुपाल-तेजपाल—लवणप्रसाद का पुत्र एवं उत्तराधिकारी धोलका का सामन्त वीरधवल पर्याप्त शक्तिशाली, समृद्ध और प्रभावशाली था। उस राजा के ही मन्त्री थे सुप्रसिद्ध भ्रातृद्वय वस्तुपाल और तेजपाल थे। वे उस पद पर उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी वीसलदेव के समय में भी बने रहे और उसके उपरान्त जब १२४३ ई. में इस वीसलदेव बघेले ने अन्तिम सोलंकी त्रिभुवनपाल को गद्दी से उतारकर गुजरात के सिंहासन पर अधिकार कर लिया तब भी अपनी मृत्यु पर्यन्त पूर्ववत् उसके राजमन्त्री बने रहे। गुजरात राज्य के ह्रास एवं अवनति के उस युग में उसके गौरव और प्रतिष्ठा की भरसक सुरक्षा जिन जैन वीरों ने की उनमें यह बन्धुयुगल-वस्तुपाल और तेजपाल, प्रमुख एवं सर्वाधिक स्मरणीय हैं। ये दोनों भाई ओसवाल जातीय धनकुबेर, राजनीति-विचक्षण, भारी युद्धवीर और आदर्श जैन थे। मन्त्रीश्वर वस्तुपाल के गुजरात के स्वराज्य को नष्ट होने से बचाने के लिए अपने जीवन में त्रेसठ बार युद्धभूमि में गुर्जर सैन्य का संचालन किया था। इस प्रचण्ड वीर का स्वधर्माभिमान इतना उग्र था कि एक साधारण जैन यति का अपमान करने के अपराध में उसने स्वयं गुर्जरेश्वर महाराज वीसलदेव के मामा का हाथ कटवा डाला था। वह निर्माता भी अद्भुत था। आबू (देलवाड़ा) का विश्वविख्यात जैन कलाधाम, भगवान् नेमिनाथ का अद्वितीय मन्दिर उसने १२३२ ई. में करोड़ों रुपये के व्यय से बनवाया था, सेरिसा में पार्श्वनाथ का भव्य मन्दिर बनवाया, अन्य अनेक स्थानों में नवीन जिनालय बनवाये और पुरानों का जीर्णोद्धार कराया था। जैन धर्मायतनों के अतिरिक्त उसने सोमनाथ, भृगुक्षेत्र, शुक्लतीर्थ, वैद्यनाथ, द्वारिका, काशी-विश्वनाथ, प्रयाग और गोदावरी आदि अनेक हिन्दू तीर्थस्थानों की पूजा-अर्चा के निमित्त लाखों रुपये का दान दिया, सैकड़ों ब्रह्मशालाएँ और ब्रह्मपुरियाँ बनवायीं, पथिकों के लाभ के लिए स्थान-स्थान मे कूप और वापिकाएँ खुदवायीं, वाटिकाएँ लगवायी, सरोवर बनवाये, विद्यापीठ स्थापित किये, अनेक ग्रामों की चहारदीवारी बनवायी और अरक्षित स्थानों मे दुर्गों का निर्माण किया, सैकड़ों शिवालयों का जीर्णोद्धार कराया, वेदपाठी ब्राह्मणों को वर्षाशन दिये, यहाँ तक कि मुसलमानों के लिए भी मस्जिदें बनवायीं और संगमरमर (आरसपत्थर) का एक कलापूर्ण सुन्दर तोरण बनवाकर मक्का-शरीफ़ भिजवाया। मुनि जिनविजयजी के अनुसार "जैनधर्म का प्रभाव बढ़ाने के लिए जितना द्रव्य उसने व्यय किया था उतना किसी अन्य ने किया हो, ऐसा इतिहास में नहीं मिलता। मध्ययुग के इतिहास मे जितने भी समर्थ जैन श्रावक हो गये हैं, वस्तुपाल उन सबमें महान् था और जैनधर्म का

सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि था। अपने धर्म में अत्यन्त चुस्त होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति ऐसी उदारता बरतनेवाला और अन्य धर्मस्थानों के लिए इस ढंग से लक्ष्मी का उपयोग करनेवाला उसके समान अन्य कोई पुरुष भारतवर्ष के इतिहास में मुझे तो दृष्टिगोचर नहीं होता। जैनधर्म ने गुजरात को वस्तुपाल-जैसे असाधारण सर्वधर्मसमदर्शी और महादानी महामात्य का अनुपम पुरस्कार दिया है।'' इसके अतिरिक्त यह वीर मन्त्रीश्वर और दानवीर धर्मात्मा भारी पण्डित, विद्वान्, सुकवि, विद्यारसिक और विद्वानों का भारी आश्रयदाता भी था। उसकी सुखद छाया के नीचे उसका निवासस्थान धोलका गुजरात का सर्वमहान् विद्याधाम बन गया था। वस्तुपाल के इस अप्रतिम विद्यामण्डल में राजपुरोहित सोमेश्वर, हरिहर पण्डित, मदन पण्डित, नानाक पण्डित, नाट्यकार सुभट, यशोवीर, अरिसिंह, अमरचन्द्रसूरि, विजयसेनसूरि, उदयसेनसूरि, नरचन्द्रसूरि, बालचन्द्र, जयसिंहसूरि, माणिक्यचन्द्र प्रभृति जैन और अजैन गृहस्थ एवं साधु विद्वान् सम्मिलित थे, जिन्होंने वस्तुपाल के आश्रय में विपुल एवं श्रेष्ठ साहित्य सृजन किया था। यशोधर, सोमादित्य, वैरिसिंह, कमलादित्य, दामोदर, जयदेव, विकल, कृष्णसिंह, शंकरस्वामी आदि अन्य अनेक कवियों को भी वस्तुपाल ने सहस्रों रुपये दान में दिये थे। मन्त्रीश्वर तेजपाल ज्येष्ठ भ्राता वस्तुपाल की छाया थे।

जगड़ूशाह—वीसलदेव बघेले के शासनकाल में ही, १२५७ ई. में जब गुजरात देश में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा तो वस्तुपाल और तेजपाल की मृत्यु सम्भवतया उसके पूर्व ही हो चुकी थी, किन्तु तबतक एक और जैन दानवीर उत्पन्न हो चुका था। उसका नाम था जगड़ूशाह। इस दयाधर्म के पालक परोपकारी उदार जैन सेठ ने मुक्तहस्त से अन्न और धन वितरण करके असंख्य दुष्काल-पीड़ित गुजरातियों को जीवनदान दिया था। इसके अतिरिक्त जगड़ूसेठ ने ८००० मूड़ (स्वर्णमुद्राविशेष) राजा वीसलदेव को, १६,००० मूड़ हम्मीर को और २१,००० मूड़ सुल्तान को उक्त दुष्काल में सहायतार्थ दिये थे, जैसा कि पुरातन-प्रबन्ध संग्रह से विदित होता है।

शाहसमरा और सालिग—पाटण (अन्हिलवाड़ा) के ये जैन बन्धुयुगल बड़े उदार, दानी, धर्मात्मा और धनसम्पन्न सेठ थे। जब १२९८ ई. में दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति उलुगखाँ और नसरतखाँ ने गुजरात पर भीषण आक्रमण करके कर्ण बघेले को पराजित किया और उसकी रानी कमलादेवी और पुत्री देवलदेवी को पकड़कर दिल्ली सुल्तान के हरम में पहुँचा दिया, तो गुजरात की त्रस्त जनता के सबसे बड़े रक्षक और सहायक यही दोनों जैन सेठ-बन्धु सिद्ध हुए। उक्त प्रलयंकारी आक्रमणों के समय आक्रान्त जन-साधारण और धर्म की उन्होंने अद्भुत सेवा की थी। अपने धन और असाधारण राजकीय पहुँच के द्वारा उन्होंने सैकड़ों जैन एवं हिन्दू-मन्दिरों को मुसलमानों द्वारा विध्वंस किये जाने से बचा लिया और नष्ट-भ्रष्ट हुए देवालयों का पुनरुद्धार किया या कराया, सहस्रों लोगों को मुसलमानों के बन्दीखाने से मुक्ति दिलायी और जनता को सर्वप्रकार आश्वासन एवं सहायता प्रदान की थी। ●

मध्यकाल : पूर्वार्ध
(स. १२००-१५५० ई.)

गजनी के सुल्तान मुहम्मद गोरी द्वारा ११९२ ई मे पृथ्वीराज चौहान के और अगले वर्ष जयचन्द गहडवाल के पूर्णतया पराजित कर दिये जाने के परिणाम-स्वरूप दिल्ली, अजमेर और कन्नौज पर तुर्कों का अधिकार हो गया और कुछ वर्षों के भीतर दिल्ली को केन्द्र बनाकर पजाब से लेकर बिहार-बगाल पर्यन्त बहुभाग उत्तर भारत पर तुर्कों का शासन स्थापित हो गया। अगले लगभग डेढ सौ वर्ष पर्यन्त दिल्ली के सुल्तान ही उत्तर भारत तथा बहुभाग दक्षिण भारत में भी सर्वोपरि मुसलमान शक्ति थे, यद्यपि इस बीच गोरी, गुलाम, खिलजी और तुगलुक नाम के चार वश परिवर्तन हुए। तदुपरान्त दिल्ली सल्तनत के मालवा, गुजरात, बगाल, जौनपुर, बहमनी आदि प्रान्तो के सूबेदारो ने अपनी स्वतन्त्र सत्ताएँ स्थापित कर ली और एक के स्थान मे कई मुसलमानी सल्तनतें देश मे फैल गयी। साथ ही चन्दवाड, ग्वालियर, मेवाड, विजयनगर आदि की कई शक्तिशाली हिन्दू राज्य शक्तियाँ भी उदित हुई। यह स्थिति १६वी शती ई के मध्य के कुछ बाद तक चली। उपरोक्त तुर्क सुल्तानो द्वारा अधिकृत एव शासित प्रदेशो मे भारतीय धर्मों और उनके अनुयायियो की शोचनीय स्थिति थी। प्रत्येक व्यक्ति या वर्ग के लिए अपने जान माल, इज्जत, धर्म और सस्कृति की रक्षा का प्रश्न सतत और सर्वोपरि था। इन विदेशी, विधर्मी, अत्याचारी, निरकुश शासको मे धार्मिक सहिष्णुता का प्राय अभाव था। फिर भी यदि हिन्दू, जैन आदि भारतीय जन और उनके साथ उनका धर्म और सस्कृति बचे रहे तो इसलिए कि उन्हे सर्वथा समाप्त कर देना या मुसलमान बना डालना इन शासको के लिए भी अशक्यानुष्ठान था, दूसरे उनके राजनीतिक और आर्थिक हित में भी नही था। अतएव दिल्ली आदि के मुसलमान सुल्तानो द्वारा शासित प्रदेश मे होनेवाले उल्लेखनीय जैनो की और उनके द्वारा किये जानेवाले प्रभावक धर्म-कार्यों की सख्या अत्यल्प है। तथापि कतिपय ऐसे महाभाग उस काल एव उक्त प्रदेशो मे भी हुए है जिन्होने अपनी प्रतिभा, योग्यता एव प्रभाव से प्रतिष्ठा प्राप्त की और जो सुल्तानो द्वारा सम्मानित हुए अथवा जिन्होने अपने प्रभावक धर्मकार्यों द्वारा अपनी धर्मप्राणता का परिचय दिया। तत्कालीन हिन्दू राज्यो में जैनो की स्थिति अपेक्षाकृत कही अधिक अच्छी रही और किन्ही में तथा किन्ही कालो मे तो प्राय सर्वोपरि भी रही।

दिल्ली सल्तनत

१२०६ ई. में मुहम्मद गोरी की मृत्यु से लेकर १२९० ई. तक गुलाम सुल्तानों का, १२९० से १३२० ई. तक खिलजी सुल्तानों का, १३२१ से १४१३ ई. तक तुगलुकों का, १४१४ से १४५१ ई. तक सैयदों का, १४५१ से १५२६ ई. तक लोदी सुल्तानों का, १५२६ से १५३९ ई. तक मुगल बाबर और हुमायूँ का और १५४० से १५५६ ई. तक सूरिवंशी सुल्तानों का दिल्ली पर शासन रहा।

कहा जाता है कि मुहम्मद गोरी ने अजमेर में अपनी बेगम के आग्रह पर एक दिगम्बर जैन साधु, सम्भवतया वसन्तकीर्ति को राजदरबार में बुलाकर सम्मानित किया था और गुलाम सुल्तान गयासुद्दीन बलबन के समय में १२७२ ई. में योगिनीपुर (दिल्ली) में ही एक अग्रवाल (अग्रोतक) परम श्रावक ने, जो जिनेन्द्र के चरण-कमलों का भक्त था, कुन्दकुन्दाचार्यकृत 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ की प्रति लिखायी थी।

बीसलसाहु—पट्टणनिवासी छंगे साहु के पौत्र और गुणवान् खेलासाहु के पुत्र थे। यह योगिनीपुर (दिल्ली) के धनी श्रावक थे। इनकी पत्नी का नाम बीरो था। बीसल साहू ने कण्ह के पुत्र ठक्कुर पण्डित उपनाम गन्धर्व-कवि से, जो इन्हीं के आश्रय में रहते थे, पुष्पदन्त विरचित 'यशोधरचरित' सुनाने के लिए कहा, और उसे सुनकर यह इच्छा प्रकट की कि उसमें राजा और कौल का प्रसंग, यशोधर का आश्चर्यजनक विवाह और भवान्तर भी रचकर सम्मिलित कर दिये जायें तो वह चरित्र पूर्ण हो जाय। कवि ने उन्ही के घर सुख से सुस्थितिपूर्वक रहते हुए वि. सं. १३६५ (सन् १३०८ ई.) में प्रथम वैशाख की शुक्ल ३ (अक्षयतृतीया) सोमवार के दिन वे तीन प्रकरण रचकर पूर्ण किये और साहू की इच्छापूर्ति की थी। उस समय सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी का शासन था।

सेठ पूरणचन्द—अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल (१२९६-१३१६ ई.) में राजधानी दिल्ली के नगरसेठ पूरणचन्द थे जो जाति के अग्रवाल वैश्य और धर्म से दिगम्बर जैन थे। अपनी समाज में भी तथा सुल्तान के दरबार में भी उनका सम्माननीय एवं प्रतिष्ठित स्थान था। 'सुकृतसागर' नामक ग्रन्थ में उनके लिए 'अलाउद्दीन शाखनि मान्य' पद का प्रयोग किया है। राघो (माधो) और चेतन नामक दो नास्तिक दरबारियों की प्रेरणा पर सुल्तान ने दिल्ली के जैनों से कहा कि अपने धर्म की परीक्षा दें। उनके नेता पूरणचन्द ने कुछ व्यक्तियों को तत्कालीन भट्टारक माधवसेन के पास भेजा, जो उस समय दक्षिणापथ में निवास कर रहे थे। दिल्ली के जैनों की प्रार्थना पर आचार्य दिल्ली आये और अपनी विद्वत्ता, शास्त्रार्थ तथा चमत्कारों द्वारा सुलतान और उसके दरबारियों को प्रभावित किया। उन्होंने दिल्ली में अपने काष्ठासंघ-माथुरगच्छ-पुष्करगण की गद्दी भी स्थापित कर दी, जो तब से लेकर गत शताब्दी के प्रायः अन्त तक बनी रही। आचार्य माधवसेन ने सुलतान से कई फ़रमान भी प्राप्त किये थे। इसी समय के लगभग नन्दिसंघ के आचार्य प्रभाचन्द्र ने भी दिल्ली में अपना पट्ट स्थापित किया था।

सुल्तान का फ़रमान और सहायता प्राप्त करके सेठ पूरणचन्द दिल्ली और आसपास के जैनों का एक बड़ा संघ गिरनार-तीर्थ की यात्रा के लिए ले गये थे। उसी समय गुजरात के प्रसिद्ध श्वेताम्बर सेठ पेथडशाह भी ससंघ गिरनार की वन्दना के लिए पहुँचे। पहले कौन से आम्नायवाले वन्दना करें, इस प्रश्न को लेकर कुछ विवाद हुआ, किन्तु दोनों नेताओं एवं अन्य वृद्धजनों की बुद्धिमत्ता एवं सौजन्य से दोनों दलों ने सद्भावपूर्वक एक साथ तीर्थ-वन्दना की।

पेथडशाह—तत्कालीन गुजरात के एक धनी मानी ठसे थे। वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे। सरकारी फ़रमान लेकर उन्होंने गिरनार तथा शत्रुंजय आदि अन्य तीर्थों की ससंघ यात्राएँ की थी। रत्नमण्डनगणिकृत 'सुकृतसागर' अन्तर्गत 'पेथडशाह-तीर्थयात्रा-द्वय-प्रबन्ध' में इस श्रावक सेठ की तीर्थ-यात्राओं का वर्णन है।

अलाउद्दीन खिलजी ने भड़ौच के दिगम्बर मुनि श्रुतवीरस्वामी का तथा श्वेताम्बर यति रामचन्द्रसूरि और जिनचन्द्रसूरि का सम्मान किया बताया जाता है। उसके उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन मुबारकशाह खिलजी (१३१६-२० ई.) को जैनाचार्य जिनप्रभसूरि ने प्रभावित किया बताया जाता है।

सेठ दिवराय—दिल्ली के श्वेताम्बर सेठ दिवराय (देवराज) ने इसी समय के लगभग राजाज्ञा लेकर ससंघ शत्रुंजय की यात्रा की थी और धर्मप्रभावना के कार्य किये थे।

ठक्कुर फेरु—दिल्ली के खिलजी सुल्तानों के शासनकाल में ठक्कुर फेरु नाम के एक जैन शाही रत्नपरीक्षक और सरकारी टकसाल के अध्यक्ष थे। साथ ही वह बड़े विद्वान् और वैज्ञानिक लेखक भी थे। उन्होंने १२९० ई. में 'युगप्रधान-चौपाई,' १३१५ ई. में 'रत्नपरीक्षा,' 'द्रव्य-धातु-उत्पत्ति,' 'वास्तुसार-प्रकरण' और 'जोईसार' नामक ग्रन्थों की रचना की थी और उसके उपरान्त भी कई अन्य ग्रन्थ रचे थे।

सूर और वीर—प्राग्वाटकुल में उत्पन्न यह दो जैन भ्राता थे जो बड़े सुकृती, दानी और यशस्वी थे। ये मण्डपदुर्ग (माँडू) के निवासी थे। सुल्तान गयासुद्दीन तुगलुक (१३२०-२५ ई.) ने इन दोनों भाइयों को प्रतिष्ठित सरदार बनाकर अपने मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित किया था। कहीं-कहीं वीर के स्थान में नानक लिखा है।

श्रावक रथपति—श्रीमाल जातीय सेठ हस के पुत्र, दिल्ली निवासी धनी एवं धर्मात्मा श्रावक थे। इन्होंने १३२३ ई. में गयासुद्दीन तुगलुक से शाही फ़रमान प्राप्त करके ससंघ तीर्थ-यात्रा की थी, जिसे पूरा करके ५ मास बाद वह दिल्ली लौटे थे।

पाटन के सेठ समराशाह—पाटन गुजरात के ओसवाल जैन सेठ समरशाह (समराशाह या समरसिंह) उस काल के धनी, प्रभावशाली एवं राज्यमान्य श्रावक थे। खिलजी सुल्तानों के शासनकाल में ही उन्होंने शत्रुंजय तीर्थ का जीर्णोद्धार कराया था और उनके प्रान्तीय सूबेदार अलपखाँ की आज्ञा प्राप्त करके एक यात्रा संघ भी निकाला था, जिसकी रक्षार्थ उनकी प्रार्थना पर सूबेदार ने १० मीर (सैनिक जमादार) उनके साथ

कर दिये थे। सुल्तान गयासुद्दीन तुगलुक सेठ समरशाह को पुत्रवत् मानता था और राज्यकार्य से उसने उन्हें तेलिंगाना भेजा था। उसका उत्तराधिकारी मुहम्मद तुगलुक (१३२५-५१ ई.) भी उन्हें भाई-जैसा मानता था, और उसने उन्हें तेलिंगाने का शासक नियुक्त किया था।

साहू वाधू—दिल्ली के एक प्रतिष्ठित जैन सेठ थे। जब मुहम्मद तुगलुक ने १३२७ ई. में दिल्ली का परित्याग करके देवगिरि (दौलताबाद) को राजधानी बनाया तो दिल्ली उजाड़ हो गयी। उस समय साहू वाधू भी दिल्ली छोड़कर दफराबाद में आ बसे, जहाँ उन्होंने अनेक शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ करायीं और 'श्रुतपंचमी-कथा' (भविष्यदत्तकथा) स्वयं लिखी और या किसी विद्वान् से लिखायी थी।

साहू महीपाल—दिल्ली के अग्रवालवंशी जैन थे, जिनके पुत्रों ने १३३४ ई. में महाकवि पुष्पदन्त के 'उत्तरपुराण' की प्रति लिखवायी थी।

साहू सागिया—मूलतः पाटननिवासी अग्रवाल जैन था और दिल्ली में आकर बस गया था। वह और उसका परिवार सम्पन्न होने के साथ ही साथ बड़ा धार्मिक था। राजधानी तुग़लकाबाद (दिल्ली) के शाही क़िले के क्षेत्र में ही दरबार-चैत्यालय नाम का एक जैन-मन्दिर विद्यमान था, जिसके निकट ही साहू सागिया के पुत्र-पौत्रादिक रहते थे। इससे विदित होता है कि. यह परिवार प्रतिष्ठित और राज्यमान्य था। इन लोगों ने १३४२ ई. में उक्त चैत्यालय में एक महान् पूजोत्सव किया था। उक्त अवसर पर शास्त्रदान के रूप में अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ भी करायी गयी थीं, जिनका लेखक (लिपिकार) गन्धर्व का पुत्र पण्डित बाहड था। इस परिवार के गुरु काष्ठासंघी आचार्य नयसेन के शिष्य भट्टारक दुर्लभसेन थे, जिनका सुलतान भी आदर करता था। यह गुरु सम्भवतया उक्त दरबार-चैत्यालय में ही विराजते थे। साहु सागिया और उनके पुत्रों ने विशेषकर पाँच ग्रन्थ सकल संघ के समक्ष विराजमान किये थे।

सुल्तान मुहम्मद बिन तुग़लुक (१३२५-५१ ई.) एक विवादास्पद विचित्र चरित्रवाला निरंकुश किन्तु उदार और विद्याप्रेमी नरेश था। दिल्ली के सुलतानों में उसका राज्य सर्वाधिक विस्तृत और शक्तिशाली था, किन्तु उसके सनकी स्वभाव, विचित्र योजनाओं एवं अभियानों के कारण उसके मरते ही सल्तनत का द्रुतवेग से पतन होने लगा और एक-एक करके सभी प्रान्तीय सूबेदार स्वतन्त्र हो गये। तथापि उस युग की दृष्टि से धार्मिक सहिष्णुता भी उसमें अन्य सुल्तानों की अपेक्षा अधिक थी। अपने शासन के प्रथम वर्ष में ही उसने राज्य के जैनों (सयूरगान या सराओगान, अर्थात् श्रावकों) के हितार्थ एक फ़रमान जारी किया था। प्रायः तभी नन्दिसंघ के भट्टारक रत्नकीर्ति के पट्ट पर भट्टारक प्रभाचन्द्र का भारी महोत्सव के साथ पट्टाभिषेक हुआ था और वह दिल्ली पट्टाधीश कहलाये थे, जैसा कि उनके शिष्य कवि धनपाल द्वारा रचित 'बाहुबलिचरित' के उल्लेखों से प्रकट है। उसी में यह भी लिखा है कि इन मुनिराज ने

वादियों का मान भंजन करके उक्त मुहम्मदशाह का चित्त अनुरंजित किया था। 'विविध-तीर्थकल्प' के रचयिता जिनप्रभसूरि का भी, जिसने उक्त ग्रन्थ दिल्ली में ही १३३४ ई. में पूर्ण किया था, सुलतान ने सम्मान किया था और उन्हें कई फरमान दिये थे जिनके आधार पर उक्त आचार्य ने हस्तिनापुर, मथुरा आदि अनेक तीर्थों की संघ सहित यात्राएँ की थीं और अनेक धर्मोत्सव किये थे। राजदरबार में उन्होंने वादियों के साथ शास्त्रार्थ भी किये बताये जाते हैं। उनके शिष्य जिनदेवसूरि बहुत समय तक राजधानी में रहे और सुलतान द्वारा सम्मानित हुए थे। यति महेन्द्रसूरि का भी सुलतान ने सम्मान किया था। जिनदेवसूरि के कहने से सुल्तान ने कन्नाननगर की महावीर-प्रतिमा दिल्ली में मँगायी जो कुछ दिन तुगलकाबाद के शाही खजाने में भी रही, तदनन्तर उपयुक्त देवालय में विराजमान कर दी गयी। एक पोषधशाला भी उस समय दिल्ली में स्थापित हुई थी। सुल्तान की माँ मख्दूमेजहाँ बेगम भी जैन गुरुओं का आदर करती थी। सुल्तान का कृपापात्र धराधर नामक ज्योतिषी भी सम्भवतया जैन था।

इस सुल्तान का उत्तराधिकारी उसका चचेरा भाई फ़ीरोजशाह तुगलुक (१३५१-८८ ई.) हुआ। भट्टारक प्रभाचन्द्र को, जो दिगम्बर मुनि थे, इस सुल्तान ने अपने महल में आमन्त्रित किया था। कहा जाता है कि इस अवसर पर उन्हें वस्त्र धारण करने पड़े थे। सुल्तान और बेगमों को दर्शन एवं उपदेश देकर मुनि जब स्वस्थान पर लौटे तो पुनः वस्त्र उतार दिये और उक्त असत्कर्म के लिए प्रायश्चित्त लिया। तथापि उत्तर भारत में तभी से वस्त्रधारी भट्टारक प्रथा का प्रारम्भ हुआ कहा जाता है। सुकवि रत्नशेखरसूरि का भी इस सुलतान ने सम्मान किया बताया जाता है। मेरठ और टोपरा से यह सुलतान अशोक-स्तम्भों को उखड़वाकर दिल्ली में ले आया था। उनपर अंकित लेखों को पढ़वाने के लिए उसने जिन विद्वानों को बुलाया था, उनमें ब्राह्मण पण्डितों के अतिरिक्त जैन (सयूरगान) विद्वान् भी थे। उसके समय में दिल्ली में 'भगवती-आराधना-पंजिका', 'बृहद्-द्रव्यसंग्रह' आदि कई जैन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ बनी थीं। तुगलुक-वंश का अन्त १४१४ ई. में हुआ और तदनन्तर १४५० ई. तक चार सैयद सुलतानों ने दिल्ली पर क्रमशः राज्य किया।

साहू हेमराज—हिसार निवासी अग्रवाल जैन साहु हेमराज दिल्ली के सुलतान सैयद मुबारकशाह के, जो सैयद खिज्रखाँ के उपरान्त १४२१ ई. में गद्दी पर बैठा था, राजमन्त्री थे और काष्ठासंघी भट्टारक यशःकीर्ति के गृहस्थ-शिष्य थे। इन्होंने एक भव्य चैत्यालय का निर्माण कराया था, हस्तिनापुर तीर्थ की यात्रा के लिए एक संघ चलाया था और स्वगुरु यशःकीर्ति से 'पाण्डवपुराण' की रचना १४४० ई. में करायी थी। हेमराज के पितामह का नाम जालपुसाहु, पितामही का निउजी, पिता का वील्हासाहु और माता का धेनाही था। पल्हण, सारंग, कउला और वसण उनके चार भाई थे। पल्हण का पुत्र गोल्हण था। हेमराज की पत्नी का नाम देवराजी था और डूंगर, उधरण तथा हंसराज नाम के तीन पुत्र थे। सारा परिवार जिनभक्त और धार्मिक था। जिनधर्म का दिन प्रति

दिन ह्रास होता जा रहा है, यह देखकर गुणवान् मन्त्रीप्रवर हेमराज बड़े चिन्तित रहते थे और इसलिए धर्म के हित में किये जानेवाले कार्यों में आलस्य नहीं करते थे। उनके गुरु भट्टारक यशःकीर्ति तथा इनके ज्येष्ठ भाई (सधर्मा) एवं गुरु मुनि गुणकीर्ति स्वयं विद्वान् और संयमी सन्त थे। उन्होंने स्थान-स्थान में भ्रमण करके जन-सामान्य को धर्म का उपदेश दिया, अनेक ग्रन्थ रचे, पुराने ग्रन्थों की लिपियाँ करायीं और श्रावकों का स्थिरीकरण किया। डूंगर पण्डित, सुरजन पण्डित, पण्डितवर रइधू आदि विद्वानों और साहु हेमराज-जैसे अनेक धर्मात्मा एवं धनी श्रावकों का उन्हें सहयोग प्राप्त था।

दिउढासाहु—योगिनीपुर (दिल्ली) में भव्यजनों के मन को हरनेवाले, अग्रवाल-कुल-कमल-दिनेश, गर्गगोत्रीय दिउचन्द (देवचन्द्र) साहु निवास करते थे। अपने दानगुण के लिए प्रसिद्ध, सत्य और शील की आधार बालुहि नाम की उनकी भार्या थी। उनके चार पुत्रों में ज्येष्ठ यह संघही दिउढासाहु थे। अन्य तीन भाई डूमाहि, आसराउ और चोखा साहु थे। दिवचन्द के भाई अग्गलदेव के पुत्र मोल्हण, लखमण और गोविन्द थे और गोविन्द का पितृभक्त पुत्र जिनदास था। दिउढासाहु की पुल्हाही और लाडो नाम की दो पत्नियाँ थीं। लाडो से उनका पुत्र गुणवान् वीरदास था, जिसका पुत्र उदयचन्द था। इस प्रकार यह भरापुरा सम्पन्न एवं जिनभक्त परिवार था। संघही दिउढासाहु ही उस समय परिवार के मुखिया थे। वह पंचपरमेष्ठि के आराधक, जिनेन्द्र की त्रिकाल पूजा करनेवाले, रत्नत्रय के अर्चक, पंचेन्द्रियों को वश में रखनेवाले, पंच-मिथ्यात्व से दूर रहनेवाले, चतुर्विधसंघ को दान देने में तत्पर और चतुरानुयोग के शास्त्रों के पठन-श्रवण में रुचि रखनेवाले धर्मात्मा श्रावक थे। सेठ सुदर्शन के साथ उनकी तुलना की जाती थी। उन्होंने अपने कुलगुरु विद्वान् मुनिराज यशःकीर्ति से भाषा में 'हरिवंशपुराण' की रचना करायी थी और मुनि ने १४४३ ई. में इन्द्रपुर (सम्भवतया अलवर जिले में तिजारा के निकट स्थित) में, जहाँ नवाब जलालखाँ का शासन था, उसे पूर्ण किया था। जलालखाँ सैयद सुलतानों के अधीन सम्भवतया मेवात का अर्धस्वतन्त्र शासक था।

साहु थील्हा—भायाणदेश (भद्रानक, बयाना) के श्रीपथनगर (बयाना) के अग्रवालवंशी धर्मात्मा श्रावक सेठ थे। उस समय वहाँ औहदीवंशी नवाब दाऊदखाँ का शासन था। साहु थील्हा के पिता सेठ लखमदेव की वाल्हाही और महादेवी नाम की दो पत्नियाँ थीं। प्रथम से खिउसी एवं होलू नाम के दो पुत्र थे और दूसरी से देवसी, थील्हा, मल्लिदास और कुन्थदास नाम के चार पुत्र थे। यह पूरा परिवार धनी और धर्मात्मा था। साहु थील्हा इनमें प्रमुख थे। वह राज्यमान्य, उदार, दानी और विद्या-रसिक थे। उनकी दो पत्नियाँ थीं और तिहुणपाल एवं रणमल नाम के दो पुत्र थे। साहु थील्हा ने मीतलगोत्रीय अग्रवाल जैन संघाधिप सीता के सुपुत्र सुकवि पण्डित तेजपाल से प्रार्थना करके उनसे अपभ्रंश भाषा के 'सम्भवनाथ-चरित' की रचना करायी थी। इन्हीं तेजपाल ने इसी श्रीपथनगर के निवासी खण्डेलवाल साहु जाल्हु के पौत्र और

धर्मानुरक्त दयावन्त सूजा साहु के ज्येष्ठ पुत्र रणमल तथा उसके पुत्र ताल्हु की प्रार्थना पर १४५० ई. में अपने 'वरांगचरित' की रचना की थी।

गढ़ासाव—दिल्ली के प्रथम लोदी सुल्तान बहलोल (१४५१-८८ ई.) के एक उच्चपदस्थ राजकर्मचारी थे। यह मध्यप्रदेश में सागर ज़िले के निवासी थे और सम्भवतया क्षेत्रीय शासन में किसी पद पर थे। उनके सुपुत्र तारणस्वामी प्रसिद्ध जैन सन्त हुए, जिन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध किया और अपना तारण-पन्थ चलाया। इस पन्थ के अनुयायी समैया जैनी कहलाते हैं और आज भी मध्यप्रदेश के सागर आदि कई ज़िलों में पाये जाते हैं।

दीवान दीपग एवं संघाधिप कुलिचन्द्र—सुलतान बहलोल के राज्य में पाणीपथदुर्ग (पानीपत) में मीतलगोत्री अग्रवाल साहु चौधरी लौंग थे जो देश-विदेश में दीवान दीपग के नाम से विख्यात थे और चतुर्विधदानदायक थे। उनके पाँच में से तीसरे पुत्र संघाधिप कुलिचन्द्र थे। यह परिवार बहुत बड़ा था, सम्पन्न, राजमान्य और देवशास्त्रगुरु का भक्त था। काष्ठासंघी गुणभद्र उसके आम्नाय-गुरु थे। क्षुल्लिका जिनमती की प्रेरणा से १४८५ ई. में कुलिचन्द्र के भाई इन्द्रराज के पुत्र वरम्भदास ने 'ज्ञानार्णव' की प्रति लिखायी थी। अन्य धर्म-कार्य भी किये गये।

चौधरी देवराज—सुल्तान सिकन्दर लोदी के समय में सिंघल-गोत्री अग्रवाल जैन चौधरी चीमा थे, जो व्यापारियों में प्रमुख थे, राजमान्य थे, देवशास्त्र-गुरुभक्त थे और दुखी जनों का पोषण करनेवाले गुणनिधान थे। कर्णाटक के जैन गुरु विशालकीर्ति ऐसे ही धर्मात्मा श्रावकों के प्रयास से इस सुल्तान द्वारा सम्मानित हुए थे। चौधरी चीमा के पुत्र करमचन्द, अरहदास और चौधरी महण (महणचन्द) थे। महणचन्द की पत्नी खेमाही से प्रस्तुत चौधरी देवराज का जन्म हुआ था, जो जिनधर्म-धुरन्धर, धर्म-निधि, धनकनकंचन-सम्पन्न, अनेक सद्‌गुणों से युक्त थे और प्रबुद्ध थे। इनकी प्रेरणा से पं. माणिक्यराज ने 'अमरसेनमुनि-चरित्र' की रचना की थी, जिसे उन्होंने १५१९ ई. में पूर्ण किया था।

चौधरी टोडरमल्ल—जैसवाल इक्ष्वाकुवंशी चौधरी जगसी के सुपुत्र इन राय-रंजन चौधरी टोडरमल्ल की प्रेरणा से कवि माणिक्यराज ने १५२२ ई. में अपभ्रंश भाषा के अपने 'नागकुमारचरित्र' की रचना की थी। कवि स्वयं जायसवाल कुल में उत्पन्न बुध सूरा और उनकी भार्या दीपा के सुपुत्र थे।

संघाधिप साधारण—दिल्लीनिवासी गर्गगोत्री अग्रवाल साहु भीमराज थे जिन्होंने हस्तिनापुर आदि तीर्थों के लिए संघ चलाया था अतः संघाधिप कहलाते थे। उनके पंचमेरु के समान पाँच सुपुत्र थे, जिनमें से दूसरे पुत्र ज्ञानचन्द्र थे। इनकी भार्या का नाम शिवराजी था। इन्हीं के सुपुत्र महाभव्य संघाधिप साधारण साहू थे जो कुशल व्यापारी और अति धनवान् होने के साथ-साथ भारी विद्वान् और तीर्थभक्त भी थे। उन्होंने हस्तिनापुर, सम्मेदशिखर, पावापुर, शत्रुंजय आदि तीर्थों की ससंघ यात्रा की

थी। उनकी प्रेरणा से इल्लेराज के पुत्र कवि महिन्दु (महाचन्द) ने शाह बाबर के शासनकाल में दिल्ली में ही, १५३० ई. में, 'शान्तिनाथचरित्र' (अपभ्रंश) की रचना की थी। साहु साधारण ने एक जिनालय का भी निर्माण कराया था।

१५३४ ई. में हुमायूँ के भाई और लाहौर के सूबेदार कामरान ने भावदेवसूरि की सहायता की थी।

वैद्यराज रेखा पण्डित—रणस्तम्भ दुर्ग (रणथम्भौर) के निकटस्थ नवलक्षपुर (नालछा) के निवासी एक प्रसिद्ध जैन वैद्यवंश में उत्पन्न हुए थे। इनके पूर्वज हरिपति पण्डित को पद्मावतीदेवी सिद्ध थी और वह फ़ीरोजशाह तुग़लुक द्वारा सम्मानित हुए थे। उनके सुपुत्र वैद्यराज पदमा पण्डित ने साकुम्भरी नगर में एक सुन्दर जिनालय बनवाया था, जिनेन्द्र-पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा की थी और मालवा के सुलतान गयासुद्दीन से बहुत मान्यता प्राप्त की थी। उनके सुपुत्र प्रसिद्ध वैद्यराट् बिंझ दानपूजा में अद्वितीय, सर्वविद्याविदाम्बर थे और उन्होंने मालवा के सुल्तान नसीरुद्दीन से प्रभूत उत्कर्ष प्राप्त किया था। उनके भाई सुहजन विवेकवान्, सर्वजनोपकारी, जिनधर्माचारी और वादिगजेन्द्रसिंह थे। बिंझ के पुत्र सद्वैद्यशिरोमणि धर्मदास थे जिन्हें पद्मावतीदेवी सिद्ध थी और मालवा के सुल्तान महमूदशाह ने बहुमानता प्रदान की थी। उनकी भार्या देवादिपूजारता, दीनोपकारता, सम्यग्दृष्टियुक्ता, सौभाग्यादिगुणान्विता धर्मश्री थी। इनके सुपुत्र वरगुणनिलय, विविधजननुत, धैर्यमेरु, बुद्धिसिन्धु, प्रतापी, प्रसिद्ध वैद्याधीश रेखापण्डित थे। शेरशाहसूरी के रणथम्भौर आक्रमण के समय (१५४३ ई. मे) रेखापण्डित ने इस सुलतान की गम्भीर रोग से सफल चिकित्सा करके उससे बड़ा सम्मान प्राप्त किया था। रेखापण्डित की भार्या ऋषिश्री से उसके जिनदास नाम का पण्डित एवं धर्मात्मा पुत्र हुआ था। जिनदास की पत्नी जवणादे से उसका पुत्र नारायणदास हुआ जो अपने पितामह (रेखापण्डित) की आँखों का तारा था। जिनदास ने १५५१ ई. में नालछा के निकटस्थ सेरपुरे के शान्तिनाथ-चैत्यालय में, जो उसके द्वारा ही प्रतिष्ठापित था, संस्कृत भाषा के 'होली-रेणुका-चरित्र' की रचना की थी, वह मुनि ललितकीर्ति का शिष्य था। इस समय सलीमशाहसूरी का शासनकाल था। इसी सुल्तान के शासनकाल मे दिल्ली मे पुष्पदन्तकृत (अपभ्रंश) 'आदिपुराण' की अत्यन्त सुन्दर सचित्र प्रति बनी थी जिसमें ५३५ चित्र हैं और उनमे से अधिकांश स्वर्णांकित है। सलीमशाहसूरी के समय में अन्य अनेक जैन ग्रन्थ-प्रतियाँ दिल्ली एवं अन्यत्र लिखी-लिखायी गयीं।

मालवा के सुलतान

मालवा की स्वतन्त्र मुसलमानी सल्तनत १३८७ ई. से १५६४ ई. तक रही। इसकी राजधानी माण्डू थी। इस सुलतानों के शासनकाल में कई प्रसिद्ध राजमान्य जैन परिवार हुए हैं, जिनमें से नालछा के वैद्यराज रेखा पण्डित के उक्त सुलतानों द्वारा

सम्मानित पूर्वजों का उल्लेख रेखा पण्डित के परिचय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

संघपति होलिचन्द्र—त्रिभुवनपाल और अम्बिका का सुपुत्र संघेश्वर साहु होलिचन्द्र बड़ा धन-वैभव सम्पन्न, प्रतापी, उदार, दानशील, गुणवान् और धर्मात्मा सज्जन था। उसने कई जिनमन्दिरों का निर्माण कराया था और धर्मोत्सव किये थे। मूलसंघान्तर्गत नन्दिसंघ-शारदागच्छ-बलात्कारगण के भट्टारक पद्मनन्दि के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र का वह भक्त शिष्य था। मण्डपपुर (माण्डू) के सुलतान आलमशाह (अलपखां) उपनाम होशंग गोरी के शासनकाल में, १४२४ ई. में इस संघाधिप होलिसाहु ने देवगढ़ में स्वगुरु के उपदेश से मुनि वसन्तकीर्ति तथा पद्मनन्दि की और कई तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं। इस कार्य में स्वयं उसके पुत्र-पौत्रादि, साहु वेहा के वंशज, गर्गगोत्री अग्रवाल साहु क्षीमा के पुत्र वील्हा और हरु के पुत्र तल्हण आदि अन्य श्रावकों का भी सहयोग था। मालवा में इस काल में दिगम्बर आम्नाय के नन्दि, काष्ठा और सेनसंघों के पृथक्-पृथक् पट्ट विद्यमान थे। देवगढ़ में १४३६ ई. में भी एक प्रतिष्ठा हुई थी और १४५९ ई. में बम्बगज में मण्डलाचार्य रत्नकीर्ति ने बृहत्पार्श्व-जिनालय का जीर्णोद्धार कराकर उसमें दस बसतिकाएँ कई धर्मात्मा श्रावकों के सहयोग से स्थापित की थीं।

मन्त्रीश्वर मण्डन—मालवा के राजमन्त्रियों के प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न हुआ था। उसका पितामह संघपति झम्पण पाटन के प्रसिद्ध सेठ पेथडशाह का सम्बन्धी था और १४वीं शती के मध्य के लगभग मालवा के सूबेदारों का राजमन्त्री था। वह सोमेश्वर चौहान के मन्त्री, जालौर के सोनगरागोत्री श्रीमाल आभू का वंशज था। उसके पुत्र बाहड और पद्म मालवा के अन्तिम सूबेदार और प्रथम सुलतान दिलावरखाँ उपनाम शिहाबुद्दीन गोरी (१३८७-१४०५ ई.) के मन्त्री थे। बाहड का पुत्र यह मन्त्रीश्वर मण्डन सुल्तान होशंगशाह गोरी (१४०५-३२ ई.) का महाप्रधान था। वह बड़ा शासन-कुशल, राजनीतिज्ञ, महान् विद्वान् और साहित्यकार था। इस सर्वविद्याविशारद, महामन्त्री ने 'काव्यमण्डन', 'शृंगारमण्डन', 'संगीतमण्डन', 'सारस्वतमण्डन' आदि विविधविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की थी। मण्डन के चचेरे भाई संघपति धनदराज ने १४३४ ई. में 'शतकत्रय' की रचना की थी। सम्भवतया मण्डन के वंश का ही मेघ सुल्तान गयासुद्दीन का मन्त्री था और उसे 'मफरल-मलिक' उपाधि प्राप्त थी। मण्डन का भतीजा पुजराज भी उच्च पद पर आसीन था और 'हिन्दुआ-राय-वजीर' कहलाता था। उसने १५०० ई. में 'सारस्वत-प्रक्रिया' नामक व्याकरण की टीका रची थी और यति ईश्वरसूरि से 'ललितांगचरित' की रचना करायी थी। इसी सुलतान गयासुद्दीन के शासन में जेरहट नगर के नेमिनाथ-जिनालय में भट्टारक श्रुतकीर्ति ने, १४९५ ई. में 'हरिवंशपुराण' की और १५९९ ई में, उसी स्थान में संघपति जयसिंह, शंकर और नेमिदास की प्रेरणा में 'परिमेष्ठि-प्रकाशसार' की रचना की थी, जिसमें सुल्तान के पुत्र शाहनसीर, प्रधान मन्त्री पुंजराज और गजपाल ईश्वरदास का भी उल्लेख

है। इन्हीं सब धर्म-प्रेमी सज्जनों का उल्लेख आचार्य श्रुतकीर्ति ने उसी स्थान में १४९५ ई. में रचित अपने 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रन्थ में भी किया है।

संग्रामसिंह सोनी—सम्भवतया सोनीगोत्री खण्डेलवाल धर्मात्मा सेठ थे। इन्होंने १४६१ ई. में उज्जैन के निकट मक्सी में भगवान् पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया था जो मक्सी-पार्श्वनाथ-तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

गुजरात के सुलतान—गुजरात में उस काल में भी अनेक लक्षाधीश एवं कोट्यधीश जैन व्यापारी और सेठ थे। अनेक जैन बस्तियाँ, मन्दिर और तीर्थस्थान थे। श्वेताम्बर सम्प्रदाय का वहाँ प्राधान्य था, किन्तु दिगम्बर लाटबागड़-संघ का भी काफ़ी प्रभाव था और सूरत, सोजित्रा, भड़ौच, ईडर आदि स्थानों मे नन्दिसंघ आदि के दिगम्बरी भट्टारकों की गद्दियाँ भी स्थापित हो चुकी थी। अनेक महत्त्वपूर्ण जैनग्रन्थों की, विशेषकर श्वेताम्बर विद्वानों द्वारा वहाँ रचना हुई। कई स्थानों में ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करने का कार्य भी बड़े पैमाने पर होता था। इसी काल मे अहमदाबाद के लोंकाशाह (१४२०-७६ ई.) नामक एक सुधारक ने लुंकामत या लोंकागच्छ की स्थापना की थी जो आगे चलकर जैनों का श्वेताम्बर-स्थानकवासी सम्प्रदाय कहलाया, जो मात्र साधुमार्गी था और मन्दिरों एवं मूर्तियों का विरोध करता था।

संघवी मण्डलिक—ऊकेशवंशीय दरडागोत्रीय ओसवाल शाह आशा और उसकी भार्या सौखू के पुत्र संघवी मण्डलिक ने १४५८ ई. में आबू के पार्श्वनाथ-मन्दिर में अम्बिका की मूर्ति और पार्श्वनाथ की चार प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करायी थी। हीराई और रोहिणी उसकी पत्नियाँ थीं, साजन पुत्र था और जिनचन्द्रसूरि उसके गुरु थे।

संघवी सहसा—पोरवाल जातीय संघवी कुँवरपाल का पौत्र और संघवी सालिक का पुत्र था। इसने अचलगढ़ में, राजा जगमाल के राज्य में, १५०९ ई. में, चतुर्मुख मन्दिर का निर्माण कराके आदिनाथ की पित्तलमय प्रतिमाएँ तपगच्छी मुनि जयकल्याणसूरि से प्रतिष्ठित करायी थीं।

इस काल में पाटन, अहमदाबाद, माण्डू आदि के अनेक ओसवाल श्रावकों ने आबू, अचलगढ़, देलवाड़ा आदि स्थानों में भिन्न-भिन्न समयों पर सैकड़ों प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं, यात्रा संघ भी चलाये थे।

महासार-नरेश राजनाथदेव

इस राजा के राज्य एवं प्रश्रय में महासारनगर (बिहार प्रान्त के आरा नगर के निकटस्थ मसाढ़ या मसार) में १३८६ ई. की ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी गुरुवार के दिन काष्ठासंघी मुनि कमलकीर्ति ने एक जिनमन्दिर और आदिनाथ, नेमिनाथ आदि कई तीर्थंकर-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की थी। यह प्रतिष्ठा जैसवालवंशी रंगाचार्य (सारंग ?) के पुत्र लवमदेव ने करायी थी।

चन्द्रवाड के चौहान नरेश और उनके जैन मन्त्री

आगरा नगर के पूर्व-दक्षिण और ग्वालियर राज्य के उत्तर में, यमुना और चम्बल के मध्यवर्ती प्रदेश में असाईखेड़ा के भरों का राज्य था, जो जैनधर्म के अनुयायी थे। उनके पतन के उपरान्त इस प्रदेश में चन्द्रपाल चौहान ने अपना राज्य जमाया और चन्द्रवाड़ (चन्द्रपाठ) को, जिसके भग्नावशेष आगरा ज़िले में फ़ीरोज़ाबाद के निकट पाये जाते हैं, अपनी राजधानी बनाया। उसके अतिरिक्त इस चौहान राज्य में रायबड्डिय, रपरी, हथिकन्त, शौरिपुर, आगरा आदि कई अन्य नगर या दुर्ग थे। कालान्तर में अटेर, हथिकन्त और शौरिपुर में जैन भट्टारकों की गद्दियाँ भी स्थापित हो गयीं। चन्द्रपाल स्वयं जैनी था और उसका दीवान रामसिंह हारुल भी जैनी था। चन्द्रपाल के उत्तराधिकारी भरतपाल का नगरसेठ हल्लण नामक जैन था। तदनन्तर अभयपाल और उसके उत्तराधिकारी जाहड के शासनकालों में उक्त हल्लण का पुत्र अमृतपाल राज्य का प्रधानमन्त्री था, जो जिनभक्त, सप्तव्यसनविरत, दयालु और परोपकारी था। तदनन्तर अमृतपाल का पुत्र साहु सोढू मन्त्री हुआ जो जाहड और उसके पुत्र बल्लाल के समय में उस पद पर रहा। बल्लाल के उत्तराधिकारी आहवमल्ल (लगभग १२५७ ई.) के समय में सोढू का ज्येष्ठ पुत्र रत्नपाल (रल्हण) राज्य का नगरसेठ था और उसका अनुज कृष्णादित्य (कण्ह) प्रधानमन्त्री एवं सेनापति था। दिल्ली के ग़ुलाम सुलतानों के विरुद्ध इस जैन वीर ने कई सफल युद्ध किये थे। उसने अनेक जिनमन्दिरों का भी निर्माण कराया था और त्रिभुवनगिरि निवासी जैसवाल वंशी कवि लक्ष्मण (लाखू) से अपभ्रंश भाषा में 'अणुव्रतरत्नप्रदीप' नामक धर्मग्रन्थ की रचना १२५६ ई. में करायी थी। कवि ने इस धर्मप्राण वीर राजमन्त्री के सद्गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। कृष्णादित्य का भतीजा शिवदेव भी श्रेष्ठ विद्वान् एवं कलामर्मज्ञ था और अपने पिता रत्नपाल के पश्चात् राज्यसेठ बना था। कई पीढ़ी पर्यन्त राज्यमान्य बना रहनेवाला यह सम्पन्न सेठों और कुशल राजमन्त्रियों का पूरा परिवार धर्मधुरन्धर और अपने चौहान राज्य का स्तम्भ था। इस समय तक सम्भवतया रायबद्दिय प्रमुख राजधानी रही और चन्द्रवाड उपराजधानी, तदनन्तर चन्द्रवाड ही मुख्य राजधानी हो गयी। कहा जाता है इस नगर (चन्द्रवाड) मे ५१ जैन प्रतिष्ठाएँ हुई थी। तदुपरान्त राजा सम्भरिराय का मन्त्री यदुवंशी-जैसवाल जैन साहु जसधर या जसरथ (दशरथ) था और राजा सारंगदेव के समय में दशरथ का पुत्र गोकर्ण (कर्णदेव), जिसने 'सूपकार-सार' नामक पाकशास्त्र की रचना की थी, मन्त्री रहा। गोकर्ण का पुत्र सोमदेव राजा अभयचन्द (अभयपाल द्वितीय) और उसके ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी जयचन्द के समय में राजमन्त्री रहा। इसी काल में, १३८१ (या १३७१) ई. में चन्द्रपाठ-दुर्गनिवासी महाराजपुत्र रावत गको के पौत्र और रावत होतमी के पुत्र कुन्नीददेव ने अपनी पत्नी भट्टो तथा पुत्र साधुसिंह सहित काष्ठासंघी अनन्तकीर्तिदेव से एक जिनालय प्रतिष्ठा करायी थी। जयचन्द्र के पश्चात् उसका अनुज रामचन्द्र राजा हुआ और उसके

प्रधान मन्त्री उपरोक्त मन्त्री सोमदेव के पुत्र साहु वासाधर थे। उनके छह अन्य भाई थे। मन्त्रीश्वर वासाधर सम्यक्त्वी, जिनचरणों के भक्त, देवपूजादि-षट्कर्मों में प्रवीण, अष्टमूलगुणों के पालन में तत्पर, मिथ्यात्वरहित, विशुद्धचित्तवाले, बहुलोक-मित्र, दयालु, परोपकारी, उदारदानी, अत्यन्त धनी और राजनीति-चतुर थे। चन्दवाड में उन्होंने एक विशाल सुन्दर जिनमन्दिर भी बनवाया था और कई का जीर्णोद्धार कराया था। उनकी भार्या उदयश्री पतिव्रता, सुशीला और चतुर्विधसंघ के लिए कल्पद्रुम थी। इनके जसपाल, रत्नपाल, पुण्यपाल, चन्द्रपाल आदि आठ पुत्र थे जो अपने पिता के समान ही योग्य, चतुर और धर्मात्मा थे। साहु वासाधर ने १३९७ ई. में गुजरात देश के पल्हणपुर-निवासी कवि धनपाल से, जो भट्टारक प्रभाचन्द्र के भक्त-शिष्य थे और उन्ही के साथ तीर्थयात्रा करते हुए चन्द्रवाड आ पहुँचे थे, अपभ्रंश भाषा के 'बाहुबलिचरित्र' की रचना करायी थी और दिल्ली पट्टाचार्य पद्मनन्दि (उक्त प्रभाचन्द्र के पट्टधर) से संस्कृत भाषा के 'श्रावकाचारसारोद्धार' नामक ग्रन्थ की रचना करायी थी। इस ग्रन्थ में वासाधर को लम्बकंचुक (लमेचू) वंश में उत्पन्न हुआ लिखा है, सम्भव है कि प्रारम्भिक जैसवालों की ही एक शाखा इस नाम से प्रसिद्ध हुई हो। इसी काल में चन्द्रवाड में एक अन्य प्रभावशाली धनकुबेर सेठ कुन्थुदास थे जो पद्मावती-पुरवाल ज्ञातीय थे। इन्होंने रामचन्द्र और उनके पुत्र रुद्रप्रताप के समय में अपनी अपार सम्पत्ति से राज्य की आड़े वक़्त में प्रशंसनीय सहायता की थी। उन्होंने चन्द्रवाड में एक भव्य जिनालय निर्माण करा के उसमें हीरा, पन्ना, माणिक्य, स्फटिक आदि की अनेकों बहुमूल्य प्रतिमाएँ भी प्रतिष्ठित करायी थीं। अपभ्रंश भाषा के ग्वालियर निवासी महाकवि रइधू के प्रशंसकों एवं प्रश्रयदाताओं में उनकी गणना है। कवि ने उनके लिए 'पुण्यास्रवकथा' और 'त्रेसठ-महापुरुष-गुणालंकार' (महापुराण) नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की थी। राजा रुद्रप्रताप द्वारा सम्मानित चन्द्रवाड के एक अन्य धर्मात्मा जैन सेठ साहु तोसउ के ज्येष्ठ पुत्र साहु नेमिदास थे। उन्होंने धातु, स्फटिक और मूँगे (विद्रुम) की अनगिनत प्रतिमाएँ बनवाकर प्रतिष्ठित करायी थीं।

इटावा ज़िले के करहल नगर में भी एक चौहान सामन्त राजा भोजराज का राज्य था, जिसके मन्त्री यदुवंशी अमरसिंह जैनधर्म के सम्पालक थे। उन्होंने १४१४ ई. में वहाँ रत्नमयी जिनबिम्ब निर्माण कराके महत् प्रतिष्ठोत्सव किया था। अमरसिंह की पत्नी कमलश्री और नन्दन, सोणिग एवं लोणा नामके तीन सुपुत्र तथा चार भाई थे जो सभी धर्मात्मा थे। इनमें से लोणा साहू विशेष रूप से अपने धन का जिनयात्रा, प्रतिष्ठा, विधान-उद्यापन आदि प्रशस्त कार्यों में सदुपयोग करते थे। वह 'मल्लिनाथ-चरित्र' के कर्ता जयमित्रहल्ल के प्रशंसक थे और १४२२ ई. में उन्होंने कवि असवाल से अपने भाई सोणिग के लिए, भोजराज के पुत्र संसारचन्द (पृथ्वीसिंह) के शासनकाल में, 'पार्श्वनाथचरित' की रचना करायी थी।

ग्वालियर के तोमर नरेश

फीरोज तुगलुक के शासन के अन्तिम वर्षों में उद्धरणदेव तोमर ने ग्वालियर पर अधिकार करके अपना राज्य स्थापित किया था। उसके प्रतापी पुत्र वीरमदेव या वीरसिंह तोमर (१३९५-१४२२ ई.) ने राज्य को सुसंगठित करके स्वतन्त्र और शक्तिशाली बनाया। तदनन्तर गणपतिदेव (१४२२-२४ ई.), डूंगरसिंह (१४२४-६० ई.), कीर्तिसिंह या करणसिंह (१४६०-७८ ई.), मानसिंह (१४७९-१५१८ ई.) और विक्रमादित्य नामक राजा क्रमशः हुए। ये राजे धार्मिक, उदार, सहिष्णु और साहित्य एवं कला के प्रेमी थे। ग्वालियर प्रदेश में कच्छपघात राजाओं के समय से ही जैनधर्म का प्राधान्य चला आता था। बीच के अन्तराल में मुसलमानी शासनकाल अन्धकार और अशान्ति का युग था। तोमर राज्य की स्थापना के साथ पुनः पूर्ववत् स्थिति हो गयी। ग्वालियर नगर में काष्ठासंघ के दिगम्बर भट्टारकों का प्रधान पट्ट इस काल में रहा और वहाँ के अधिकांश श्रावक उसी आम्नाय के थे। यों नन्दिसंघ का भी एक पट्ट वहाँ स्थापित हुआ था। उपरोक्त पट्टों से सम्बन्धित जैन मुनियों ने राज्य के सांस्कृतिक उत्कर्ष साधन में प्रभूत योग दिया। इनमें से यशःकीर्ति प्रभृति कई मुनि तो भारी विद्वान् और साहित्यकार थे और महाकवि रइधू, पद्मनाभ कायस्थ, जयमित्रहल्ल इत्यादि कई जैन गृहस्थ विद्वान् तथा सुकवि भी हुए। कुशराज-जैसे राजमन्त्री और पद्मसिंह खेला, कमलसिंह आदि अनेक धनाढ्य धर्मात्मा सेठ हुए। राज्य में अनेक पुराने जिनमन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ और कितने ही नवीन निर्मित हुए। अनेक पुरातन एवं नवीन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ भी बड़ी संख्या में करायी गयी।

मन्त्रीश्वर कुशराज—जैसवाल-कुलभूषण जैन धर्मानुयायी थे और ग्वालियर के तोमर नरेश वीरमदेव के महामात्य थे तथा उसकी राजनीतिक सफलता एवं शक्ति के प्रमुख साधक थे। वह साहु भुल्लण और उदितादेवी के पौत्र तथा सेठ जैनपाल और उनकी भार्या लोणादेव के सुपुत्र थे। हंसराज, सैराज, रैराज और भवराज नामके चार बड़े भाई और हंसराज नाम का एक छोटा भाई था। मन्त्रीराज कुशराज को रल्हो, लक्षणश्री और कौशोरा नामक तीन पत्नियाँ थीं जो सती-साध्वी, गुणवती, जिनपूजा-नुरक्त धर्मात्मा महिलाएँ थी। रल्हो से कुशराज के कल्याणसिंह नाम का अत्यन्त रूपवान्, दानशील और जिनगुरु-चरणाराधना में सदैव तत्पर सुपुत्र था। कुशराज ने ग्वालियर में चन्द्रप्रभ-जिनेन्द्र का भव्य एवं विशाल जिनालय बनवाया था और उसका प्रतिष्ठा-महोत्सव बड़े समारोह के साथ सम्पन्न किया था। संस्कृत भाषा के विद्वान् सुकवि, जैन धर्मानुयायी पद्मनाभ कायस्थ से इन मन्त्रीवर ने 'यशोधरचरित्र' अपरनाम 'दयासुन्दर-विधान' नामक सुन्दर काव्य की रचना करायी थी, जिसे कवि ने ग्वालियर के तत्कालीन भट्टारक गुणकीर्ति के उपदेश से पूर्वसूत्रानुसार रचा था। उक्त काव्य की सन्तोष जैसवाल, विजयसिंह, पृथ्वीराज आदि साहित्य-रसिकों ने प्रशंसा की थी। महाराज वीरमदेव के समय में ही, १४१० ई. में ग्वालियर के निकट चैतनाथ में एक जिनमन्दिर-प्रतिष्ठा हुई थी।

महाराज डूँगरसिंह-कीर्तिसिंह—ग्वालियर के क़िले के भीतर दीवारों पर उत्कीर्ण विशालकाय जिन-प्रतिमाओं के निर्माण का श्रेय इन्हीं दोनों तोमर नरेशों को है। इनमें से आदिनाथ की प्रतिमा तो 'बावनगजा' कहलाती है और लगभग ५० फुट ऊँची है। यह निर्माणकार्य महाराज डूंगरसिंह के समय में प्रारम्भ हुआ था और उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी महाराज कीर्तिसिंह के समय में पूरा हुआ। लगभग ३३ वर्ष इन मूर्तियों के निर्माण में लगे, इसी से उक्त दोनों नरेशों का जैनधर्म के प्रति अनुराग स्पष्ट है। डूंगरसिंह के शासनकाल में अन्य अनेक जिनबिम्ब-प्रतिष्ठाएँ हुई थीं, जिनमें से १४४० और १४५३ ई. के तो कई अभिलेख भी उपलब्ध हैं। इस नरेशों के शासनकाल में ग्वालियर जैनविद्या का प्रसिद्ध केन्द्र हो रहा था, अनेक ग्रन्थ रचे गये—अनेकों की प्रतिलिपियाँ हुईं। महाराज डूँगरसिंह की पट्टरानी चाँदा भी बड़ी धर्मात्मा और जिनभक्त थी और पुत्र कीर्तिसिंह भी।

संघपति काला—मुद्‍गलगोत्री अग्रवाल जैन साहु आत्मा का पुत्र साहु भोपा था, जिसकी भार्या नाम्हो थी और पाँच पुत्र क्षेमसी, महाराजा, असराज, धनपाल और पाल्का नाम के थे। क्षेमसी की भार्या नीरादेवी थी तथा दो पुत्र काला (कौल) और भोजराज थे। काला की प्रथम पत्नी सरस्वती से उसका पुत्र मल्लिदास और दूसरी पत्नी साध्वीसरा से पुत्र चन्द्रपाल था। भोजराज का पुत्र पूर्णपाल था। अपने इन समस्त परिजनों के साथ संघाधिपति साहु काला ने गोपाचलदुर्ग (ग्वालियर) में महा-राजाधिराज डूँगरसिंह के राज्य में १४४० ई. में स्वगुरु भट्टारक यशःकीर्तिदेव के उपदेश से भगवान् आदिनाथ का मन्दिर निर्माण कराके प्रतिष्ठाचार्य पण्डित रइधू से उसकी प्रतिष्ठा करायी थी।

श्रीचन्द-हरिचन्द—गर्गगोत्री अग्रवाल साहु श्रीचन्द, उसके भाई हरिचन्द, पुत्र शेषा तथा अन्य परिजनों ने भट्टारक विमलकीर्ति के उपदेश से गोपगिरि (ग्वालियर) के राजा डूँगरेन्द्रदेव (डूँगरसिंह) के राज्य में १४५३ ई. की माघ शुक्ल अष्टमी के दिन श्री महावीर-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी।

साहु लापू—उसी नरेश के राज्य में १४५३ ई. की माघ शुक्ल दशमी रविवार के दिन (पूर्वोक्त प्रतिष्ठा से दो दिन पश्चात् ही), खण्डेलवाल जातीय बाकलीवालगोत्री सेठ लापू ने अपने पुत्रों साल्हा और पाल्हा तथा अपनी भार्या लक्ष्मिण और पुत्रवधुओं सुहागिनी एवं गौरी सहित अनेक जिन-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करायी थी। उनमें की विभिन्न तीर्थंकरों की ११ लेखांकित श्वेत संगमरमर की अखण्डित मनोज्ञ प्रतिमाएँ १९०३ ई. में टोंक (राजस्थान) के नवाब के महल के पास खुदाई में अकस्मात् प्राप्त हुई थीं। उनपर महाराज डूँगरदेव का नाम भी अंकित है और काष्ठासंघी हेमकीर्तिदेव के शिष्य विमलकीर्तिदेव का भी, जिनके उपदेश से सम्भवतया वह प्रतिष्ठा हुई थी।

महापण्डित रइधू—इस काल के सर्वमहान् साहित्यकार, महान् शास्त्रज्ञ, प्रतिष्ठाचार्य, अपभ्रंश के सुकवि और लगभग ३० ग्रन्थों के रचयिता रइधू थे जो

पद्मावती-पुरवाल संघाधिप देवराज के पौत्र और बुधजनकुल-आनन्दन संघवी हरिसिंहके सुपुत्र थे तथा ग्वालियर-पट्ट के काष्ठासंघी भट्टारकों की आम्नाय के पण्डित थे। भट्टारक गुणकीर्ति, यशःकीर्ति, मलयकीर्ति आदि उनका बड़ा मान करते थे। श्रीपाल ब्रह्मचारी रइधू के गुरु थे। रइधू का रचनाकाल लगभग १४२३-१४५८ ई. महाराज डूंगरसिंह के प्रायः पूरे शासनकाल को व्याप्त करता है। इन पण्डितप्रवर के प्रश्रयदाता एवं प्रशंसक धनी श्रावकों में ग्वालियर व आसपास प्रदेश के सट्टलसाहु, मुल्लणसाहु, अग्रवालवंशी हरसीसाह और उनके पुत्र करमसिंह, एडिलगोत्री अग्रवाल महाभव्य खेमसीसाहु, राजा द्वारा सम्मानित अग्रवालवंशी बाहडसाहु, हिसार निवासी गोयलगोत्री अग्रवाल साहु जाल्हे के पुत्र सहजपाल, कुमारपाल आदि संघपति काला (कौल), चन्द्रवाड के राज्यसेठ कुन्थुदास इत्यादि थे, जिनकी प्रेरणा पर कवि ने विभिन्न ग्रन्थों की रचना की तथा प्रतिष्ठाएँ आदि करायी थीं।

ब्रह्मखेल्हा—अग्रवाल-वंशावतंस, संसार-देह-भोगों से उदासीन, धर्मध्यान से सन्तृप्त, शास्त्रों के अर्थरूपी रत्नसमूह से भूषित, यशःकीर्ति गुरु के विनत शिष्य ब्रह्मचारी प्रतिमाधारी खेल्हा श्रावक ने ग्वालियर में डूँगरसिंह के समय में ही तीर्थंकर चन्द्रप्रभु की एक विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी।

साहु कमलसिंह—साहु खेमसिंह के पुत्र थे। इन्होंने दुर्गति की नाशक, मिथ्यात्वरूपी गिरीन्द्र को नष्ट करने के लिए वज्र के समान और रोग-शोक आदि दुखों की विनाशक भगवन्त आदिनाथ की ग्यारह हाथ ऊँची विशाल प्रतिमा इसी काल में ग्वालियर में प्रतिष्ठित करवायी थी।

साहु पद्मसिंह—ग्वालियर के तोमर नरेश कीर्तिसिंह के समय में काष्ठासंघी भट्टारक यशःकीर्ति के प्रशिष्य और मलयकीर्ति के शिष्य भट्टारक गुणभद्र की आम्नाय के भक्त जैसवालकुलभूषण उल्लासाहु की द्वितीय पत्नी भावश्री से उत्पन्न उसके चार पुत्रों में ज्येष्ठ, यह उदार, दानी, धर्मात्मा धनकुबेर पद्मसिंह थे। उनकी पत्नी का नाम वीरा था और बालू, डालू, दीवड़ एवं मदनपाल नाम के चार पुत्र थे जो चारों विवाहित थे और उनके पुत्रादि थे। इस भरेपुरे परिवार के मुखिया सेठ पद्मसिंह ने लक्ष्मी के बिजली-जैसे चंचल स्वभाव का चिन्तवन कर उसका सदुपयोग करने का संकल्प किया। अतएव उस देव-शास्त्र-गुरु-भक्त धर्मात्मा ने चौबीस जिनालयों का निर्माण कराया और विभिन्न ग्रन्थों की कुल मिलाकर एक लाख प्रतियाँ लिखवायीं तथा अन्य धर्मकार्य किये थे।

राजस्थान-मेवाड़ राज्य

राजस्थान में कई छोटे-छोटे रजवाड़े यत्र-तत्र थे, किन्तु वे अत्यन्त गौण थे। प्रमुख राज्य मेवाड़ के राणाओं का ही था। दसवीं शती के राजा शक्तिसिंह की दसवीं पीढ़ी में विजयसिंह (११०८-१६ ई.) एक प्रसिद्ध राजा था। उसके पुत्र अरिसिंह का प्रपौत्र रणसिंह (कर्ण) था जिसके पुत्र क्षेमसिंह के वंशज रावल कहलाते थे और मूल

राजधानी नागहृद (नागदा) से राज्य करते थे। रणसिंह के एक अन्य पुत्र राहप के वंशजों ने सिसौद में राज्य किया और राणा कहलाये। क्षेमसिंह का पुत्र रावल सामन्तसिंह पृथ्वीराज चौहान और मुहम्मद गोरी का समकालीन था। तदनन्तर जैत्रसिंह या जैतल (१२१३-५२ ई.) ने चित्तौड़ पर अधिकार करके उसे अपनी राजधानी बनाया। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी तेजसिंह १२६० ई० के लगभग मेवाड़ का शासक था, जिसकी रानी जयतल्लदेवी थी।

रानी जयतल्लदेवी और वीरकेसरी समरसिंह—राणा तेजसिंह की पट्टरानी जयतल्लदेवी परम जिनभक्त थी। उसने चित्तौड़ दुर्ग के भीतर, १२६५ ई. के लगभग, श्याम-पार्श्वनाथ का सुन्दर जिनालय बनवाया था तथा कई अन्य मन्दिर, मूर्तियाँ आदि भी प्रतिष्ठित करायी थीं। उसके मातृभक्त, धर्मात्मा पुत्र वीरकेसरी रावल समरसिंह ने आँचलगच्छ के मुनि अमितसिंहसूरि के उपदेश से अपने राज्य में जीवहिंसा बन्द करा दी थी।

साह रत्नसिंह—चित्तौड़ दुर्ग के शृंगार-चवरी नामक मन्दिर के निकट प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार वहाँ १२७७ ई. की अक्षयतृतीया के दिन साह प्रह्लादन के पुत्र साह रत्नसिंह ने शान्तिनाथ-चैत्यालय का निर्माण कराया था, जिसमें साह समधा के पुत्र साह महण की भार्या सोहिणी की पुत्री कुमरल नाम्नी श्राविका ने अपने मातामह की स्मृति में एक देवकुलिका स्थापित की थी।

रणथम्भौर का राणा हम्मीरदेव—पृथ्वीराज चौहान का वंशज वीर शिरोमणि यह राणा नन्दिसंघ के भट्टारक धर्मचन्द्र का भक्त था। अलाउद्दीन खिलजी के भीषण आक्रमणों का उसने डटकर मुक़ाबला किया था, अन्त में स्वराज्य की रक्षा में लड़ते-लड़ते ही उसने वीरगति पायी थी। जैन विद्वानों द्वारा रचित 'हम्मीरमहाकाव्य' एवं 'हम्मीर-रासो'-जैसे काव्यग्रन्थों का वह नायक है।

चित्तौड़ में उस काल में राणा भीमसिंह का शासन था जिसकी विश्वप्रसिद्ध अनिन्द्य सुन्दरी रानी पद्मिनी के रूप से लुब्ध अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर भयंकर आक्रमण किया था। असंख्य राजपूत मारे गये और रानी पद्मिनी के साथ सहस्रों स्त्रियाँ जीवित चिता में भस्म हो गयीं। तदनन्तर सीसोदिया शाखा के राणा हम्मीर ने १३२५ ई. के लगभग चित्तौड़ पर पुनः अधिकार किया और राज्य का अभूतपूर्व उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ।

महान् धर्मप्रभावक साह जीजा—१४वीं शती ई. के उत्तरार्ध में मेदपाट देश (मेवाड़) के चित्रकूट-नगर (चित्तौड़) में उस प्रदेश के इस अभूतपूर्व जिनधर्म प्रभावक, खड़वालगोत्री साह जीजा बघेरवाल ने भगवान् आदिनाथ का वह अद्वितीय कीर्तिस्तम्भ (जयस्तम्भ) निर्माण कराया था जो वर्तमान पर्यन्त उस उदार धर्मात्मा सेठ की कीर्ति का स्मारक बना हुआ है। यह उत्तुंग, विशाल एवं अत्यन्त कलापूर्ण मानस्तम्भ पाषाण निर्मित सतखना है। उसके भीतर ऊपरी खनों पर चढ़ने के लिए ६७ सीढ़ियाँ

बनी हैं। शीर्ष-स्थान पर चार तोरण-द्वारों से युक्त वेदिका है जिसमें प्रतिमा सर्वतोभद्रिका स्थापित थी। ऊपर छत और शिखर है। स्तम्भ की बाहरी दीवारें कलापूर्ण मूर्तांकनों एवं पद्मासन, खड्गासन जिनमूर्तियों से पूरित हैं। साहु जीजा के प्रपौत्र के एक अभिलेख (१४८४ ई.) में लिखा है कि उस महान् निर्माता ने यह निर्माण कार्य 'निजभुजोपार्जित-वित्त-बलेन'—स्वयं अपने हाथ से कमाये हुए द्रव्य से सम्पादित किया था। इतना ही नहीं, उस महानुभाव ने १०८ उत्तुंग, शिखरबद्ध जिनमन्दिरों का और इतने ही जिनबिम्बों का उद्धार किया था, १०८ श्री जिन-महाप्रतिष्ठाएँ करायी थीं, १८ स्थानों में अष्टादशकोटि श्रुतभण्डार स्थापित किये थे और सवा लाख राजबन्दियों को मुक्त कराया था। उपरोक्त स्तम्भ जिस चन्द्रप्रभ-जिनेन्द्र-चैत्यालय के निकट बनवाया गया था, वह भी सम्भवतया साहु जीजा का ही बनवाया हुआ था। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वह कीर्तिस्तम्भ और भी पूर्वकाल का बना हुआ है—साहु जीजा ने उसका जीर्णोद्धार कराया था। यदि कोई पुरातन स्तम्भ वहाँ रहा भी होगा तो वह मुसलमानों (अलाउद्दीन खिलजी) के आक्रमणों और शासन के समय प्रायः पूर्णतया ध्वस्त हो गया होगा। अपने वर्तमान रूप में यह महान् स्तम्भ साहु जीजा की कृति है। इसी से प्रेरणा लेकर उसके लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् राणा कुम्भा ने चित्तौड़ में अपना जयस्तम्भ बनवाया था। इसी साहु जीजा बघेरवाल के प्रपौत्र, साहु पुनसिंह के पौत्र और साहु देउ के चार पुत्रों में से ज्येष्ठ साहु लखमण ने स्वगुरु सेनगण के भट्टारक सोमसेन के उपदेश से १४८४ ई. मे वराडदेश के कारंजानगर में सुपार्श्वनाथ-जिनालय बनवाकर उसका प्रतिष्ठोत्सव, महायात्रोत्सव और तीर्थक्षेत्रों की वन्दना की थी।

१५वीं शती के प्रारम्भ मे चित्तौड़ के राणा लाखा के समय में रामदेव नवलखा नामक जैन राज्य का एक मन्त्री था। लाखा के पश्चात् हमीर मोकल और फिर कुम्भ गद्दी पर बैठे। राणा हमीर के समय में उसकी पट्टरानी के जैन कामदार मेहता जालसिंह ने बड़ी उन्नति की थी।

महाराणा कुम्भा—प्रबल प्रतापी नरेश थे। मालवा के सुलतान पर विजय प्राप्त करके उन्होने चित्तौड़ में एक नौ-खना उत्तुग एवं कलापूर्ण जयस्तम्भ बनवाया था। उन्ही के आश्रय मे ओसवाल महाजन गुणराज ने १४३८ ई. में पूर्वोक्त जैन कीर्तिस्तम्भ के निकट स्थित महावीरस्वामी के एक प्राचीन मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था, १४८८ ई. में राणा के कोठारी (कोषाध्यक्ष) साहु वेलाक ने, जो साहु केल्हा का पुत्र था, राजमहल के निकट ही भगवान् शान्तिनाथ का एक छोटा-सा कलापूर्ण जिनालय बनवाया था जो शृंगार-चंवरी के नाम से प्रसिद्ध है, और १४५७ ई में श्री गुहिल पुत्र-विहार-श्री बड़ादेव-आदि जिन-मन्दिर के बायीं ओर स्थित गुफा में आम्रदेव-सूरि के उपदेश से साह सोमा के पुत्र साह हरपाल ने २१ देवियों की मूर्तियाँ स्थापित करायी थीं। स्वयं महाराणा ने मचीन्द-दुर्ग में एक सुन्दर चैत्यालय बनवाया था। राणा के अन्य जैन राजपुरुष वेला भण्डारी, गुणराज आदि थे।

सेठ धन्नाशाह-रत्नाशाह—महाराणा कुम्भा के समय की कला के क्षेत्र की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि राणाकपुर के अद्वितीय जिनमन्दिर हैं। राणा के राज्य में, पाली ज़िले के सादड़ी क़स्बे से ६ मील दक्षिण-पूर्व में, अरावली पर्वतमाला से घिरे राणाकपुर में, मघाई नदी-तीरवर्ती, सुरम्य प्रकृति की गोद में, हरीतिमा के मध्य मुक्ताफल की भाँति दप-दप करता भगवान् ऋषभदेव का यह चौमुखा धवल प्रासाद अत्यन्त मनोरम एवं बेजोड़ है। लगभग ४८००० वर्ग फ़ुट (२०५ × १९८ फ़ुट) क्षेत्र में, ३६ सीढ़ियों से प्राप्त ऊँची कुरसी पर बने इस तिमंजिले निर्दोष श्वेत मरमर से निर्मित जिनभवन में १४४४ स्तम्भ, ४४ मोड़, २४ मण्डप, ५४ देवकुलिकाओं और मनोरम शिखरों से युक्त इस कलाधाम में, शिल्पियों का सुनियोजित हस्तकौशल पग-पग पर दर्शक का मन मोह लेता है। लगभग डेढ़ सहस्र स्तम्भ रहते भी तारीफ़ यह है कि किसी ओर और कहीं से भी मूलनायक के दर्शन में ये स्तम्भ बाधक नहीं होते। बेल-बूटे, पच्चीकारी, प्रस्तरांकन, मूर्तांकन, दृश्यांकन सभी अत्यन्त कलापूर्ण एवं दर्शनीय हैं। गोडवाड की पंचतीर्थ में इस कलामर्मज्ञों में प्रशंसित जिनमन्दिर की गणना है, किन्तु उनमें यही सर्वश्रेष्ठ है। इसका निर्माण शिल्पसम्राट् दीपा की देख-रेख में हुआ और पूरा बनने में ६५ वर्ष लगे। इसके स्वनामधन्य निर्माता महाराणा कुम्भा के कृपापात्र सेठ धन्नाशाह पोरवाल थे, जिन्होंने महाराणा से ही १४३३ ई. में इस मन्दिर का शिलान्यास कराया था। राणा ने १२ लाख रुपये अनुदान स्वयं दिया था। निर्माण में सम्पूर्ण व्यय ९० लाख स्वर्ण मुद्राएँ उस काल में हुआ बताया जाता है। सेठ धन्नाशाह और महाराणा कुम्भा के जीवनकाल में वह निर्माण पूरा नहीं हो सका। सेठ के पश्चात् उनके सुयोग्य पुत्र सेठ रतनाशाह ने उसी उत्साह और उदारता के साथ उसे राणा के उत्तराधिकारी राणा रायमल के समय में १४९८ ई. में पूरा करके उसकी ससमारोह प्रतिष्ठा की थी। उनकी यह अनुपम कृति ही उक्त पिता-पुत्र सेठद्वय की महानता की परिचायक और उनकी अमर कीर्ति का सजीव स्मारक है।

राणा रायमल के समय में ही १४८६ ई. में चित्तौड़ दुर्ग के गोमुखतीर्थ के निकट एक जिनमन्दिर का निर्माण हुआ था, जिसमें दक्षिण के कर्णाटक देश से लाकर ऋषभजिन की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गयी बतायी जाती है। प्रतिष्ठापक खरतरगच्छीय आचार्य जिनसमुद्रसूरि थे।

शाह जीवराज पापड़ीवाल—इसी काल में राजस्थान के मुण्डासा नगर के सुप्रसिद्ध धनी सेठ, महान् धर्मप्रभावक एवं अद्भुत बिम्बप्रतिष्ठाकारक शाह जीवराज पापड़ीवाल हुए हैं। वह मुण्डासा के राव शिवसिंह के कृपापात्र राज्यश्रेष्ठि हैं। उन्होंने १४९०, १४९१ और १४९२ ई. में लगातार तथा बाद में भी कई वृहद् जिनबिम्ब-प्रतिष्ठोत्सव किये थे। इनमें से १४९१ ई. (वि. सं. १५४८) की बैसाख शुक्ल ३ (अक्षय तृतीया) का प्रतिष्ठोत्सव तो अभूतपूर्व एवं अपश्चिम था, जिसमें लाखों प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की गयीं। कहा जाता है कि इस प्रतिष्ठा के उपरान्त वह अनगिनत

छकड़ों में प्रतिष्ठित प्रतिमाओं को भरकर संघसहित सम्पूर्ण भारत के जैनतीर्थों को यात्रार्थ निकले थे और मार्ग में पड़नेवाले प्रत्येक जिनमन्दिर में यथावश्यक प्रतिमाएँ पधराते गये थे। जहाँ कोई मन्दिर नहीं था, वहाँ नवीन चैत्यालय स्थापित करते गये। परिणाम यह है कि आज भी उत्तरप्रदेश, पंजाब, हरियाणा, बंगाल, बिहार, बुन्देलखण्ड, मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र एवं कर्णाटक पर्यन्त छोटे-बड़े नगरों एवं ग्रामों के अधिकांश जिनमन्दिरों में एक वा अधिक प्रतिमाएँ वि. सं. १५४८ में शाह जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित पायी जाती हैं। इनमे से अधिकांश प्रतिमाएँ एक से दो फ़ुट ऊँची, पद्मासनस्थ, श्वेत संगमरमर की है, कुछ-एक अन्य कृष्ण, हरित, नील आदि वर्णों की भी हैं। प्रतिष्ठाचार्य शाह जीवराज के गुरु भट्टारक जिनचन्द्र (१४५०-१५१४ ई.) थे जो बड़े विद्वान् एवं प्रभावक आचार्य थे। वह मूलनन्दिसंघ-सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण के दिल्ली पट्टाधीश पद्मनन्दि के प्रशिष्य और शुभचन्द्र के शिष्य थे। स्वयं उनके पट्टधर अभिनवप्रभाचन्द्र थे जिन्हें चित्तौड़ में अपना पट्ट स्थापित किया था। आचार्य जिनचन्द्र को तर्क-व्याकरणादिग्रन्थ-कुशलो मार्गप्रभावक-चरित्रचूडामणि आदि कहा गया है। शाह जीवराज के अतिरिक्त उन्होंने अन्य श्रावको के लिए भी विभिन्न समयों एवं स्थानों में अनेक बिम्बप्रतिष्ठाएँ की थी, 'चतुर्विंशति-जिन-स्तोत्र' की रचना भी उन्होंने की थी। उनके अनेक मुनि और मेधावी पण्डित-जैसे गृहस्थ विद्वान् शिष्य थे। उपरोक्त बृहद् प्रतिष्ठाओं में उनके शिष्यगण भी सहयोगी होते थे। आचार्य जिनचन्द्र और शाह जीवराज के कार्य के महत्त्व का मूल्यांकन करने में यह तथ्य ज्ञातव्य है कि पिछले लगभग ४०० वर्ष से मुसलमान शासकों द्वारा मन्दिरों और देवमूर्तियों की विध्वंसलीला प्रायः अनवरत चलती आयी थी और उस काल में भी चल रही थी।

राणा संग्रामसिंह (साँगा)—मेवाड़ के सुप्रसिद्ध वीर, युद्धविजेता एवं प्रतापी राणा थे। इनके समय में भट्टारक प्रभाचन्द्र (१५१४-२४ ई.) चित्तौड़ में दिल्ली से स्वतन्त्र पट्ट स्थापित किया था। उनके पट्टधर मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र (१५२४-४६ ई.) थे। इन भट्टारकों की प्रेरणा और राणा के प्रश्रय में साहित्य सृजन भी हुआ। लाला वर्णी की प्रेरणा पर कर्णाटक से आये आचार्य नेमिचन्द्र ने चित्तौड़ में जिनदासशाह के पार्श्व-जिनालय मे १५१५ ई. में 'गोमट्टसार' की संस्कृत टीका रची थी। कहा जाता है कि इस राणा ने जैनाचार्य धर्मरत्नसूरि का भी हाथी, घोड़े, सेना और बाजेगाजे के साथ स्वागत-सत्कार किया था और उनके उपदेश से प्रभावित होकर शिकार आदि का त्याग कर दिया था। इन आचार्य का ब्राह्मण विद्वान् पुरुषोत्तम के साथ सात दिन तक राजसभा में शास्त्रार्थ हुआ था। राज्य में अनेक जैन उच्चपदों पर आसीन थे, यथा कुम्भलनेर का दुर्गपाल आशाशाह, रणथम्भौर का दुर्गपाल भारमल कावड़िया, राणा का मित्र तोलाशाह आदि।

तोलाशाह—बप्पभट्टसूरि द्वारा जैनधर्म में दीक्षित ग्वालियर के राजपूत आमराज की वैश्य पत्नी से उत्पन्न पुत्र राजकोठारी (भण्डारी) नाम से प्रसिद्ध हुआ था

और ओसवाल जाति में सम्मिलित हो गया था, ऐसी अनुश्रुति है। उसका एक वंशज सारणदेव था, जिसकी आठवीं पीढ़ी में तोलाशाह हुआ जो राणा साँगा का परम मित्र था। कहा जाता है कि राणा ने उसे अपना अमात्य बनाना चाहा किन्तु उसने मना कर दिया, केवल श्रेष्ठिपद ही स्वीकार किया। वह बड़ा न्यायी, विनयी, ज्ञानी, मानी और धनी था तथा याचकों को हाथी, घोड़े, वस्त्राभूषण आदि प्रदान कर कल्पवृक्ष की भाँति उनका दारिद्र नष्ट कर देता था। जैनधर्म का वह बड़ा अनुरागी था।

कर्माशाह—तोलाशाह का पुत्र कर्माशाह (कर्मसिंह) राणा साँगा के पुत्र एवं उत्तराधिकारी रत्नसिंह का मन्त्री था। एक तत्कालीन शिलालेख में उसे 'श्री रत्नसिंह-राज्ये राज्यव्यापारभार-धौरेय' कहा गया है। मन्त्री होने से पूर्व वह कपड़े का व्यापार करता था। बंगाल, चीन आदि देशों से करोड़ों रुपये का माल उसकी दुकान पर आता-जाता था। इस व्यापार से उसने विपुल द्रव्य कमाया था। गुजरात के सुलतान बहादुरशाह को उसके युवराज्यकाल में कर्माशाह ने एक लाख रुपया बिना शर्त के देकर शाहजादे की आवश्यकता पूरी की थी। अतएव जब वह गुजरात का सुल्तान हुआ तो कर्माशाह की प्रार्थना पर उसने उसे शत्रुंजय तीर्थ का उद्धार करने के लिए सहर्ष फ़रमान प्रदान कर दिया था और मन्त्री कर्माशाह ने विपुल द्रव्य व्यय करके उक्त सिद्धाचल का जीर्णोद्धार किया तथा १५३० ई. की वैशाख कृष्ण ६ के दिन अनेक यतियों एवं श्रावकों की उपस्थिति में समारोहपूर्वक प्रतिष्ठा करायी थी। इस जीर्णोद्धार के हेतु अहमदाबाद से ३ और चित्तौड़ से १९ सूत्रधार (मिस्त्री) बुलाये गये थे। राणा के दरबार में उसके इस प्रधान का अत्यधिक मान था।

आशाशाह और उसकी जननी—मेवाड़ के इतिहास में इन कर्तव्यनिष्ठ एवं स्वामिभक्त माता-पुत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रत्नसिंह की मृत्यु के उपरान्त उसका छोटा भाई विक्रमाजीत गद्दी पर बैठा, किन्तु वह अयोग्य था और उसका छोटा भाई उदयसिंह नन्हा बालक था। अतएव राज्य के सरदारों ने विक्रमाजीत को गद्दी से हटाकर दासीपुत्र बनबीर को राणा बना दिया। वह बड़ा दुराचारी और निर्दयी था। उसने विक्रमाजीत की हत्या कर दी और रात्रि में उदयसिंह की भी हत्या करने के लिए महल में पहुँचा। बालक राणा की परम स्वामिभक्त पन्ना धाय ने अपनी तुरतबुद्धि द्वारा स्वयं अपने पुत्र का बलिदान देकर छल से उदयसिंह की प्राण-रक्षा की और रातोंरात विश्वस्त सेवकों के साथ राजकुमार को लेकर चित्तौड़ से बाहर हो गयी। आश्रय की खोज में राज्य के अनेक सामन्त-सरदारों के पास भटकी, किन्तु अत्याचारी बनबीर के भय से कोई भी तैयार नहीं हुआ। अन्ततः वह कुम्भलमेर पहुँची जहाँ का दुर्गपाल आशाशाह देपरा नामक जैनी था। प्रारम्भ में वह भी बालक राणा को शरण देकर विपत्ति मोल लेने में हिचकिचाया, किन्तु उसकी वीर माता ने कुपित होकर उसे अत्यन्त धिक्कारा और भूखी सिंहनी की भाँति अपने भीरु पुत्र का प्राणान्त करने के लिए झपटी। आशाशाह गद्गद होकर वीर जननी के चरणों में गिर पड़ा और कहा कि "माँ! तुम्हारा

पुत्र होकर भी क्या मैं यह भीरुता कर सकता था ? क्या सिंहनीपुत्र शृगाल के भय से अपने कर्तव्य से विमुख हो सकता है और प्राणों के मोह में पड़कर शरणागत की रक्षा से मुँह मोड़ सकता है ?" वीर माता हर्ष-विभोर हो पुत्र की बलैया लेने लगी, वही माता जो क्षण-भर पूर्व पुत्र को कायर एवं कर्तव्य-विमुख समझ उसके प्राण लेने पर उतारू हो गयी थी। आशाशाह ने कुमार को अपना भतीजा कहकर प्रसिद्ध किया और अथक प्रयास करके कुछ कालोपरान्त अन्य सामन्तों की सहायता से उदयसिंह को चित्तौड़ के सिंहासन पर आसीन कर दिया। इस जैन वीर माता और उसके पुत्र वीर आशाशाह ने राणावंश की इस प्रकार रक्षा करके मेवाड़ राज्य पर प्रशंसनीय उपकार किया था।

दीवान बच्छराज—जालोर के चौहान नरेश युद्धवीर सामन्तसिंह देवड़ा की सन्तति में उत्पन्न मारवाड़ के जेसलजी बोथ्रा का पुत्र बच्छराज बड़ा चतुर, साहसी और महत्त्वाकांक्षी था। कुछ ही समय में वह मण्डौर के राव रिधमल का दीवान बन गया। रिधमल की हत्या कर दिये जाने पर उसने उसके ज्येष्ठ पुत्र राव जोधा को बुलाकर गद्दी पर बैठाया और उसका भी दीवान रहा। जोधा के पुत्र बीका ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया, बीकानेर नगर १४८८ ई. में बसाया और उसे ही अपनी राजधानी बनाया। बच्छराज राव बीका का प्रमुख परामर्शदाता और दीवान था। अपना परिवार भी वह बीकानेर ही ले आया था। उसने बीकानेर के निकट बच्छासर नामका गाँव भी बसाया। वह बड़ा उदार, दयालु और धर्मात्मा था। शत्रुजयतीर्थ की उसने ससंघ यात्रा की थी और जैनधर्म की प्रभावना के अनेक कार्य किये थे। उसने प्रभूत मान, प्रतिष्ठा और दीर्घ आयु प्राप्त की थी। बच्छराज के वंशज ही बच्छावत कहलाये और उसके पुत्र करमसिंह और वरसिंह, पौत्र नगराज, प्रपौत्र संग्राम आदि बीका के उत्तराधिकारियों के दीवान होते रहे। यह पद इस वंश मे मौरूसी-जैसा हो गया था। बच्छराज का पुत्र वरसिंह और पौत्र नगराज भारी योद्धा और कुशल सैन्य-संचालक थे। बीकानेर में बच्छराज ने स्वयं नगर के मुख्य बाजार मे १५०४ ई. में चिन्तामणिजी का मन्दिर बनवाया था जिसमें आदिनाथ-चतुर्विंशति धातु-प्रतिमा मण्डौर से लाकर स्थापित की थी और १५१३ ई. में नेमिनाथ-मन्दिर बनवाया था। सन् १५२१, १५२६ आदि में भी उस नगर मे जिनमन्दिर बने। बच्छराज के पूर्वज सगर, बोहित्थ, श्रीकरण, समधर, तेजपाल, बील्हा, कडुवा और जेसल भी वीर और धर्मप्रेमी थे। उसी प्रकार बच्छराज के वंशज भी धर्मानुरागी थे। कर्मसिंह ने करमीसीसर गाँव बसाया, एक जिनालय बनवाया, यात्रासंघ चलाया और १५२५ ई. के दुर्भिक्ष में तीन लाख व्यय करके नगराज ने सदावर्त बाँटा तथा शत्रुजय का प्रबन्ध अपने हाथ में लिया। उसने चम्पानेर के सुल्तान मुजफ़्फ़र को भी प्रसन्न किया था।

मारवाड़ के मोहनोत, भण्डारी आदि कई प्रसिद्ध जैनवंशों का उदय भी इसी समय के लगभग हुआ और उन्होंने राज्य में प्रतिष्ठित पदों पर कार्य करके उसके उत्कर्ष में भारी योग दिया।

ढुण्ढाहड (जयपुर) प्रदेश में भी जैनधर्म फल-फूल रहा था। मालपुरा के आदिनाथ-मन्दिर में १४५४ ई. को भट्टारक भुवनकीर्ति के उपदेश से हुमडज्ञातीय श्रेष्ठी खेता एवं उसके परिवार द्वारा प्रतिष्ठापित धातु की चौबीसी प्रतिमा है, १४९१ ई. में भट्टारक रत्नकीर्ति के उपदेश से गंगवालगोत्री खण्डेलवाल संघही जालम के द्वारा प्रतिष्ठापित ताँबे का यन्त्र है, १५१२ ई. में भट्टारक धर्मचन्द्र के शिष्य मुनि भुवनभूषण, ब्रह्म घरणा एवं पं. बस्ता द्वारा प्रतिष्ठित तीन धातुमयी चौबीसी प्रतिमाएँ हैं, एक आदिनाथ चौबीसी १४६६ ई. की है, एक श्रेयांस चौबीसी १४९७ की है इत्यादि। इस प्रदेश के अन्य नगरों में भी उस काल की प्रतिमाएँ पायी जाती हैं।

राजस्थान के डूँगरपुर-बाँसवाड़ा, बूँदी, नागौर आदि अन्य क्षेत्रों में भी जैनीजन निवास करते थे।

विजयनगर साम्राज्य

इस भारतगौरव मध्यकालीन हिन्दू साम्राज्य के संस्थापक संगम नामक एक छोटे से यदुवंशी राजपूत सरदार के पाँच वीर पुत्र थे। अन्तिम होयसल नरेश वीर वल्लाल तृतीय की सीमान्त चौकियों के वे रक्षक थे, साथ ही बड़े स्वदेशभक्त, स्वतन्त्रताप्रेमी, वीर, साहसी और महत्त्वाकांक्षी थे। मुसलमानों द्वारा दक्षिण भारत के होयसल, यादव और ककातीय राज्यों का अन्त कर दिये जाने पर ये वीर मुसलमानों को स्वदेश से निकाल बाहर करने के कार्य में जुट गये। अन्ततः वे १३३६ ई. में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफल हुए। तुंगभद्रा नदी के उत्तरी तट पर हम्पी नामक स्थान को उन्होंने अपना केन्द्र बनाया और वहाँ विजयनगर (विद्यानगर या विद्यानगरी अपरनाम हस्तिनापुर) की नींव डाली, जो १३४३ ई. में एक सुन्दर, सुदृढ़ एवं विशाल नगर के रूप में बनकर तैयार हुआ। इस बीच तीन भाइयों की मृत्यु हो चुकी थी और केवल दो—हरिहर और बुक्का बचे थे। अतएव बड़ा भाई हरिहरराय प्रथम (१३४६-६५ ई.) विजयनगर राज्य का प्रथम अभिषिक्त नरेश हुआ। तदनन्तर बुक्काराय प्रथम (१३६५-७७ ई.), हरिहर द्वितीय (१३७७-१४०४ ई.), बुक्काराय द्वितीय (१४०४-१४०६ ई.), देवराय प्रथम (१४०६-१४१० ई.), वीर विजय (१४१०-१९ ई.), देवराय द्वितीय (१४१९-४६ ई.) इम्मडि देवराय (१४४७-६७ ई.), विरूपाक्षराय (१४६७-७७ ई.) और पदियाराय (१४७९-८६ ई.) क्रमशः राजा हुए। तत्पश्चात् वंश परिवर्तन हुआ और नरसिंह सालुव (१४८६-९२ ई.), इम्मडि नरसिंह (१४९२-१५०५ ई.), वीर नरसिंह भुजबल (१५०६-९ ई.) और सुप्रसिद्ध सम्राट् कृष्णदेवराय (१५०९-३० ई.) क्रमशः सिंहासन पर बैठे। तदनन्तर अच्युतराय (१५३०-४२ ई.) और सदाशिवराय (१५४२-७० ई.) राजा हुए। अन्तिम का मन्त्री और राज्य का सर्वेसर्वा रामराजा था। इसी शासनकाल में दक्षिण के मुसलमान सुल्तानों ने संगठित होकर विजयनगर पर भीषण आक्रमण किया और

१५६५ ई. में तालिकोट के ऐतिहासिक युद्ध में विजयी होकर महानगरी विजयनगर को जी भरकर लूटा और पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। विजयनगर के हिन्दू साम्राज्य का अन्त हुआ, यद्यपि रामराजा के भाई तिरुमल ने भागकर पेनुगोंडा में शरण ली और चन्द्रगिरि को राजधानी बनाकर राज्य करने लगा। उसके वंशज वहाँ १७वीं शती के अन्त तक छोटे से राजाओं के रूप में चलते रहे।

विजयनगर के राजाओं का कुलधर्म एवं राज्यधर्म हिन्दू धर्म था। प्रजा का बहुभाग जैन था, उसके पश्चात् श्रीवैष्णव और फिर लिंगायत (वीरशैव) थे, कुछ सद्शैव भी थे। राजा लोग प्रारम्भ से ही सिद्धान्ततः सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु, समदर्शी और उदार थे। जैनधर्म को उनसे प्रभूत संरक्षण एवं पोषण प्राप्त हुआ। कतिपय इतिहासकारों ने विजयनगर राज्य में दक्षिणभुजा और वामभुजा नामक दो जातियों या प्रधान वर्गों का उल्लेख किया है, जिनसे आशय क्रमशः 'भव्य' और 'भक्त' संज्ञाओं से सूचित जैनों और वैष्णवों का है। विजयनगर-नरेश उन्हें अपनी दक्षिण और वाम भुजाएँ समझते और मानते थे। राज्य की अधिकांश जनता और सम्भ्रान्तजन इन्हीं दो समकक्ष तथा प्रायः समसंख्यक वर्गों में बँटे हुए थे। राज्य में दोनों ही धर्मों का समान रूप से मान था। प्रारम्भ में ही हरिहर और बुक्का ने समदर्शिता की जो नीति निर्धारित कर दी थी उसका प्रभाव उनके वंशजों पर भी हुआ और फलस्वरूप इस वंश के कई राजाओं, रानियों, राजकुमारों, सामन्त-सरदारों, राजकर्मचारियों तथा प्रजाजन ने भी जैनधर्म को उन्मुक्त प्रश्रय एवं पोषण प्रदान किया और अनेक जैन राजपुरुषों, मन्त्रियों, सेनापतियों एवं वीर योद्धाओं, श्रेष्ठियों और व्यापारियों, राज्यकर्मचारियों और भव्यों (श्रावकों), साधु-सन्तों और साहित्यकारों ने उक्त राज्य के सर्वतोमुखी उत्कर्ष तथा उसकी शक्ति और समृद्धि के संवर्द्धन में प्रशंसनीय योग दिया। स्वयं राजधानी विजयनगर (हम्पी, प्राचीन पम्पा) के वर्तमान खण्डहरों में वहाँ के जैनमन्दिर ही सर्वप्राचीन हैं। वे नगर के सर्वश्रेष्ठ केन्द्रीय स्थान में स्थित हैं और उनमें से अनेक तो ऐसे हैं जो विजयनगर की स्थापना के पूर्व भी वहाँ विद्यमान थे। कला और शिल्प की दृष्टि से भी विजयनगर के जैनमन्दिर अत्युत्तम हैं। स्वभावतः, मध्यकालीन भारतीय राजनीति की अद्वितीय सृष्टि, विजयनगर-साम्राज्य-युग ने इतिहास को अनेक उल्लेखनीय जैन विभूतियाँ भी प्रदान कीं।

हरिहर प्रथम (१३४६-६५ ई.)—विजयनगर के इस प्रथम नरेश के राज्यकाल में, १३५३ ई., में रामचन्द्रमलधारि के गृहस्थ-शिष्य नालप्रभु गोपगौड के पुत्र कामगौड और उसकी पत्नी ने हिरेआवलि में पंचनमस्कार-महोत्सव किया था। इस लेख में राजा का उल्लेख महामण्डलेश्वर हरियप्प-ओडेयर नाम से किया था। एक अन्य लेख के अनुसार इस महामण्डलेश्वर, शत्रुराजाओं के नाशक, हिन्दुव-राय-सुरत्ताल (सुल्तान) वीर-हरियप्प-ओडेयर के राज्य में, १३५४ ई. में नालप्रभु कामगौड के पौत्र और सिरियमगौड के सुपुत्र मालगौड ने संन्यास-विधि से मरण किया था और उसकी

भार्या बेसके ने भी सहगमन किया था। हेमचन्द्र भट्टारक के शिष्य तेलुग आदिदेव और ललितकीर्ति भट्टारक ने १३५५ में कनकगिरि पर विजयदेव की प्रतिमा स्थापित की थी। इसी वर्ष भोगराज नामक एक प्रतिष्ठित राजपुरुष ने रायदुर्ग में अनन्त-जिनालय की स्थापना करके अपने गुरु नन्दिसंघ-सरस्वतीगच्छ-बलात्कारगण के मुनि अमरकीर्ति के शिष्य माघनन्दिसिद्धान्त को समर्पित कर दिया था। इसी नरेश के शासन-काल में १३६२ ई. में जब संगमेश्वर-कुमार वीरबुक्कमहाराय के अधीन राजकुमार विरूपाक्ष-ओडेयर मलेराज्य-प्रान्त का शासक था और अपनी प्रान्तीय राजधानी अरग में निवास करता था तो हेद्दूरनाड में स्थित तडताल के प्राचीन पार्श्व-जिनालय की सीमा को लेकर जैनों और वैष्णवों में विवाद हुआ। अपने सभाभवन में उक्त राजकुमार ने महाप्रधान नागन्न, प्रान्त प्रमुख सामन्त-सरदारों, जन-नेताओं और जैन एवं वैष्णव मुखियाओं के समक्ष सर्वसम्मति से जैनों के पक्ष को न्यायपूर्ण घोषित किया, प्राचीन शासनों में जो सीमाएँ निर्धारित की गयी थीं वे ही मान्य की गयीं और एक शिलालेख में अंकित करा दी गयीं। हरिहर का अनुज बुक्काराय इस समय संयुक्त शासक या वायसराय का कार्य कर रहा था और विरूपाक्ष सम्भवतया हरिहर का पुत्र था। हरिहर के अन्तिम वर्ष १३६५ ई. में कम्पा के जैन गुरु मल्लिनाथ को दान दिया गया था। इस काल के प्रमुख जैन विद्वान् वादी सिंहकीर्ति, 'धर्मनाथपुराण' के कर्ता उभयभाषा-चक्रवर्ती बाहुबलिपण्डित, 'गोमट्टसारवृत्ति' के रचयिता केशववर्णी, 'खगेन्द्रमणिदर्पण' के प्रणेता मंगरस और भट्टारक धर्मभूषण थे।

बुक्काराय प्रथम (१३६५-७७ ई.)—हरिहर प्रथम का अनुज एवं उत्तरा-धिकारी था। उसके सम्मुख १३६८ ई. में एक जटिल अन्तः-साम्प्रदायिक समस्या उपस्थित हुई। राज्य के समस्त नाडुओं (जिलों) के भव्यों (जैनों) ने उनके प्रति भक्तों (वैष्णवों) द्वारा किये गये अन्यायों का प्रतिकार कराने के लिए महाराज बुक्काराय की सेवा में एक आवेदन-पत्र दिया। महाराज ने अठारहों नाडुओं के भक्तों, उनके आचार्यों, गुरुओं, पुरोहितों और मुखियाओं को तथा अपने प्रमुख सामन्तों आदि को एकत्र करके जैनियों का हाथ वैष्णवों के हाथ में दिया और घोषणा की कि हमारे राज्य में जैनदर्शन और वैष्णवदर्शन के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं है। जैनदर्शन पूर्ववत् पंचमहाशब्द और कलश का अधिकारी है और रहेगा। अपने द्वारा जैनदर्शन की हानि या वृद्धि करना वैष्णवजन अपने ही धर्म की हानि या वृद्धि समझें। जैन और वैष्णव एक हैं, उनके बीच कोई अन्तर करना ही नहीं चाहिए। श्रवण-बेलगोल-तीर्थ की रक्षार्थ वैष्णवजन अपनी ओर से २० वैष्णव रक्षक नियुक्त करेंगे। राज्य के जैनी इसी कार्य के लिए एक 'हण' (सिक्का विशेष) प्रति घर के हिसाब से प्रदान करेंगे। रक्षकों के वेतन से अतिरिक्त द्रव्य का उपयोग जैन-मन्दिरों की लिपाई-पुताई, मरम्मत आदि में किया जायेगा। तातय्य नामक एक अधिकारी को इस द्रव्य के एकत्रित करने और तदनुसार व्यय करने का भार सौंपा गया। महाराज ने आज्ञा प्रचारित की कि

जो कोई व्यक्ति उपरोक्त शासन की अवज्ञा करेगा वह राजद्रोही, संघद्रोही और समुदाय-द्रोही समझा जायेगा और दण्ड का भागी होगा। जैन और वैष्णव दोनों समुदायों ने मिलकर जैन सेठ बुसुविसेट्टि को अपना सामूहिक संघनायक बनाया। उपरोक्त राजाज्ञा को राज्य की समस्त बस्तियों में अंकित करा दिया गया। बुक्काराय का यह ऐतिहासिक निर्णय उसके उत्तराधिकारियों की धार्मिक नीति का आधार बना। दोनों ही धर्मों के अनुयायियों को राज्य का संरक्षण और धर्मस्वातन्त्र्य समान रूप से प्राप्त हुआ, साथ ही उनमें परस्पर सद्भाव उत्पन्न किया गया। इसी राजा के समय में १३६७ ई. में श्रुतमुनि के शिष्य और आदिदेव के गुरु देशीगण के देवचन्द्रव्रतिप ने कुप्पटूर में एक जिनालय का पुनरुद्धार कराया था तथा स्वर्गगमन किया था, और वारिसेनदेव के गृहस्थ-शिष्य मसणगौड के पुत्र गोरवगौड ने समाधिमरण किया था। सन् १३६७ ई मे माणिकदेव ने अपने गुरु मेघचन्द्रदेव के निधन पर उनका स्मारक स्थापित किया था। लेख में बाहुबलिदेव और पार्श्वदेव नामक मुनियों की भी बहुत गुण-प्रशंसा है। उसी वर्ष माधवचन्द्र-मलधारी के प्रिय गृहस्थ-शिष्य तवनिधि के माडिगौड के पुत्र बोम्मण ने समाधिमरण किया था। इसी हिन्दूराय-सुरत्राण बुक्काराय के विजयराज्य मे, १३७१ ई. में, राय-राज-गुरु मण्डलाचार्य सिंहनन्दि के प्रिय गृहस्थ-शिष्य सोरब के बिट्ठलगौड की सुपुत्री और तवनिधि के नाल-महाप्रभु ब्रह्म की अर्धांगिनी लक्ष्मि-बोम्मक्क ने समाधि-मरण किया था (गौड या गवुण्ड और नालप्रभु राज्य के प्रतिष्ठित क्षेत्रीय एवं स्थानीय अधिकारी होते थे)। उसी वर्ष रामचन्द्र मलधारि के शिष्य चन्दगौड के पुत्र तथा अन्य कई गौडों एवं महाप्रभुओं ने समाधिमरण किया था और उनके स्मारक बने थे। उस काल के प्रसिद्ध जैन सन्त श्रुतमुनि, जिनके चरण राजाओं द्वारा पूजित थे, की १३७२ ई. की समाधि प्रशस्ति में उनके प्रमुख मुनि एवं गृहस्थ-शिष्यों का वर्णन हुआ है। इनमे से एक थे पुरुषोत्तम-राज-कामश्रेष्ठि और दूसरे थे हुल्लनहल्लि के राजा पेरुमालदेव तथा पेम्मिदेव। ये माचिराज और मालाम्बिका के पुत्र थे और बुक्कराय के सामन्त थे। उन्होंने अपनी राजधानी में त्रिजगत्-मंगल नामक जिनालय बनवाकर माणिक्यदेव से उसकी प्रतिष्ठा करायी थी, तथा वहीं के प्राचीन परमेश्वर-चैत्यालय का जीर्णोद्धार कराया था और दोनों की विधिवत् सतत पूजा-अर्चा के लिए भूमिदान दिया था। पेरुमालदेव का निधन १३६५ ई. में हुआ था और उनकी भावज धर्मात्मा अल्लाम्बा ने १३६८ ई. मे समाधिमरण किया था। इनका पुत्र राजा नरोत्तमश्री था जो बड़ा गुणवान् और यशस्वी था। सन् १३७३ ई. के श्रवणबेलगोल के एक शिलालेख मे वसन्तकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति, विशालकीर्ति, शुभकीर्ति, कलिकाल-सर्वज्ञ भट्टारक धर्मभूषण, अमरकीर्ति और वर्धमानमुनि की गुण-प्रशंसा है। आवलि के नालमहाप्रभु चन्दगौड के पुत्र और रामचन्द्र मलधारि के गृहस्थ-शिष्य बेचिगौड ने १३७६ ई. मे समाधिमरण किया था, आवलि के ५-६ प्रभुओं ने मिलकर उसका स्मारक बनवाया था। महाराज बुक्काराय का प्रधान मन्त्री और सेनापति जैन वीर बैचप था। वह और उसके तीन वीर पुत्र ही

राज्य के प्रमुख सैन्यसंचालक तथा बहमनी सुलतानों आदि उसके शत्रुओं पर बुक्काराय की यौद्धिक सफलताओं के प्रधान साधक थे। बैचप राजा हरिहर प्रथम के समय से ही मन्त्री रह आये थे और बुक्काराय के पुत्र एवं उत्तराधिकारी हरिहर द्वितीय के समय तक उसी पद पर आरूढ़ रहे। उसके पुत्र दण्डनाथ इरुगप ने १३६७ ई. में एक जिनालय चेलुमल्लूर में बनवाकर उसके लिए दान दिया था।

हरिहर द्वितीय (१३७७-१४०४ ई.)—का राज्यकाल मन्त्रीराज बैचप्प और उसके पुत्रों एवं पौत्रों के लौकिक तथा धार्मिक कार्यकलापों से भरा है। कूचिराज आदि अन्य जैन मन्त्री एवं राजपुरुष भी थे। अपने इन जैन वीरों की सहायता से इस प्रतापी नरेश ने अपने राज्य की शक्ति काफ़ी बढ़ा ली थी, शासन-तन्त्र सुचारु एवं सुसंगठित किया और विविध उपाधियों से विभूषित सम्राट्-पद धारण किया था। इसके राज्य में जैनधर्म खूब फला-फूला। स्वयं सम्राट् की महारानी बुक्कवे जिनभक्त थी और उसने सेनापति इरुग द्वारा निर्मापित राजधानी के कुन्थुनाथ-जिनालय के लिए १३९७ ई. में दान दिया था। सन् १३७९ ई. में आलुवमहाप्रभु, १८ कम्पणों के शिरोरत्न, महाप्रभुओं के सूर्य, तवनिधि के बोम्मगौड ने संन्यसनविधिपूर्वक मरण करके स्वर्ग प्राप्त किया था। वह बडा धर्मात्मा, पुण्याकार, कीर्तिशाली, जिनेन्द्र के चरणों का आराधक और राज्यमान्य था। उसी समय उसके कुटुम्बी सरीखा, स्वामिभक्त एवं तवनिधि के शान्तितीर्थंकर के चरणों का पूजक उसका एक सेवक भी समाधिमरण द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुआ था। मन्त्रीश्वर बैचप की मृत्यु १३८० ई. में हुई, उसी वर्ष के एक लेख में नयकीर्ति-व्रती के शिष्य (पुत्र) परम विद्वान् एवं ज्योतिर्विज्ञ बाहुबलि पण्डितदेव की प्रशंसा है। सन् १३८३ ई. में कूरिगहल्लि के गौडों ने पार्श्वदेव-बसदि निर्माण करायी थी और १३८४ ई. मे मुनि आदिदेव ने स्वगुरु श्रुतकीर्तिदेव के स्वर्गस्थ होने पर रावन्दूर के चैत्यालय का जीर्णोद्धार कराके उनकी तथा सुमतिनाथ तीर्थंकर की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की थीं। दण्डेश इरुग ने १३८५ ई. में विजयनगर में कुन्थुनाथ-जिनेन्द्र का सुन्दर पाषाण-निर्मित मन्दिर बनवाया था। सेनापति इरुगप्प ने १३८७ ई. मे स्वगुरु पुष्पसेन की आज्ञा से उस वर्धमान-निलय के सम्मुख एक सुन्दर मण्डप भी बनवाया था, जिसे स्वयं उसने १३८२ ई. में निर्माण कराया था। इसी राज्यकाल में मुनिभद्रदेव ने हिसुगल-बसदि बनवायी थी और मुलगुण्ड के जिनेन्द्र-मन्दिर का विस्तार किया था। उनके समाधिमरण के उपरान्त १३८८ ई. में उनके शिष्य पारिससेनदेव ने ऊद्रि में उनका स्मारक स्थापित किया था। मुनिभद्र के गृहस्थ-शिष्य, चतुर्विधदानविनोद, रत्नत्रयाराधक, जिनमार्गप्रभावक, हिरियावलि नगर के स्वामी नालमहाप्रभु कामगौड के कुलदीपक सुपुत्र चन्दप्प ने १३८९ ई. में समाधिमरण किया था। विजयकीर्तिदेव की शिष्या, कोंगालववंश की रानी सुगुणिदेवी ने १३९१ ई. में अपनी जननी पोचब्बरसि के पुण्यार्थ अपने अंगरक्षक विजयदेव द्वारा मुल्लूर में एक जिनालय का पुनरुद्धार कराके उसमें जिनप्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी और दान दिया था। सोरब के तम्मगौड को असाध्य

क्षयरोग हो गया था और कोई इलाज कारगर नहीं हो रहा था, अतएव उसने स्वगुरु की अनुमति से १३९५ ई. में समाधिमरण किया। उसी वर्ष एक प्रतिष्ठित महिला, कानरामण की सती पत्नी कामी-गौडि ने समाधिमरण किया था, १३९७ ई. में रामि-गौडि ने, १३९१ ई. में होम्बुच्च के पायण्ण ने तथा चन्दगौडि ने, १४०० ई. में उद्धरे के सिरियण्ण ने और १४०३ में बोम्मिगौंडि ने समाधिमरण किया था। लगता है कि उस युग में यह प्रथा बहुत लोकप्रिय थी। शुभचन्द्र के प्रियाग्र शिष्य कोप्पण के चन्द्रकीर्तिदेव ने १४०० ई. के लगभग चन्द्रप्रभु की एक प्रतिमा अपनी निषिधि के लिए प्रतिष्ठित करायी थी। उसी वर्ष राजा के जैन मन्त्री कूचिराज ने कोप्पणतीर्थ के लिए दान दिया था। राज्य के अनेक जैन तीर्थों में श्रवणबेलगोल उस काल में भी सर्वप्रधान था, अनगिनत यात्री इस तीर्थ की वन्दना के लिए आते थे और, जैसा कि १३९८ ई. के एक शिलालेख से प्रकट है, उस प्रान्त के शासक राज्य के जैन सामन्त थे जो तीर्थाध्यक्ष चारुकीर्ति पण्डितदेव के शिष्य थे। सन् १४०० ई. में इस तीर्थ पर एक भारी उत्सव, सम्भवतया गोम्मटेश्वर का महामस्तकाभिषेक हुआ था जिसमें दूर-दूर से असंख्य दर्शनार्थी सम्मिलित हुए थे। राजा हरिहर द्वितीय की १४०४ ई. में हुई मृत्यु की घटना भी वहाँ एक शिलालेख में अंकित हुई थी। इस राजा ने कनकगिरि, मूडबिद्री आदि की अनेक जैन-बसदियों को स्वयं भी उदार भूमिदान दिये थे। उसका राजकवि मधुर भी जैन था जो 'भूनाथस्थान चूडामणि' कहलाता था और 'धर्मनाथपुराण' एवं 'गोम्मटाष्टक' का रचयिता था। इसी काल में अभिनव श्रुतमुनि ने मल्लिषेणकृत 'सज्जनचित्तवल्लभ' की कन्नडी टीका, आयतवर्मा ने 'कन्नडीरत्नकरण्ड' और चन्द्रकीर्ति ने 'परमागमसार' लिखे थे।

अभिनव बुक्कराय या बुक्कराय द्वितीय (१४०४–६ ई.) के प्रथम वर्ष में आवलि के बेचगौड के पुत्र और चन्दगोड के अनुज ने, और १४०५ ई. में सोरब के महाप्रभु की भार्या तथा बयिचराज की सुपुत्री मेचक ने समाधिमरण किया था और स्वयं इस राजा ने १४०६ ई. में मूडबिद्री की गुरु-बसदि को भूदान दिया था।

देवराय प्रथम (१४०६–१० ई.) और महारानी भीमादेवी—यह नरेश जैनाचार्य वर्धमान के पट्टशिष्य एवं महान् व्याख्याता धर्मभूषण गुरु के चरणों का पूजक था। कई तत्कालीन शिलालेखों में उसके द्वारा जैनधर्म के प्रति उदार रहने और जैनगुरुओं का आदर करने के उल्लेख हैं। इस काल में १४०७ ई. में जिडुलिगेनाड के नालमहाप्रभु रामगौड के सुपुत्र, गोप्पण के अनुज, मुनिभद्रदेव के गृहस्थ-शिष्य, जिनपद-नलिन-भ्रमर, जिनधर्मोद्धारक, जिनबिम्बकारक एवं उदार भव्य हारुवगौड ने समाधिमरण किया था। प्रसिद्ध इरुगप और उसके भाई बैचप (द्वितीय) के अतिरिक्त उसका जैन मन्त्री गोप-चमूप था और मायण्ण, गोपण आदि कई अन्य जैन सामन्त थे। स्वयं महाराज की पट्टरानी भीमादेवी परम जिनभक्त थी। वह श्रवणबेलगोल के मठाधीश पण्डिताचार्य की गृहस्थ-शिष्या थी और उसने १४१० ई. में उक्त तीर्थ की प्रसिद्ध

मंगायि-बसदि का जीर्णोद्धार कराके उसमें शान्तिनाथ भगवान् की नवीन प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी और उसके जिनालय के लिए प्रभुत दान दिया था। इस अति सुन्दर बसदि को, जिसका नाम त्रिभुवन-चूडामणि-चैत्यालय था, पूर्वकाल में, १३२५ ई० में अभिनवचारुकीर्ति-पण्डिताचार्य के शिष्य, सम्यक्त्वादि-अनेकगुणगणाभरण-भूषित, रायपात्र-चूडामणि, श्रवणबेलगोल के निवासी मंगायि नामक सज्जन ने बनवाया था। रानी भीमादेवी के साथ ही पण्डिताचार्य की एक अन्य शिष्या बसतायि ने वहाँ वर्धमान स्वामी की प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। उपरोक्त मंगायि सम्भवतया प्रधान राजनर्तक (राय-पात्र) था।

देवराय के उपरान्त वीरविजय (१४१०–१९ ई) राजा हुआ। उसके भी इरुगप्प आदि जैन मन्त्री रहे। इसके समय में, १४१२ ई में, गेरसोप्पे निवासी गुम्मटण्ण ने श्रवणबेलगोल की पाँच बसदियों का जीर्णोद्धार कराया था तथा उनमें आहारदान आदि की व्यवस्था की थी। गोपण ने १४१५ ई में तथा प्रसिद्ध गोपगौड ने और अय्यप गौड की पत्नी कालि-गौडि ने १४१७ ई में समाधिमरण किया था, तथा १४१९ ई में गेरसोप्पे की श्रीमती अव्वे ने तथा उसके साथ समस्त गोष्ठी ने धर्मकार्यों के लिए श्रवणबेलगोल में दान दिये थे।

देवराय द्वितीय (१४१९–४६ ई)—वीरविजय का पुत्र एव उत्तराधिकारी यह नरेश सगमवंश का अन्तिम प्रतापी एव शक्तिशाली नरेश था। उसने अपने पूर्वजो की उदार नीति का ही अनुसरण किया। उसके समय में १४२१ ई में गोपगौड के पुत्र भैरवगौड ने और मुनिभद्रस्वामी के प्रिय गृहस्थ-शिष्य बेचगौड के सुपुत्र मदुकगौड ने समाधिमरण किया था। महाराज के पुत्र राजकुमार हरिहर ओडेयर ने १४२२ ई में कनकगिरि के विजयदेव-जिनालय के लिए मलेयूर ग्राम की सम्पूर्ण भूमि का तथा एक अन्य ग्राम का दान देवपूजा, अग-रंग-भोग-वैभव रथयात्रा, शासन-प्रभावना आदि के लिए दिया था। विद्या-विनय-विश्रुत स्वयं महाराज देवराय ने, १४२६ ई में राजधानी विजयनगर की 'पर्णपूगीफल-आपणवीथी (पान-सुपारी बाजार) में राजमहल के निकट ही 'मुक्तिवधूप्रियभर्ता' एव 'करुणानिधि पार्श्व-जिनेश्वर का पाषाणनिर्मित सुन्दर चैत्यालय निर्माण कराया था, जिसका उद्देश्य अपने पराक्रमपूर्ण कृत्यो एवं कीर्ति को अजर-अमर बनाना, धर्मप्रवृत्ति, स्याद्वादविद्या का प्रकाश इत्यादि था। राजा के एक जैन दण्डनायक कारियप्प ने, जो शुभचन्द्रसिद्धान्ति का गृहस्थ-शिष्य, चोक्किमय्य का पुत्र और मोरसुनाड का शासक था, १४२७ ई में अपने पिता की स्मृति में चोक्किमय्य-जिनालय बनवाकर उसके लिए दान दिया था। चिक्कण्णगौड के पुत्र होसणगौड ने १४३० ई में अपने पुत्र बोम्मणगौड की पुण्यप्राप्ति के लिए स्वस्थान आनेवालु में ब्रह्मदेव और पद्मावती की बसदि बनवायी थी। इसी नरेश के उपराजा कारकल नरेश वीरपाण्ड्य ने १४३२ ई में बाहुबलि की उत्तुंग प्रतिमा निर्माण करायी थी, जिसके प्रतिष्ठा समारोह में स्वयं महाराज देवराय सम्मिलित हुए थे। उस काल के प्रसिद्ध जैनगुरु श्रुतमुनि की

ऐतिहासिक महत्त्व की बृहत् एवं सुन्दर काव्यमय प्रशस्ति श्रवणबेलगोल की सिद्धर-बसदि के एक स्तम्भ पर १४३३ ई. में उत्कीर्ण की गयी थी। इसके रचयिता कवि मंगराज थे। जैनाचार्य नेमिचन्द्र ने देवराय की राजसभा में अन्य विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करके राजा से विजयपत्र प्राप्त किया था। इस नरेश के जैन होने में कोई सन्देह नहीं है। अपने राज्य के प्रथम वर्ष (१४२० ई.) में ही उसने श्रवण बेलगोल के गोम्मटस्वामी की पूजा के लिए एक गाँव दिया था और अपने महाप्रधान बैचयदण्डनायक को उसका उत्तरदायित्व सौंपा था तथा १४२४ ई. में तुलुवदेशस्थ वरांग के नेमिनाथ-जिनालय को वही वरांग ग्राम दान में दिया था। राजा के अनेक मन्त्री, सेनापति, राज्य पदाधिकारी, सामन्त आदि जैन थे जो उसकी शक्ति के स्तम्भ थे। अनेक तत्कालीन अभिलेख उस काल में जैनधर्म की प्रभावना, राज्याश्रय एवं प्रतिष्ठित स्त्री-पुरुषों तथा जनता की जिनभक्ति और जैन गुरुओं के लोकोपकारी कार्यों के उल्लेखों से भरे पड़े हैं। 'जीवन्धर-चरित' के कर्ता भास्कर (१४२४ ई.), 'ज्ञानचन्द्राभ्युदय' आदि के कर्ता कल्याणकीर्ति (१४३९ ई.), 'श्रेणिकचरित्र' के कर्ता जिनदेव (१४४४ ई.) 'द्वादशानुप्रेक्षा' के कर्ता विजय, महान् वादी विशालकीर्ति, नेमिचन्द्र, श्रुतमुनि आदि उस काल के उल्लेखनीय विद्वान् हैं। महाकवि कालिदास का सर्वप्रसिद्ध टीकाकार एवं 'वैश्यवंशसुधार्णव' का रचयिता जैन विद्वान् मल्लिनाथ-सूरि-कोलाचल इसी सम्राट् वीरप्रताप-प्रौढ़-देवराय का आश्रित था। इस नरेश की मृत्यु की तिथि भी १४४६ ई. के श्रवणबेलगोल के दो जैन शिलालेखों में अंकित है।

उसके उपरान्त तीन अपेक्षाकृत निर्बल शासक हुए, १४८६ ई. में वंशपरिवर्तन हुआ और संगमवंशियों के स्थान में सालुववंशी राजा हुए।

बैचप दण्डाधिनायक—विजयनगर के प्रारम्भिक नरेशों के सर्वप्रसिद्ध जैन मन्त्री बैच, बैचप या बैचप-माधव अपरनाम माधवराय को १३८५ ई. के एक शिलालेख में कुलक्रमागत-मन्त्री लिखा है। सम्भव है कि वह होयसल नरेशों के किसी जैन दण्डनायक के वंश में उत्पन्न हुआ हो। उसका पिता शान्ति-जिनेश का भक्त, सुजनों का मित्र, चतुर बेचय-नायक था, जो सम्भवतया संगम के पुत्रों के स्वातन्त्र्यप्राप्ति हित किये गये संघर्ष में उनका विश्वसनीय सेनानायक और मन्त्री था, हरिहर-बुक्का द्वारा विजयनगर राज्य की स्थापना में उनका सहायक था और शायद उसके उपरान्त भी हरिहर प्रथम के समय अपनी मृत्यु तक राज्य-सेवा में रहा। तदुपरान्त उसका योग्य सुपुत्र प्रस्तुत बैचप-माधव हरिहर प्रथम का दण्डनायक हुआ। बुक्काराय प्रथम के समय में वह दण्डाधिनायक (प्रधान सेनापति) और राजमन्त्री रहा। उसके वीर पुत्र मंगप, इरुग और बुक्कन भी उसके सामने ही राज्य की सेवा में दण्डनायकों के रूप में नियुक्त हो गये थे। हरिहर द्वितीय का तो बैच महाप्रधान (प्रधान मन्त्री) एवं महादण्डाधिनाथ (प्रधान सेनापति) था। वह प्रभाव, उत्साह और मन्त्र इन शक्तित्रय से समन्वित था और महाराज हरिहर का तो समरांगण में तीसरा हाथ (तृतीय बाहु) था। इस परम

वीर ने, विशेषकर कोंकणदेश की विजय में अद्भुत पराक्रम दिखाया था। मूलतः बैच कुन्तल-बनवासि देश स्थित जैनधर्म के गढ़ कम्पण-उद्धरे का निवासी था। इस अप्रतिम साहसी वीर, विचक्षण राजनीतिज्ञ और धर्मात्मा ने १४८० ई. की वैशाख शुक्ल त्रयोदशी भौमवार के दिन जिनेन्द्र के चरणकमलों का आश्रय लेकर समाधिविधान से स्वर्ग प्राप्त किया था। मन्त्रीश्वर बैच अपने साहस, वीरता, उदारता, विद्वत्ता और सर्वानुमोदित नीति के लिए प्रसिद्ध हुआ।

इरुग दण्डनाथ—महाप्रधान बैच-माधव का द्वितीय पुत्र था। उसका ज्येष्ठ भाई मंगप और अनुज बुक्कन भी राज्य के वीर दण्डनायक एवं मन्त्री थे, किन्तु इरुग तीनों भाइयों में सर्वाधिक योग्य था और पिता की मृत्यु के उपरान्त वही हरिहर द्वितीय का महाप्रधान हुआ। उसने १३६७ ई. में चेलूमल्लूर में एक जिनमन्दिर बनवाया था और दान दिया था तथा १३८२ ई. में तामिलदेशस्थ तिरुपतिक्कुन्द के त्रैलोक्यवल्लभ-जिनालय की पूजा-अर्चा के लिए महेन्द्रमंगल नामक ग्राम दान किया था। इसी दण्डेश, धरणीश, क्षितीश आदि उपाधिधारी इरुग ने, जो हरिहर महाराय के दण्डाधिनाथ बैच का लोकनन्दन-नन्दन था, बड़ा शूरवीर था, हरिहर भूपति की साम्राज्य लक्ष्मी की वृद्धि करनेवाला था और आचार्य सिंहनन्दि के चरणकमलों का भक्त था। १३८५ ई. में कर्णाटक मण्डल के कुन्तल विषय में स्थित विचित्र-रुचिर रत्नों से विभूषित महानगरी विजयनगर में सुन्दर पाषाणनिर्मित कुन्थुनाथ-चैत्यालय निर्माण कराया था। इस आशय का लेख उक्त मन्दिर के सम्मुख दीपस्तम्भ (मानस्तम्भ) पर अंकित है। कालान्तर में यही मन्दिर गणिगित्ति-बसदि (तेलिन का मन्दिर) नाम से प्रसिद्ध हुआ। सम्भव है कि पीछे से किसी तेलिन ने उसका जीर्णोद्धार कराया है। इस सेनापति ने १३८७ ई. में गुरु पुष्पसेन की आज्ञा से स्वयं द्वारा निर्मित तामिलदेशस्थ (कांची के निकटस्थ) मन्दिर के सम्मुख एक सुन्दर मण्डप बनवाया था। वह कुशल अभियन्ता भी था, १३९४ ई. में एक विशाल सरोवर का उत्कृष्ट बाँध उसने बनवाया था। संस्कृत भाषा का भी वह भारी विद्वान् था और उसने 'नानार्थरत्नाकर' नामक महत्त्वपूर्ण कोष की रचना की थी। वह भारी धनुर्धर भी था। चन्द्रकीर्ति के शिष्य ब्राह्मणजातीय जैन मन्त्री कूचिराज आदि उसके सहयोगी थे और स्वयं उसके सहोदर मंगप और बुक्कन राज्य के प्रतिष्ठित मन्त्री एवं दण्डनायक थे। सेनापति इरुग के एक साथी दण्डनाथ गुण्ड ने १३९७ ई. के एक शिलालेख में लिखाया था कि 'जिसकी उपासना शैव लोग शिव के रूप में, वेदान्ती ब्रह्म के, बौद्ध बुद्ध के, नैयायिक कर्ता के, मीमांसक कर्म के और जिनशासन के अनुयायी अर्हन्त के रूप में करते हैं वे केशवदेव तुम्हारी मनोकामना पूरी करें।' यह उस युग के सर्वधर्म-समन्वय का एक उदाहरण है। सन् १४०३ ई. में इरुग महाराज हरिहर द्वितीय का महाप्रधान सर्वाधिकारी था। उसके थोड़े समय पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो गयी लगती है और उसके दोनों भाइयों की भी, क्योंकि तदनन्तर उन तीनों के बजाय इस इरुग के भतीजे और मंगप के पुत्र इरुगप (द्वितीय) और बैचप (द्वितीय) के उल्लेख

प्राप्त होते हैं। इरुग (प्रथम) के उल्लेख १३६७ से १४०३ तक के प्राप्त होते हैं, इस प्रकार लगभग ३६ वर्ष उसने राज्य की सेवा की। हरिहर द्वितीय के शासनकाल में जब राजकुमार बुक्काराय (द्वितीय) राज्य के दक्षिणी भाग का शासक था (१३८२ ई. के लगभग) तब इरुग उसका प्रधान दण्डनायक था और शनैः-शनैः पदोन्नति करते हुए स्वयं सम्राट् का महाप्रधान सर्वाधिकारी बन गया था।

इरुगप दण्डेश—इरुग, इरुगेन्द्र, इरुगप या यिरुगप इस नाम के और एक ही वंश में उत्पन्न दूसरे जैन महासेनापति थे। वह दण्डाधिनायक महाप्रधान बैच-माधव के पौत्र, महाप्रधान-सर्वाधिकारी इरुग (प्रथम) और दण्डनायक बुक्कन के भतीजे, दण्डनाथ मंगप की भार्या जानकी से उत्पन्न उसके सुपुत्र और दण्डनायक मन्त्री-बैचप (द्वितीय) के भाई थे। पिता दण्डपति मंगप अपने सद्गुणों के लिए लोकसम्मानित थे, जैनागम के अनुयायी और जिनधर्मरूपी वल्लरी के लिए समर्थ तरु थे। माता जानकी राघवप्रिया जानकी की भाँति चारुशीलगुणभूषणोज्ज्वला थी। सहोदर दण्डनाथ बैचप (द्वितीय) भारी युद्धवीर, विजेता और भव्याग्रणी था तथा १४२० के लगभग राजा का महाप्रधान था। स्वयं दण्डेश इरुगप महान् पराक्रमी, प्रतापी, वीर, राजनीतिपटु, उदार, दानी और परम जिनभक्त था। वह रत्नत्रय का परम आराधक था, चतुर्विध-पात्रदान में तथा दीन-दुखियों का दुःख-कष्ट दूर करने में सदा तत्पर रहता था, हिंसा-अनृत-चौर्य-परस्त्रीसेवन आदि कुव्यसनों से दूर रहता था, जिनेन्द्र की यशोगाथा सुनने में उसके कान, उनका गुण-कीर्तन करने में उसकी जिह्वा, उनकी वन्दना में उसका शरीर और उनके चरणकमलों का सौरभ सेवन करने में उसकी नासिका स्वयं को धन्य मानते थे। उसका धवलयश पृथ्वी पर चहुँ ओर व्याप्त था। इस सचिवकुलाग्रणी दण्डाधीश इरुगप ने श्रवणबेलगोल के महाविद्वान् पीठाचार्य पण्डिताचार्य को गोम्मटेश्वर की नित्य पूजा के हेतु बेलगोल ग्राम तथा एक विशाल सरोवर बनवाकर उसे उसके तटवर्ती सुन्दर उपवन सहित १४२२ ई. में उक्त आचार्य को समर्पित करा दिया था। तत्कालीन शिलालेखों में इस वीर की प्रभूत प्रशंसा प्राप्त होती है। महाराज देवराज द्वितीय के पूरे राज्यकाल में विजयनगर साम्राज्य का प्रमुख स्तम्भ बना रहा; क्योंकि १४४२ ई. में वह राज्य के अति महत्त्वपूर्ण प्रान्त चन्द्रगुत्ति एवं गोआ का सर्वाधिकारी शासक था।

श्रुतोद्धारक राजकुमारी देवमति—तौलव देश की इस धर्मात्मा विदुषी राजकुमारी ने श्रुतपंचमीव्रत के उद्यापन में सुप्रसिद्ध महाविशालकाय धवल, जयधवल, महाधवल की ताड़पत्रीय प्रतियाँ लिखाकर मूडबिद्री (वेणुपुर) की गुरु-बसदि अपरनाम सिद्धान्त बसदि में स्थापित की थी। इस विपुल द्रव्य एवं समय साध्य महान् कार्य द्वारा उसने सिद्धान्त शास्त्रों की रक्षा की थी। यह नगर उस युग में प्रसिद्ध जैन केन्द्र था और १४२९ ई. के एक शिलालेख के अनुसार वह सद्धर्म के पालक पुण्य कार्यों को सहर्ष करनेवाले और धर्मकथा श्रवण के रसिक भव्य समुदाय से भरा हुआ था।

गोपचमूप—महाराज देवराय प्रथम के समय में लगभग १४०० ई. में उसका

यह महाप्रधान गोपचमूष निडुगल दुर्ग का शासक था। वह जैन वीर सेनापति अपने स्वामी के राज्य की रक्षा करने में परम उत्साही था और मन्त्री पद पर आरूढ़ था। धर्मात्मा भी ऐसा था कि उसे जिनेन्द्र-समयाम्बुधिवर्धन-पूर्णचन्द्र कहा गया है। निडुगल दुर्ग राज्य का एक महत्त्वपूर्ण पहाड़ी क़िला था।

गोप महाप्रभु—गोपगौड या राजा गोपीपति (प्रथम) बान्धवपुर के शान्तिनाथ का भक्त था और उक्त नगर का शासक था। उसका पुत्र धर्मात्मा श्रीपति (सिरियण्ण) था और पौत्र उसी का नामधारी गोपीपति (द्वितीय) गोपण्ण या गोपमहाप्रभु था। वह मलेनाड का शासक था और कुप्पटूर में निवास करता था, जहाँ उसने एक सुन्दर जिनालय बनवाया था और उसके लिए दान दिया था। कर्णाटक देश में नागरखण्ड प्रसिद्ध था और उसका तिलक यह कुप्पटूर था क्योंकि वहाँ मुख्यतया जैनीजन निवास करते थे, अनेक चैत्यालय और कमलों से भरे सरोवर थे। यह गोप महाप्रभु (गोपीपति) देशगण के सिद्धान्ताचार्य का तेजस्वी प्रिय शिष्य था। जिनेन्द्र की पूजा, जिनमन्दिरों के बनवाने, सत्पात्रों को दान देने आदि पुण्य कार्यों में रत रहता था। राजा देवराय प्रथम के राज्य में १४०८ ई. में इस धर्मात्मा सामन्त ने संसार और कुटुम्ब का मोह छोड़कर जिनेन्द्र चरणों में मन लगाया और समाधिपूर्वक स्वर्ग प्राप्त किया। उसकी दोनों सती पत्नियों गोपायि और पद्मायि ने भी अपने पति का अनुसरण किया। सम्भव है कि निडुगलदुर्ग के शासक गोपचमूप से यह मलेनाड-महाप्रभु गोप अभिन्न हो।

भव्य मायण्ण—कर्णाटक देशस्थ गंगवती नगरी के निवासी धर्मात्मा माणिक्य और उसकी भार्या बाचायी का सुपुत्र तथा चन्द्रकीर्ति मुनि का शिष्य सम्यक्त्व चूड़ामणि भव्योत्तम मायण्ण था जिसने १४०९ ई. में बेलगोल के गंगसमुद्र की दो खण्डुग भूमि क्रय करके कई व्यक्तियों की साक्षी से गोम्मटस्वामी के अष्टविधार्चन के लिए दान दी थी।

गोपगौड़—गोपीश, गोपीनाथ या गोपण महाराज वीरविजय के समय में नागरखण्ड के अन्तर्गत भारंगि का शासक था। वह बुल्लगौड और मालिगौडि का परम मातृभक्त पुत्र था। पण्डिताचार्य और श्रुतमुनि उसके दो गुरु थे जिनमें से एक उसे अनीति के मार्ग से बचाता था और दूसरा सन्मार्ग में लगाता था। उसका पिता बुल्लगौड रायवादि-पितामह अभयचन्द्र सिद्धान्ति का पुराना शिष्य था। भारंगिनगर धर्मात्मा जैनों, विद्वानों, न्यायीजनों एवं श्रीमानों से भरा था और वहाँ पार्श्व जिनेश का एक उत्तम जिनालय था। गोप स्वयं बड़ा उदार, दानी और धर्मात्मा था। अन्ततः १४१५ ई. में समाधिविधि से उसने शरीर का त्याग किया और उसका स्मारक स्थापित किया गया। उसके पिता बुल्लगौड ने भी १४०६ ई. में लगभग समाधिमरण किया था। वह देवचन्द्र मुनि का शिष्य था। उसने जिनमन्दिरों को भूमिदान किया था, सरोवर आदि बनवाये थे। गोप की बहन भागीरथी ने १४५६ ई. में समाधिमरण किया था।

कम्पन गौड और नागण्ण वोडेयर—१४२४ ई. में देवराय द्वितीय के समय में जब उसका पुत्र विजय-बुक्कराय प्रान्तीय शासक था और भगवत्-अर्हत् परमेश्वर के

पाद-पद्मों का आराधक बैच-दण्डनाथ (मंगप का पुत्र और इरुगप का भाई) उसका महाप्रधान था तो बैच के अधीन नागण्णवोडेयर नामक एक अधिकारी था जिसे होयसल राज्याधिपति कहा गया है क्योंकि सम्भवतया वह पुराने होयसलनरेशों का वंशज था। उसके हाथों से पण्डितदेव के एक अन्य शिष्य नाल-महाप्रभु कम्पनगौड ने राजकुमार और महाप्रधान की सहमतिपूर्वक गोम्मटस्वामी की पूजा एवं अंग-रंग-भोग-संरक्षण हेतु तोट-हल्लि ग्राम का दान दिया था जिसका नाम गुम्मटपुर रखा गया। कम्पनगौड वयिनाड का शासक (महाप्रभु) था और मसणहल्लि का निवासी था। उसने स्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य से उक्त धर्म कार्य किया था। उक्त ग्राम के साथ तत्सम्बन्धी समस्त चल-अचल सम्पत्ति आय और अधिकार भी प्रदान कर दिये थे।

राजा कुलशेखर आलुपेन्द्रदेव—पुराने जैन धर्मानुयायी आलुपवंश का वह नृप हरिहर द्वितीय का सामन्त एवं उपराजा था। वह इतना वैभवशाली था कि रत्न-सिंहासन पर बैठता था। वह पार्श्वनाथ का भक्त था और १३८५ ई. में उसने उक्त तीर्थंकर का मन्दिर मूडबिद्री में बनवाया था और दान दिया था। नल्लूर उसकी राजधानी थी।

वीर पाण्ड्य भैररस—कार्कल का भैररसवंश सम्भवतया प्राचीन सान्तर राजाओं की सन्तति में से था और प्रारम्भ से अन्त तक जैन धर्मानुयायी रहा। इस काल में ये राजे विजयनगर सम्राटों के सामन्त उपराजे थे और स्वयं को सोमवंशी तथा जिनदत्तराय का वंशज कहते थे। इस वंश के राजा भैरवेन्द्र (भैरवराज) के पुत्र राजा वीरपाण्ड्य (पाण्ड्यराय) ने १४३२ ई. को फाल्गुन शुक्ल द्वादशी सोमवार के दिन कार्कल में बाहुबलिस्वामी की विशाल (४१ फ़ुट ५ इंच) उत्तुंग मनोहर प्रतिमा निर्माण कराकर प्रतिष्ठापित की थी। इस राजा के गुरु ललितकीर्ति मुनीन्द्र थे जिनके उपदेश से उसने यह धर्मकार्य किया था। श्रवणबेलगोल के गोम्मटेश्वर के बाद उनकी यही सबसे अधिक विशाल प्रतिमा है। इस महोत्सव में विजयनगर सम्राट् देवराय द्वितीय स्वयं भी सम्मिलित हुए थे। वीरपाण्ड्य के पितामह पाण्ड्य भूपाल थे और उनके पिता वीर भैरव थे। इन दोनों पिता-पुत्रों ने भी १४०८ ई. में बारकूर के पार्श्व जिनालय के लिए भूमि दान दिया था। उपरोक्त वीरपाण्ड्य ने १४३६ ई. में स्वनिर्मापित गोम्मटेश मूर्ति के सम्मुख ब्रह्मदेव स्तम्भ बनवाया था और उसपर मनोवांछित फलदायक जिनभक्त ब्रह्मयक्ष की प्रतिष्ठापना की थी।

देवराय द्वितीय के उत्तराधिकारियों के समय में १४५१-५२ ई. में बारकुरु राज्य के शासक गोपण ओडेयर ने मूडबिद्री की होसावसदि में भैरादेवी मण्डप बनवाया था और १४७२ ई. में महाराज विरूपाक्ष राय के प्रतिनिधि विट्ठरस ओडेयर ने उसी बसदि को भूमिदान दिया था। एक सहस्र स्तम्भोंवाला वह जिनमन्दिर अत्यन्त कलापूर्ण है और त्रिभुवनतिलक-चूड़ामणि कहलाता है। कहते हैं कि इसके कोई भी दो स्तम्भ एक-से नहीं हैं। राज्य के कई नायकों ने १४७३ ई. में इदवणि में पार्श्वनाथ जिनालय बनवाया था

और अगले वर्ष मलेयखेड़ के नेमिनाथ जिनालय के लिए दान दिया था। श्रवणबेलगोल तीर्थ की वन्दना करने के लिए उस काल में सुदूर मारवाड़ तक के यात्री आते थे। ऐसे ही एक मारवाड़ी सेठ ने १४८६ ई. में वहाँ एक जिनप्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी और १५१९ ई. ऐसे ही एक अन्य सेठ ने करायी थी। अन्य वर्षों के भी कई यात्रा-लेख हैं। विरूपाक्षराय की राजसभा में उद्‌भट विद्वान् एवं महान् वादी विशालकीर्ति ने अजैन वादियों को शास्त्रार्थ में पराजित करके राजा से जयपत्र प्राप्त किया था। इन्हीं आचार्य ने राज्य के एक प्रमुख सामन्त, अरग के शासक, देवप्प दण्डनाथ की सभा में जैनदर्शन पर महत्त्वपूर्ण व्याख्यान देकर ब्राह्मण विद्वानों की भी विनय एवं श्रद्धा प्राप्त कर ली थी। अनेक जैन गृहस्थ एवं मुनि विद्वानों द्वारा इस काल में भी साहित्य की अभिवृद्धि हुई। गोम्मटेश का महामस्तकाभिषेक १५०० ई. में असंख्य जनसमूह की उपस्थिति में बड़े समारोह पूर्वक हुआ। राज्य की ओर से उसके लिए समस्त सुविधाएँ प्रदान कर दी गयी थीं। इसी काल में १४८२ ई. हरवे के देवप्प के पुत्र चन्दप्प ने हरवे बसदि के अपने कुलदेवता आदि-परमेश्वर की पूजा एवं चतुर्विधदान के लिए अपने कुटुम्बीजनों की अनुमति से भूमि का दान दिया था और १४९२ ई. में मलेयूर के दिम्मणसेट्टि के पुत्र ने कनकगिरि पर विजयनाथदेव की दीप-आरती की सेवा के लिए द्रव्य दान दिया था और १५०० ई. में पण्डितदेव के शिष्यों नागगौंड, कलगौड आदि कई गौडों ने बेलगोल की मंगायि बसदि के लिए भूमिदान दिया था।

सम्राट् कृष्ण देवराय (१५०९-२९ ई.)—विजयनगर नरेशों में वह सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रतापी और महान् समझा जाता है। उसके समय में यह साम्राज्य अपनी शक्ति, विस्तार एवं वैभव के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था। अपने पूर्ववर्ती नरेशों की भाँति वह भी सर्वधर्म समदर्शी था। उसने स्वयं १५१६ ई. में चिंगलपुट जिले में स्थित त्रैलोक्यनाथ बसदि को दो ग्राम भेंट दिये थे और १५१९ ई. में पुनः उसी जिनालय को दान दिया था। कोल्लारगण के मुनिचन्द्रदेव के समाधिमरण के उपरान्त १५१८ ई. में उनके शिष्य आदिदास ने मलेयूर में उनका स्मारक बनवाया था, विद्यानन्दोपाध्याय ने प्रशस्ति श्लोक रचे थे और वृषभदासवर्णी ने उसे लिखा था। स्वयं सम्राट् ने १५२८ ई. में बेलारी ज़िले के एक जिनालय के लिए प्रभूत दान दिया था और तत्सम्बन्धी शिलालेख अंकित कराया था तथा मूडबिद्री की गुरु बसदि को भी स्थायी वृत्ति दी थी। सन् १५३० ई. के एक शिलालेख में स्याद्‌वादमत और जिनेन्द्र के साथ-साथ आदि-वराह और शम्भु को नमस्कार किया जाना इस नरेश द्वारा राज्य की परम्परानीति के अनुसरण का परिचायक है। हुम्मच के पद्मावती मन्दिर में अंकित प्रायः उसी समय की वादी विद्यानन्द स्वामी की प्रशस्ति से प्रकट है कि यह जैन गुरु अपनी विद्वत्ता, वाग्मिता और प्रभाव के लिए उस काल में सर्वप्रसिद्ध थे। महाराज कृष्णदेवराय की राजसभा में विभिन्न देशनों एवं मतों के विद्वानों के साथ कई बार सफल शास्त्रार्थ करके उन्होंने ख्याति अर्जित की थी। स्वयं सम्राट् उनका बड़ा आदर करता था और उनके चरणों में

मस्तक झुकाता था। नंजरायपट्टन के नंजभूप, श्रीरंगनगर के पेरंगि (फिरंगी-ईसाइयों), संगीतपुर के सालुवेन्द्र, मल्लिराय, संगिराय और देवराय, बिलिगे के कलशवंशी नरसिंह, कारकल के भैरव भूपाल इत्यादि अन्य अनेक तत्कालीन नरेशों की सभा में वाद-विजय करके वह सम्मानित हुए थे। ये राजे विजयनगर सम्राट् के सामन्त उपराजे थे और उनमें से अनेक जैनधर्मानुयायी थे। इस नरेश के आश्रय में अनेक जैन विद्वानों ने कन्नड साहित्य की भी सराहनीय अभिवृद्धि की थी।

कृष्णदेवराय के उत्तराधिकारी अच्युतराय (१५३०-४२ ई.) के समय में १५३१ ई. मे मुदगिरि की जैन बसदि को तथा १५३३-३४ ई. में तमिलदेश की कुछ बसदियों को दान दिये गये थे और १५३९ ई. में सालुवराज ने गोम्मटेश का महा-मस्तकाभिषेक महोत्सव मनाया था जिसमे उसके आश्रित गेरुसप्पे के जैन सेठों का प्रमुख योगदान था। उस समय से श्रवणबेलगोल तीर्थ का प्रबन्ध भी उक्त सेठों के हाथ में चला गया। अच्युतराय के उत्तराधिकारी सदाशिव राय के शासनारम्भ में ही १५४२-४३ ई. मे तुलुवदेश की कतिपय बसदियों को दान दिये गये और १५४४ ई. मे श्रवण-बेलगोल के आचार्य अभिनवचारुकीर्ति पण्डितदेव के शिष्य शान्तिकीर्तिदेव ने अंजनगिरि पर एक शासन अंकित कराया था जिसके अनुसार १५३१ ई. में सुवर्णवती नदी से शान्तिनाथ एवं अनन्तनाथ की जो प्रतिमाएँ प्रकट हुई थी उन्हे अंजनगिरि पर एक लकडी की बसदि बनाकर विराजमान कर दिया गया था। अगले वर्ष वहीं पाषाण की बसदि की नीव डाली गयी जो १५४३ ई. में बनकर पूर्ण हुई और तदनन्तर उक्त गुरुओं ने उसकी प्रतिष्ठा करायी थी। इन राज्यकालों में भी कन्नड भाषा के कई प्रसिद्ध जैन साहित्यकार हुए।

विजयनगर के पतनकाल में भी संगीतपुर के सालुव, कार्कल के भैरवत, बेणुर के अजिल, उल्लाल के चौट, विलिकेरे के अरसु, बारकुरु के पांड्य, मैसूर के ओडेयर, नगरी के चन्द्रवंशी, बैलगाड़ि के मूल, मूल्कि के सावन्त, श्वेतपुर (बिलिगे) के राजे, इत्यादि लगभग एक दर्जन छोटे-छोटे जैन राज्यवंश कर्णाटक के विभिन्न भागों में विद्यमान् थे जो उस काल मे तथा आनेवाली (१७वीं, १८वी, १९वीं) शताब्दियों में भी तद्देशीय जैन तीर्थों एवं केन्द्रों का संरक्षण, बसदियों का जीर्णोद्धार, निर्माण और रक्षा, साहित्यरचना, विद्वानों और गुरुओं का पोषण-प्रश्रय करते रहे और उस देश में जैन धर्म को जीवित बनाये रहे।

संगीतपुरनरेश सालुवेन्द्र और इन्दगरस—तौलवदेश में काश्यपगोत्र और सोमकुल में उत्पन्न महाराज इन्द्रचन्द्र का पुत्र संगिराज था जिसकी रानी का नाम संकराम्बा था। इन दोनों का पुत्र यह महामण्डलेश्वर सालुवेन्द्र महाराज था जो तीर्थंकर चन्द्रप्रभु का भक्त था। वह बड़ा प्रतापी, वीर और रत्न-त्रय-मणि-करण्डायमान-अन्तःकरण था। वह शास्त्रदानादि विविध दानों के देने में सदा तत्पर रहता था। उसने अनेक भव्य एवं उत्तुंग जिनालयों, मण्डपों, घण्टियों से युक्त मानस्तम्भों, उद्यानों, प्रस्तर एवं

धातुमयी जिनबिम्बों का निर्माण कराके जिनधर्म का निर्माण कराके जिनधर्म का संवर्धन किया था। उसने १४८७ ई. में पद्मनाभ धर्मात्मा जैन को अपना मन्त्री नियुक्त करके उसे ओमेयकेरे की समृद्ध जागीर प्रदान की थी। उसके अनुज कुमार इन्दगरस-वोडेयर अपरनाम इम्मडिसालुवेन्द्र ने १४९० ई. में संगीतपुर में निवास करते हुए उक्त पद्म द्वारा निर्मापित चैत्यालय को भूमिदान दिया था। इसी शुद्ध सम्यक्त्व रत्नाकर महामण्डलेश्वर इन्दगरस वोडेयर ने अपनी राजधानी में रहते हुए १४९६ ई. में स्वकीय पुण्य के लिए धणुपुर (विदिरूर) की वर्धमान-स्वामीबसदि के अंग-रंग-नैवेद्य-नित्य-नैमित्तिक-शिवपूजा आदि के लिए हिरण्योदक धारापूर्वक प्रभूत भूमिदान दिया था और पूर्वकाल में दिये गये दानों की पुनरावृत्ति की थी। वह अपनी शूरवीरता के लिए प्रसिद्ध था।

मन्त्री पद्मनाभ—पद्मसेट्टि, पदुमण या पद्मनाभ संगीतपुर के नरेशों का धर्मात्मा प्रधान मन्त्री था। वह बोम्मणसेट्टि (ब्रह्म) और नागाम्बा का पुत्र था। पद्मा और मल्लिका नाम की उसकी दो पतिपरायणा प्रिय पत्नियाँ थीं। महाराज सालुवेन्द्र का वह कृपापात्र एवं मुख्य मन्त्री था, भगवान् पार्श्वजिनेन्द्र का परम भक्त और श्रवणबेलगोल के पण्डिताचार्य का प्रिय शिष्य था। वह सुगुणसद्म, हितनान्त, प्रिय-सत्यवाद-निपुण, धर्मार्थ-सम्पादक, चतुर, सच्चरित्र, दयार्द्रहृदय, शास्त्रज्ञ और राजधर्म-विज्ञ था। जिनचरणों में अपना मस्तक रख, जिन-बिम्बदर्शन में अपने नेत्रों को लगा, जिनशास्त्रों के श्रवण में अपने कानों को उपयुक्त कर, जिनस्तवन में जिह्वा का उपयोग कर, चिदात्म-भावना में मन को लगा और पात्रदान में अपने हाथों को प्रयुक्त कर वह महामन्त्री पद्मण स्वयं को धन्य मानता था। उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर महाराज सालुवेन्द्र ने १४८७ ई. मे उसे ओमेयकेरे का समृद्ध ग्राम जागीर में दिया था। महाराज उसे अपने परिवार का सदस्य-जैसा ही मानते थे और सम्भवतया वह राज्यवंश में ही उत्पन्न हुआ था। अपनी जागीर के उक्त ग्राम मे पदुमणसेट्टि ने एक सुन्दर जिनालय बनवाकर उसमें पार्श्व तीर्थेश्वर की प्रतिष्ठापना की और उसको नित्य त्रिकाल-अभिषेक-पूजा, कीर्ति की पूजा, नन्दीश्वर, अष्टाह्निक, शिवरात्रि, अक्षयतृतीया, श्रुतपंचमी, जीवदयाष्टमी, भगवान् पार्श्व के गर्भा-वतरण, जन्माभिषेक, दीक्षा, केवल-ज्ञान और निर्वाण-प्राप्ति नामक पंचकल्याणकों के पूजोत्सव करने, तपस्वियों के आहारदान, पूजकों की वृत्ति आदि की सुव्यवस्था के लिए उसने १४९० ई. में महाराज इन्दगरस वोडेयर से एक शासनपत्र लिखाया जिसमे राज्य से स्वधासित ओमेयकेरे के मौलिक अधिकारों की प्राप्ति तथा उपरोक्त उद्देश्यों से किये प्रभूत उक्त ग्राम एवं अन्य दानों की विगत थी। चैत्यालय के उत्तर की ओर एक सुदृढ़ मकान बनवाकर ये शासनपत्र उसमें सुरक्षित रखे गये और उसके अन्त में दातार ने लिखा था कि मेरे मृत्यु के एक हजार वर्ष पश्चात् ही मेरे वंशज इस मकान पर अधिकार कर सकते हैं किन्तु तब भी प्रदत्त जायदाद की आय से उक्त धर्मकार्यों का संचालन करते रहेंगे—प्रत्येक मद का खर्च व्यवस्थित कर दिया गया है। ऐसी विचित्र

पक्की वसीयत करते हुए शायद यह बुद्धिमान् मन्त्री संसार की क्षण-भंगुरता की बात भूल गया था। मन्त्री पद्मनाभ ने पद्माकरपुर नाम का एक नगर भी बसाया था। इस नगर में १४९८ ई. में उसने पार्श्वजिनेन्द्र का एक अन्य भव्य जिनालय बनाकर प्रतिष्ठित किया था और उसके नित्य-पूजा-दानादि के लिए प्रभूत दान देकर उत्तम व्यवस्था की थी और शासन अंकित करा दिया था।

चेन्न बोम्मरस—मण्डलेश्वर कुलोत्तुंग चंगाल्व नरेश महादेव-महीपाल का प्रधान मन्त्री केशवनाथ का सुपुत्र, कुलपवित्र एवं जिनधर्मसहायप्रतिपालक बोम्मण मन्त्री का सहोदर यह सम्यक्त्व चूडामणि-बोम्मरस था। १५१० ई में उसने नंजरायपट्टण के भव्य श्रावकों की गोष्ठी के सहयोग से श्रवणबेलगोल में गोम्मटस्वामी के 'वेल्लिवाड' (उद्यान भवन) का जीर्णोद्धार कराया था।

सेनापति मंगरस—चंगाल्व नरेश का सुप्रसिद्ध सेनापति बड़ा वीर और पराक्रमी था। सम्राट् कृष्ण देवराय के कई युद्धों में उसने अद्भुत वीरता दिखायी थी। अपने पिता महाप्रभु विजयपाल की ही भाँति वह परम जैन था और साथ ही विद्वान् और सुकवि भी था। उसने कई जिनमन्दिर और सरोवर निर्माण कराये थे तथा जयनृप-काव्य, प्रभंजन-चरित, नेमिजिनेशसंगति, सम्यक्त्वकौमुदी (१५०९ ई.), सूपशास्त्र आदि ग्रन्थों की कन्नडी भाषा में रचना करके अपना नाम अमर किया था। चंगाल्वनरेश विक्रमराय के समय में उसने बैदार नाम भयंकर जंगली जाति का दमन करके बेट्टदपुर नगर बसाया था, कई स्थानों की क़िलाबन्दी की थी, दुर्ग बनवाये थे, कई सरोवर और जिनमन्दिर बनवाये थे। स्वनिर्मापित चमगुम्ब बसदि में उसने पार्श्वजिन, पद्मावती और चन्निगब्रह्मराय की स्थापना की थी। उसकी जननी देविले भी बड़ी धर्मात्मा थी और पिता विजयमाल कल्लहल्लि का शासक और चंगाल्वनरेश का मन्त्री था तथा पितामह स्वयं एक चंगाल्वनरेश माधवराजेन्द्र था। दण्डाधिप मंगरस उस युग का एक प्रमुख जैन वीर था।

चवुडिसेट्टि—श्रवणबेलगोलस्थ विन्ध्यगिरि के अष्ट दिक्पाल मण्डप के एक स्तम्भ पर अंकित १५३७ ई. के कई लेखों में गेरुसप्पे निवासी इस चवुडिसेट्टि की प्रशंसनीय धार्मिक प्रवृत्ति का दिग्दर्शन प्राप्त होता है। यह उदार धनी श्रावक जिस व्यक्ति को कष्ट या आर्थिक विपत्ति में देखता उसकी सहायता करता और बदले में उससे यह लिखित स्वीकृति (धर्मसाधन) ले लेता कि वह व्यक्ति अमुक धर्म-कार्य करेगा और इस प्रकार वह उक्त उपकृत व्यक्तियों को धर्मसाधन में लगाता था। ये धर्मसाधन (धार्मिक इकरारनामे) इस प्रकार के थे कि 'गेरुसप्पे के चवुडिसेट्टि ने मेरी भूमि रहन से मुक्त करा दी है अतएव मैं अगणिबोम्मय्य का पुत्र कम्मय्य सदैव निम्नोक्त दान का पालन करूँगा—एक संघ को आहार, त्यागद-ब्रह्म के सामने के उद्यान की देखरेख और अक्षतपुंज के लिए आवश्यक तन्दुल'—'आपने हमारे कष्ट का परिहार किया है जिसके उपलक्ष्य में मैं देवप्प का पुत्र चिमण सदैव एक संघ को 'आहार-दान दूँगा।' 'कवि के पुत्र बोम्मण ने चवुडिसेट्टि को यह धर्मसाधन दिया कि क्योंकि सेट्टि ने उसकी आपद् का निवारण किया

है वह सदैव वर्ष में छह मास एक संघ को आहार देगा', 'चेन्नय्य माली ने धर्मसाधन दिया कि क्योंकि सेट्टि ने उसकी भूमि रहन से मुक्ति कर दी है वह अमुक धर्म-कार्य करेगा' इत्यादि।

रानी काललदेवी—कार्कल नरेश वीर भैररस वोडेयर की छोटी बहन थी जो बगुंजि सीमे की रक्षिका एवं शासिका थी। उसने १५३० ई. मे अपने कुलदेवता कल्ल-बसदि के पार्श्व तीर्थंकर की नित्य पूजा के लिए भूमिदान दिया था। जब उसकी पुत्री कुमारी रामादेवी की मृत्यु हो गयी तो उसने उसकी स्मृति में भूमि, चावल, तेल, धातु आदि के विविध दान दिये थे। काललदेवी और वीर भैररस की माता का नाम बोम्मल देवी था और पिता का शायद बोम्मरस। वीर भैररस (भैरवपाल) वादी विद्यानन्द का भक्त था और सम्भवतया भव्यानन्दशास्त्र के रचयिता पाण्ड्य क्षमापति और वर्धमान द्वारा १५४२ ई. में उल्लिखित पाण्ड्यराज यही था। उसकी रानी भैरवाम्बा सालुववंश की राजकुमारी थी और बड़ी जिनभक्त धर्मात्मा थी।

वीरय्य नायक—सम्राट् कृष्णादेवराय का एक सामन्त था और चामराजनगर का शासक था जो एक प्राचीन गंगवंशकालीन जैन बस्ती थी। वीरय्य नायक ने १५१७ ई. में वहाँ एक जिनमन्दिर बनवाकर उसके लिए दान दिया था।

गेरुसप्पे के शासक—ये भी परम जैन थे, कृष्णादेवराय के सामन्त थे। इन्होंने १५२३ ई. के लगभग उक्त नगर में कई जिनमन्दिर बनवाये थे और दान दिये थे। तोलवदेश में अम्बुनदी के दक्षिण तट पर स्थित क्षेमपुर नगर में इन सोमवंशी काश्यप-गोत्री क्षत्रियों का राज्य था। इनके कुलदेवता नेमिनाथ तीर्थंकर थे और गोम्मटेश के ही वे भक्त थे। इस वंश में देवमहीपति नाम का भूपाल चूड़ामणि हुआ जिसने गोम्मटेश का महामस्तकाभिषेक कराया था। उसके वंश में कई राजाओं के उपरान्त जिनधर्मरूपी समुद्र के लिए चन्द्रमा के समान भैरव भूपति हुआ जिसके छोटे भाई भैरव, अम्ब क्षितीश और साल्वमल्ल (सालुवमल्लराय) थे। साल्वमल्ल सबसे छोटा होते हुए भी सबसे महान् था। वह सोमवंशाब्जभानु, बुधजन के लिए कामधेनु, जिनेन्द्र की रथयात्राएँ करानेवाला, सद्गुणी और चरित्रवान् था। इस राजा का उत्तराधिकारी उसका भानजा देवराय हुआ जो सप्तोपाय-विचार-चारु-चतुर था और अपने मातुल की भाँति ही राज्य एवं नगर का समर्थ रक्षक एवं शासक था। उसका भानजा साल्वमल्ल (द्वितीय) था जिसका अनुज भैरवेन्द्र था। ये सब बड़े धर्मात्मा जिनभक्त वीर और पराक्रमी थे। राजा देवराय राजगुरु पण्डिताचार्य के चरणकमलों का भ्रमर था और अपने उक्त भानजों एवं अन्य परिवार के साथ तुलुकोंकण-हैवे प्रवेश पर १५६० ई. के लगभग सुखपूर्वक शासन कर रहा था। उस समय उसके राज्यश्रेष्ठि अम्बुवण सेठ ने मानस्तम्भ बनवाकर महान् धर्मोत्सव किया था और दान दिये थे।

योजण श्रेष्ठि—कोंकण, हैव और बनवासिपुर के अधीश्वर चन्दाउरकदम्ब-कुलतिलक कामिदेव महाराज के दण्डाधिनाथ कामेय का पुत्र रामण हेग्गडे था, जिसके

आठ पुत्र थे। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध योजण श्रेष्ठि था। तंगव और रामक्क नाम की उसकी दो पत्नियाँ थीं जिनमें से प्रथम से रामण श्रेष्ठि और दूसरी से कल्लपसेट्टि नाम के पुत्र उत्पन्न हुए थे। अपनी इन दोनों भार्याओं के साथ क्षेमपुर में रहते हुए योजण श्रेष्ठि अत्यन्त समृद्ध हो गया और उसने राज्य-श्रेष्ठि की पदवी प्राप्त कर ली। तब उसने क्षेमपुर में अनन्तनाथ तीर्थंकर का सुन्दर चैत्यालय बनवाया तथा एक नेमीश्वर चैत्यालय बनवाया और अन्य अगणित पुण्य कार्य किये। अन्ततः राजश्रेष्ठि का पद पुत्रों को सौंपकर स्वर्गगामी हुआ। कल्लपश्रेष्ठि ने पिता द्वारा निर्मापित नेमीश्वर चैत्यालय में गोम्मटेश की प्रतिकृति स्थापित की थी।

अम्बुवण श्रेष्ठि—पूर्वोक्त योजन श्रेष्ठि के पुत्र रामणसेट्टि का पुत्र तम्मण था जिसका पुत्र नागसेट्टि हुआ। सातम और नागम नाम की उसकी दो पत्नियाँ थीं। नागम का पिता नेमणसेट्टि हैवे राज्य का प्रमुख सेठ था जो पार्श्व-जिनालय का निर्माता और चतुर्विधदान का दाता था। नागम स्वयं बड़ी गुणवती, शीलवती, पतिपरायण और जिनेन्द्रपद-पूजा-सक्त थी। उसका पुत्र प्रस्तुत अम्बुवण श्रेष्ठि था जो अपने समय में राज्यश्रेष्ठि था। देवरसि और मल्लिदेवी नाम की उसकी दो धर्मात्मा प्रिय पत्नियाँ थीं और कोटणसेट्टि एवं मल्लिसेट्टि नामक दो भाई थे। एक दिन राज्यश्रेष्ठि अम्बुवण अपनी भार्या देवरसि के साथ नेमीश्वर-चैत्यालय में गये, भगवान् की स्तवन, वन्दन एवं मुनिजन का पूजा-सत्कार करके उन्होंने मुनिराज अभिनव-समन्त भद्र का धर्मोपदेश सुना और विचार किया कि उक्त जिनालय के सम्मुख मानस्तम्भ बनवायेंगे। घर आकर अपने भाइयों तथा अन्य कुटुम्बजनों की सम्मति लेकर अपने महाराज देवभूपति के सामने विचार प्रकट किया। महाराज ने सहर्ष सहमति दी। अतएव १५६० ई. में इस धर्मात्मा राज्य सेठ ने उक्त स्थान में कांस्य धातु का बडा उत्तुंग सुन्दर एवं कलापूर्ण मानस्तम्भ बनवाकर महाराज तथा समस्त संघ की उपस्थिति मे बड़े समारोहपूर्वक प्रतिष्ठापित किया। इसी बीच उसकी पत्नी देवरसि ने पद्मरसि एवं देवरसि नामक जुड़वा पुत्रियों को जन्म दिया तो सेठ ने उन कन्याओं की ऊँचाई जितना ठोस स्वर्ण कलश उक्त मानस्तम्भ पर चढ़ाया। इस प्रकार सद्धर्म के छत्र-दण्ड-जैसा चार जिनबिम्बों से युक्त वह सुन्दर मानस्तम्भ पृथ्वी पर शोभायमान हुआ।



मध्यकाल : उत्तरार्ध

(लगभग १५५६-१७५६ ई.)

मुग़ल सम्राट्

यह युग प्रधानतया मुग़ल-साम्राज्यकाल था। सन् १५२६ ई. में पानीपत के युद्ध में लोदी सुल्तानों के राज्य को समाप्त करके और दिल्ली एवं आगरा पर अधिकार करके मुग़ल बादशाह बाबर ने मुग़ल-राज्य की नींव डाली थी। प्रसिद्ध वीर राणा साँगा ने उसे देश से निकाल बाहर करने का असफल प्रयत्न किया था। बाबर अपने अधिकार को व्यवस्थित भी न कर पाया था कि १५३० ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसका उत्तराधिकारी हुमायूँ भी राज्य को सुगठित न कर पाया और १५३९ ई. में शेरशाह सूरी ने उसे भारत से पलायन कर जाने के लिए बाध्य कर दिया। पन्द्रह वर्ष पश्चात् हुमायूँ पुनः आया और पानीपत के दूसरे युद्ध में सूरी सुल्तानों को पराजित करके दिल्ली का बादशाह बना किन्तु एक वर्ष के भीतर ही उसकी मृत्यु हो गयी। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी मुग़ल सम्राट् अकबर महान् था। वही मुग़ल साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक था।

अकबर महान् (१५५६-१६०५ ई.)—प्रायः सर्वथा शून्य से प्रारम्भ करके इस वीर, प्रतापी, महत्त्वाकांक्षी, दृढ़-निश्चयी एवं उदार नरेश ने एक अति विशाल, सुगठित, सुव्यवस्थित, सुशासित, समृद्ध एवं शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण एवं उपभोग किया। महादेश भारतवर्ष के बहुभाग पर उसका एकाधिपत्य था और उसके शासनकाल में देश की बहुमुखी उन्नति हुई। विश्व के सर्वकालीन महान् नरेशों में मुग़ल सम्राट् अकबर की गणना की जाती है। उसकी सफलता के कारणों में उसकी उदार नीति, न्याय-प्रियता, धार्मिक सहिष्णुता, वीरों और विद्वानों का समादर तथा स्वयं को भारतीय एवं भारतीयों का ही समझना सम्भवतया प्रमुख थे। राजपूत राजाओं में से कई एक के साथ वैवाहिक सम्बन्ध करके और उन्हें अपने शासन-तन्त्र में उपयुक्त प्रतिष्ठा प्रदान करके उसने अधिकांश राजपूतों को अपना सहायक बना लिया था। वह महत्त्वाकांक्षी था तो गुण-ग्राहक और दूरदर्शी एवं कुशल नीतिज्ञ भी था। युद्धबन्दियों को ग़ुलाम बनाने की प्रथा, हिन्दू और जैन तीर्थों पर पूर्ववर्ती सुल्तानों द्वारा लगाये गये करों और जजिया कर को समाप्त करके उसने स्वयं को भारतीय जनों में लोकप्रिय बना लिया था। अनेक हिन्दू और जैन भी राजकीय

पदों पर नियुक्त थे। भारतीय साहित्य और कला की भी प्रभूत प्रगति हुई। सम्राट् द्वारा १५७९ ई. में धर्माध्यक्ष का पद भी ग्रहण करने की घोषणा से कुछ कट्टर मुल्ला लोग उससे अवश्य रुष्ट हुए, किन्तु उसकी ग़ैर-मुस्लिम प्रजा सन्तुष्ट ही हुई। मुसलमानी शासन में उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता पर जो कड़ा प्रतिबन्ध था वह बहुत कुछ ढीला पड़ता दिखाई दिया। उसी वर्ष राजधानी आगरा के जैनों ने वहाँ दिगम्बर आम्नाय का मन्दिर निर्माण किया और बडे समारोह के साथ बिम्ब-प्रतिष्ठा महोत्सव किया। आगरा के निकट शौरिपुर और हथिकन्त मे तथा साम्राज्य की द्वितीय राजधानी दिल्ली में नन्दि-संघ के दिगम्बरी भट्टारकों की गद्दियाँ थीं। दिल्ली में काष्ठासंघ की तथा श्वेताम्बर यतियों की भी गद्दियाँ थी। रणकाराव, भारमल्ल, टोडर साहू, हीरानन्द मुकीम, कर्मचन्द बच्छावत प्रभृति अनेक प्रतिष्ठित जैन राज्यमान्य और सम्राट् के कृपापात्र थे। उसके राज्यकाल में लगभग दो दर्जन जैन साहित्यकारों एवं कवियों ने साहित्य-सृजन किया, कई प्रभावक जैन सन्त हुए, मन्दिरों का निर्माण हुआ, जैन तीर्थ-यात्रा संघ चले और जैन जनता ने कई सौ वर्षों के पश्चात् पुनः धार्मिक सन्तोष की साँस ली। स्वयं सम्राट् ने प्रयत्नपूर्वक तत्कालीन जैन गुरुओं से सम्पर्क किया और उनके उपदेशों से लाभान्वित हुआ। आचार्य हीरविजयसूरि की प्रसिद्धि सुनकर सम्राट् ने १५८१ ई. में गुजरात के सूबेदार साहबखाँ के द्वारा उनको आमन्त्रित किया, अतएव अपने शिष्यों सहित सूरिजी १५८२ ई. में आगरा पधारे। सम्राट् ने धूमधाम के साथ उनका स्वागत किया और उनकी विद्वत्ता एवं उपदेशों से प्रभावित होकर उन्हे 'जगद्गुरु' की उपाधि दी। आचार्य और उनके शिष्य सम्राट् को यथावसर धर्मोपदेश देते थे। विजयसेनगणि ने सम्राट् के दरबार में 'ईश्वर कर्ता-हर्ता नहीं है' विषय पर अन्य धर्मों के विद्वानों से शास्त्रार्थ किये और भट्ट नामक प्रसिद्ध ब्राह्मण पण्डित को वाद में पराजित करके 'सवाई' उपाधि प्राप्त की। सम्राट् ने लाहौर में भी गणिजी को अपने पास बुलाया था। यति भानुचन्द्र ने सम्राट् के लिए 'सूर्य-सहस्रनाम' की रचना की और 'पातशाह अकबर जलालुद्दीन सूर्य सहस्रनामाध्यापक' कहलाये। उनके फ़ारसी भाषा के ज्ञान से प्रसन्न होकर सम्राट् ने उन्हे 'खुशफहम' उपाधि भी प्रदान की थी। कहा जाता है कि एक बार सम्राट् को भयानक शिरःशूल हुआ तो उसने यतिजी को बुलवाया। उन्होंने कहा कि वह तो कोई वैद्य-हकीम नही हैं, किन्तु सम्राट् ने कहा कि उनपर उसका विश्वास है, वह कह देंगे तो पीड़ा दूर हो जायेगी। यतिजी ने सम्राट् के मस्तक पर हाथ रखा और उसकी पीड़ा दूर हो गयी। मुसाहबों ने इस खुशी में क़ुर्बानी कराने के लिए पशु एकत्र किये। सम्राट् ने सुना तो उसने तुरन्त क़ुर्बानी को रोकने का और पशुओं को छोड़ देने का आदेश दिया और कहा कि 'मुझे सुख हो, इस खुशी में दूसरे प्राणियों को दुख दिया जाये, यह सर्वथा अनुचित है।' मुनि शान्तिचन्द्र ने भी सम्राट् को बड़ा प्रभावित किया था। एक वर्ष ईदुज्जुहा (बकरीद) के त्यौहार पर जब वह सम्राट् के पास थे तो एक दिन पूर्व उन्होंने सम्राट् से निवेदन किया कि वह उसी दिन अन्यत्र

प्रस्थान कर जायेंगे क्योंकि अगले दिन यहाँ हजारों-लाखों निरीह पशुओं का वध होने-वाला है। उन्होंने स्वयं 'कुरान' की आयतों से यह सिद्ध करके दिखाया कि 'कुर्बानी का मांस और रक्त खुदा को नहीं पहुँचता, वह इस हिंसा से प्रसन्न नहीं होता, बल्कि परहेज-गारी से प्रसन्न होता है, रोटी और शाक खाने से ही रोजे क़बूल हो जाते हैं।' इस्लाम के अन्य अनेक धर्मग्रन्थों के हवाले देकर मुनिजी ने सम्राट् और दरबारियों के हृदय पर अपनी बात की सचाई जमा दी। अतएव सम्राट् ने घोषणा करा दी कि इस ईद पर किसी भी जीव का वध न किया जाये। बीकानेर के राज्यमन्त्री कर्मचन्द्र बच्छावत की प्रेरणा से १५९२ ई. में सम्राट् ने जिनचन्द्रसूरि को खम्भात से आमन्त्रित किया और जब वह लाहोर पधारे तो उनका उत्साह से स्वागत किया। इन सूरिजी ने सम्राट् के प्रतिबोध के लिए 'अकबर-प्रतिबोधरास' लिखा। सम्राट् ने उन्हें 'युगप्रधान' उपाधि दी और उनके कहने से दो फ़र्मान जारी किये, जिनमें से एक के अनुसार खम्भात की खाड़ी में मछली पकड़ने पर प्रतिबन्ध लगाया और दूसरे के अनुसार आषाढ़ी अष्टाह्निका में पशुवध निषिद्ध किया गया। सूरिजी के साथ मानसिंह, वैपहर्ष, परमानन्द और समय-सुन्दर नाम के शिष्य भी आये थे। सम्राट् की इच्छानुसार सूरिजी ने मानसिंह को जिनसिंहसूरि नाम देकर अपना उत्तराधिकार और आचार्य-पद प्रदान किया। कर्मचन्द्र बच्छावत ने सम्राट् की सहमति से यह पट्टबन्धोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया था। पट्टन के पार्श्वनाथ-मन्दिर में अंकित १५९५ ई. के एक बृहत् संस्कृत शिलालेख में जिनचन्द्रसूरि विषयक यह सब प्रसंग वर्णित है। मुनि पद्मसुन्दर ने सम्भवतया इस सम्राट् के आश्रम में ही 'अकबरशाही-शृंगारदर्पण' की रचना की थी। कहा जाता है कि जब शाहज़ादे सलीम की एक पत्नी ने मूलनक्षत्र के प्रथम-पाद में कन्या प्रसव की तो ज्योतिषियों ने इसे बड़ा अनिष्टकर बताया और पिता के लिए उसका मुख देखने का भी निषेध किया। सम्राट् ने अबुलफ़ज़ल आदि प्रमुख अमात्यों से परामर्श करके कर्मचन्द्र बच्छावत को जैनधर्मानुसार ग्रहशान्ति का उपाय करने का आदेश दिया। अस्तु, कर्मचन्द्र ने चैत्रशुक्ल पूर्णिमा के दिन स्वर्ण-रजत कलशों से तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा का बड़े समारोहपूर्वक अभिषेक किया और शान्ति-विधान किया। पूजन की समाप्ति पर मंगलदीप एवं आरती के समय सम्राट् अपने पुत्रों और दरबारियों के साथ वहाँ आया, अभिषेक का गन्धोदक विनयपूर्वक उसने अपने मस्तक पर चढ़ाया, अन्तःपुर में बेगमों के लिए भी भिजवाया और उक्त जिन-मन्दिर को दस सहस्र मुद्राएँ भेंट कीं। उसने गुजरात के सूबेदार आज़मख़ाँ को फ़रमान भेजा था कि मेरे राज्य में जैनों के तीर्थों, मन्दिरों और मूर्तियों को कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार की क्षति न पहुँचाये, जो इस आदेश का उल्लंघन करेगा, भीषण दण्ड का भागी होगा। प्रायः उसी काल के मेडतादुर्ग के शिलालेखों में भी सम्राट् अकबर द्वारा जैन मुनियों को युगप्रधान पद देने, आषाढ़ी अष्टाह्निका में अमारि घोषणा करने, वर्ष में सब मिलाकर लगभग डेढ़-पौने दो सौ दिनों में सम्पूर्ण राज्य में पशुवध या जीव-हिंसा बन्द करने, खम्भात की खाड़ी में मछलियों

का शिकार बन्द करने, सर्वत्र गोरक्षा का प्रचार करने, शत्रुंजय आदि तीर्थों से राज्यकर उठा लेने आदि का उल्लेख है। पाण्डे राजमल्ल ने १५८५ ई. के लगभग लिखा कि धर्म के प्रभाव से सम्राट् अकबर ने जजियाकर बन्द करके यश का उपार्जन किया, हिंसक वचन उसके मुख से भी नहीं निकलते थे, जीवहिंसा से वह सदा दूर रहता था, अपने धर्मराज्य में उसने द्यूतक्रीड़ा और मद्यपान का भी निषेध कर दिया था क्योंकि मद्यपान से मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह कुमार्ग में प्रवृत्ति करता है।' उसी वर्ष पाण्डे जिनदास ने भी अपने 'जम्बूस्वामीचरित्र' में अकबर की सुनीति और सुराज्य की प्रशंसा की थी। ग्वालियर निवासी कवि परिमल ने १५९४ ई. में आगरा में ही रचित अपने 'श्रीपाल-चरित्र' में सम्राट् अकबर की प्रशंसा, उसके द्वारा गो-रक्षा के प्रयत्न, आगरा नगर की सुन्दरता, वहाँ जैन विद्वानों का सत्-समागम और उनकी नित्य होनेवाली विद्वद्गोष्ठियों का उल्लेख किया है। विद्याहर्षसूरि ने अपने 'अंजना-सुन्दरीरास' (१६०४ ई.) में अकबर द्वारा जैन गुरुओं के प्रभाव से गाय, भैंस, बैल, बकरी आदि पशुओं के वध का निषेध, पुराने क़ैदियों की जेल से मुक्ति, जैन गुरुओं के प्रति आदर प्रदर्शन, दानपुण्य के कार्यों में उत्साह लेना इत्यादि का उल्लेख किया है। महाकवि बनारसीदास ने अपने आत्मचरित में लिखा है कि जब जौनपुर में अपनी किशोरावस्था में उन्होंने सम्राट् अकबर की मृत्यु का समाचार सुना था तो वह मूर्च्छित होकर गिर पड़े थे और अन्य जनता में भी सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी थी—यह तथ्य उस सम्राट् की लोकप्रियता का सूचक है। अकबर के मित्र एवं प्रमुख अमात्य अबुलफ़ज़ल ने अपनी प्रसिद्ध 'आईने-अकबरी' में जैनों का और उनके धर्म का विवरण दिया है। इस महाग्रन्थ के निर्माण मे उसने जैन विद्वानों का भी सहयोग लिया था। बंगाल आदि के नरेशों की वंशावली उन्हीं की सहायता से संकलित की गयी बतायी जाती है। हीर-विजयसूरि आदि कई जैन गुरुओं का उल्लेख भी उसने इस ग्रन्थ में किया है। फ़तहपुर सीकरी के महलों में अपने जैन गुरुओं के बैठने के लिए सम्राट् ने विशिष्ट जैन कलापूर्ण सुन्दर पाषाणनिर्मित छतरी बनवायी थी जो 'ज्योतिषी की बैठक' कहलाती है। 'आईने-अकबरी' मे अकबर की कुछ उक्तियाँ संकलित हैं जो उसकी मनोवृत्ति की परिचायक हैं, यथा "यह उचित नहीं है कि मनुष्य अपने उदर को पशुओं की क़ब्र बनाये। मांस के अतिरिक्त बाज़ पक्षी का कोई अन्य भोज्य न होने पर भी उसे मांसभक्षण का दण्ड अल्पायु के रूप में मिलता है, तब मनुष्यों को जिनका प्राकृतिक भोजन मांस नही है, इस अपराध का क्या दण्ड नही मिलेगा? क़साई, बहेलिये आदि जीव-हिंसा करनेवाले व्यक्ति जब नगर से बाहर रहते हैं तो मांसाहारियों को नगर के भीतर रहने का क्या अधिकार है? मेरे लिए यह कितने सुख की बात होती कि यदि मेरा शरीर इतना बड़ा होता कि समस्त मांसाहारी केवल उसे ही खाकर सन्तुष्ट हो जाते और अन्य जीवों की हिंसा न करते। प्राणिहिंसा को रोकना अत्यन्त आवश्यक है, इसीलिए मैंने स्वयं मांस खाना छोड़ दिया है।" स्त्रियों के सम्बन्ध में वह कहा करता था "यदि

युवावस्था में मेरी चित्तवृत्ति अब-जैसी होती तो कदाचित् मैं विवाह ही नहीं करता। किससे विवाह करता? जो आयु में बड़ी हैं वे मेरी माता के समान हैं, जो छोटी हैं वे पुत्री के तुल्य हैं और जो समवयस्का हैं उन्हें मैं अपनी बहनें मानता हूँ।"

विन्सेण्ट स्मिथ प्रभृति इतिहासकारों का मत है कि जीवन के उत्तरार्ध में, लगभग १५८०-८१ ई. के उपरान्त, सम्राट् अकबर के अनेक कार्य एवं व्यवहार उसके द्वारा जैन आचार-विचार को अंशतः स्वीकार कर लेने के परिणामस्वरूप हुए। प्राणि-हिंसा से उसे घृणा हो चली थी। गौ-मांस छूता भी नहीं था। अन्य मांस का आहार भी जब-तब और बहुत कम करता था, अन्ततः उसका भी सर्वथा त्याग कर दिया था। वर्ष के कुछ निश्चित दिनों में पशु-पक्षियों की हिंसा को उसने मृत्युदण्ड का अपराध घोषित कर दिया था। स्मिथ कहता है कि इस प्रकार का आचरण और जीवहिंसा निषेध की कड़ी आज्ञाएँ जारी करना जैन गुरुओं के सिद्धान्तों के अनुसार चलने का प्रयत्न करने के ही परिणाम थे और पूर्वकाल के जैननरेशों के अनुरूप थे। क्या आश्चर्य है जो अनेक वर्गों में यह प्रसिद्ध हो गया कि 'अकबर ने जैनधर्म धारण कर लिया है।' पुर्तगाली जेसुइट पादरी पिन्हेरो ने अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार से अपने बादशाह को १५९५ ई. में आगरा से भेजे गये पत्र में लिखा था कि अकबर जैनधर्म का अनुयायी हो गया है, वह जैन नियमों का पालन करता है, जैनविधि से आत्मचिन्तन और आत्माराधन में बहुधा लीन रहता है, मद्य-मांस और द्यूत के निषेध की उसने आज्ञा प्रचारित कर दी है, इत्यादि। अनेक आधुनिक इतिहासकार भी स्वीकार करते हैं कि सम्राट् अकबर जैनधर्म पर बड़ी श्रद्धा रखता था, अथवा उस धर्म और उसके गुरुओं का बड़ा आदर करता था। कुछ तो यहाँ तक कहते हैं कि उसके अहिंसा धर्म का पालन करने के कारण ही मुल्ला-मौलवी और अनेक मुसलमान सरदार उससे असन्तुष्ट हो गये थे और उन्हीं की प्रेरणा एवं सहायता से राजकुमार सलीम (जहाँगीर) ने विद्रोह किया था। कुछ हो, इसमें सन्देह नहीं है कि मुग़ल सम्राट् अकबर महान् उदार, सहिष्णु और सर्वधर्मसमदर्शी नरेश था। मुसलमान, हिन्दू, जैन, पारसी, ईसाई आदि सभी धर्मों के विद्वानों के प्रवचन वह आदरपूर्वक सुनता था और जिसका जो अंश उसे रुचता उसे ग्रहण कर लेता था। वस्तुतः उसे किसी भी एक धर्म का अनुयायी कहा ही नहीं जा सकता। जैन इतिहास में उसका उल्लेखनीय स्थान इसी कारण है कि किसी भी जैनेतर सम्राट् से जैनधर्म, जैन गुरुओं और जैन जनता को उस युग में जो उदार सहिष्णुता, संरक्षण, पोषण और मान प्राप्त हो सकता था वह उसके शासनकाल में हुआ। यहाँ तक कहा जाता है कि भावदेवसूरि के शिष्य शीलदेव से प्रभावित होकर इस सम्राट् ने १५७७ ई. के लगभग एक जिन-मन्दिर के स्थान पर बनायी गयी मस्जिद को तुड़वाकर फिर से जिनमन्दिर बनवाने की आज्ञा दे दी थी। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं, यथा सहारनपुर के सिंघियान मन्दिर सम्बन्धी किंवदन्ती।

अकबर के पुत्र एवं उत्तराधिकारी मुगल सम्राट् नूरुद्दीन जहाँगीर (१६०५-२७ ई.) ने सामान्यतया अपने पिता की धार्मिक नीति का अनुसरण किया। अपने आत्मचरित्र 'तुजुके-जहाँगीरी' के अनुसार उसने राज्याधिकार प्राप्त करते ही घोषणा की थी कि 'मेरे जन्म-मास में सारे राज्य में मांसाहार निषिद्ध रहेगा, सप्ताह में एक-एक दिन ऐसे होंगे जिनमें सभी प्रकार के पशुबध का निषेध है, मेरे राज्याभिषेक के दिन, गुरुवार को तथा रविवार को भी कोई मांसाहार नहीं करेगा क्योंकि उस दिन (रविवार को) सृष्टि का सृजन पूर्ण हुआ था अतएव उस दिन किसी भी प्राणी का घात करना अन्याय है, मेरे पूज्य पिता ने ग्यारह वर्षों से अधिक समय तक इन नियमों का पालन किया है, रविवार को तो वह कभी भी मांसाहार नहीं करते थे, अतः मैं भी अपने राज्य में उपरोक्त दिनों में जीव-हिंसा के निषेध की उद्घोषणा करता हूँ।' जिनसिंहसूरि (यति मानसिंह) आदि जैन गुरुओं के साथ भी वह घण्टों दार्शनिक चर्चा किया करता था। इन जैनगुरु को उसने 'युगप्रधान' उपाधि भी प्रदान की थी। कालान्तर में जब उन्होंने विद्रोही शाहजादे खुसरू का पक्ष लिया तो जहाँगीर उनसे अत्यन्त रुष्ट हो गया और उनके सम्प्रदाय के व्यक्तियों को अपने राज्य से भी निर्वासित कर दिया था। वैसे, उसके शासनकाल में कई नवीन जैन-मन्दिर भी बने, अपने धर्मोत्सव मनाने और तीर्थयात्रा करने की भी जैनों को स्वतन्त्रता थी। गुजरात आदि प्रान्तों के जैनियों ने उसके प्रान्तीय सूबेदारों से पशुबध-निरोध-विषयक फ़रमान भी जारी कराये थे। साँभर के राजा भारमल और आगरे के हीरानन्द मुकीम-जैसे कई जैन सेठ उसके कृपापात्र थे। ब्रह्मरायमल्ल, बनवारीलाल, विद्याकमल, ब्रह्मगुलाल, गुणसागर, त्रिभुवनकीर्ति, भानुकीर्ति, सुन्दरदास, भगवतीदास, कवि विष्णु, कवि नन्द आदि अनेक जैन गृहस्थ एवं साधु विद्वानों ने निराकुलतापूर्वक साहित्य रचना की थी। कवि जगत् ने तो अपने 'यशोधर-चरित्र' में आगरा नगर की सुन्दरता और 'नृपति नूरदीशाहि' (जहाँगीर) के चरित्र एवं प्रताप का तथा उसके सुख-शान्तिपूर्ण राज्य में होनेवाले धर्मकार्यों का अच्छा वर्णन किया है। पण्डित बनारसीदास की विद्वद्गोष्ठी इस काल में आगरा नगर में जम रही थी और यह जैन महाकवि अपनी उदार काव्यधारा हिन्दू-मुसलिम एकता को प्रोत्साहन दे रहे थे तथा अध्यात्मरस प्रवाहित कर रहे थे।

जहाँगीर के उत्तराधिकारी शाहजहाँ (१६२८–५८ ई.) के समय में प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी और अकबर की उदार धार्मिक सहिष्णुता की नीति में उत्तरोत्तर पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होने लगा। यों तो जहाँगीर के शासनकाल में जब वह गुजरात का सूबेदार था तो उसने वहाँ के जैनों की प्रार्थना पर जीवहिंसा-निषेधक कई फ़रमान जारी किये थे, यद्यपि यह कार्य उसने वहाँ के धनी सेठों से राजकोष के लिए विपुल धन लेकर ही किया बताया जाता है। यह भी अनुश्रुति है कि आगरा के पण्डित बनारसीदास शाहजहाँ के मुसाहब थे और उसके साथ बहुधा शतरंज खेला करते थे। अपने अन्तिम वर्षों में जब कवि की चित्तवृत्ति राज-दरबार से विरक्त हुई तो सम्राट् ने उन्हें

दरबार में उपस्थित न होने की सहर्ष अनुमति दे दी थी। इन पण्डितजी की आध्यात्मिक विद्वद्गोष्ठी इस काल में निरन्तर चली, जिसमें दसियों उच्चकोटि के विद्वान् सम्मिलित थे। दिल्ली, लाहौर, मुलतान आदि प्रमुख नगरों के जैन विद्वानों से भी इस सत्संग का सम्पर्क बना रहता था। श्वेताम्बर यति, दिगम्बर भट्टारक, ऐल्लक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी आदि तो राज्य और राजधानी में विचरते ही रहते थे, शान्तिदास नामक एक नग्न जैनमुनि का भी उस काल में आगरे में आना पाया जाता है। इस शासनकाल में स्वयं बनारसीदास, भगवतीदास, पाण्डे हेमराज, पाण्डे रूपचन्द्र, पाण्डे हरिकृष्ण, भट्टारक जगभूषण, कवि सालिवाहन, यति लूणसागर, पृथ्वीपाल, वीरदास, कवि सधारु, मनोहरलाल, खरगसेन, रायचन्द्र आदि अनेक जैन विद्वानों ने विपुल साहित्य सृजन किया। दिल्ली में स्वयं लालक़िले के सामने शाहजहाँ के शासनकाल में ही जैनों का वह प्रसिद्ध लालमन्दिर बना था जो उर्दू-मन्दिर या लश्करी-मन्दिर भी कहलाता था, क्योंकि वह शाही सेना के जैन सैनिकों एवं अन्य राज्यकर्मचारियों की प्रार्थना पर सम्राट् के प्रश्रय में उसकी अनुमतिपूर्वक बना था (उर्दू का अर्थ सेना की छावनी है)। उसी काल में दिल्ली दरवाज़े के निकट भी एक जैन-मन्दिर का निर्माण हुआ था।

औरंगज़ेब (१६५८–१७०७ ई.) ने अपने पूर्वजों की समदर्शिता की नीति को प्रायः पूर्णतया बदल दिया। वह कट्टर मुसलमान था और धर्म के विषय में अत्यन्त असहिष्णु था। उसने मथुरा, वाराणसी आदि के अनेक प्रसिद्ध हिन्दू मन्दिरों को तुड़वाकर उनके स्थान में मस्जिदें बनवा दी थीं। किन्तु सामान्य शासनतन्त्र सुदृढ़ था। प्राय: सम्पूर्ण भारतवर्ष पर उसका प्रभुत्व था। उसकी शक्ति और समृद्धि भी सर्वोपरि थी। साम्राज्य के केन्द्रीय भागों में सामान्यतया अराजकता नहीं थी। अतएव इस काल में भी उपाध्याय यशोविजय, आनन्दघन, विनयविजय, देव ब्रह्मचारी, भैया भगौतीदास, जगतराय, शिरोमणिदास, जीवराज, लक्ष्मीचन्द्र, भट्टारक विश्वभूषण, सुरेन्द्रभूषण, कवि विनोदीलाल आदि अनेक श्रेष्ठ जैन साहित्यकार हुए। विनोदीलाल ने अपने 'श्रीपाल-चरित्र' (१६९० ई.) में लिखा है कि 'इस समय, औरंगशाह बली का राज्य है जिसने स्वयं अपने पिता को बन्दी बनाकर सिंहासन प्राप्त किया था और चक्रवर्ती के समान समुद्र से समुद्रपर्यन्त अपने राज्य का विस्तार कर लिया।' अनुश्रुति है कि दिल्ली के उर्दू-मन्दिर में दोनों समय पूजा एवं आरती के अवसर पर वाद्य बजते थे। औरंगज़ेब ने उनका निषेध किया, किन्तु बिना किसी मनुष्य के माध्यम के ही बाजे फिर भी बजते रहे, अतएव सम्राट् ने अपनी निषेधाज्ञा वापस ले ली। अहमदाबाद के शान्तिदास जौहरी को उसने अपना दरबारी भी नियुक्त किया था। कन्नड़ी भाषा की एक विरुदावली के अनुसार औरंगज़ेब ने कर्णाटक के एक दिगम्बर जैनाचार्य का भी सम्मान किया था, सम्भवतया अपने दक्षिण प्रवास के समय।

औरंगज़ेब मुग़लवंश का अन्तिम महान् सम्राट् था, किन्तु उसकी हिन्दू-विरोधी नीति, शक्की मनोवृत्ति, कुटिल कूटनीति और धार्मिक अनुदारता आदि के परिणामस्वरूप

उसकी मृत्यु के पूर्व ही मुग़ल सत्ता खोखली हो गयी और उसके पश्चात् तो द्रुत वेग से पतनोन्मुख हुई। कुछ ही दशकों में साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और तदनन्तर दिल्ली के मुग़ल बादशाह धनहीन, शक्तिहीन, सत्ताहीन, पराश्रित, नाममात्र के ही बादशाह रहे। देश में अनेक आन्तरिक एवं बाह्य कारणों से अवनति और अराजकता का दौर रहा। कहा जाता है कि बादशाह मुहम्मदशाह (१७१९-४८ ई.) ने राज्य के जैन धनिकों के आग्रह पर पशुबध पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया था। इसी बादशाह के राज्यकाल में दिल्ली में बैदवाड़ा का जैनमन्दिर १७४१ ई. में बना और १७४३ ई. में शाही कमसरियट के अधिकारी आशामल ने मस्जिद-खजूर मोहल्ले का पंचायती मन्दिर निर्माण कराया था।

मुग़लशासन-काल के उल्लेखनीय जैनों में जो प्रमुख हैं उनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

राजा भारमल—रांक्या गोत्र के श्रीमाल ज्ञातीय श्रेष्ठि थे। इनके पिता रणकाराव सम्राट् अकबर की ओर से आबू प्रदेश के शासक नियुक्त थे और श्रीपुरपट्टन में निवास करते थे जहाँ से वह अपना शासनकार्य चलाते थे। स्वयं राजा भारमल सम्राट् के कृपापात्र थे और उसकी ओर से सांभर के सम्पूर्ण इलाक़े के शासक थे और नागौर में निवास करते थे। स्वर्ण और जवाहिरात का व्यापार भी इन वणिक्पति के हाथ में था। उनकी अपनी सेना थी और अपने सिक्के चलते थे। उनकी दैनिक आय एक लाख टका (रुपये) थी और स्वयं सम्राट् के कोष में वह प्रतिदिन पचास हज़ार टका देते थे। सम्राट् उनका बहुत सम्मान करते थे और युवराज सलीम (जहाँगीर) तो बहुधा उनसे भेंट करने के लिए नागौर उनके दरबार में जाया करते थे। राजा भारमल धर्मात्मा, उदार और असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति के विद्यारसिक श्रीमान् थे। धार्मिक कार्यों और दानादि में वह लाखों रुपये ख़र्च करते थे। काष्ठासंघी भट्टारकीय विद्वान् कविवर पाण्डे राजमल्ल (लगभग १५७५-८७ ई.) ने उनकी प्रेरणा से उन्हीं के लिए 'छन्दोविद्या' नामक महत्त्वपूर्ण पिंगलशास्त्र की रचना की थी। उसमें विविध छन्दों का निरूपण करते हुए कवि ने अपने आश्रयदाता राजा भारमल के प्रताप, यश, वैभव, उदारता आदि का भी सुन्दर परिचय दिया है। इन्ही पाण्डे राजमल्ल ने 'पंचाध्यायी', 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड', 'समयसार की बालबोधटीका'-जैसे महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थों की तथा वैराटनगर निवासी साहु फामन के लिए 'लाटीसंहिता' की और आगरा के साहु टोडर के लिए 'जम्बूस्वामीचरित' की रचना की थी।

साहु टोडर—अर्गलपुर (आगरा) में पासा (पार्श्व) साहु नामक प्रसिद्ध धर्मात्मा एवं धनी गर्गगोत्री अग्रवाल जैन थे जो क्रिया में सावधान, चरित्रवान्, संयमी और विमलगुणनिधान थे। मूलतः यह भटानियाकोल (अलीगढ़) के निवासी थे और साहु रूपचन्द के सुपुत्र थे। इन पासा साहु के कुलतिलक सुपुत्र टोडर साहु थे। वह बादशाह अकबर के एक उच्चपदस्थ अधिकारी कृष्णमंगल चौधरी के विश्वस्त मन्त्री

थे और आगरा की शाही टकसाल के भी अधीक्षक थे। स्वयं सम्राट् तक उनकी पहुँच थी। ऋषभदास, मोहनदास, रूपचन्द (रूपमांगद) और लछमनदास नाम के उनके चार सुयोग्य पुत्र थे और धर्मपत्नी का नाम कसुम्भी था। यह सारा परिवार अत्यन्त धार्मिक और विद्यारसिक था। साहु टोडर को तत्कालीन विद्वानों ने सकलगुणभृत, राजमान्य, सुकृति, दयालु, समृद्ध, भावबुद्धि, धर्मज्ञ, शुद्धमानस, परदारविमुख, परदोष-भाषण में मौन और महाधर्मा कहा है। उन्होंने राजाज्ञा लेकर विपुल द्रव्य व्यय करके मथुरा नगर के प्राचीन जैनतीर्थ का उद्धार किया था, वहाँ प्राचीन स्तूपों के जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर ५१४ नवीन स्तूप निर्माण कराये थे तथा १२ दिक्पाल आदि की स्थापना की थी और बड़े समारोह के साथ १५७३ ई. में उनका प्रतिष्ठोत्सव किया था जिसमें चतुर्विध संघ को आमन्त्रित किया था। उन्होंने आगरा नगर में भी एक भव्य मन्दिर बनवाया था जिसमें १५९४ ई. में हमीरी बाई नामक आत्मसाधिका ब्रह्मचारिणी रहती थी। मथुरा तीर्थ के उद्धार के उपलक्ष्य में उन्होंने १५७५ ई. में पाण्डे राजमल्ल से संस्कृत भाषा मे 'जम्बूस्वामीचरित्र' को तथा १५८५ ई. मे पं. जिनदास से हिन्दी पद्य में उसी चरित्र की स्वतन्त्र रचना करायी थी। उनके ज्येष्ठ पुत्र साहु ऋषभदास या ऋषिदास भी बड़े धर्मात्मा, ज्ञानवान्, अध्यात्म और योगशास्त्र के रसिक थे। वह जिनचरणों के भक्त, दयालु-हृदय, उदारचेता, कामलीला से विरक्त, संयमी श्रावक थे। उनकी प्रेरणा से पण्डित नयविलास ने आचार्य शुभचन्द्र के 'ज्ञानार्णव' नामक सुप्रसिद्ध जैन योगशास्त्र की संस्कृत टीका लिखायी थी।

हर्षचन्द्र सेठ—वाग्वर (बागड़) देश के शाकवाटपुर (सागवाड़ा) के निवासी हूमड़वंशी धर्मात्मा सेठ थे। उन्होंने तथा उनकी पत्नी दुर्गा ने अनन्तव्रत के उद्यापन के उपलक्ष्य में १५७६ ई. मे भट्टारक गुणचन्द्र से 'अनन्तजिनव्रतपूजा' की रचना करायी थी जो उन्ही के पूर्वजों द्वारा निर्मापित उस नगर के आदिनाथ-चैत्यालय में लिखकर पूर्ण की गयी थी। उसी जिनालय में निवास करते हुए भट्टारक शुभचन्द्र ने १५५१ ई. में अपने प्रसिद्ध 'पाण्डवपुराण' को रचना की थी।

राजकुमार शिवाभिराम—धन और धार्मिकता से युक्त जैन महाजनों से भरे-पूरे कुम्भनगर में बृहद्गुर्जरवंशी क्षत्रिय राजा तारासिंह का राज्य था। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी बलवान् रणमल्ल था जो वैरियों का दमन करनेवाला, अन्यायमार्ग-विरत, मित्रमूर्ति था। उसका पुत्र शूरवीर, गुणवान् एवं कीर्तिवान् सामन्तसिंह नृपराज था, दिल्ली का बादशाह भी उसे मानता था। एक दिगम्बराचार्य के प्रसाद से महाराज सामन्तसिंह को जिनधर्म की प्राप्ति हुई और वह शुद्ध जिनमार्गी हो गये। उन्हींके पुत्र यह राजकुमार पद्मसिंह थे जिनका दूसरा नाम शिवाभिराम था। यह वीर, सुन्दर, प्रबुद्ध एवं संयमी राजकुमार थे। गृहस्थ में रहते ही यह ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने लगे थे और राजकाज से अतिरिक्त अपना पूरा समय विद्याविनोद तथा जिनराज की भक्ति में व्यतीत करते थे। उनकी भार्या रानी वीणा भी शीलादिगुणोज्ज्वलांग, अर्हत

भगवान् के पादपद्मों की सेविका, लक्ष्मी-जैसी थी। उसकी प्रेरणा से राजकुमार ने 'चन्द्रप्रभ-पुराण' नामक संस्कृत काव्य की रचना की थी। ऐसा लगता है कि आगे चलकर उन्होंने राज्य का परित्याग कर दिया और उदासीन श्रावक के रूप में यत्र-तत्र विचरते थे। इन्हीं ने १५८२ में जब वह मालवदेश के विजयसार प्रदेश के दिविजनगर-दुर्ग (सम्भवतया उत्तर प्रदेश के झांसी जिले के सुप्रसिद्ध देवगढ़) के देवालय में ठहरे हुए थे तो उन्होंने 'षट्चतुर्थ-वर्तमान-जिनार्चन' नामक काव्य की रचना की थी। राजा सामन्तसेन का वहाँ शासन था और उसके महामात्य रघुपति का पुत्र धन्यराज इन राजर्षि शिवाभिराम का परम भक्त था। उसी की प्रेरणा से उन्होंने उक्त काव्य की रचना की थी। बड़गूजर राजाओं का उपरोक्त कुम्भनगर सम्भवतया राजस्थान के अलवर—तिजारा क्षेत्र में स्थित था।

मन्त्री खीमसी—सम्राट् अकबर ने जगन्नाथ कच्छपघात (कछवाहा) को रणथम्भौर दुर्ग का शासक नियुक्त करके उसे महाराजा की उपाधि दी थी। इस महाराज जगन्नाथ का राजमन्त्री खीमसी (क्षेमसिंह) नामक एक अग्रवाल जैन था जो बड़ा धर्मात्मा था। उसने १५९१ में रणथम्भौर-दुर्ग में एक भव्य जिनालय बनवाकर प्रतिष्ठापित किया।

साहरनवीरसिंह—अग्रवाल जैन थे और सम्राट् अकबर के समय में एक शाही खजांची और एक शाही टकसाल के एक अधिकारी थे तथा सम्राट् के कृपापात्र अनुचर थे। उनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर सम्राट् ने उन्हें पश्चिमी उत्तरप्रदेश में एक जागीर प्रदान की थी जिसमें उन्होंने अपने नाम पर 'सहारनपुर' नगर बसाया। सहारनपुर में भी शाही टकसाल कायम हुई और उसके वही अध्यक्ष नियुक्त हुए। उनके पिता राजा रामसिंह भी राज्यमान्य व्यक्ति थे। उन्होंने कई स्थानों में जैनमन्दिर बनवाये बताये जाते हैं। साहरनवीरसिंह के सुपुत्र सेठ गुलाबराय थे और पौत्र सम्भवतया सेठ मिहिरचन्द्र थे। दिल्ली के कूँचा सुखानन्द में इन दोनों सज्जनों ने एक जैनमन्दिर बनवाया था, जो अब भी उनके नाम से प्रसिद्ध है।

संघपति माणिक सुराणा—निमाड़ (मध्यप्रदेश) से प्राप्त कृष्ण पाषाण की एक महावीर-प्रतिमा के १५९१ ई॰ के लेखानुसार सुराणावंशी उदयसिंह के पुत्र संघपति साहु पालहंस की भार्या नायकदे की कुक्षि से उत्पन्न संघपति साहु माणिक ने धर्मघोषसूरि के शिष्य रत्नाकरसूरि द्वारा उस वर्ष में बिम्ब-प्रतिष्ठा करायी थी। संघपति उपाधि से प्रतीत होता है कि साहु माणिक और उसके पिता साहु पालहंस ने यात्रासंघ भी चलाया था।

कवि परिमल—ग्वालियर में महाराज मानसिंह तोमर के समय में चन्दन चौधरी नामक बरहिया ज्ञातीय प्रसिद्ध राज्यमान्य श्रावक थे। उनके पुत्र रामदास थे, जिनके पुत्र शास्त्रज्ञ विद्वान् कर्ण थे जो आगरा में आ बसे थे। उन्हीं के पुत्र कविवर परिमल थे जिन्होंने १५९४ ई. में आगरा में 'श्रीपालचरित्र' नामक हिन्दी काव्य की

रचना की थी, जिसमें उन्होंने आगरा नगर, बादशाह अकबर और तत्कालीन लोकदशा के सजीव वर्णन किये हैं। ब्रजभाषा के यह श्रेष्ठ कवि किसी के आश्रित नहीं थे।

संघपति डूँगर—मध्यप्रदेश में इन्दौर के निकट रामपुरा—भानपुरा क्षेत्र में मुग़ल सम्राट् की ओर से चन्द्रावतवंशी राजपूत अचलाजी का पुत्र महाराज दुर्गभान शासन करता था। शिलालेखों में उसका उल्लेख १५५९ से १५९३ ई. पर्यन्त मिलता है। यह राजा जैनधर्म का पोषक रहा प्रतीत होता है। उसके समय में कमलापुर (कँवला या कौरों, भानपुरा से ७ मील दूरस्थ) में मूलसंघ-सरस्वतीगच्छ-बलात्कारगण की आम्नाय के साहु हामा के पुत्र सिंघई खेता थे। उनके पौत्र और साहु किल्हण के ज्येष्ठ पुत्र यह संघपति डूँगर थे, जो शुभात्मा, देव-गुरु-शास्त्र भक्त, चारों दानों के देने में सदा तत्पर, राज्यमान्य सेठ थे। उन्होंने १५५९ ई. में कमलापुर में धर्मात्मा महाराजा दुर्गभान के सुराज्य में सुन्दर महावीर-चैत्यालय बनवाया था और अपने परिवार के समस्त स्त्री-पुरुषों सहित उसकी प्रतिष्ठा करायी थी। यह मन्दिर 'सास-बहू का मन्दिर' कहलाता है। सम्भव है कि संघपति डूँगर की माता और पत्नी ने मिलकर स्वद्रव्य से इसे बनवाया हो। भानपुरा, कमलापुर आदि में उस काल के अनेक जैन भग्नावशेष मिले हैं। कमलापुर में ही दुर्गभान के उत्तराधिकारी राजा चन्द्रभान के शासनकाल में १६०० ई. में साहू पदारथ श्रीमाल के पुत्रों धर्मदास और नाहरदास ने सपरिवार विजयगच्छीय भट्टारक श्रीपूज्य पद्मसागरसूरि से आदिनाथ-बिम्ब की प्रतिष्ठा करायी थी।

महामात्य नानू—आमेर के महाराज भगवानदास के पुत्र एवं उत्तराधिकारी महाराज मानसिंह सम्राट् अकबर के सर्वाधिक विश्वसनीय एवं प्रथम श्रेणी के प्रमुख सेनापतियों और सरदारों में से थे। मुगल साम्राज्य की शक्ति के वह एक सुदृढ स्तम्भ थे। सम्राट् ने जब १५९० ई. के लगभग उन्हें बंगाल-बिहार-उड़ीसा प्रान्त का प्रान्तीय शासक (वायसराय) नियुक्त किया तो उन्होंने उस विशाल प्रदेश मे समस्त विद्रोहियों का दमन करके वहाँ मुग़ल सम्राट् की सत्ता पूर्णतया स्थापित कर दी और उस देश को सुशासन प्रदान किया। वस्तुतः १५६२ ई. में जब उनकी बुआ (राजा बिहारीमल की पुत्री और भगवानदास की बहन) का विवाह सम्राट् अकबर से हुआ, मानसिंह की आयु केवल १२ वर्ष की थी और तभी से वह सम्राट् की सेवा मे रहकर उसके अत्यन्त प्रियपात्र बन गये थे। अपने बंगाल-बिहार के लगभग १५ वर्ष के शासनकाल में उन्होंने अनेक भवन, मन्दिर आदि बनवाये, कई नगर बसाये और राजमहल का नाम अकबरपुर रखकर उसे अपनी प्रान्तीय राजधानी बनाया था। उनके साथ स्वदेश आमेर से अनेक जैनी भी उनके अधिकारीवर्ग के रूप में उस प्रान्त में पहुँचे थे और उन्होंने वहाँ यत्र-तत्र जिन-मन्दिर बनवाये तथा अन्य धर्म-कार्य किये थे। इनमे प्रमुख महाराज के महामात्य साह नानू थे जो उनके सर्वाधिक विश्वसनीय मन्त्री थे। वह खण्डेलवाल ज्ञातीय, गोधागोत्रीय साहु रूपचन्द्र के पुत्र थे। रूपचन्द्र स्वयं बड़े उदार, दानी, जिनपूजा में अनुरक्त, गुणज्ञ और धर्मात्मा सज्जन थे। उनके सुपुत्र साह नानू तो

वैभव में कुबेर, रूप में कामदेव, ऐश्वर्य में इन्द्र, प्रताप में सूर्य, सौम्यता में चन्द्र और जिनेन्द्रभक्ति में सर्वोपरि थे। वह मुकुटबद्ध राजाओं के समान प्रसिद्ध थे। जिस प्रकार भरत चक्रवर्ती ने युग की आदि में अष्टापद (कैलास पर्वत) पर जिनमन्दिर बनवाये थे उसी प्रकार सम्मेदशिखर पर इस धर्मात्मा मन्त्रीवर नानू ने बीस तीर्थंकरों के निर्वाण-स्थलों पर बीस जिनगृह (मन्दिर या टोंक) बनवाये थे और उक्त तीर्थराज की अनेक बार संघ सहित यात्रा की थी। चम्पापुर आदि में भी जिनालय बनवाये, स्वयं अकबरपुर का आदिनाथ-जिनालय भी उन्हीं का बनवाया हुआ था। पण्डित जयवन्त-जैसे कई विद्वान् उनके आश्रय में रहते थे। साह नानू की प्रार्थना पर ईडरपट्ट के भट्टारक वादिभूषण के सधर्मा पद्मकीर्ति के शिष्य मुनि ज्ञानकीर्ति अकबरपुर पधारे थे और उसी आदिनाथ-जिनालय में ठहरे थे। वहीं उन्होंने साह नानू की प्रेरणा पर उन्हीं के नामांकित 'यशोधरचरित्र' नामक संस्कृत काव्य की १६०२ ई. में रचना की थी। उसी ग्रन्थ की उसी नगर में १६०४ में साह नाथू ने, जो सम्भवतया साह नानू के अनुज या पुत्र थे, एक प्रतिलिपि करा कर भट्टारक चन्द्रकीर्ति के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र को भेंट की थी। स्वदेश आकर १६०७ ई. में साह नानू ने मौजमाबाद (आमेर के निकट) में एक विशाल कलापूर्ण जिनमन्दिर बनवाकर महान् प्रतिष्ठोत्सव किया था जिसमें दूर-दूर के श्रावक सम्मिलित हुए थे और सैकड़ों जिन-बिम्ब प्रतिष्ठित हुए थे। सम्भवतया इन्हीं के वंश के साह ठाकुर और उसके पुत्र तेजपाल ने आमेर के नेमिनाथ-जिनालय में पुष्पदन्तकृत 'जसहरचरिउ' की ७१ कलापूर्ण चित्रों से सुसज्जित बहुमूल्य प्रति १५९० में बनवायी थी।

कर्मचन्द्र बच्छावत—बीकानेर राज्य के संस्थापक राव बीका के परम सहायक एवं प्रधान मन्त्री बच्छराज के समय से ही उसके वंशज बीकानेर नरेशों के दीवान रहते आये थे और उन्होंने अनेक धर्मकार्य भी किये थे। बच्छराज के पश्चात् उसके पुत्र कर्मसिंह और वरसिंह क्रमशः राव लूणकरण और जैतसिंह के मन्त्री रहे। तदनन्तर वरसिंह का पुत्र नगराज जैतसिंह का दीवान रहा। नगराज का पुत्र संग्राम बीकानेर-नरेश राव कल्याणसिंह का कृपापात्र दीवान था। उसने शत्रुंजय आदि की यात्रा के लिए संघ भी चलाया था जिसका चित्तौड़ में राणा उदयसिंह ने स्वागत-सत्कार किया था। इस राजा की मृत्यु के उपरान्त जब उसका पुत्र रायसिंह १५७३ ई. में बीकानेर की गद्दी पर बैठा तो उसने संग्राम के पुत्र कर्मचन्द्र को अपना दीवान बनाया। वह बीकानेर के बच्छावत दीवानों में अन्तिम था, बड़ा वीर, साहसी, चतुर, कूटनीतिज्ञ, दूरदर्शी और मेधावी था। उसके इन गुणों ने उसकी कुरूपता को ढक दिया था। किन्तु राजा रायसिंह बड़ा उद्धत, उच्छृंखल, फ़िजूलखर्च और अदूरदर्शी था। राज्य की आर्थिक अवस्था गड़बड़ाने लगी और शासन-तन्त्र बिगड़ने लगा। कर्मचन्द्र ने राजा को सुपथ पर लाने का बड़ा प्रयत्न किया, किन्तु उलटे रायसिंह उससे ही रुष्ट हो गया और राज्यवंश के दलपतसिंह एवं रामसिंह के साथ अपने विरुद्ध षड्यन्त्र करने के सन्देह में मन्त्री की

जान का गाहक बन गया। लाचार कर्मचन्द्र ने जाकर सम्राट् अकबर की शरण ली। सम्राट् उससे और उसके गुणों से भली-भाँति परिचित था, उसने बड़े सम्मान के साथ उसे अपने ही दरबार में रख लिया और बहुत मानता था। यहाँ रहते भी कर्मचन्द्र ने रायसिंह का कोई अहित-साधन कभी नहीं किया, यद्यपि राजा ने उससे भयंकर बदला लेने की ठान ली थी। जैनधर्म और संघ के प्रभावकों में कर्मचन्द्र का नाम बीकानेर के इतिहास में सर्वप्रसिद्ध है। उसने १५७५ ई. में बीकानेर में आचार्य जिनचन्द्रसूरि का स्वागत-समारोह बड़ी धूमधाम के साथ किया था, १५७८ ई. के दुष्काल में राज्य की भूखी जनता के लिए स्वद्रव्य से अनेक अन्नसत्र खोल दिये थे, मुसलमानों के क़ब्ज़े से बहुत-सी जिनमूर्तियाँ निकालकर उन्हें बीकानेर के चिन्तामणिजी-मन्दिर में विराजमान कर दी थी और ओसवाल समाज में अनेक आवश्यक सुधार चालू किये थे तथा भोजकोंको दी जानेवाली वृत्ति का भी नियमन किया था। उपरोक्त मूर्तियाँ, जिनकी संख्या १०५० बतायी जाती है, तुरसानखाँ ने सिरोही से लूटी थीं और वे आगरे में अकबर के शाही खजाने में रख दी गयी थीं। लाहौर में १५९२ ई. में अकबर ने कर्मचन्द्र की प्रेरणा पर खम्भात से जिनचन्द्रसूरि को आमन्त्रित किया था और पधारने पर समारोहपूर्वक उनका स्वागत किया था। उसी अवसर पर सम्राट् और कर्मचन्द्र की इच्छानुसार सूरिजी ने अपने शिष्य मानसिंह यति को जिनसिंहसूरि नाम देकर उनका पट्टबन्धोत्सव किया था। सम्राट् की मृत्यु (१६०५ ई.) के थोड़े समय उपरान्त ही कर्मचन्द्र को भी रोग ने घर दबाया। रायसिंह उसे देखने के लिए आया, दुख और सहानुभूति प्रकट करके उससे कहा कि वह परिवार सहित बीकानेर लौट चले और पिछली बातें भूल जाये। किन्तु कर्मचन्द्र उस कपटी की बातों में नहीं आया। उसके पुत्र तो तैयार थे, किन्तु उसने मरते-मरते उन्हें बरज दिया कि भूलकर भी बीकानेर का रुख न करना। उधर रायसिंह भी १६११ में ई. मर गया और मृत्युशय्या पर अपने पुत्र एवं उत्तराधिकारी सूरसिंह से यह वचन ले लिया कि जैसे भी हो कर्मचन्द्र के परिवार को बीकानेर लाकर उनसे प्रतिशोध अवश्य लेना। अतएव १६१३ ई. में सूरसिंह कर्मचन्द्र के भोले पुत्रों भागचन्द्र और लक्ष्मीचन्द्र को फुसलाकर बीकानेर ले जाने में सफल हो गया, और एक दिन सेना लेकर उनकी हवेली को घेर लिया। बच्छावतों के परिवार के सदस्य, अनुचर, दास-दासी लगभग ५०० व्यक्ति थे। वे वीरता के साथ लड़े और जब अन्य कोई उपाय न हुआ तो अर्हन्त भगवान् की पूजा करके सबसे गले मिल स्त्रियों और बच्चों को चिता में भस्म कर केसरिया पाग पहन जूझ पड़े। इन वीरों ने जौहर करके अपनी शान और मान रखा, किन्तु अन्यायी राजा के सम्मुख झुके नहीं। कुटुम्ब की एक गर्भवती महिला संयोग से अपने मायके में किशनगढ़ थी, इसी से बच्छावत वंश आज तक भी चला जाता है, वरना उस भीषण साका में सब समाप्त हो गया था। उनके महल-मकान आदि दुष्ट राजा ने पूर्णतया ध्वस्त करा दिये थे।

हीरानन्द मुकीम—अकबर के अन्तिम वर्षों में आगरा के ओसवाल जातीय

सेठ हीरानन्द मुकीम अत्यन्त धनवान् एवं धर्मात्मा सज्जन थे, वह विशेषकर शाहजादा सलीम के व्यक्तिगत जौहरी और कृपापात्र थे। वह अरडकसोनी गोत्री साह पूना के पौत्र और साह कान्हड के उसकी भार्या भामनीबहू से उत्पन्न सुपुत्र थे। स्वयं इनके पुत्र साह निहालचन्द थे। हीरानन्द मुकीम के प्रयत्न से १६०४ ई. में आगरा से एक संघ सम्मेदशिखर की यात्रार्थ चला था। जब संघ प्रयाग पहुँचा तो सेठ ने शाहज़ादे से उस संघ के साथ जाने की अनुमति और राज्य का संरक्षण प्राप्त किया। विभिन्न स्थानों के श्रावकों को संघ में सम्मिलित होने के लिए पत्र भेजे गये। ऐसा ही एक पत्र पाकर जौनपुर से पं. बनारसीदास के पिता खरगसेन भी उस संघ के साथ यात्रार्थ गये थे। संघ के साथ हीरानन्द सेठ के अनेक हाथी, घोड़े, पैदल और तुपकदार थे। उन्हीं की ओर से पूरे संघ का प्रतिदिन भोज होता था और सब यात्रियों को सन्तुष्ट किया जाता था। यात्रा करके लगभग एक वर्ष में संघ वापस आया। सब सुविधाएँ होते हुए भी यात्रा में अनेकों की मृत्यु हो गयी और बहुत से बीमार पड़ गये। जौनपुर की समाज के आग्रह पर हीरानन्दजी चार दिन जौनपुर में भी मुकाम किया और तदनन्तर स्वस्थान प्रयाग चले गये। अकबर की मृत्यु के उपरान्त जब जहाँगीर नाम से सलीम सम्राट् हुआ तो हीरानन्द भी उसके साथ आगरा चले आये और पूर्ववत् उसके कृपापात्र एवं जौहरी बने रहे। जहाँगीर के राज्याभिषेक के उपरान्त उसके उपलक्ष्य में १६१० ई. में हीरानन्द ने सम्राट् को अपने घर आमन्त्रित किया, अपनी हवेली की भारी सजावट की, सम्राट् को बहुत मूल्यवान् नज़राना दिया और उसकी तथा दरबारियों की शानदार दावत की। सेठ के आश्रित कवि जगत् ने इस समारोह का बड़ा आलंकारिक एवं आकर्षक वर्णन किया है। अगले वर्ष, १६११ ई. में, हीरानन्द ने आगरा मे खरतरगच्छी लब्धिवर्धनसूरि से एक बिम्ब-प्रतिष्ठा करायी थी और उसी समय उनके सुपुत्र साह निहालचन्द ने भी जिनचन्द्रसूरि से एक पार्श्व-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। एक अन्य, प्रतिमालेख में, जो इसी घराने द्वारा १६३१ ई. में करायी गयी प्रतिष्ठा का है, 'राजद्वार-शोभनीक सोनी श्री हीरानन्द' द्वारा जहाँगीर को स्वगृह में दावत देने का संकेत प्राप्त होता है।

सबलसिंह मोठिया—नेमिदास (नेमा) साहु के पुत्र और जहाँगीर के शासनकाल में आगरे के एक अति-वैभवशाली जैन थे। पं. बनारसीदास ने अपने 'अर्धकथानक' में १६१५-१६ ई. के लगभग के विवरणों में इनका कई बार उल्लेख किया है। इस सेठ के राजसी वैभव और शाही ठाठ का कवि ने जो आँखों देखा वर्णन किया है उससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उस काल के प्रमुख जैन साहूकार मुग़लों की राजधानियों में भी कितने धन-सम्पन्न थे। उसके पूर्व, १६१० ई. में आगरा के जैन संघ की ओर से तपागच्छाचार्य विजयसेन को जो विज्ञप्ति-पत्र भेजा गया था उसमें वहाँ के ८८ श्रावकों और संघपतियों के हस्ताक्षर थे। उस सूची के संघपति सबल ही यह सबलसिंह मोठिया थे।

वर्द्धमान कुँअरजी—१६१० ई. के विज्ञप्तिपत्र में उल्लिखित संघपति वर्धमान कुँअरजी ही वह वर्द्धमान-कुँअरजी दलाल थे जिनके साथ १६१८ ई. में बनारसीदासजी आदि ने अहिच्छत्रा और हस्तिनापुर की यात्रा की थी।

साह बन्दीदास—का नाम भी १६१० ई. के विज्ञप्तिपत्र में उल्लिखित है। यह दूलहसाह के पुत्र, उत्तमचन्द जौहरी के अनुज और पं. बनारसीदास के बहनोई थे और आगरा नगर के मोतीकटरे में रहकर मोती आदि जवाहरात का व्यापार करते थे।

ताराचन्द्र साहु—विज्ञप्तिपत्र के साह ताराचन्द्र परवत-ताँबी के ज्येष्ठ पुत्र और आगरा के धनी श्रावक थे। इनके अनुज कल्याणमल की पुत्री बनारसीदास-जी के साथ विवाही थी। इन्होंने १६११ ई. में बनारसीदास को अपने पास बुलाकर कुछ दिन रखा था।

दीवान धन्नाराय—सम्राट् अकबर की ओर से महाराज मानसिंह द्वारा बंगाल-बिहार पर अधिकार करने से बंगाल के पठान सुल्तान सुलेमान के साले लोदीखाँ के इन सींघड़गोत्री दीवान धन्नाराय के अधीन पाँच सौ श्रीमाल वैश्य पोतदारी या खज़ाने की वसूली का काम करते थे। बनारसीदास के पिता खरगसेन ने भी उनके अधीन चार परगनों की पोतदारी की थी। धन्नाराय ने सम्मेदशिखर के लिए यात्रा संघ भी निकाला था।

ब्रह्म गुलाल—चन्द्रवाड के निकटस्थ टापू या टप्पल ग्राम के निवासी पद्मा-वतपुरवाल जैन थे और चन्द्रवाड के जैनधर्म पोषक चौहान राजा कीर्तिसिंह के दरबारी, कुशल लोककवि और सिद्धहस्त अभिनेता थे। हथिकन्त-अटेर के भट्टारक जगतभूषण के यह शिष्यों में से थे। इन्होंने १६१४ ई. में 'कृपण-जगावन-कथा' नामक हास्यरसमयी काव्य ब्रजभाषा में रचा था, अन्य भी कई कृतियों की रचना की थी। कहा जाता है कि एक बार राजा ने इनसे जैनमुनि का अभिनय करने के लिए कहा, तो यह घरबार छोड़कर सच्चे मुनि बन गये। इनका कहना था कि जैनमुनि का अभिनय नहीं किया जा सकता, जो एक बार मुनि बन गया तो बन ही गया। लोकमानस में उनकी ऐसी छाप पड़ी थी कि उनके लगभग १५० वर्ष बाद कवि छत्रपति ने उनके जीवन को लेकर 'ब्रह्मगुलालचरित्र' (१८७७ ई.) की रचना की थी।

पण्डित बनारसीदास—(१५८६-१६४३ ई.) आगरा के मुग़लकालीन सुप्रसिद्ध जैन महाकवि, अध्यात्मरस के रसिया, समाज-सुधारक, विद्वान् पण्डित और व्यापारी बनारसीदास बीहोलिया-गोत्री श्रीमाल वैश्य थे। इनके पितामह मूलदास १५५१ ई. के लगभग नरवर (ग्वालियर) के मुग़ल उमराव के मोदी थे और मातामह (नाना) मदनसिंह चिनालिया जौनपुर के नामी जौहरी थे, तथा पिता खरगसेन ने कुछ काल बंगाल के पठान सुलतान सुलेमान के राज्य में दीवान धन्नाराय के अधीन चार परगनों की पोतदारी की, तदनन्तर इलाहाबाद में शाहज़ादा दानियाल की सरकार में

जवाहरात के लेन-देन का कार्य किया और अन्त में जौनपुर में ही बसकर जवाहरात का व्यापार करते रहे। बनारसीदास भी किशोरावस्था से ही व्यापार में पड़े, जवाहरात के अतिरिक्त अन्य कई व्यापार किये, किन्तु इस क्षेत्र में प्रायः असफल ही रहे, तथापि काम चलता ही रहा। अन्त में जौनपुर छोड़कर स्थायीरूप से आगरा में बस गये जहाँ उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की, एक विद्वन्मण्डली का निर्माण किया और अपनी 'शैली' या गोष्ठी प्रारम्भ की। उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गयी—सुदूर सिन्ध-देशस्थ मुलतान के श्रावकों ने भी उनसे सम्पर्क रखे। लोक-प्रतिष्ठा और शासकों से भी उन्हें सम्मान मिला। जौनपुर के सूबेदार चिनकलीचखाँ को उन्होंने 'श्रुतबोध' आदि पढ़ाये थे, स्वयं सम्राट् शाहजहाँ ने उन्हें अपना मुसाहब बनाया था और मित्रवत् व्यवहार करता था। ऐतिहासिक दृष्टि से बनारसीदासजी की सर्वोपरि उपलब्धि उनका अद्वितीय आत्मचरित्र 'अर्धकथानक' है जिसमें उन्होंने अपने ५५ वर्ष (१५८६-१६४१) ई. का निष्कपट सजीव चित्रण किया है, साथ ही अपने पूर्वपुरुषों, शासकों, शासन व्यवस्था, लोकदशा इत्यादि का बहुमूल्य परिचय प्रदान किया है। उससे पता चलता है कि उस युग में पंजाब-सिन्धु से लेकर बंगाल पर्यन्त सम्पूर्ण उत्तर भारत में श्रीमाल, ओसवाल, अग्रवाल आदि जातियों के जैन व्यापारी फैले हुए थे और उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। सम्राटों, सूबेदारों, नवाबों और स्थानीय शासकों से उनका विशेष सम्बन्ध रहता था। ये लोग अधिकांशतया सुशिक्षित भी होते थे। स्वयं बनारसीदास तो प्राकृत और संस्कृत के अतिरिक्त विविध देश-भाषा-प्रतिबुद्ध थे और फ़ारसी भी जानते थे।

तिहुना साहु—आगरा के अग्रवाल जैन सेठ थे। इन्होंने एक विशाल जिनमन्दिर बनवाया था। आगरा में तिहुना साहु के इसी देहरे (मन्दिर) में रूपचन्द्र नाम के गुणी विद्वान् १६३५ ई. के लगभग बाहर से आकर कुछ दिन ठहरे थे। उनके पाण्डित्य की प्रशंसा सुनकर बनारसीदास की मण्डली के सब अध्यात्मी उनसे जाकर मिले और विनयपूर्वक उनसे गोम्मटसार का प्रवचन कराया, जिसे सुनकर बनारसीदास और उनके साथी, जो तबतक निश्चय-एकान्त में भटक रहे थे, अपनी दृष्टि को समीचीन और स्याद्वादमयी बनाने में सफल हुए थे।

वीरजीव्होरा (१६१९-१६७० ई.)—सूरत का यह गुजराती जैन सेठ अपने समय का आयात-निर्यात का सर्वप्रमुख भारतीय व्यापारी था। पश्चिमी समुद्रतटवर्ती सूरत नगर उस काल में अरब सागर का प्रायः सबसे बड़ा बन्दरगाह तथा विदेशी व्यापार की प्रधान मण्डी था और वीरजीव्होरा वहाँ का सबसे बड़ा व्यापारी था। सूरत का ही नहीं, मालाबारतट का अधिकांश व्यापार उसके नियन्त्रण में था। आगरा, बुरहानपुर, गोलकुण्डा आदि सुदूर स्थित प्रमुख व्यापार केन्द्रों में उसकी गद्दियाँ थीं और पश्चिम में फ़ारस की खाड़ी और दक्षिणपूर्व में भारतीय द्वीपसमूह पर्यन्त उसका व्यापार फैला था। अरब, पुर्तगाली, अँगरेज, डच, फ्रांसीसी आदि विदेशी व्यापारी उसकी कृपा पर अवलम्बित रहते थे। उक्त विदेशियों के कथनानुसार ही यह भारतीय सेठ अपने

समय में सम्पूर्ण विश्व का सबसे बड़ा धनवान् समझा जाता था। थेवेनाट नामक एक तत्कालीन लेखक के अनुमानानुसार वीरजी ह्वोरा कम से कम अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राओं का धनी था। अर्थात् कोट्यधीश ही था। यह उस काल की बात है जब एक रुपये (४० दाम) में लगभग २ मन गेहूँ, ३ मन जौ, बंगाल में ४-५ मन चावल मिलता था, और एलेप्पो से आगरा तक की १० महीने की लम्बी यात्रा में खाने-पीने एवं सफ़र का सब खर्च कुल मिलाकर ३ सावरन (४०-५० रुपये) लगता था। वीरजी ह्वोरा और उसकी पुत्री फूलांबाई लौंकाशाह द्वारा स्थापित लौंकागच्छ के अनुयायी हो गये थे। फूलांबाई का दत्तक पुत्र लवजी था। वह पढ़ा-लिखा युवक था। उसे जब वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने संयम लेने के लिए अपने नाना वीरजी से आज्ञा माँगी तो वीरजी ने कहा बताया जाता है कि लौंकागच्छ में दीक्षा ले तो आज्ञा देंगे। अतएव लवजी ने १६५२ ई. बजरंगजी से दीक्षा ली, उनके निकट सूत्रों का अध्ययन किया और लौंकागच्छ का चौथा या पाँचवाँ पट्टधर हुआ। इन्हीं लवजी या लवणऋषि को ढूँढियामत का प्रवर्तक कहा जाता है।

हेमराज पाटनी—बाग्वर (बागड़) देशस्थ सागपत्तन (सागवाड़ा) निवासी पाटनी गोत्री खण्डेलवाल जैन रेखा सेठ के पुत्र तेजपाल, हेमराज और धनराज थे। ये भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की आम्नाय के श्रावक थे और मगधदेश के गंगातटवर्ती पाटलिपुत्र (पटना) नगर में निवास करते थे। हीरासेठ की भतीजी हमीरदे हेमराज की भार्या थी। हेमराज सेठ के साथ सकलचन्द्र के शिष्य भट्टारक रत्नचन्द्र ने सम्मेदशिखर की यात्रा की थी। साथ में अन्य अनेक खण्डेलवाल, अग्रवाल, जैसवाल आदि धर्मात्मा एवं दानी श्रावक थे जो भट्टारक रत्नचन्द्र के भक्त थे। यात्रा से लौटकर पटना में सुदर्शन-सेठ के मन्दिर में निवास करते हुए सेठ हेमराज की प्रार्थना पर पण्डित तेजपाल के सहयोग से उक्त भट्टारक रत्नचन्द्र ने १६२६ ई. की भाद्रपद शुक्ला पंचमी गुरुवार के दिन म्लेच्छाधिप सलेमसाहि (जहाँगीर) के सद्राज्य में 'सुभौम-चक्रि-चरित्र' नामक संस्कृत काव्य को रचकर पूर्ण किया था।

संघई ऋषभदास—हुमड़ज्ञातीय, लघुशाखा-खरजागोत्री संघई नाकर की की भार्या नारंगदे से उत्पन्न उसके पुत्र संघई ऋषभदास ने अपनी भार्या एवं पुत्र धर्मदास सहित स्वगुरु भट्टारक पद्मनन्दि (राजकीर्ति के शिष्य) के उपदेश से कारंजा में पार्श्वनाथ-बिम्ब प्रतिष्ठा करायी थी।

संघपति रतनसी—हूमड़ जाति की बड़शाखा में उत्पन्न संघवी जाडा बागड़देश से आकर गुर्जरदेश (गुजरात) के अहमदाबाद नगर में बस गये थे। आने के पूर्व अपनी जन्मभूमि में इन्होंने अनेक मन्दिरों का उद्धार कराया था। इनके पौत्र संघवी लटकण और उनकी भार्या ललतादे के पुत्र, अपने कुल के सूर्य, राजा श्रेयान्स-जैसे दानी, जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा एवं तीर्थयात्रादि कार्यों को करने में उत्सुकचित्त यह संघपति रतनसी थे। इनकी तीन पत्नियाँ थीं। संघवी रामजी इनके छोटे भाई थे जिनके पुत्र डुंगरसी

और राघवजी थे। यह परिवार कुन्दकुन्दान्वय-सरस्वतीगच्छ-बलात्कारगण के भट्टारक रामकीर्ति के पट्टधर भट्टारक पद्मनन्दि का आम्नाय-शिष्य था। स्वगुरु के उपदेश से संघपति रतनसी ने अपने भाई, भतीजों और परिवार की महिलाओं सहित शत्रुंजयतीर्थ की यात्रा की थी और वहाँ बादशाह शाहजहाँ के राज्य में, १६२९ ई. में दिगम्बर जैन मन्दिर में भगवान् शान्तिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। सम्भवतया यह मन्दिर भी इन्हीं का बनवाया हुआ था।

संघाधिप भगवानदास—भट्टारक जगत्भूषण की आम्नाय में गोलापूर्ववंशी दिव्यनयन नामक श्रावक थे। उनकी पत्नी दुर्गा और पुत्र चक्रसेन एवं मित्रसेन थे। दुर्गा प्रोषधोपवास के नियमवाली धर्मात्मा महिला थी। चक्रसेन की पत्नी कृष्णा और केवलसेन एवं धर्मसेन नाम के पुत्र थे। मित्रसेन बड़े प्रतापवान् और धर्मात्मा थे। उनकी सुशीला प्रिय पत्नी यशोदा से भगवानदास और हरिवंश नामक दो पुत्र हुए। भगवानदास की शुभानना भार्या केशरिदे थी और महासेन, जिनदास एवं मुनिसुव्रत नाम के तीन सुपुत्र थे। भगवानदास भगवान् जिनेन्द्र के चरणों के परम भक्त, वाक्पूर्ण-प्रताप, उदार और धर्मात्मा थे। उन्होंने जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिष्ठा करायी थी, सम्भवतया जिनमन्दिर बनवाकर बिम्ब-प्रतिष्ठा करायी थी। उनके धर्मोत्साह के लिए समाज ने उन्हें 'संघराज' पदवी प्रदान की थी। भरतेश्वर, श्रेयान्स, कर्ण, देवेन्द्र, देवगुरु और राजराज आदि से उनके प्रशंसक कवि ने उनकी उपमा दी है। परम विद्वान् पाण्डे रूपचन्द्र ने उनके आश्रय में, उनके द्वारा सम्बोधित होकर, इन्द्रप्रस्थपुर (दिल्ली) में, चग़ताईवंशी शाहजहाँ के राज्य में, १६३५ ई. में, 'भगवत्समवसरणार्चनविधान' (समवसरणपाठ) की संस्कृत भाषा में रचना की थी। पण्डित रूपचन्द्र स्वयं कुरुदेशस्थ सलेमपुर निवासी गर्गगोत्री अग्रवाल श्रावक मामट के पौत्र में सबसे छोटे किन्तु सर्वाधिक मेधावी थे। वाराणसी जाकर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी, तदनन्तर दरियापुर में आ बसे, किन्तु वहाँ भी स्थिर न हुए और यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए साहित्य सृजन एवं ज्ञान का प्रसार करते रहे।

साह गागा—सिरोही के महाराज अखराज के राज्य में युवराज उदयभाण के आश्रित प्राग्वाट कुल के साह गागा और उसकी भार्या मनरंगदे के पुत्रों, पौत्रों आदि ने १६४१ ई. में तपागच्छाचार्य हीरविजयसूरि के परम्पराशिष्य अमृतविजयगणि से पार्श्वनाथ एवं शान्तिनाथ की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं।

मोहनदास भौंसा—आमेर के प्रसिद्ध मिर्ज़ा राजा जयसिंह के, जो शाहजहाँ और औरंगज़ेब के प्रधान सरदार, सामन्त एवं सेनापति थे, मुख्यमन्त्री और आमेर नगर के शासक यह मोहनदास भौंसा (भाँवसा) थे। यह आमेरपट्ट के भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति की आम्नाय के श्रावक थे और उन्हीं के उपदेश से उन्होंने अम्बावती (आमेर, जयपुर राज्य की पुरानी राजधानी) में १६५७ ई. में भगवान् विमलनाथ का विशाल मन्दिर निर्माण कराया था जो अब 'संघवी झूँटाराय का मन्दिर' नाम से प्रसिद्ध है और

१६५९ ई. में उक्त मन्दिर पर स्वर्णकलश चढ़ाया था। सम्भवतया इन्हीं मोहनदास भौंसा के पुत्र राजमन्त्री अमरा भौंसा थे। उन्होंने भी एक नया मन्दिर बनवाया था और तेरापन्थ शुद्धाम्नाय का संवर्धन किया था। उन्हीं भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के उपदेश से गोयलगोत्री अग्रवाल संघपति तेजसा उदयकरण ने गिरनार पर एक सम्यक्चारित्र-यन्त्र १६५२ ई. में प्रतिष्ठित कराया था, सम्भवतया वह उक्त भट्टारकजी तथा संघ को लेकर गिरनार की यात्रा के लिए गये थे। इन्हीं भट्टारकजी के एक अन्य प्रमुख भक्त गर्गगोत्री अग्रवाल साहु नन्हराम के पुत्र संघाधिपति जयसिंह थे जिन्होने १६५९ ई. में अम्बावती (आमेर) में ही एक धर्मोत्सव किया था और यन्त्रादि प्रतिष्ठित कराये थे तथा यात्रासंघ चलाया था। महामन्त्री मोहनदास भांवसा का जन्म १५९३ ई. के लगभग हुआ था और विवाह १६०६ ई. में हुआ था। वह जिनपूजापुरन्दर, सम्यक्त्वालंकृतगात्र, विप्रदानेश्वर, जिनप्रासादोद्धरणधीर, निजयशसुधाधवलीकृत-विश्व और संघाधिपति कहलाते थे। कल्याणदास, विमलदास और अजितदास नाम के उनके तीन पुत्र थे।

अरुणमणि—ग्वालियर पट्ट के काष्ठासंघी भट्टारक श्रुतकीर्ति के शिष्य बुधराघव थे, जिन्होंने गोपाचल (ग्वालियर) में एक जिनमन्दिर बनवाया था। वह तपोधन राजाओं द्वारा सम्भावित हुए थे। उनके शिष्य रत्नपाल, वनमालि और कान्हर-सिंह थे। उक्त कान्हर सिंह के शिष्य प्रस्तुत लालमणि या अरुणमणि थे जिन्होंने जहानाबाद नगर (दिल्ली) के पार्श्वनाथ-जिनालय में मुदगल-अवरंगसाहि (मुग़ल सम्राट् औरंगज़ेब) के शासनकाल में १६५९ ई. में 'अजित-जिन-चरित्र' नामक संस्कृत काव्य की रचना की थी।

संघपति आसकरण—धर्मावनिपुर (मध्यप्रदेश के सागर जिले का धमौनी ग्राम) में सनुकुटागोत्री, गोलापूर्ववंशी, जैनवैश्य संघपति आसकरण निवास करते थे। उनकी भार्या का नाम मोहनदे था और ज्येष्ठ पुत्र संघपति रतनाई था, जिसकी पत्नी का नाम साहिबा था और नरोत्तम, मण्डन, राघव, भगीरथ और नन्दि नाम के पाँच पुत्र थे। आसकरण के द्वितीय पुत्र संघपति हीरामणि की कमला एवं वासन्ती नाम की दो पत्नियाँ और बलभद्र नाम का एक पुत्र था। यह पूरा परिवार धर्मात्मा और जिनभक्त था। संघपति आसकरण ने अपने पूरे परिवार सहित १६५९ ई. में दमोहपट्ट के भट्टारक ललितकीर्ति के शिष्य क्षुल्लकव्रतधारी ब्रह्म सुमतिदास के •उपदेश से जेरठ के भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य पण्डित द्वारिकादास से एक महान् शान्तियज्ञ समारोह कराया था और उसके लिए विभिन्न स्थानों की समाजों के लिए निमन्त्रण-पत्रिका (विज्ञप्तिपत्र या पट्ट अभिलेख) भेजे थे। धमौनी पर उस काल में मुग़ल सम्राट् औरंगज़ेब के फ़ौजदार (सूबेदार) रुबुल्लाहख़ाँ का शासन था जो संघपति आसकरण को बहुत मानता था। विधान धमौनी के चन्द्रप्रभ-जिनालय में किया गया था। आसकरण बड़े धन-सम्पन्न, उदार और धर्मात्मा थे। उन्होंने कई नवीन जिनमन्दिर बनवाये थे और कई पुरानों का उद्धार कराया था। चार दानों के वितरण में वह राजा श्रेयान्स के समान

थे। वह शुद्धसम्यक्त्वालंकार-भारोद्धरणधीर थे और उस समय श्रावक के बारह व्रतों के पालक और छठीप्रतिमाधारी थे।

वर्धमान नवलखा—सिन्ध देशस्थ मुलतान नगर में आगरा के पण्डितप्रवर बनारसीदास और उनकी आध्यात्मिक शैली से प्रेरणा प्राप्त करके तथा उनके प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क से अध्यात्मरसिक श्रावकों की एक उत्तम मण्डली बन गयी थी। उसके नेता नवलखागोत्री पाहिराज साहु के पुत्र यह शाह वर्धमान नवलखा थे। इनके साथ सुखानन्द, मिट्ठूमल भणसाली, शाह करोडी, नेमीदास, धर्मदास, शान्तिदास, मिट्ठू पुत्र सूरज, चाहडमल राखेला, करमचन्द्र, जेठमल, श्रीकरण, ताराचन्द, ऋषभदास, पृथ्वीराज, शिवराज आदि सज्जन थे। ये लोग अपना धरमाचार्य और धर्मगुरु बनारसीदासजी को मानते थे, मुनिराज कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र और राजमल्ल के ग्रन्थों का स्वाध्याय करते थे तथा दिगम्बर आम्नाय के शास्त्रों को और श्वेताम्बर आम्नाय के (साधु) वेष को मान्य करते थे। लगभग १६५० से १६९० ई. पर्यन्त के इन मुलतानी अध्यात्मी श्रावकों के उल्लेख मिलते है। स्वयं शाह वर्धमान नवलखा ने अपनी वर्धमान-वचनिका १६८९ ई. में रची थी। मुलतान नगर का पार्श्वनाथ-मन्दिर इस आध्यात्मिक गोष्ठी का केन्द्र था। इसके वर्धमान नवलखा आदि प्रमुख सदस्य पं. बनारसीदासजी से भेंट करने आगरा भी गये प्रतीत होते हैं।

साह हीरानन्द अग्रवाल—लोहाचार्य आम्नायी, अग्रवाल-ज्ञातीय, मीतलगोत्री, टोलावंशी, 'षेडबालमति' साह हेमराज लाहौर नगर में निवास करते थे। उनकी शील-तोय-तरंगिणी भार्या लटको थी और पुत्र शील में सेठ सुदर्शन के अवतार, सज्जनजन-सुखकार, धर्माधार साह भगवानदास थे। उनकी पतिपरायणा, रूपवती, दानशीला और धर्मात्मा पत्नी हेवरदे थी और प्रयागदास, हीरानन्द और कुन्दनदास नाम के तीन सुपुत्र थे। तीनों भाइयों के पुत्र-पौत्रादि थे। साह हीरानन्द राजसभाशृंगार, सम्यक्त्वमूल, स्थूल-द्वादशव्रतधारक, सज्जन-जनसुखकारक, सुश्रावक, पुण्यप्रभावक, जैनसभा-मण्डन, मिथ्यानयखण्डन, दान में श्रेयान्सावतार, परोपकार में युधिष्ठिरावतार, सर्वोपमायोग्य, धनीमानी और धर्मात्मा थे। उन्होने अनेक धर्मकार्य किये थे। शाहजादी, रामों और दया नाम की उनकी तीन पत्नियाँ थी, जिनमें सबसे छोटी दया बड़ी सुशील, दानशील, विनयी और धर्मात्मा थी। इनका पुत्र जटमल था। इन साह हीरानन्द ने काष्ठासंघी भट्टारक महीचन्द्र के शिष्य ब्रह्महर्षसागर को १६६९ ई. में लाभपुर (लाहौर) में 'सम्यक्त्वकौमुदी' आदि ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ कराकर भेंट की थीं।

वादिराज सोगानी—तक्षकपुर (राजस्थान के जयपुर प्रदेश का टोडानगर या टोडारायसिंह) के सोगानी-गोत्री खण्डेलवाल जैन पोमराज श्रेष्ठि के पुत्र और महाराज जयसिंह के सामन्त टोडानगर के राजा भीमसिंह के पुत्र एवं उत्तराधिकारी राजा राजसिंह के मन्त्री थे। यह राजनीतिकुशल होने के साथ ही बड़े विद्वान्, कवि और शास्त्रज्ञ भी थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता गद्य-पद्य-विद्या-विनोदाम्बुधि कविचक्रवर्ती

पण्डित जगन्नाथ थे जो आमेर के भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के मुख्य शिष्य थे और जिन्होंने 'चतुर्विंशतिसन्धानकाव्य' (१६४२ ई.), 'सुखनिधान' (१६४३ ई.), 'श्वेताम्बर-पराजय' (१६४६ ई.), 'नेमिनरेन्द्र-स्तोत्र', 'शृंगारसमुद्रकाव्य' 'सुषेणचरित्र' आदि संस्कृत काव्य-ग्रन्थों की रचना की थी। स्वयं मन्त्री वादिराज भी संस्कृत भाषा के प्रौढ़ विद्वान् और सुकवि थे। 'ज्ञानलोचन-स्तोत्र' तथा 'वाग्भटालंकार' की 'कविचन्द्रिका' नाम्नी टीका, जिसे उन्होंने १६७२ ई. में पूर्ण किया था, उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इस समय उन्होंने राज्यसेवा से अवकाश प्राप्त कर लिया था। रामचन्द्र, लालजी, नेमिदास और विमलदास नामक उनके चार पुत्र थे। उस काल में भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति प्रायः टोडानगर में ही रहते थे और उन्होंने अपने प्रयास से उक्त नगर को उत्तम ज्ञानकेन्द्र बना दिया था।

दीवान ताराचन्द—औरंगज़ेब के शासनकाल में फतेहपुर के नवाब (फौजदार या सूबेदार) अलफ़खाँ के दीवान थे। इनके पिता का नाम वस्तुपाल था। दीवान ताराचन्द विद्यारसिक भी थे। उन्होंने १६७१ ई. में यति लक्ष्मीचन्द्र से शुभचन्द्राचार्य कृत 'ज्ञानार्णव' नामक ग्रन्थ का ब्रजभाषा हिन्दी में पद्यानुवाद कराया था।

शान्तिदास जौहरी—अहमदाबाद के प्रसिद्ध जौहरी थे और शाहजहाँ के राज्यकाल में जब शाहज़ादा मुराद गुजरात का सूबेदार था तो वह उसके कृपापात्र रहे थे। गद्दी पर बैठने के उपरान्त औरंगज़ेब ने उन्हें अहमदाबाद से बुलाकर अपना दरबारी नियुक्त किया था।

संघवी संग्रामसिंह—१७वीं शती के पूर्वार्ध में बिहार प्रान्त के बिहार-शरीफ़ नगर के एक प्रसिद्ध जैन व्यापारी थे। यह उस नगर में बसे बारह जैन व्यापारी परिवारों के मुखिया थे। पावापुरी, राजगिर, कुण्डलपुर और गुणावा में उनके द्वारा १६२९ से १६५० तक की प्रतिष्ठापित कई प्रतिमाएँ हैं। यह औरंगज़ेब के समय तक जीवित रहे प्रतीत होते हैं। बिहार-शरीफ़ के उक्त जैन परिवारों ने पावापुरी में मन्दिर भी बनवाये बताये जाते हैं।

कुँवरपाल-सोनपाल—ओसवाल जाति के ये दोनों भाई आगरा से आकर १७वीं शती ई. में बिहार की राजधानी पटना में आ बसे थे और व्यापार में अच्छी उन्नति करके अति सम्पन्न हो गये थे। उन्होंने कई मन्दिर एवं मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करायी थीं, मिर्जापुर में भी एक मन्दिर बनवाया था। पटना नगर के बेगमपुर मोहल्ले में उस काल में जैनों की अच्छी बस्ती थी। अकबरपुर, ढाका, भागलपुर, हाजीपुर, अजीमगंज, मुर्शिदाबाद, मकसूदाबाद, बिहारशरीफ़ आदि बंगाल और बिहार के प्रमुख नगरों में राजस्थानी सम्पन्न जैन व्यापारियों की अच्छी बस्तियाँ थीं।

जगत्सेठ घराना—१७वीं शताब्दी ई. के उत्तरार्ध में, सम्भवतया १६६१ ई. के लगभग, आगरा के हीरानन्द शाह नामक ओसवाल जैन सेठ बिहार प्रान्त के पटना नगर में जा बसे थे। मूलतः वह राजस्थान, सम्भवतया बीकानेर प्रदेश, से

आगरा आये थे। पटना के बेगमपुर मोहल्ले में रहकर उन्होंने व्यापार में अच्छी उन्नति की, किन्तु थोड़े समय पश्चात् बंगाल-बिहार के सूबेदार की राजधानी मुर्शिदाबाद में स्थानान्तरित हो गये। वहाँ उनके नाम का एक मोहल्ला अब भी विद्यमान बताया जाता है। मकसूमाबाद में भी इनकी हवेली थी। हीरानन्द शाह १७००ई. के लगभग तक जीवित रहे प्रतीत होते हैं। उनके पुत्र सेठ माणिकचन्द्र ने अपना प्रधान केन्द्र मकसूमाबाद को ही बनाया। इन्होंने बड़ी उन्नति की और 'राजा' की उपाधि भी प्राप्त की। राजा, प्रजा, उमराव, फौजदार, सूबेदार, नवाब आदि सब ही इस सेठ की आज्ञा को प्रमाण करते थे और स्वयं दिल्ली का बादशाह उनका बड़ा सम्मान करता था। बादशाह फ़र्रुख़सियर (१७१३-१९ ई.) ने उन्हें दिल्ली बुलाकर 'सेठ' (राज्यसेठ) का पद दरबार में जलसा करके दिया था। बंगाल देश के इस धनी की सम्पत्ति दिन-प्रतिदिन वेग से बढ़ रही थी। उनके प्रतापी पुत्र फ़तहचन्द ने और भी अधिक नाम कमाया। उनकी साख और वैभव की धाक सर्वत्र थी। दिल्ली के बादशाह, सम्भवतया मुहम्मदशाह रंगीले (१७१९-४८ ई.) ने उन्हें 'जगत्सेठ' की उपाधि प्रदान की थी। मुर्शिदाबाद मकसूमाबाद का यह जगत्सेठ घराना उस काल का बंगाल-बिहार का तो सर्वाधिक प्रतिष्ठित घराना समझा ही जाता था, उसकी साहुकारी-महाजनी गद्दी भी देश-भर में सर्वोपरि थी। ये जगत्सेठ बंगाल के नवाबों को तथा उसके राजस्व वसूल करनेवाले ठेकेदारों, चकलादारों, जमींदारों, उपराजाओं और सरदारों को तथा अँगरेज आदि विदेशी व्यापारियों को भी मनमाना ऋण देते थे। सभी उच्च वर्गों के साथ उनका लेन-देन का व्यापार चलता था। इसी कारण उस प्रदेश की राजनीति में भी उनका बड़ा प्रभाव था। फ़तहचन्द १७४१ ई. में तो विद्यमान थे ही, सम्भवतया १७५७ ई. में बंगाल-बिहार के अन्तिम स्वतन्त्र शासक नवाब सिराजुद्दौला की पलासी के युद्ध में पराजय एवं मृत्यु के समय भी वह जीवित थे। नवाब और अँगरेजों के संघर्ष में उन्होंने अथवा उनके उत्तराधिकारी ने महत्त्वपूर्ण, किन्तु शायद अदूरदर्शितापूर्ण योग दिया था। फ़तहचन्द के पुत्र या पौत्र जगत्सेठ सुगनचन्द ने १७६५ ई. में सम्मेदशिखर पर जलमन्दिर का निर्माण कराया था। किन्तु वह संकटकाल था। अँगरेजों के दास, शक्तिहीन एवं निकम्मे मीरजाफ़र आदि नवाबों और स्वयं अँगरेज कम्पनी के अधिकारियों एवं कर्मचारियों की व्यापक लूट-खसोट के कारण अराजकता बढ़ती गयी। जगत्सेठ भी उस लूट-खसोट से नहीं बचे। कलकत्ते और मुर्शिदाबाद की उनकी हवेलियाँ भी लूटी गयीं। व्यापार-व्यवसाय ठप्प होता चला गया और १८वीं शती ई. के बाद तो बंगाल के सुप्रसिद्ध जगत्सेठों का मात्र नाम ही रह गया। अपने वैभव एवं प्रभावपूर्ण काल में वे उस प्रान्त में जैन तीर्थों और जैनों के समर्थ संरक्षक रहे थे। सन् १८११-१२ ई. में बुकानन-हेमिल्टन ने जब अपना सर्वेक्षण वृत्तान्त लिखा तो जगत्सेठ अतीत की स्मृति बन चुके थे।

सेठ घासीराम—बादशाह फर्रुखसियर (१७१३-१९ ई.) के समय में शाही

खजाची थे। कूँचा-घासीराम उन्हीं ने बसाया था। इसी काल में १७१६ ई. में दिल्ली में नौघरे के भव्य एवं कलापूर्ण श्वेताम्बर-मन्दिर का निर्माण हुआ। सम्भव है इसमें जगत्सेठ माणिकचन्द का विशेष योग रहा हो।

लाला केशरीसिंह—मुग़ल बादशाह मुहम्मदशाह ने १७२१-२२ ई में सादतखाँ बुरहानुल्मुल्क को अवध का सूबेदार नियुक्त किया था। अवध के इस प्रथम नवाब के खजाची लाला केशरीसिंह नाम के अग्रवाल जैन थे जो नवाब के साथ दिल्ली से अवध आये। अयोध्या ही उस काल में इस सूबे की राजधानी थी। वही नवाब ने अपना डेरा डाला। लाला केशरीसिंह ने १७२४ ई में अयोध्या-तीर्थ के पाँच प्राचीन जिन-मन्दिरो और टोको का जीर्णोद्धार कराया था और इस तीर्थ के विकास एव जैनों के लिए उसकी यात्रा का मार्ग प्रशस्त किया था।



उत्तर मध्यकाल के राजपूत राज्य

इस काल मे राजस्थान मे मेवाड (उदयपुर), जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, बूँदी आदि प्रमुख राजपूत राज्य थे। इन राज्यो के नरेश बहुधा उदार और धर्म-सहिष्णु थे और उनके द्वारा शासित क्षेत्रो मे जैनो की स्थिति अपेक्षाकृत श्रेष्ठकर थी। उन्हें धार्मिक स्वतन्त्रता भी कही अधिक थी। जैन मुनियों, यतियो और विद्वानो का राजागण आदर करते थे। मन्दिर आदि निर्माण करने और धर्मोत्सव करने की भी जैनो को खुली छूट थी। मुख्यतया साहुकारी, महाजनी, व्यापार और व्यवसाय जैनो की वृत्ति थी और इन सब क्षेत्रो में प्राय प्रत्येक राज्य में उनकी प्रधानता थी। इस अतिरिक्त उक्त राज्यो के मन्त्री, दीवान, भण्डारी, कोठारी आदि तथा अन्य उच्च पदो पर अनेक जैनी नियुक्त होते थे। अनेक जैनी तो भारी युद्धवीर, सेनानायक, दुर्गपाल तथा प्रान्तीय प्रादेशिक या स्थानीय शासक भी हुए।

मेवाडराज्य

भारमल कावडिया—राणा साँगा का मित्र भारमल कावडिया, जिसे राणा ने अलवर मे बुलाकर रणथम्भौर का दुर्गपाल नियुक्त किया था और कालान्तर में बूँदो के सूरजमल हाडा के दुर्गपाल नियुक्त होने पर भी उस प्रदेश का बहुत-सा शासन-कार्य उसी के हाथ मे रहा था, राणा साँगा के पुत्र राणा उदयसिंह के शासनारम्भ मे ही राज्य के प्रधान मन्त्री के पद पर प्रतिष्ठित हुआ था। चित्तौड पर १५६७ ई. में सम्राट् अकबर का अधिकार हो जाने पर राणा ने उदयपुर नगर बसाकर उसे ही अपनी राजधानी बनाया। इस नगर के निर्माण एव उदयसिंह के राज्य को सुगठित करने में मन्त्री भारमल का पर्याप्त योग था। उसके पुत्र भामाशाह, ताराचन्द आदि भी राज्य-सेवा में नियुक्त थे।

वीर ताराचन्द—भारमल कावडिया का पुत्र और भामाशाह का भाई ताराचन्द भारी युद्धवीर, कुशल सैन्यसचालक और प्रशासक था। राणा उदयसिंह ने उसे गौडवाड प्रदेश का शासक नियुक्त किया। उदयसिंह के पुत्र एव उत्तराधिकारी महाराणा प्रतापसिंह के समय मे भी कुछ वर्ष वह उस पद पर रहा। सादडी को उसने अपना निवासस्थान बनाया था। सम्राट् अकबर के सेनापति आमेरनरेश मानसिंह के साथ १५७६ ई मे हुए महाराणा प्रतापसिंह के इतिहासप्रसिद्ध हल्दीघाटी के युद्ध में वीरवर ताराचन्द तथा मेहता जयमल बच्छावत, मेहता रतनचन्द खेताबत आदि कई

अन्य जैन सामन्त भी राणा के साथ थे और उन्होंने मुग़ल सेना के साथ अत्यन्त वीरता-पूर्वक युद्ध किया था। उस युद्ध में पराजित होकर राणा तो अपने बचे-खुचे साथियो और परिवार को लेकर जगलों और पहाडों में चले गये और ताराचन्द अपनी टुकडी के साथ मालवा की ओर चला गया। वहाँ अकबर के सरदार शाहबाजखाँ ने उसे जा घेरा। उसके साथ जूझता हुआ ताराचन्द बसी के जगल के निकट जा पहुँचा, जहाँ वह अत्यन्त घायल होने के कारण बेहोश होकर घोडे से गिर पडा। बसी का राय साईंदास देवडा घायल ताराचन्द को उठाकर अपनी गढी में ले गया और वहाँ उसकी समुचित परिचर्या की। स्वस्थ होकर वह सादडी लौट गया। तदनन्तर राणा की सहायता के लिए अपने भाई भामाशाह के साथ मालवा पर आक्रमण किया और लूट का धन लाकर राणा को अर्पण कर दिया। वह अन्त तक अपने राणा और स्वदेश की एकनिष्ठता के साथ सेवा करता रहा। सादडी ग्राम के बाहर ताराचन्द्र ने एक सुन्दर बारहदरी बनवायी थी, जिसमे उसकी स्वय की, उसकी चार पत्नियो की, एक खवास की, छह गायिकाओ की तथा एक गवैये और उसकी पत्नी की मूर्तियाँ पाषाण मे उत्कीर्ण है।

मेवाडोद्धारक भामाशाह—भारमल कावडिया का पुत्र और वीर ताराचन्द का भाई भामाशाह राणा उदयसिंह के समय से ही राज्य का दीवान एव प्रधान मन्त्री था। हल्दीघाटी के युद्ध (१५७६ ई) में पराजित होकर स्वतन्त्रताप्रेमी और स्वाभिमानी राणा प्रताप जगलो और पहाडो में भटकने लगे थे। वहाँ भी मुगल सेना ने उन्हे चैन न लेने दिया। अतएव सब ओर से निराश एव हताश होकर उन्होंने स्वदेश का परित्याग करके अन्यत्र चले जाने का सकल्प किया। इस बीच स्वदेशभक्त एव स्वामिभक्त मन्त्रीवर भामाशाह चुप नही बैठा था। वह देशोद्धार के उपाय जुटा रहा था। ठीक जिस समय राणा भरे मन से मेवाड की सीमा से विदाई ले रहा था, भामाशाह आ पहुँचा और मार्ग रोककर खडा हो गया, उन्हे ढाढस बँधायी और देशोद्धार के प्रयत्न के लिए उत्साहित किया। राणा ने कहा, न मेरे पास फूटी कौडी है, न सैनिक और साथी ही, किस बूते पर यह प्रयत्न करूँ। भामाशाह ने तुरन्त विपुल द्रव्य उनके चरणो में समर्पित कर दिया, इतना कि जिससे पचीस हजार सैनिको का बारह वर्षों तक निर्वाह हो सकता था और यह सब धन भामाशाह का अपना पैतृक तथा स्वय उपार्जित किया हुआ सर्वथा निजी था। इस अप्रतिम उदारता एव अप्रत्याशित सहायता पर राणा ने हर्षविभोर होकर भामाशाह को आलिंगनबद्ध कर लिया, वह दूने उत्साह से सेना जुटाने और मुगलो को देश से निकाल बाहर करने में जुट गये। अनेक युद्ध लडे गये जिनमें वीर भामाशाह और ताराचन्द ने भी प्राय बराबर भाग लिया। इन दोनो भाइयो ने मालवा पर, जो मुगलो के अधीन था, चढ़ाई करके २५ लाख रुपये और २० हज़ार अशरफियाँ दण्डस्वरूप प्राप्त की और लाकर राणा को समर्पित कर दीं। राज्य के गाँव-गाँव में प्राणों का सचार कर दिया, सैनिको को जुटाना, युद्ध-सामग्री की व्यवस्था और युद्धो में भी भाग लेना, हर प्रकार देश के उद्धार को सफल बनाने में भामाशाह ने पूर्ण योग दिया। दिवेर आदि

के शाही थानों पर आक्रमण करने में भी वह राजपूतों के साथ था। इन धावों में भामाशाह की वीरता देखने का भी राणा को पर्याप्त अवसर मिला और वह उससे अत्यन्त प्रसन्न हुआ। इन प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि मेवाड़ी वीरों की रणभेरी के नाद से मुग़ल सैनिकों के पैर उखड़ने लगे और १५८६ ई. तक, दस वर्ष के भीतर ही चित्तौड़ और मांडलगढ़ को छोड़कर सम्पूर्ण मेवाड़ पर राणा का पुनः अधिकार हो गया। अकबर ने भी उन्हें फिर नहीं छेड़ा। अपनी इस अपूर्व एवं उदार सहायता के कारण भामाशाह मेवाड़ का उद्धारकर्ता कहलाया। राणा प्रताप तो उसका बड़ा सम्मान करते ही थे, उसे लोकप्रतिष्ठा भी प्रभूत प्राप्त हुई। तभी से राजाज्ञा द्वारा राजधानी उदयपुर की पंच-पंचायत, बावनी (जाति भोज) चौके का भोजन, सिंहपूजा आदि विशेष उपलक्ष्यों में भामाशाह के मुख्य वंशधर को ही सर्वप्रथम तिलक किया जाता है और मान दिया जाता है। जब-जब इस प्रथा का भंग हुआ, राजाज्ञा से उसे पुनः स्थापित किया जाता रहा, यथा—१८५५ ई. के राणा सरूपसिंह के और १८९५ ई० के राणा फतहसिंह के आज्ञापत्र। मेवाड़ की प्रतिष्ठा के इस पुनरुत्थापक, स्वार्थत्यागी, वीर-श्रेष्ठ एवं मन्त्री प्रवर भामाशाह का जन्म सोमवार २८ जून, १५४७ ई. को हुआ था और निधन लगभग ५२ वर्ष की आयु मे २७ जनवरी, १६०० ई. में हुआ। मृत्यु के एक दिन पूर्व उसने अपने हाथ लिखी एक बही अपनी धर्मपत्नी को देकर कहा कि इसमे मेवाड के राज्यकोष का सब ब्यौरा है, जब-जब मेवाड़ का कोई राणा कष्ट में हो, इस द्रव्य से उसकी सहायता की जाय। इस प्रकार इस नररत्न ने एक सच्चे जैन के उपयुक्त आचरण द्वारा स्वधर्म, स्वसमाज एवं स्वदेश को गौरवान्वित किया। उदयपुर मे भामाशाह की समाधि अभी भी विद्यमान है।

जीवाशाह—भामाशाह का सुयोग्य पुत्र था। राणा प्रताप के पुत्र एवं उत्तराधिकारी राणा अमरसिंह के राज्यकाल में भी तीन वर्ष भामाशाह जीवित रहा और पूर्ववत् राज्य का प्रधान मन्त्री बना रहा। उसकी मृत्यु के उपरान्त जीवाशाह प्रधान मन्त्री हुआ। वह भी अपनी कुल परम्परा के अनुसार राज्यभक्त, स्वामीभक्त एवं अपने कार्य में सुदक्ष था। राणा अमरसिंह आलसी, विलासी और खर्चीला था। मुगलों के साथ भी अपने वीर पिता की आन को निभाने के लिए वह १६१४ ई. पर्यन्त युद्ध करता रहा। अपनी माता के पास सुरक्षित पैतृक बही में लिखे कोष से ही जीवाशाह राणा का और उसके युद्धों का खर्च चलाता रहा। जब १६१४ ई. में शाहजादा खुर्रम ने राणा को सम्राट् जहाँगीर की अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया तो अजमेर में सम्राट् के सम्मुख उपस्थित होने के लिए शाहज़ादे के साथ युवराज कर्णसिंह गया था। जीवाशाह भी उस समय अपने युवराज के साथ अजमेर गया था। अमरसिंह के पश्चात् कर्णसिंह राणा हुआ और उसके राज्यकाल में अपनी मृत्यु पर्यन्त जीवाशाह ही दीवान बना रहा।

अक्षयराज—भामाशाह का पौत्र और जीवाशाह का पुत्र अक्षयराज अपने पिता

की मृत्यु के उपरान्त कर्णसिंह का और तदनन्तर उसके उत्तराधिकारी राणा जगतसिंह का दीवान रहा। मन्त्रित्व के अतिरिक्त वह कुशल सेनानायक भी था। डूँगरपुर के रावल पहले मेवाड़ के अधीन थे, फिर मुग़ल बादशाह के अधीन हो गये तो राणा की सत्ता को उन्होंने अमान्य कर दिया। राणा जगतसिंह ने प्रधान अक्षयराज को रावल के विरुद्ध भेजा। अक्षयराज ने उसका सफलतापूर्वक दमन किया और उसे पहाड़ों पर भागकर शरण लेने पर बाध्य किया। अक्षयराज के पश्चात् इस वंश का कोई व्यक्ति उस पद पर रहा या नहीं, पता नहीं चलता।

संघवी दयालदास—मुग़ल सम्राट् औरंगजेब की हिन्दू विरोधी असहिष्णु नीति, जजिया-कर का लगा देना, मन्दिर-मूर्तियों को तुड़वाना आदि धार्मिक अत्याचारों से हिन्दू जनता त्रस्त हो उठी थी। जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह की विधवा एवं पुत्रों के साथ किये गये अन्यायपूर्ण बरताव ने भी राजपूतों को भड़का दिया। मेवाड़ के वीर राणा राजसिंह स्वयं को हिन्दुओं और हिन्दू धर्म का संरक्षक समझते थे। उन्होंने औरंगजेब को कड़ा पत्र लिखा कि वह उपरोक्त हिन्दू विरोधी कार्य न करे। सम्राट् ने कुपित होकर मारवाड़ पर आक्रमण करने के लिए ससैन्य अजमेर में डेरा डाला। राणा के नेतृत्व में राजस्थान के अधिकांश राजा उसका मुक़ाबला करने के लिए एकत्र हो गये, अन्ततः विवश होकर १६८१ ई. में उसे राजपूतों से सन्धि करनी पड़ी। इस काल में राजा राजसिंह का प्रधान मन्त्री संघवी दयालदास नामक जैन वीर था जो भारी योद्धा और कुशल सैन्यसंचालक भी था। कर्नल टाड के कथनानुसार राणा के इस कार्यचतुर एवं अत्यन्त साहसी दीवान दयालदास के हृदय में मुग़लों से बदला लेने की अग्नि सदा प्रज्वलित रहती थी। उसने शीघ्रगामी घुड़सवार सेना लेकर नर्मदा से बेतवा तक फैले हुए मालवा के सूबे को लूट लिया। उसके प्रचण्ड भुजबल के सम्मुख कोई नहीं ठहर पाता था। सारंगपुर, देवास, सिरोंज, माँडू, उज्जैन, चन्देरी आदि नगरों को लूटा और वहाँ स्थित मुग़ल सेना को मार भगाया। उसने मुसलमानों के मुल्ला, मौलवियों, क़ाज़ियों, क़ुरान और मस्जिदों को भी नहीं बख़्शा। मुसलमानों में त्राहि-त्राहि मच गयी। लूट का सारा धन उसने अपने स्वामी राणा के कोष में दे दिया। उसने अपने राजकुमार जयसिंह के साथ चित्तौड़ के निकट शाहज़ादा आज़म की सेना के साथ भयंकर युद्ध करके उसे रणथम्भौर की ओर भाग जाने पर विवश किया। इस युद्ध में भी मुग़लों के धन और जन की भारी क्षति हुई। दयालदास के पूर्वज मूलतः सीसौदिया राजपूत थे और जैनधर्म अंगीकार करके ओसवालों में सम्मिलित हुए थे तथा अपने धर्मकार्यों के कारण उन्होंने संघवी उपाधि प्राप्त की थी। अपनी सुरपुर जागीर के कारण सरुपरया भी कहलाते थे। संघवी तेजाजी के पुत्र संघवी गजूजी थे और उनके संघवी राजाजी थे जिनकी भार्या रयणदे से उनके चार पुत्र हुए। इनमें सबसे छोटे संघवी दयालदास थे। सूर्यदे और पाटमदे नाम की उनकी दो पत्नियाँ थीं और संघवी साँवलदास नामक पुत्र थे जिसकी भार्या

मृगादे थी। प्रारम्भ में दयालदास उदयपुर के एक ब्राह्मण पुरोहित के यहाँ नौकर थे। राणा के विरुद्ध उसके परिवार के ही कतिपय लोगों द्वारा किये गये एक कूट षड्यन्त्र का विस्फोट करने के कारण राणा दयालदास अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे अपनी सेना में रख लिया। शनैः-शनैः उन्नति करके वह राणा के कृपापात्र एवं विश्वस्त महाप्रधान हो गये। बड़ौदा के निकटस्थ छाणी ग्राम के जिनमन्दिर की एक पाषाणमयी विशाल जिनप्रतिमा पर अंकित लेख के अनुसार उसकी प्रतिष्ठा इन्हीं संघवी दयालदास ने १६७७ ई. में करायी थी। उदयपुर मे राजसमन्द की पाल के निकट उन्होंने संगमरमर का विशाल नौ मंजिला चतुर्मुख आदिनाथ-जिनालय बनवाया था, जो एक पूरे क़िले-जैसा लगता है और जिसके निर्माण मे एक पैसा कम दस लाख रुपये लगे बताये जाते है। इनकी प्रेरणा पर राणा राजसिंह ने १६९३ ई. में एक आज्ञापत्र भी जारी किया था जिसके अनुसार प्राचीनकाल से जैनों के मन्दिरों एवं अन्य धर्मस्थानों को जो यह अधिकार प्राप्त है कि उनकी सीमा में कोई भी व्यक्ति जीववध न करे, वह मान्य किया गया—नर या मादा कोई भी पशु यदि वध के लिए उक्त स्थानों के समीप से ले जाया जायेगा तो वह अमर हो जायेगा अर्थात् मारा नहीं जायेगा—राजद्रोही, लुटेरे या कारागृह से भागे हुए महाअपराधी भी यदि इनके उपासरे मे शरण लेते है तो राज्य कर्मचारी उन्हें नही पकड़ सकेंगे—फ़सल मे कूँची, कराना की मुट्ठी, दान की हुई भूमि और उनके उपासरे यथावत् क़ायम रहेंगे—यह फ़रमान यति मान की प्रार्थना पर जारी किया गया। उक्त यतिजी को कुछ भूमिदान भी दिया गया था। आज्ञापत्र महाराणा राजसिंह की ओर से मेवाड़ देश के दस हज़ार ग्रामों के सरदारों, मन्त्रियों, पटेलों को सम्बोधित था और शाह दयाल (दास) मन्त्री द्वारा हस्ताक्षरित था। राणा राजसिंह की मृत्यु के पश्चात् दयालदास राणा जयसिंह के प्रधान मन्त्री रहे और इस समय भी उन्होंने मुग़लों के साथ एक भयंकर युद्ध किया था। दयालदास के पुत्र संघवी साँवलदास भी राज्य में किसी उच्च पद पर प्रतिष्ठित रहे प्रतीत होते हैं।

कोठारी भीमसी—राणा संग्रामसिंह द्वितीय के समय मे जब रणबाजखाँ मेवाती के नेतृत्व में मुग़ल सेना ने मेवाड पर आक्रमण किया तो उसका प्रतिरोध करने के लिए राणा ने वेंगु के रावत देवीसिंह मेघावत आदि सरदारों को बुला भेजा। रावत कारणवश स्वयं न आ सका और उसने अपने कोठारी भीमसी महाजन की अध्यक्षता में अपनी सेना भेज दी। राजपूत सरदारों ने उपहास किया, 'कोठारीजी, यहाँ आटा नहीं तौलना है'। कोठारी ने उत्तर दिया, 'मैं दोनों हाथों से आटा तौलूँगा तब देखना।' और वह घोड़े की लगाम अपनी कमर में बाँध, दोनों हाथों में तलवारें ले, ससैन्य शत्रुओं पर यह कहते हुए टूट पड़े, 'सरदार, अब मेरा आटा तौलना देखो।' अनेक शत्रुओं को मृत्यु के घाट उतारकर इस शूरवीर महाजन ने उसी युद्ध में वीरगति प्राप्त की और अपना तथा अपने स्वामी का नाम उज्ज्वल किया। इन राणा संग्रामसिंह ने राज्य के जैन तीर्थ ऋषभदेव को एक ग्राम दान में दिया था।

मेहता मेघराज ड्योढ़ीवाल—पूर्वकाल में मेवाड़ के रावल करणसिंह के राहप, माहप और सरवण नाम के तीन पुत्र थे। राहप मेवाड के राणा हुए, माहप ने डूंगरपुर राज्य की स्थापना की और सरवणजी जैनधर्म अंगीकार करके ओसवालों में सम्मिलित हुए। राहपजी ने उन्हें ड्योढ़ी (जनानखाना या अन्तःपुर) की रक्षा का भार सौंपा और यह ड्योढीवाल कहलाये। तब से यह पद इस कुल में चलता रहा। सरवणजी ने चित्तौड में शीतलनाथ का मन्दिर बनवाया था। उसके पुत्र सरीपत को मेहता की पदवी मिली। सरीपत के मेघराज को छोडकर अन्य सब वंशज राणा उदयसिंह के समय में चित्तौड के अन्तिम युद्ध में लडकर वीरगति को प्राप्त हुए थे। मेघराज राणा के साथ उदयपुर चले आये थे और अपने कुलक्रमागत पद पर रहे। उन्होंने उदयपुर में शीतलनाथ का मन्दिर बनवाया और 'मेहतों की टीबा' नामक मोहल्ला बसाया था।

मारवाड़ (जोधपुर) राज्य

मारवाड (मरुदेश) में कन्नौज के जयचन्द्र गहडवाल के पौत्र सीहाजी ने भागकर शरण ली थी और अपना छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया था। यह वश राठौड नाम से प्रसिद्ध हुआ। मण्डोर उसकी राजधानी थी। इस वश के रावजोधा ने १४५९ ई में जोधपुर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया। तभी से राठौडो का यह जोधपुर राज्य अधिक प्रसिद्ध हुआ। इस राज्य में प्राय सदैव अनेक जैनी मन्त्री, दीवान, भण्डारी आदि पदो पर तथा अन्य राज्यकर्मचारियो के रूप में कार्य करते रहे। राज्य की जनसख्या का कम से कम पाँच-छह प्रतिशत जैन थे। इस राज्य के जैन राज-पुरुषो में सवप्रसिद्ध वश मुहनौतो का रहा। मारवाड के राव रायपाल (१२४६ ई) के १३ पुत्र थे जिनमे चौथे (या दूसरे) मोहनजी थे। इनकी प्रथम पत्नी जैसलमेर के भाटी राव जोरावरसिंह की पुत्री थी जिससे कुँवर भीमराज उत्पन्न हुए और उनसे राठौडो का भीमावत वश चला। तदनन्तर मोहनजी ने ऋषि शिवसेन के उपदेश से जैनधर्म अगीकार कर लिया और भिनमाल परगने के गाँव पचपदरिये के श्रीमाल जातीय जीवणोत छाजू की पुत्री से विवाह किया, जिससे सुभटसेन (सम्पत्तिसेन या सपतसेन) नामक पुत्र हुआ। उसने भी जैनधर्म अगीकार किया और उसके वशज मुहनौत ओसवाल हुए।

मेहता महाराजजी—मोहनजी की ९वी पीढ़ी में उत्पन्न हुआ और रावजोधा के साथ मण्डोर से जोधपुर आया तथा राज्य का दीवान एव प्रधान मन्त्री नियुक्त हुआ। राजा ने प्रसन्न होकर उसके लिए फतहपोल के निकट एक हवेली बनवायी थी।

मेहता रायचन्द्र—मोहनजी की १०वी और महाराजजी की ११वी पीढी में उत्पन्न हुआ था। जोधपुर नरेश शूरसिंह के छोटे भाई कृष्णसिंह ने सम्राट् अकबर की कृपा प्राप्त करके एक स्वतन्त्र जागीर १५९८ ई. में पायी जहाँ १६०१ ई में उसने कृष्णगढ़

बसाया। रायचन्द्र और उसका छोटा भाई शकरमणि जोधपुर से कृष्णसिंह के साथ ही कृष्णगढ़ चले आये थे और इस राजा के मन्त्री बने थे। राजा ने उनसे प्रसन्न होकर उनके लिए कृष्णगढ़ में दो हवेलियाँ बनवायी जो बडीपोल और छोटीपोल कहलायीं। मुख्य मन्त्री मेहता रायचन्द्र ने उस नगर में चिन्तामणि-पार्श्वनाथ-जिनमन्दिर भी बनवाकर १६१५ ई में प्रतिष्ठित कराया था। कृष्णसिंह के उत्तराधिकारी मानसिंह के समय में भी रायचन्द्र कृष्णगढ राज्य का मुख्य मन्त्री रहा। एक महोत्सव के अवसर पर १६५९ ई में राजा ने स्वय मेहता की हवेली पर पधारकर तथा भोजन करके उसका मान बढ़ाया था। पारितोषिक के रूप मे पालडी नामक ग्राम भी उसे प्रदान किया था। मेहता रायचन्द्र की मृत्यु १६६६ ई मे हुई थी। मेहता वृद्धमान, जो सम्भवतया रायचन्द्र का पुत्र था, राजा मानसिंह का तन-दीवान (प्राइवेट सेक्रेटरी) था, अत हर समय महाराज के साथ रहता था। उसकी मृत्यु १७०८ ई. मे हुई। उसका भाई या भतीजा मेहता कृष्णदास राजा मानसिह का मुख्य मन्त्री था क्योकि राजा प्राय दिल्ली मे रहता था, राज्य का प्राय सवकार्य दीवान कृष्णदास ही करता था। राजा ने १६९३ ई. में उसे बुहारु नामक गाँव इनाम दिया था। जब १६९९ ई में नवाब अबदुल्लाखाँ कृष्णगढ़ में शाही थाना स्थापित करने के लिए सेना लेकर चढ आया था तो मेहता कृष्णदास ने उसके साथ युद्ध करके उसे पराजित किया था। कृष्णदास की मृत्यु १७०६ ई में हुई। सम्भवतया इनका पुत्र मेहता आसकरण १७०८ई. मे कृष्णगढ़ नरेश राजसिंह का मुख्य दीवान था। इनका पुत्र या भतीजा मेहता देवीचन्द रूपनगर के राजा सरदारसिंह का मुख्य दीवान था।

मेहता अचलोजी—मोहनजी की १८वी और मेहता महाराजजी की ९वी पीढी में उत्पन्न अचलोजी मेहता अर्जुनजी के बडे भाई थे और १५६२ ई में जब रायचन्द्र सेन जोधपुर की गद्दी पर बैठा तो उसने इन्हे अपना मन्त्री बनाया था। डूँगरपुर से जोधपुर आते समय सोजन परगने के सवराड गाँव में जब महाराज का मुगलो के साथ युद्ध हुआ तो अचलोजी भी उनके साथ थे। अन्य अनेक युद्धो मे भी यह जोधपुर नरेश के साथ रहे और १५७८ ई में सवराड के युद्ध में ही उन्होंने वीरगति पायी थी। राज्य की ओर से उनका स्मारक (छत्री) बनवाया गया जो शायद अबतक विद्यमान है।

मेहता जयमल—मेहता अचलोजी के पौत्र थे और १६१४-१५ ई मे जोधपुर नरेश सूरसिंह के शासनकाल में गुजरात देशस्थ बडनगर (वादनगर) के सूबेदार थे, तदनन्तर फलौदी के शासक नियुक्त हुए। जहाँगीर ने १६१७ ई० में वह परगना बीकानेर नरेश सूरतसिंह को दे दिया तो बीकानेर की सेना उसपर अधिकार करने के लिए आयी किन्तु मेहता न उसे पराजित करके भगा दिया। सूरसिंह के पश्चात् गजसिंह जोधपुर का राजा हुआ। मेहता जयमल उसके भी कृपापात्र रहे। इस राजा ने १६२२ ई में जब जालोर परगने पर अधिकार किया तो मेहता उसके साथ थे और जब १६२४ ई में राजा गजसिंह सम्राट् जहाँगीर की सहायता के लिए हाजीपुर—पटना की ओर गये

तो जयमल भी फ़ौज मुसाहिब (सैनिक-परामर्शदाता) के रूप में उसके साथ गये थे। सन् १६३० ई० के दुर्भिक्ष में उन्होंने एक वर्ष तक स्वद्रव्य से अकाल पीड़ितों का भरण-पोषण किया था और १६३२ ई० में सिरोही के राव अखैराज पर एक लाख 'फीरोजी' (मुद्रा विशेष) का दण्ड निर्धारित करके उससे ७५००० नकद वसूल किये थे और २५००० बाक़ी करा दिये थे। वह सन् १६२९ ई० से १६३३ या १६३९ ई० तक जोधपुर राज्य के दीवान एवं प्रधान मन्त्री रहे। उन्होंने १६२४ ई० में जालोर, शत्रुंजय, साँचोर, मेड़ता और सिवाणा नामक स्थानों में जिनमन्दिर बनवाये थे। मेहता जयमल की सरूपदे और सुहागदे नाम की दो पत्नियाँ थीं। प्रथम से नैणसी (नयनसिंह), सुन्दरदास, आसकरण और नरसिंहदास नाम के चार पुत्र थे और दूसरी से जगमाल नाम का पुत्र था।

मेहता नैणसी—मूता नैणसी या मुहनोत नैणसी (नयनसिंह) इस घराने का सर्वप्रसिद्ध व्यक्ति है। उसका जन्म १६१० ई० में हुआ था और २२ वर्ष की अवस्था से पूर्व ही वह राज्यसेवा में नियुक्त हो गया था। मगरा के मेरो का उपद्रव बढ़ता देख, १६३२ ई० में जोधपुरनरेश गजसिंह ने नैणसी को सेना देकर उनका दमन करने के लिए भेजा जिस कार्य को उसने वीरता एवं कुशलतापूर्वक सम्पादन किया। राजा ने उसे १६३७ ई० में फलोधी का शासक नियुक्त किया, जहाँ उसने राज्य के शत्रु बिलोचों के साथ सफल युद्ध किया। जब १६४३ में राडधरे के महेचा महेशदास ने राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया तो गजसिंह के उत्तराधिकारी जोधपुरनरेश जसवन्तसिंह ने नैणसी को उसका दमन करने के लिए भेजा था और १६४५ ई० में सोव्रत के राव नरायण का दमन करने के लिए नैणसी और उसके भाई सुन्दरदास को भेजा था। दोनों ही अभियान सफल रहे। नैणसी ने कठोरता पूर्वक विद्रोहियों का दमन किया, उनके कोट, महल, गाँव आदि नष्ट कर दिये। बादशाह शाहजहाँ ने जसवन्तसिंह को १६४९ ई० में पोकरण परगना दिया था जिसपर जैसलमेर के भाटी रावल रामचन्द्र का अधिकार था और उसने उसे छोड़ना स्वीकार नहीं किया। महाराज ने नैणसी को भेजा और उसने युद्ध करके उस परगने पर अधिकार कर लिया। रामचन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी सबलसिंह जैसलमेर का राजा होना चाहता था। उसने अवसर देख जसवन्तसिंह से सहायता माँगी और नैणसी को भेजा गया जिसने रामचन्द्र को मार भगाया और सबलसिंह को जैसलमेर का राजा बना दिया। जसवन्तसिंह का दीवान मियाँ फरासत था जिसके स्थान में १६५७ ई० में महाराज ने नैणसी को अपना दीवान (प्रधान) नियुक्त किया। जिस पद पर उसने १६६६ ई० तक कार्य किया। साथ ही उसका भाई मेहता सुन्दरदास भी १६५४ ई० से १६६६ ई० महाराज का तन-दीवान (वैयक्तिक सचिव या प्राइवेट सेक्रेटरी) रहा, उसे पचोली बलभद्र के स्थान में नियुक्त किया था। सन् १६५६ ई० में महाराज ने सिंघलवाध के विरुद्ध सेना की दो टुकड़ियाँ भेजीं, जिनमें से एक का नेता सुन्दरदास था और वह युद्ध में विजयी होकर लौटा था। जैसलमेर के रावल सबलसिंह ने,

औरंगजेब और जसवन्तसिंह की अनबन का लाभ उठाकर १६५८ ई. में राज्य में लूटपाट मचायी तब भी नैणसी को ही जैसलमेर पर चढ़ाई करने के लिए भेजा गया। उसने रावल और उसके पुत्र को खदेड़कर अपने किले में बन्द होने पर विवश कर दिया और उसके २५ गाँव जलाकर और उसका एक दुर्ग लूटकर चला आया। उज्जैन के निकल औरंगजेब के साथ जसवन्तसिंह का जो इतिहासप्रसिद्ध युद्ध उसी समय के लगभग हुआ था। उसमें नैणसी के पुत्र करमसी ने वीरतापूर्वक लड़कर अनेक घाव खाये थे। अन्तत. औरंगजेब के सम्राट् बनने पर जसवन्तसिंह उसके पक्ष में हो गया और १६६३ ई. में उसकी ओर से महाराष्ट्र मे मराठा राजा शिवाजी के प्रसिद्ध दुर्ग कुंडाणा की विजय करने के लिए भेजा गया। दुर्ग पर आक्रमण करनेवालो में सुन्दरदास भी था। नैणसी महाराज के साथ ही था। मुगलो के लिए मराठों के विरुद्ध छिड़े अभियान का सचालन १६६६ ई में जसवन्तसिंह औरंगाबाद से कर रहा था। किसी कारण से वह नैणसी और सुन्दरदास से रुष्ट हो गया और उन दोनो भाइयो को कैद में डाल दिया। कहा जाता है कि महाराज की अप्रसन्नता का कारण इन दोनो के द्वारा अपने सम्बन्धियो को उच्च पदो पर नियुक्त करके राज्य मे मनमानी करना था। वास्तविक कारण तो इन वीरो के विद्वेषियो द्वारा इनके विरुद्ध महाराज के कान भरना था। दो वर्ष बाद उन दोनो पर एक लाख रुपया दण्ड (जुर्माना) लगाकर उन्हें छोड दिया गया, किन्तु उन स्वाभिमानी वीरो ने ताँबे का एक टका भी देना स्वीकार नही किया। अतएव अगले वर्ष (१६६९ ई) में उन्हे फिर बन्दीखाने मे डाल दिया गया और उनके साथ अत्यन्त कठोरता का व्यवहार किया गया, किन्तु वे तब भी न झुके। दण्ड-वसूली का अन्य उपाय न देखकर महाराज ने क़ैदी के रूप मे उन्हे कड़े पहरे मे जोधपुर रवाना कर दिया। मार्ग में असह्य यन्त्रणाएँ उन्हे दी गयी। पीढी दर पीढी से होती आयी अपने पूर्वजो की और स्वय अपनी व अपने पूरे परिवार की एकनिष्ठ स्वामिभक्ति और राज्यसेवा का निरकुश शासक द्वारा यह पुरस्कार पाकर उन दोनो वीरो को जीवन से ग्लानि हो गयी और मार्ग मे फूलमरी नामक ग्राम मे १६७० ई की भाद्रपद कृष्णा त्रयोदशी (पर्यूषणारम्भ) के दिन दोनो भाइयो ने एक साथ पेट मे कटार भोककर इहलीला समाप्त कर दी। ये दोनो प्रबुद्ध, सुशिक्षित और सुकवि भी थे। मरने के पूर्व दोनो ने एक-एक दोहा कहा—

नैणसी—दहाडो जितरे देव, दहाडे बिन नही देव है।
सुरनर करता सेव, नेडान आवे नैणसी॥

सुन्दरदास—नर पै नर आवत नही, आवत है धनपास।
सौ दिन केम पिछाडिये, कहते सुन्दरदास॥

इस घटना से महाराज जसवन्तसिंह और उसके राज्य की क्षति तो हुई ही उसकी बदनामी भी सर्वत्र बहुत हुई। समाचार पाते ही उसे पश्चात्ताप भी हुआ और उसने नैणसी के पुत्र करमसी तथा अन्य परिजनों को कैद से मुक्त कर दिया, किन्तु इस भयकर अत्याचार के पश्चात् उन्होने जोधपुर राज्य में रहना उचित नही समझा और गजसिंह

के पौत्र, जसवन्तसिंह के भतीजे और वीर राठौर अमरसिंह के पुत्र नागौरनरेश रामसिंह के आश्रय में चले गये। मूता नैणसी अत्यन्त कुशल राजनीतिज्ञ, प्रशासक, भारी युद्धवीर और सैन्यसंचालक ही नहीं था, वह सुकवि, बड़ा विद्यानुरागी तथा भारी इतिहासकार भी था। 'मूता नैणसी की ख्यात' नाम से प्रसिद्ध उसका महाग्रन्थ सम्पूर्ण राजस्थान का उत्तम इतिहास और जोधपुर राज्य की विस्तृत डायरेक्टरी है, जिसके कारण उसे राजस्थान का अबुलफ़ज़ल (आईने अकबरी का लेखक) कहा जाता है। ग्रन्थ का 'ख्यात' (इतिहास) भाग बड़े आकार के मुद्रित एक हजार पृष्ठ के लगभग है और उसका 'सर्वसंग्रह' (जोधपुर राज्य का गजेटियर) भाग भी पाँच सौ पृष्ठ के लगभग है। राजस्थान के मध्यकालीन इतिहास के लिए नैणसी का महाग्रन्थ अद्वितीय साधन स्रोत है। जोधपुर के कविराज मुरारीदीन ने उसे देखकर १९०२ ई में लिखा था—

मन्त्री मरुधर तणो नैणसी मैहतो नाँमी।
ख्यात रत्न एकठा कियाकर खाँत अमाँमी॥

मूता नैणसी के वंशज—नैणसी के तीन पुत्र थे—करमसी-वैरसी और समरसी। वे सुन्दरदास के पुत्रो और समस्त परिवार को लेकर नागौर में रामसिंह की सेवा में १६७० ई में ही चले गये थे। वहाँ रामसिंह ने अपने ठिकाने (राज्य) का सारा कार्य करमसी को सौंप दिया था। वीर करमसी ने अपने पिता और चाचा के साथ तथा स्वतन्त्र भी जसवन्तसिंह और उसके राज्य की पर्याप्त सेवा की थी। वह शासन कुशल और वीर तो था ही, किन्तु भाग्य यहाँ भी विपरीत हुआ। नागौर नरेश रामसिंह की १६७५ ई मे दक्षिण देशस्थ शोलापुर में अचानक मृत्यु हो गयी। राजा के मुत्सद्दियो ने साथ के गुजराती वैद्य से पूछा कि यह कैसे हो गया तो उसने अपनी भाषा मे कहा, 'करमा नो दोष छे', जिसका अर्थ लगाया गया कि मन्त्री करमसी ने विष देकर राजा की हत्या कर दी और उसे तुरन्त वहीं जीवित दीवार मे चुनवाकर मार दिया गया। साथ ही नागौर आज्ञा भेज दी गयी कि उसके पूरे परिवार को कोल्हू में पिलवा दिया जाये। अतएव करमसी के पुत्र प्रतापसी तथा परिवार के कितने ही व्यक्तियो की हत्या रामसिंह के पुत्र इन्द्रसिंह ने करवा दी। करमसी की दो विधवा पत्नियाँ अपने पुत्रो सामन्तसिंह और सग्रामसिंह के साथ किसी प्रकार बचकर भाग निकली और इन लोगो ने किशनगढ में जाकर शरण ली तथा वहाँ से बीकानेर चले गये। करमसी के परिवार के नागौर भाग जाने पर ही जसवन्तसिंह ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि इस परिवार के किसी व्यक्ति को राजसेवा में नही लिया जायेगा। करमसी के भाई मेहता वैरसी (कहीं-कहीं इन्हें सुन्दरदास का पुत्र लिखा है) रूपनगर के राजा मानसिंह (१६८५ ई.) के तन-दीवान हो गये थे। जसवन्तसिंह के पुत्र अजीतसिंह ने जब मारवाड़ राज्य पर अपना अधिकार स्थिर कर लिया तो उसने करमसी के पुत्रो सामन्तसिंह और संग्रामसिंह को बीकानेर से बुलाकर धैर्य दिया और अपनी सेवा में पुनः ले लिया। इस राजा के

समय में १७२५ ई. में मेहता संग्रामसिंह जोधपुर राज्य के मारोठ, परबतसर आदि सात परगनों के और सामन्तसिंह जालोर के शासक थे, जहाँ उन्होंने १७२७ ई. में सामन्तपुरा ग्राम बसाया था। अजीतसिंह के उत्तराधिकारी अभयसिंह ने पूर्वकाल में जब्त कर ली गयी इस परिवार की जागीर एवं अन्य सम्पत्ति भी उसे लौटा दी।

जोधपुर के भण्डारी

इस वंश के लोग अपनी उत्पत्ति साँभर (अजमेर) के चौहान वंश से बताते हैं। इस वंश के राव लखमसी ने नाडौल में पृथक् राज्य स्थापित किया था। उसके वंशज प्रह्लाददेव ने ११६२ ई. में नाडौल के जैनमन्दिर को बहुत-सी भूमि आदि का दान दिया था और पशुवध निषेध की राजाज्ञा जारी की थी। उपरोक्त राव लखमसी या लाखा के २४ पुत्रों में से एक दूदा था जो भण्डारी कुल का संस्थापक हुआ। वह जैनधर्म में दीक्षित होकर ओसवालों में सम्मिलित हो गया था। राज्यभण्डार का प्रबन्धक होने से भण्डारी (भाण्डागारिक) कहलाता था। इस वंश के लोग रावजोधा (१४२७-८९ ई.) के समय मारवाड़ में आकर बसे। इनके मुखिया नारोजी एवं समरोजी भण्डारी जोधा के वीर सेनानी थे। तभी से भण्डारी लोग जोधपुर में राज्यमान्य एवं उच्चपदों पर नियुक्त होते आये। वे लोग क़लम और तलवार दोनों के धनी रहे और भारी भवन निर्माता तथा राजभक्त भी।

भाना भण्डारी—इस वंश के अमर भण्डारी का पुत्र भाना भण्डारी जैतारण का निवासी था और जोधपुर नरेश गजसिंह का प्रतिष्ठित राज्यकर्मचारी था। उसने १६२१ ई. में कापरदा में पार्श्वनाथ का विशाल मन्दिर बनवाया था जिसका शिलारोपण खरतरगच्छी जिनसेनसूरि ने किया था।

रघुनाथ भण्डारी—जोधपुर नरेश अजीतसिंह (१६८०-१७२५ ई.) के समय में राज्य का दीवान था। शासन प्रबन्ध और युद्ध संचालन दोनों ही क्षेत्र में वह अत्यन्त दक्ष था। राजा बहुधा दिल्ली में रहता था और राज्य का समस्त कार्यभार एवं शासन रघुनाथ भण्डारी ही करता था। वह उदार और दानी भी प्रसिद्ध था। लोक-कहावत चल पड़ी थी कि 'अजीत तो दिल्ली का बादशाह हो गया और रघुनाथ जोधपुर का राजा हो गया।'

खिमसी भण्डारी—दीपचन्द्र का पौत्र और रायसिंह का पुत्र था तथा अजीतसिंह के समय में राज्य का एक दीवान (मन्त्री) था। दिल्ली के बादशाह से उसने अपने राजा के लिए गुजरात की सूबेदारी की सनद प्राप्त की थी। कहते हैं कि उसने औरंगजेब से कहकर जजिया-कर भी बन्द करवा दिया था। मानसिंह और अमरसिंह नाम के उसके दो पुत्र थे।

विजय भण्डारी—राजा अजीतसिंह जब १७१५ ई. में गुजरात का ४७वाँ सूबेदार बना तो उसके वहाँ पहुँचने तक विजय भण्डारी ने उसकी ओर से गुजरात की

सूबेदारी की थी।

अनूपसिंह भण्डारी—रघुनाथ भण्डारी का पुत्र था और १७१० ई० में जोधपुर नगर का शासनाधिकारी था। वह कुशल राजनीतिज्ञ, वीर योद्धा और निपुण सेनानी था। जब १७१५ ई. में दिल्ली के बादशाह ने अजीतसिंह के पुत्र युवराज अभयसिंह को नागौर का मनसबदार नियुक्त किया तो राजा ने अनूपसिंह को राजकुमार के साथ नागौर पर अधिकार करने के लिए भेजा। नागौर का राजा इन्द्रसिंह भी युद्ध करने पर कटिबद्ध था। नागौर के बाहर घमासान युद्ध हुआ, इन्द्रसिंह की सेना भाग गयी और नागौर पर जोधपुरवालों का अधिकार हो गया। राजा ने १७२० ई. में उसे अपना स्थानापन्न बनाकर गुजरात भेजा था। वहाँ उसने बड़े अत्याचार किये और अहमदाबाद के प्रमुख सेठ कपूरचन्द भंसाली की हत्या करा दी।

पोमसिंह भण्डारी—१७१० ई. में जोधपुर नरेश अजीतसिंह ने उसे जालौर एवं सांचौर का शासक नियुक्त किया था। १७१५ ई. में वह मेड़ता का शासक था और अनूपसिंह भण्डारी के साथ नागौर के युद्ध में सम्मिलित हुआ था तथा १७१९ ई. में बादशाह फर्रुखसियर की हत्या हो जाने पर महाराज अजीतसिंह ने उसे सेना देकर अहमदाबाद (गुजरात) भेजा था।

सूरतराम भण्डारी—१७४३ ई. में यह मेड़ता का प्रशासक था और राजा अभयसिंह ने उसे दो अन्य सामन्तों के साथ अजमेर पर अधिकार करने के लिए भेजा था। इन लोगों ने युद्ध करके उस नगर पर अधिकार कर लिया था।

रतनसिंह भण्डारी—१७३० ई. में जब दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह ने जोधपुर नरेश अभयसिंह (१७२५-५० ई.) को अजमेर और गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया तो उसके तीन वर्ष पश्चात् ही वह रतनसिंह भण्डारी को सूबे का कार्यभार सौंपकर स्वयं दिल्ली चला गया था और तब १७३३ ई. से १७३७ ई. पर्यन्त उक्त भण्डारी ने ही उस सूबे का शासन किया था। इस कार्य में उसे अनेक युद्ध भी लड़ने पड़े। उस काल में सूबेदारी सरल नहीं थी, किन्तु रत्नसिंह भण्डारी भी अत्यन्त व्यवहार-कुशल, राजनीति-निपुण, युद्धवीर एवं कर्तव्यनिष्ठ सेनापति था। अपने उक्त प्रशासन काल में वह सफल ही रहा। अन्ततः एक युद्ध में ही उसने वीरगति पायी। उसके समय में ही मराठों ने बड़ौदा पर १७३४ ई. में अधिकार किया था। उसी वर्ष रत्नसिंह ने वीरमगाम के सामन्त भवसिंह का दमन किया था, पेतलद के शासक धनरूप भण्डारी की मृत्यु हुई और अहमदाबाद के प्रधान सेठ खुशालचन्द से रुष्ट होकर रत्नसिंह ने उसे देश से निर्वासित कर दिया। इस खुशालचन्द के पितामह शान्तिदास ने सरसपुर (अहमदाबाद) में १६३८ ई. में पार्श्वनाथ जिनालय बनाया था जिसे १६४४ ई. में औरंगजेब ने अपनी गुजरात की सूबेदारी के काल में तुड़वाकर एक मस्जिद बनवायी थी, किन्तु सम्राट् शाहजहाँ ने फिर से उस मन्दिर को बनाने की आज्ञा दे दी थी। शान्तिदास बाद में औरंगजेब का भी कृपापात्र हो गया था। निर्वासित खुशालचन्द की

मृत्यु १७४८ ई. में हुई। रतनसिंह भण्डारी के १७३५ ई. धोलका की जागीर दे दी गयी थी। इस प्रसंग में उसका बादशाह के सोहराबखाँ, मोमिनखाँ आदि कई मुसलमान सरदारों के साथ काफ़ी संघर्ष हुआ जिसमें वह प्रायः विजयी रहा। उसकी हत्या के भी षड्यन्त्र किये गये। मराठों, मुसलमानों, स्थानीय राजपूत सामन्तों आदि के साथ उसके कूटनीति और युद्ध के क्षेत्र में निरन्तर द्वन्द्व चलते रहे। उसने १७३८ ई. में दूदेसर की तीर्थयात्रा भी की थी। जब १७४५ ई. में बीकानेर नरेश जोरावरसिंह की मृत्यु हुई तो गद्दी के दो दावेदार हो गये जिनमें से गजसिंह सफल हो गया तो अमरसिंह ने जोधपुर नरेश अभयसिंह से सहायता की याचना की। रतनसिंह भण्डारी के अधीन सेना भेजी गयी। कई भीषण युद्ध हुए जिनमें भण्डारी ने अद्भुत शौर्य प्रदर्शित किया। अन्तिम युद्ध १७४७ ई. में चाहसजन नामक स्थान में हुआ था। युद्ध की समाप्ति पर जब रतनसिंह भण्डारी लौट रहा था तो एक बीकानेरी भालाबरदार ने धोखे से पीछे से उसपर आक्रमण करके उस वीर की हत्या कर दी।

डूंगरपुर-बासवाड़ा-प्रतापगढ़

इस प्रदेश में जैनधर्म के प्रचलित रहने के साक्ष्य १०वीं शती ई. से ही मिलते हैं। दिगम्बर साधुओं का बागड़गच्छ यहीं से निकला था। जयानन्द की प्रवासगीतिका के अनुसार गिरिवर (डूंगरपुर) में १३७० ई. में पाँच जिनमन्दिर और जैन श्रावकों के ५०० घर थे। उसी समय के लगभग सागवाड़ा (शाकपत्तन) में नन्दिसंघ की भट्टारकीय गद्दी भी स्थापित हुई। डूंगरपुर में रावल प्रतापसिंह के मन्त्री प्रह्लाद ने १४०४ ई. में एक जिनमन्दिर बनवाया था, रावल गजपाल के मन्त्री आभा ने आँतरी में शान्तिनाथ-जिनालय बनवाया था और रावल सोमदास के मन्त्री साला ने पीतल की भारी-भारी जिनमूर्तियाँ बनवाकर आबू के मन्दिरों में प्रतिष्ठित करायी थीं तथा डूंगरपुर के प्राचीन पार्श्वनाथ जिनालय का पुनरुद्धार कराया था। प्रतापगढ़ राज्य में १४वीं-१५वीं शती की प्रतिष्ठित अनेक जिनमूर्तियाँ मिलती हैं। देवली के १७१५ ई. के शिलालेख के अनुसार राजा पृथ्वीसिंह के राज्य में सोरया एवं जोवराज नामक जैन महाजनों की प्रेरणा से उस ग्राम के तेलियों ने वर्ष-भर में ४४ दिन अपने कोल्हू बन्द रखने का निर्णय लिया था। उसी समय वहाँ मल्लिनाथ-मन्दिर निर्मापित हुआ।

कोटा-बारा

इस प्रदेश में भी ९वीं-१०वीं शती से जैनधर्म के प्रचलन के चिह्न मिलते हैं। रामगढ़ (श्रीनगर) में जैन मुनियों के आवास के लिए बनायी गयी गुफाएँ हैं। कृष्णविलास, केशववर्धन (शेरगढ़) अटक आदि स्थानों में ८वीं से १३वीं शती तक के जैन मन्दिर विद्यमान हैं। चाँदखेड़ी में राजा किशोरसिंह के राज्य में १६८९ ई. में कृष्णदास नामक धनी जैन सेठ ने भगवान् महावीर का मन्दिर बनवाया था और सैकड़ों जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करायी थी।

यहाँ १०वीं शती में राजा सागर के पुत्रों श्रीधर और राजधर ने पार्श्वनाथ-जिनालय बनवाया था, ऐसी किंवदन्ती है। लक्ष्मणसिंह के राज्य में १४१६ ई. में चिन्तामणि पार्श्वनाथ-जिनालय अपरनाम लक्ष्मणविलास बना। उसके पुत्र वैरीसिंह के समय में सम्भवनाथ का मन्दिर बना जिसके प्रतिष्ठोत्सव में राजा भी सम्मिलित हुआ। उसके उत्तराधिकारियों के समय में भी अनेक जिनमन्दिर बने तथा जैसलमेर का प्रसिद्ध शास्त्रभण्डार स्थापित हुआ। यहीं सेठ थारुशाह ने १६१८ ई. में १०वीं शती के प्राचीन पार्श्वनाथ-मन्दिर का पुनर्निर्माण कराया था।

नगर (वीरमपुर) के रावल

मरुदेश (जोधपुर-मारवाड़) में ही यह छोटा-सा राज्य था। यहाँ रावल सूर्यसिंह के राज्य में १६१२ ई. में वस्तुपाल नामक जैन सेठ ने पार्श्वनाथ-जिनालय की प्रतिष्ठापना करायी थी। १६२६ ई. में राजा गजसिंह के शासनकाल में जयमल ने जालोर के आदिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर जिनालयों में प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं। १६२९ ई. में पाली और मेड़ता में प्रतिष्ठाएँ हुई और १७३७ ई. में मारोठ के जैन दीवान रामसिंह ने जोधपुर नरेश अभयसिंह के राज्यकाल में मारोठ में 'साहों का मन्दिर' बनवाया और अनेक जिनप्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायीं।

आमेर (जयपुर) राज्य

राजस्थान का यह पश्चिमी भाग ढुँढाहड़ देश कहलाता था। नरवर (ग्वालियर) के एक कच्छपघातवंशी राजकुमार सोढ़देव ने १०वीं-११वीं शती ई. में यहाँ आकर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और दौसा नामक नगर को अपनी राजधानी बनाया था। तदनन्तर क्रमशः खोह और रामगढ़ को राजधानी बनाया गया और १३वीं शती ई. के लगभग आमेर (अम्बावती) दुर्ग का निर्माण करके उसे राजधानी बनाया गया। सवाई जयसिंह द्वारा १७२७ ई. में जयपुर नगर का निर्माण होने तक आमेर ही राजधानी बना रहा, तदुपरान्त उसका स्थान जयपुर ने ले लिया। आमेर-जयपुर के ये राजे कछवाहा (कच्छपघात का अपभ्रंश) राजपूत कहलाये। वंश संस्थापक सोढ़देव का कुलधर्म जैन था और उसका राजमन्त्री निर्भयराम (या अभयराम) नामक छावड़ा-गोत्री खण्डेलवाल जैन रहा बताया जाता है। इस राज्य में जैनधर्म और जैनीजन खूब फले-फूले। उनकी जनसंख्या भी अच्छी रहती रही है और महाजनों, सेठों एवं व्यापारियों के अतिरिक्त उनमें से अनेक राज्य के मन्त्री, दीवान तथा उच्चपदस्थ कर्मचारी होते आये हैं। इस राज्य के लगभग पचास-साठ जैन राजमन्त्रियों के तो स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। सैकड़ों श्रेष्ठ जैन विद्वानों, साहित्यकारों और कवियों ने भी इस राज्य के प्रश्रय में उत्तम कोटि का प्रभूत साहित्य रचा है। राज्य के वैराट, आमेर, जयपुर, टोडा

(तक्षकपुर), सांगानेर, चाकसू (चम्पावती) या चाटसू, जोबनेर, झुंझणू, मोजमाबाद आदि अनेक नगर जैनधर्म के प्रसिद्ध केन्द्र रहे हैं और राज्य में कई प्रसिद्ध जैनतीर्थ भी हैं। सम्राट् अकबर द्वारा १५६७ ई. में चित्तौड़ गढ़ का पतन होने और उस पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने पर चित्तौड़ पट्ट के तत्कालीन भट्टारक मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र के पट्टधर भट्टारक ललितकीर्ति ने पट्ट को चित्तौड़ से आमेर में स्थानान्तरित कर दिया था। तब से आमेर पट्ट के अनेक विद्वान्, धर्मोत्साही एवं प्रभावक भट्टारकों ने भी धर्म की अच्छी सेवा की। कछवाहों के राज्य के विभिन्न नगरों एवं ग्रामों में अनगिनत जैनमन्दिर बने। अकेले जयपुर नगर में १५० से अधिक जिनमन्दिर एवं कई उत्तम जैन-संस्थाएँ हैं। आमेर के राजा बिहारीमल द्वारा १५६२ ई. में अपनी पुत्री का विवाह सम्राट् अकबर के साथ कर देने से इस राज्य का अभूतपूर्व उत्कर्ष आरम्भ हुआ और उसके सर्वतोमुखी उत्कर्ष में राज्य के जैनों का प्रशंसनीय योगदान रहा है। राज्य के विभिन्न छोटे-मोटे ठिकानों (सामन्त घरानों) ने भी जैनधर्म का पोषण किया। रणथम्भौर के कछवाहा राजा जगन्नाथ के मन्त्री रवीमसी, आमेरनरेश महाराज मानसिंह (१५९०-१६१४ ई.) के महामात्य साह नानू और मिर्जा राजा जयसिंह (१६२१-६७ ई.) के प्रधान मन्त्री मोहनदास भाँवसा का परिचय अन्यत्र दिया जा चुका है। महाराज मानसिंह के राज्यकाल में ही १५९१ ई. में साह थानसिंह ने एक तीर्थयात्रा संघ चलाया था और भगवान् महावीर की निर्वाणस्थली पावापुरी में जाकर षोडशकारण-यन्त्र की प्रतिष्ठा करायी थी, १६०५ ई. में चाटसू (चम्पावती) के जिनमन्दिर में मानस्तम्भ का निर्माण हुआ था, और १६०७ ई. में मोजमाबाद में जेतासेठ ने सैकड़ों जिन-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं।

संघपति मल्लिदास—भाँवसा गोत्री यात्रा संघ चलानेवाले संघी ऊदर के पुत्र थे, संघभार धुरन्धर, जिनपूजापुरन्दर, जिनप्रतिष्ठाकरणैकतत्पर इन धर्मात्मा सेठ ने १६०२ ई. में दूधूनगर में बिम्ब प्रतिष्ठा करायी थी और दूधू, चूरू, बाँदर, सीदरी, सारखुरग एवं अराईं नामक स्थानों में विशाल जिनमन्दिर बनवाये थे। इन्हीं के सुपुत्र आमेर राज्य के सुप्रसिद्ध महामन्त्री मोहनदास भाँवसा थे।

संघी कल्याणदास—महामन्त्री मोहनदास भाँवसा के ज्येष्ठ पुत्र थे और उनकी मृत्यु के उपरान्त मिर्जा राजा जयसिंह के दीवान हुए। यह १६६६ ई. में विद्यमान थे। राज्य के तत्कालीन अभिलेखों में 'आमेर के दीवान संघी कल्याणदास' के रूप में उनका उल्लेख हुआ है। विमलदास और अजितदास उनके छोटे भाई थे। संघी अजितदास भी प्रतिष्ठित व्यक्ति थे—जयपुर का संघीजी का मन्दिर इनके (अथवा इनके पुत्र या पौत्र) द्वारा बनवाया गया कहा जाता है। संघी कल्याणदास सम्भवतया जयसिंह के पुत्र एवं उत्तराधिकारी महाराज रामसिंह (१६६७-८८ ई.) के समय भी राज्य के दीवान रहे थे।

बल्लूशाह छाबड़ा—महाराज रामसिंह के दीवान थे। मराठा राजा शिवाजी

को मुग़ल दरबार में लाने के सम्बन्ध में बात-चीत करने और समझाने के लिए महाराज ने बल्लूशाह को भेजा था। सम्भवतया मिर्जा जयसिंह के समय से ही वह राज्य-सेवा में उच्च पद पर नियुक्त थे।

विमलदास छाबड़ा—बल्लूदास के पुत्र थे और रामसिंह तथा उसके उत्तराधिकारी महाराज विशनसिंह (१६८९-१७०० ई) के समय मे दीवान थे, बड़े साहसी और युद्धवीर भी थे। लालसोट के युद्ध में उन्होंने वीरगति पायी थी। इनके दो पुत्र थे, रामचन्द्र और फतहचन्द, जो दोनों ही अपने समय में राज्य के दीवान हुए।

दीवान रामचन्द्र छाबड़ा—बल्लूशाह के पौत्र और दीवान विमलदास छाबड़ा के पुत्र रामचन्द्र छाबडा सम्भवतया अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त १६९० ई. के लगभग ही राजा विशनसिंह के दीवानों में भर्ती हो गये थे और उसके उत्तराधिकारी महाराज सवाई जयसिंह (१७०१-१७४३ ई.) के समय में तो राज्य के प्रधान अमात्यों मे से थे। महाराज के वह दाहिने हाथ सरीखे थे। राजनीति एवं शासन प्रबन्ध में अति दक्ष होने के साथ-साथ वह भारी युद्धवीर, कुशल सेनानी और स्वाभिमानी थे। जयपुर के जयसिंह और जोधपुर के अजीतसिंह परस्पर साले-बहनोई थे। दिल्ली की गद्दी के लिए हुए उत्तराधिकार युद्ध में इन दोनों राजाओं ने शाहजादा आज़म का पक्ष लिया था, अतएव सम्राट् बनने पर बहादुरशाह (१७०७-१२ ई.) ने दोनों राज्यों पर चढ़ाई करके उन्हे विजय कर लिया और खालसा घोषित कर दिया। दोनों राजा भागकर उदयपुर चले गये। जयसिंह के साथ उसके दीवान रामचन्द्र भी थे। उदयपुरवालों की कोई व्यंग्योक्ति सुनकर वह अकेले जयपुर के लिए चल पड़े। सेना एकत्र की और छल-बल-कौशल से मुगलों के प्रतिनिधि सैयद हुसैन अली को अपने राज्य से मार भगाया और आमेर पर अधिकार कर लिया। चाहते तो स्वयं राजा बन जाते, किन्तु स्वामिभक्त थे, आमेरपति जयसिंह को उदयपुर से बुलाकर उनका राज्य उन्हें सौंप दिया। इसपर बादशाह रुष्ट हो गया और दिल्ली दरबार में जयसिंह को क्षमा कर देने की कार्यवाही चल रही थी, वह स्थगित कर दी गयी तथा महाराज को आदेश दिया गया कि दीवान को तुरन्त अपनी सेवा से हटा दें। महाराज ने स्वभावतया यह शर्त स्वीकार नही की और १७१९ ई. तक, सम्भवतया अपनी मृत्युपर्यन्त रामचन्द्र अपने पद पर बने रहे। उन्होने अपने महाराज के आदेश पर जोधपुर से भी शाही सेना को मार भगाया और अजीतसिंह को उसके राज्य पर पुनः प्रतिष्ठित कर दिया। ये घटनाएँ १७०७-१७०८ ई. की हैं। जब साँभर प्रदेश के अधिकार को लेकर जयपुर और जोधपुर राज्यों में विवाद हुआ तो उसका निपटारा करने के लिए दोनों राजाओं ने दीवान रामचन्द्र को ही पंच बनाया और उन्होंने साँभर का आधा-आधा भाग दोनों को देने का निर्णय दिया। इस सेवा के उपलक्ष्य में दीवान को भी साँभर से प्राप्त नमक का एक भाग वार्षिक मिलता रहा। इस झगड़े के पूर्व साँभर क्षेत्र पर भी मुग़लों ने अधिकार किया हुआ था और रामचन्द्र छाबड़ा ने उनके चंगुल से उसे निकाला। अपने महाराज पर बादशाह को प्रसन्न

करने में भी वह सहायक हुए, उनके साथ स्वयं दिल्ली गये और जब बादशाह ने महाराज को मालवा की सूबेदारी दी तो वहाँ भी उनके साथ गये। दीवान रामचन्द्र अनेक युद्धों में सम्मिलित हुए थे। वह ढुंढार (आमेर) राज्य की ढाल भी कहलाते थे। महाराज ने उन्हें अनेक जागीरें प्रदान की थीं। इनके विषय में कहा जाता था कि यह टेढ़े को सीधा और सीधे को निहाल कर देते थे। वह घर के, पृथ्वी के और प्रजा के रक्षक थे और महाराज जयसिंह कहते थे कि रामचन्द्र तू ही सच्चा दीवान है। ये धर्मानुरागी भी थे। साहीवाड़ का जिनमन्दिर, उज्जैन की नशियाँ और दिल्ली में जयसिंहपुरे का जैन-मन्दिर इन्हीं दीवान रामचन्द्र के बनवाये हुए हैं। अन्तिम निर्माण १७२४ ई. में हुआ और यह 'महावीर चैत्यालय' कहलाता था।

फतहचन्द छाबड़ा—दीवान रामचन्द्र छाबड़ा के छोटे भाई थे और धार्मिक वृत्ति के सज्जन थे। उन्होंने १७०८ ई. से १७२४ ई. तक महाराज जयसिंह के ही शासन में दीवानगिरी की थी।

किशनचन्द्र छाबड़ा—दीवान रामचन्द्र छाबड़ा के पुत्र थे। इन्हे १७१० ई. में ही किसी विशेष राज्यसेवा के उपलक्ष्य में १०० बीघा भूमि राज्य से प्राप्त हुई। यह भी अपने समय मे राज्य के दीवानों में से थे। इनकी मृत्यु १७५८ ई. में हुई थी। इनके पुत्र दीवान भीवचन्द छाबड़ा थे।

राव जगराम पाण्ड्या—१७१७ ई. से १७३३ ई. तक महाराज सवाई जयसिंह के शासनकाल में राज्य के दीवान रहे। जयपुर प्रदेश के क़स्बा चाटसू के संस्थापक इन्ही के पूर्वज चौधरी चाढमल रहे बताये जाते है। राव जगराम बड़े धनी-मानी व्यक्ति थे, मुगल दरबार में भी इनकी पर्याप्त पहुँच थी।

राव कृपाराम पाण्ड्या—रावजगराम पाण्ड्या के सुयोग्य पुत्र थे और अत्यन्त प्रभावशाली, शान्ति एवं वैभवसम्पन्न राजपुरुष थे। महाराज सवाई जयसिंह की सभा के नवरत्नों में से यह एक थे। महाराज इनका बहुत सम्मान करते थे। इनका दीवान-काल १७२३ ई. से १७३३ ई. तक रहा, किन्तु उसके उपरान्त भी कई वर्षों तक वह राज्य की सेवा में रहते रहे। अपने महाराज के प्रतिनिधि के रूप में यह बहुधा दिल्ली दरबार में रहते थे और वहाँ बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले के शतरंज के साथी थे। अनेक राजे-महाराजे इनके सामने खड़े रहते थे और अपने कार्यों के लिए रावजी से ही बादशाह के हुज़ूर में सिफ़ारिशें करने की प्रार्थना किया करते थे। विभिन्न उमराव यह ध्यान रखते थे कि कहीं रावजी उनसे रुष्ट न हो जायें। कर्नल टाड के अनुसार इन्हें बादशाह से छह-हजारी मनसब प्राप्त हुआ था और यह शाही कोषाध्यक्ष का पद भी सम्हालते थे। महाराज द्वारा जयपुर महानगरी के निर्माण में रावजी ने स्वयं करोड़ों रुपये की सहायता दी थी। जब रावजी की कन्या का विवाह माधोपुर के नगर सेठों के यहाँ हुआ तो स्वयं महाराज ने कन्यादान दिया था। हथलेवा छुड़ाने में दो रुपये देने की प्रथा रावजी ने ही निर्धारित की थी जो जयपुर की जैन समाज में अब तक चली आती है। माही-मरातिब

भी जो जयपुर नरेश की सवारी में लगते थे, रावजी को भी प्राप्त थे, किन्तु उन्होंने वे महाराज को ही भेंट कर दिये थे। महाराज के भाई विजयसिंह ने जब महाराज के विरुद्ध राज्य हथियाने का षड्यन्त्र किया तो रावजी ने ही महाराज को समय से सचेत कर दिया था। इस प्रकार राव कृपाराम राज्य के कुशल दीवान और मन्त्री ही नहीं, बड़े प्रतिभा-शाली, प्रभावशाली, वैभवशाली और पूर्णतया स्वामिभक्त तथा धार्मिक वृत्ति के, असाम्प्रदायिक एवं उदार विचारोंवाले महानुभाव और भारी निर्माता भी थे। उन्होंने जयपुर के चाकसू चौक में स्थित विशाल जैनमन्दिर, अपनी सात चौकोंवाली हवेली में दो चैत्यालय, गलता की पहाड़ी का प्रसिद्ध सूर्य-मन्दिर तथा अन्य अनेक सूर्य-मन्दिर बनवाये थे। महाराज की भाँति वह भी ज्योतिर्विज्ञान के प्रेमी रहे लगते हैं। उनका स्वर्गवास १७४७ ई. में हुआ। राव कृपाराम के कोई पुत्र नहीं था, अतएव इनका अन्त्येष्टि संस्कार (क्रियाकर्म) आदि उनके छोटे भाई फतहराम पाण्ड्या ने किया था। एक अन्य भाई भगतराम पाण्ड्या थे।

फतहराम पाण्ड्या—राव कृपाराम के छोटे भाई थे और १७३३ ई. से १७५६ ई. तक जयपुर राज्य के दीवान रहे, पहले सवाई जयसिंह के तदनन्तर उनके उत्तराधिकारियों—ईश्वरीसिंह और माधोसिंह के राज्यकालों में। सन् १७५७ ई. में उन्हें जयपुर राज्य का वकील बनाकर दिल्ली दरबार में भेजा गया। राज्य की ओर से उन्हें कई गाँव जागीर में मिले थे और चार हजार रुपये वार्षिक वेतन मिलता था।

भगतराम पाण्ड्या—भी राव कृपाराम और फतहराम के सहोदर थे। यह १७३५ ई. से १७४३ ई. तक राज्य के दीवान रहे और अपने भाइयों की भाँति राज्य की सेवा की।

विजयराम छाबड़ा—तोलूराम के पुत्र थे, इसलिए विजयराम तोलूका भी कहलाते थे। इनके वंशजों का भी 'तोलूका' बौंक पड़ गया। यह भी सवाई जयसिंह के एक दीवान थे। महाराज की एक बहन की दिल्ली के बादशाह ने माँग की, किन्तु विजयराम की चतुराई से वह बूँदी के हाड़ा राजा बुधसिंह के साथ चुपके से विवाह दी गयी। जयसिंह उस समय दिल्ली में थे। बादशाह उनसे तथा बुधसिंह दोनों से रुष्ट हो गया किन्तु रणबाँकुरा हाड़ावीर डरा नहीं। विजयराम तो साहसी और वीर थे ही। बादशाह की एक न चली। महाराज ने विजयराम की स्वामिभक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें एक ताम्रपत्र दिया जिसमें लिखा था, 'तुम्हें शाबाशी है', तुमने कछवाहों के धर्म की रक्षा की है, यह राज्यवंश तुमसे कभी उऋण नहीं हो सकता और जो पायेगा तुम्हारे साथ बाँटकर खायेगा।'

किशोरदास महाजन—दौसा निवासी छाबड़ा गोत्री खण्डेलवाल जैन थे। यह १६९२ ई. से १७२२ ई. तक जयपुर राज्य के दीवान थे।

ताराचन्द्र बिलाला—केशवदास बिलाला के पुत्र थे और सवाई जयसिंह के समय में १७१६ ई. से १७३३ ई. तक के दीवान रहे थे। जयपुर नगर का *लूणकरण

पाण्ड्यावाला मन्दिर इन्हीं का बनवाया हुआ है। इनकी अपनी विशाल हवेली पचेवरवालों के रास्ते में थी। इन्होंने चतुर्दशीव्रत करके उसके उद्यापनार्थ भट्टारक विद्यानन्दि के शिष्य पण्डित अक्षयराम से १७४३ ई. में 'चतुर्दशी व्रतोद्यापन' नामक संस्कृत पुस्तक लिखवायी थी।

नैनसुख छाबड़ा—दौसा निवासी छाबड़ागोत्री खण्डेलवाल थे और तेरहपंथ आम्नाय के अनुयायी एवं बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति के सज्जन थे। दौसा, लालसोट, बसवा, चाकसू, टोंक, मालपुरा फागी, आमेर आदि कई स्थानों में इन्होंने जिनमन्दिर बनवाये थे। यह १७१२-१७१३ ई. में राज्य के दीवान थे।

श्रीचन्द छाबड़ा—नैनसुख छाबड़ा के भाई थे और १७१३-१४ ई. में राज्य के दीवान थे।

कनीराम वैद—कठमाना ग्राम निवासी खेमकरण वैद के पुत्र थे और १७५० ई. से १७६३ ई. तक जयपुर राज्य के दीवान रहे। जयपुर में मनीरामजी की कोठी के सामने स्थित मन्दिर तथा कठमाना का विशाल जिनमन्दिर इन्ही के बनवाये हुए हैं। इनके भाई कीरतराम ने कठमाना के निकट सोडा ग्राम में एक जिनमन्दिर बनवाया था।

केसरीसिंह कासलीवाल—यह १७३२ ई. में राज्य में एक सामान्य पद पर स्थित हुए और शनैः-शनैः उन्नति करके १७५६ ई. से १७६० ई. तक दीवान के पद पर प्रतिष्ठित रहे। जयपुर का संगमरमर में कुराई शिल्प के लिए विख्यात सिरमोरियों का जिनमन्दिर इन्ही का बनवाया हुआ है। इस मन्दिर का शिलान्यास स्वयं जयपुर नरेश माधोसिंह ने १७५६ ई. में किया था और राज्य के योगदान के रूप में २००० रुपये उसके निर्माण के लिए भी प्रदान किये थे।

दौलतराम कासलीवाल—जयपुर राज्य के बसवा नगर के निवासी और साह आनन्दराम कासलीवाल के पुत्र थे। यह उच्चशिक्षित, विद्याव्यसनी, भारी साहित्यकार, साथ ही नीतिपटु और राज्यकार्यकुशल थे। महाराज सवाई जयसिंह ने १७२० ई. के कुछ पूर्व ही उन्हे राज्यसेवा में नियुक्त कर लिया प्रतीत होता है और किसी राज्य कार्य से ही उन्हे आगरा भेजा था, जहाँ इन्हे आगरा के भूधरमल्ल, हेमराज, ऋषभदास आदि जैन विद्वानों के सत्संग का लाभ भी मिला और वहीं उसी वर्ष इन्होंने 'पुण्यास्रव कथाकोश' की रचना की थी। तदनन्तर कई वर्ष यह युवराज ईश्वरीसिंह के अभिभावक एवं खासदीवान (मन्त्री या सचिव) तथा जयपुर के वकील के रूप में उसके साथ उदयपुर के राणा जगतसिंह द्वितीय के दरबार में रहे। वहीं उन्होंने १७३८ ई. में 'क्रियाकोष' की रचना की थी। बीच-बीच में जयपुर भी आते रहते थे। महाराज ईश्वरीसिंह के राज्यकाल में यह उसके एक दीवान के रूप में जयपुर में ही अधिक रहे प्रतीत होते हैं। उसी काल में उनके 'आदिपुराण', 'पद्मपुराण', 'हरिवंशपुराण' आदि विशाल ग्रन्थों की रचना हुई लगती है। राज्यकार्य से जितना समय बचता था वह साहित्य साधना में ही लगाते थे। ईश्वरीसिंह के अन्तिम वर्षों और तदनन्तर

माधोसिंह के राज्यकाल में कई वर्ष-यह जयपुर राज्य के प्रतिनिधि (वकील) के रूप मे उदयपुर दरबार में रहे, जहाँ सेठ बेलाजी की प्रेरणा से इन्होंने 'वसुनन्दि श्रावकाचार' की भाषा-टीका लिखी थी, जिसकी प्रथम प्रतियाँ १७५१ ई. में उदयपुर में ही वहाँ के सेठ कालुबालाल और सेठ सुखजी की विदुषी पत्नियाँ मीठीबाई एवं राजबाई ने अपने हाथ से लिखी थीं। राजा पृथ्वीराज सिंह के समय में १७७० ई. के लगभग राज्य की साधिक ५० वर्ष निरन्तर सेवा करने के पश्चात्, इन्होंने राज्यसेवा से अवकाश ले लिया लगता है। इनकी अन्तिम रचना १७७२ ई. की है, जिसके कुछ समय पश्चात् इनका स्वर्गवास हो गया लगता है। मन्त्रीवर दौलतराम कासलीवाल का अपने समकालीन जयपुर के दीवानों के साथ प्रायः सौहार्द रहा, विशेषकर धर्मप्रेमी दीवान रतनचन्द्र साह (१७५६-६८ ई.) का तो अपने ग्रन्थों में उल्लेख भी किया है। एक धर्मज्ञ विद्वान् के रूप में दौलतराम पण्डितप्रवर टोडरमल्लजी का बड़ा आदर करते थे और भाई रायमल्ल तो उनके कई ग्रन्थो के प्रणयन में प्रेरक रहे थे। राजा और प्रजा में उनकी प्रतिष्ठा थी ही, राज-परिवार मे आते-जाते थे और 'पण्डितराय' कहलाते थे। इस सबके अतिरिक्त हिन्दी गद्य के विकास में पण्डित दौलतराम कासलीवाल का अभूतपूर्व योगदान है।

इस युग में जयपुर राज्य में अन्य अनेक व्यक्तियों ने भी विविध धर्म-कार्य किये थे, यथा—मालपुरा में १५९८ ई. में भट्टारक भुवनकीर्ति की आम्नाय के गर्गगोत्री अग्रवाल सेठ सामा ने अपनी पुत्री नगीना के व्रत उद्यापनार्थ षोडशकारण यन्त्र प्रतिष्ठापित किया था, १६०१ ई. में चन्द्रकीर्ति की आम्नाय के सहगोत्री खण्डेलवाल सेठ गंगराज ने पार्श्व-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी, १६६९ ई. में गुणभद्र की आम्नाय के जैसवाल जातीय चरणवंशी प्रधान नरायण के पुत्र संघही दलपत ने सम्यग्ज्ञान यन्त्र प्रतिष्ठापित किया था और १६९४ ई. में रत्नकीर्ति की आम्नाय के ठोल्यागोत्री खण्डेलवाल साह दामोदर के पुत्र साह जेसा ने पं. वीरदास के उपदेश से धातु की आदिनाथ-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी।

इसी प्रकार जोबनेर के राजा विजयसिंह के राज्य में, और १७२२ ई. में रावकुशसिंह के राज्य में, बिलाला गोत्री खण्डेलवाल साह नग के पुत्र सिंघई मलजीत ने पं. दयाराम के उपदेश से धातु की चौबीसी प्रतिष्ठित करायी थी।

१५७० ई. में सामवाड़ा निवासी कसलेश्वर गोत्री हूमड़ साह माणिक ने सपरिवार स्वगुरु भट्टारक सुमतिकीर्ति के उपदेश से धातु की चौबीसी प्रतिष्ठित करायी थी इत्यादि।

दक्षिण भारत के राज्य

विजयनगर के उत्तरवर्ती राजे—१५६५ में. तालिकोटा के युद्ध मे रामराजा की पराजय और मृत्यु तथा विजयनगर का विध्वंस हो जाने के पश्चात् उसके वंशज अपने

सीमित प्रदेश (प्रेमगोंडा) पर चन्द्रगिरि से राज्य करने लगे थे। इनमें प्रथम राजा तिरुमल था, तदनन्तर रंगराय प्रथम (१५७२-८५ ई.), वेंकट प्रथम (१५८६-१६१७ ई.), वेंकट द्वितीय (१६१७-४१ ई.), रंगराय द्वितीय (१६४२-८४ ई.) इत्यादि राजा क्रमशः हुए।

बल्लभराजदेव-महाअरसु—रंगराय प्रथम के महामण्डलेश्वर श्रीपतिराज का पौत्र और राजय्यदेव-महाअरसु का पुत्र कुमार बल्लभराजदेव-महाअरसु १५७८ई. मगरनाड का शासक था। उसने हेग्गरे की बसदि (जिनमन्दिर) के 'मान्य' की पुनः स्थापना के लिए उस वर्ष एक दानशासन जारी किया था और उक्त बसदि के लिए कुछ भूमियाँ तथा अन्य दान दिये थे। यह दान उसने गोविन्द सेट्टि नामक जैन सेठ की प्रेरणा से दिये थे।

बोम्मण श्रेष्ठि—पेनुगोंडा के महाराज वेंकट प्रथम के अधीनस्थ आरग के शासक वेंकटाद्रि-नायक का आश्रित बोम्मण-हेग्गडे मुत्तूर का शासक था। उसके इलाके के मेलिगे नगर निवासी वणिक्मुख्य वर्धमान और उसकी पत्नी नेमाम्बा का पुत्र बोम्मणश्रेष्ठि था जिसने १६०८ ई. में वहाँ एक भव्य जिनालय बनवाकर उसमें अनन्त जिन की प्रतिष्ठापना की थी और मन्दिर के लिए दान दिये थे। यह सेठ जिनेन्द्र के चरण-कमलों का भ्रमर, सत्य-शौच-गुणान्वित, धार्मिकाग्रणी था और विद्यानन्द मुनि का शिष्य था। स्वयं उसके पदुमण, चन्दन, माणिक आदि पाँच सुयोग्य श्रेष्ठि पुत्र थे।

राय-करणिक देवरस—वेंकट द्वितीय के इस महालेखाकार ने १६३० ई. के लगभग मलेयूर पर्वत की पार्श्वनाथ-बसदि के तोरणों का जीर्णोद्धार कराके उस पर जिनमुनियों के बिम्ब स्थापित किये और अपने पिता चन्दप की स्मृति में वहाँ एक दीपस्तम्भ बनवाया था।

कारकल के भैररस राजे

तुलुदेशस्थ कारकल जैनधर्म का एक प्रमुख केन्द्र रहता आया था और उसके भैररसवंशी राजाओं का कुलधर्म, राज्यधर्म और बहुधा व्यक्तिगत धर्म भी जैनधर्म ही रहा। तत्कालीन नरेश, सम्भवतया भैरव द्वितीय ने और राज्य के जैन नागरिकों ने १५७९ ई. में कारकल में एक जैन विद्यापीठ की स्थापना की थी और उसमें अध्ययन करनेवाले छात्रों के लिए अनेक वृत्तियाँ प्रदान की गयी थीं, जिनका विचारकर्ता कारकल के तत्कालीन पट्टाधीश भट्टारक ललितकीर्ति को बनाया गया था। इसी राज भैरव द्वितीय ने जिसे भैरवेन्द्र, भैररसवोडेय और इम्मडि-भैररस-वोडेय भी कहा गया है और भैरव प्रथम (भैरवराज) का भानजा एवं उत्तराधिकारी था, १५८६ ई. में कारकल की प्रसिद्ध गोम्मटदेव प्रतिमा के सामनेवाली पहाड़ी चिक्कबेट्ट पर एक भव्य एवं विशाल मन्दिर बनवाया था जो रत्नत्रय, सर्वतोभद्र या चतुर्मुख-बसदि और त्रिभुवनतिलक जिन-चैत्यालय कहलाया। मन्दिर में चारों ओर तीन मुख्य द्वारों की दिशाओं में तीर्थंकर अरनाथ, मल्लिनाथ और मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमाएँ विराजमान की गयीं और पश्चिम

दिशा में चौबीसी तीर्थंकरों की, उनकी यक्ष-यक्षिणियों सहित स्थापना की गयी। राजा ने यह धर्मकार्य स्वगुरु ललितकीर्ति मुनीन्द्र के उपदेश से किया था, जो देशीगण के पनसोगे शाखा के आचार्य थे और कारकल की भट्टारकीय गद्दी पर विराजते थे। मन्दिर में नित्य पूजा करने के लिए स्थानिकों (पुजारियों) के १४ परिवार नियुक्त किये गये, माली और नायक (गन्धर्व) भी नियुक्त किये गये। मन्दिर में निवास करनेवाले ब्रह्मचारियों को शीतनिवारणार्थ कम्बल, नित्य भोजन तथा आवश्यक सामग्री देने की भी व्यवस्था थी। एतदर्थ राजा ने भूमि आदि का प्रभूत दान दिया था, जिससे सब व्यवस्था सुचारु रूप से चली। सोमवंशी-काश्यपगोत्री जिनदत्तराय (प्राचीन सान्तरवंश संस्थापक) के वंश में उत्पन्न, भैररसवोडेयर (भैरव प्रथम) की बहन गुम्मटाम्बा और वीरनरसिंह-वंगनरेन्द्र का यह कुलदीपक, प्रियपुत्र इम्मडिभैररस-वोडेयर (भैरव द्वितीय) अपने शत्रुओं का दमन करनेवाला, सम्यक्त्वादि अनेक गुणगणालंकृत और जिनगन्धोदक-पवित्रीकृतोत्तमांग था। अपने अभ्युदय एवं निःश्रेयसरूप लक्ष्मी एवं सुख की प्राप्ति के लिए उसने यह धर्मकार्य किया था। पूर्व काल में पाण्ड्यराय ने यहाँ गोम्मटेश की विशाल मूर्ति प्रतिष्ठापित की थी, इसलिए कार्कल पाण्ड्यनगरी भी कहलाता था। राजा भैरव द्वितीय ने उपरोक्त मन्दिर बनवाने और दान देने के साथ ही साथ बड़े राज महल के प्रांगण में स्थित चन्द्रनाथ-बसदि तथा गोवर्धनगिरि पर स्थित पार्श्वनाथ-बसदि में नित्यपूजन के हेतु भी उत्तम व्यवस्था कर दी थी।

१५९१ ई. में किन्निग भूपाल नामक युवराज ने कन्नड़ प्रान्त में स्थित एक जिनालय के लिए भूमिदान दिया था। यह युवराज सम्भवतया तमिलनाड के किसी राज्यवंश का था।

१५९९ ई में सम्भवतया करकल के उसी भैरव द्वितीय के सामन्त पाण्ड्य नायक और उसके भाई देरेनायक ने कोप्प नामक स्थान में साधन-चैत्यालय नाम का पार्श्व-मन्दिर बनवाया था और उसके लिए उन दोनों भाइयों ने तथा राजा भैरव द्वितीय और उसके उक्त उत्तराधिकारी पाण्ड्यवोडेयर ने भी भूमिदान दिये थे।

वेनूर का अजिलवंश

तुलुदेश के वेनूर (बेणुरु) नगर में राज्य करनेवाले इस सोमकुली राज्य वंश का संस्थापक तिम्मण अजित प्रथम (लगभग ११५४-८० ई.) था। मूलतः वह पश्चिमी घाटवर्ती गंगवाडि का निवासी और सम्भवतया गंगवंश में ही उत्पन्न हुआ था। अजिल राजे स्वयं को गोम्मटेश प्रतिष्ठापक प्रसिद्ध गंग सेनापति चामुण्डराय का वंशज बताते हैं, किन्तु गोविन्द पै-जैसे इतिहासकारों का मत है कि अजिल राजाओं का पूर्व पुरुष चामुण्डराय बनवासी के कदम्बवंश का कोई राजकुमार था। अजिलवंश में मामा से भानजे को उत्तराधिकार चलता था और प्रारम्भ से प्रायः अन्त तक उसमें जैनधर्म की प्रवृत्ति रही। अजित प्रथम का उत्तराधिकारी उसका भानजा रायकुमार प्रथम

(११८६-१२०४ ई) था। अनेक राजाओ के होने के उपरान्त राजकुमार द्वितीय हुआ। उसकी मृत्यु १५५० ई में हुई और उसका उत्तराधिकारी उसका भानजा वीर तिम्मराज अजित चतुर्थ (१५५०-१६१० ई) हुआ जो उसका जामाता भी था। उसकी जननी का नाम पाड्य देवि और पिता का पाण्ड्य भूपति था। इस वीर, प्रतापी, उदार एव धर्मात्मा राजा ने अपनी राजधानी वेनूर में कार्कल-जैसी ही एक विशाल गोम्मटेश-प्रतिमा के निर्माण का विचार किया और राजधानी के निकटस्थ कल्याणी ग्राम में मूर्ति का निर्माण-कार्य भी प्रारम्भ हो गया। कार्कल के तत्कालीन नरेश इम्मडि भैरवराय को ईर्ष्या हुई और उसने सोचा कि इस मूर्ति की स्थापना से वेनूर की प्रतिष्ठा कार्कल से भी अधिक हो जायेगी, अतएव उसने तिम्मराज से अपने सकल्प को त्याग देने के लिए कहा। तिम्मराज ने यह बात स्वीकार नही की तो भैरव ने तिम्मराज पर चढ़ाई कर दी। दोनो में तुमुल युद्ध हुआ, जिसमें वीर तिम्मराज ही विजयी हुआ। मूर्ति की सुरक्षा के लिए तिम्मराज ने युद्ध मे जाने से पूर्व उसे फाल्गु नदी के रेत में गहरे दबवा दिया। उसे वह मनोज्ञ, सुलक्षण ३५ फुट उत्तुग, खड्गासन भगवान् गोम्मटेश की प्रतिमा प्राणो से अधिक प्रिय थी। विपुल द्रव्य व्यय करके अत्यन्त कुशल मूर्तिकार शिल्पियो से उसका निर्माण कराया था। श्रवणबेलगोल के पीठाचार्य चारुकीर्ति महाराज का आशीर्वाद उसे प्राप्त था। उन्ही के उपदेश से उसने यह शुभ सकल्प किया था। अन्तत वीर तिम्मराज का स्वप्न साकार हुआ और १६०४ ई की मार्च मास की प्रथम तिथि, गुरुवार को मध्याह्न काल मे वेनूर के सुप्रसिद्ध गोम्मटेश बाहुबलि की प्रतिष्ठापना बडे समारोहपूर्वक हुई। यह कर्णाटक की तीसरी विशाल बाहुबलि मूर्ति है। गोम्मटेश मूर्ति के सामनेवाले द्वार के दोनो पार्श्वों मे दो छोटे मन्दिर हैं जो तिम्मराज की दो रानियो ने बनवाये थे। इनमे से पूर्व दिशावाला चन्द्रप्रभ का है और पश्चिम दिशा-वाला शान्तिनाथ का है। मूर्ति के पीछे की ओर सडक के उस पार प्राचीन पार्श्व जिनालय है। वेनूर मे तिम्मराज के एक पूर्वज द्वारा १४९० ई के लगभग निर्मित शान्तीश्वर-बसदि है, जिसके दाहिने और बाये दो अन्य मन्दिर हैं। दक्षिण ओर वाला मन्दिर तीर्थंकर-बसदि कहलाता है। इसमे चौबीसो तीर्थंकरो की प्रतिमाएँ विराजमान हैं। पूरा मन्दिर पाषाण निर्मित है और उसपर उत्खनित मूर्तांकन दक्षिण कनारा प्रदेश में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इस मन्दिर के प्राकार के सम्मुख एक सुन्दर मानस्तम्भ विद्यमान है। तिम्मराज स्वय प्रतापी और कुशल प्रशासक था और उसके शासनकाल मे राज्य का प्रभूत उत्कर्ष हुआ। वेनूर राज्य का प्रवेश पुजलिके भी कहलाता था। तिम्मराज के पश्चात् उसकी भानजी मधुरिकादेवी गद्दी पर बैठी और उसने १६१० से १६४७ ई तक शासन किया। अपने राज्यकाल में उसने, सम्भवतया १६३४ ई मे, वेनूर के गोम्मटेश का महामस्तकाभिषेक महोत्सव किया था। इस अवसर पर भी कार्कल के तत्कालीन नरेश ने विरोध किया और उत्सव को रोकने के लिए वेनूर पर चढ़ाई कर दी, किन्तु अपने पूर्वज की भाँति उसे भी विफल मनोरथ होकर लौटना पडा। तदनन्तर

कई अन्य शासक वेनूर की गद्दी पर क्रमशः बैठे जिनमें एक धर्मात्मा रानी पद्मलादेवी थी। सन् १७६४ ई. में मैसूर के नवाब हैदरअली ने इस राज्य को समाप्त करके उसपर अधिकार कर लिया, किन्तु वंश का अस्तित्व वर्तमान युग तक चलता रहा। इस वंश के कुछ लोग अँगरेज सरकार से वर्षाशन पाते रहे।

मैसूर के ओडेयर राजे

कर्णाटक देश में मैसूर (महिशूर, ह्मैसूर) का ओडेयर वंश भी प्राचीन गंगवंश की ही एक शाखा थी—ये राजे स्वयं को गोम्मटेश प्रतिष्ठापक महाराज चामुण्डराय का वंशज भी बताते हैं। प्रारम्भ में यह छोटा-सा ही राज्य था और प्रायः पूर्णतया जैनधर्म का अनुयायी। कालान्तर में राजाओं द्वारा शैव-वैष्णवादि हिन्दूधर्म अंगीकार कर लिये जाने पर भी मैसूर के राजे स्वयं को श्रवणबेलगोल और उसके गोम्मटेश के रक्षक समझते रहे, उन्हीं की पूजा-भक्ति भी करते रहे और अन्य प्रकार भी जैनधर्म एवं जैनों का पोषण करते रहे।

१६०९ ई. के लगभग श्रवणबेलगोल में सोमनाथपुर निवासी और पण्डितदेव के शिष्य काश्यपगोत्री ब्राह्मण सेनवो सायन्न और महादेवी के प्रिय पुत्र परम जिनभक्त हिरियन्न ने गोम्मटस्वामी के चरणारविन्द की वन्दना करके मुक्तिपथ प्राप्त किया था।

चामराज ओडेयर—मैसूर नरेश महाराज ओडेयर ने १६३४ ई. में बेलगोल की भूमि के चन्नन आदि विभिन्न रहनदारों को बुलाकर उनसे उक्त भूमि को रहन से मुक्त करने के लिए तथा बदले में वाजिब रुपया स्वयं राज्य से ले लेने के लिए कहा तो उन लोगों ने वह भूमि बिना कुछ लिये ही अपने पूर्वजों के पुण्य निमित्त छोड़ दी। इस धर्मिष्ठ नरेश ने उक्त भूमियों का उन रहनदारों से पुनः दान करवाया और यह शासना-देश जारी कर दिया कि जो कोई स्थानक (पुजारी आदि) दान सम्पत्ति को रहन करेगा और जो महाजन ऐसी सम्पत्ति पर ऋण देगा, वे दोनों हो समाज से बहिष्कृत समझे जायेंगे, यह कि जिस राजा के समय में भी ऐसी घटना हो वह उसका तदनुसार न्याय करेगा तथा इस शासन का उल्लंघन करनेवाला महापाप का भागी होगा।

१६७३ ई. में पुट्टसमि और देवी रम्भा के पुत्र चेन्नन ने श्रवणबेलगोल को विन्ध्यगिरि पर समुद्रीश्वर (चन्द्रप्रभ स्वामी) का मण्डप, एक कुंज (उद्यान) और दो सरोवर बनवाये थे। अगले वर्ष १६७४ ई. में उन सबके संरक्षण के लिए उसने जिन्नयेन हल्लिग्राम भेंट कर दिया था।

देवराज ओडेयर—मैसूर नरेश महाराज देवराज ओडेयर ने १६७४ ई. में जैन साधुओं को नित्य आहारदान देने के लिए बेलगोल के चारुकीर्ति पण्डिताचार्य की दानशाला को मदने नामक ग्राम का दान दिया था। इन्हीं नरेश के द्वारा प्रदत्त भूमि में, सेनसंघ के दिल्ली-कोल्हापुर-जिनकांची-पेनुगोंडा सिंहासनाधीश लक्ष्मीसेन भट्टारक के उपदेश से पदुमणसेट्टि के पौत्र और दोड्डादणसेट्टि के पुत्र सवकरसेट्टि ने बेलूर में महा-

राज की अनुमतिपूर्वक १६८० ई. के लगभग विमलनाथ-चैत्यालय बनवाया था।

कृष्णराज ओडेयर—इन धर्मात्मा मैसूर नरेश ने श्रवणबेलगोल आकर गोम्मटेश्वर भगवान् के भक्तिपूर्वक दर्शन किये और हर्षविभोर हो इस पुण्य तीर्थ के संरक्षण, पूजोत्सव आदि के लिए बेलगोल, अर्हनहल्लि, होसाहल्लि, जिननाथपुर, वास्तियग्राम, राचनहल्लि, उत्तनहल्लि, जिननहल्लि, कोप्पल आदि को दान साक्षी पूर्वक दिया। लेख में दान की तिथि शक वर्ष १६२१ (१६९९ ई.) शोभकृत संवत्सर लिखी है, किन्तु कुछ विद्वानों का कहना है कि यह शक वर्ष १६४६ अर्थात् १७२४ ई. होना चाहिए। कृष्णराज ने बेलगोल नगर की, जो दक्षिणकाशी भी कहलाता था, विन्ध्यगिरि पर स्थापित भगवान् गोम्मटेश के चरणकमलों की भक्तिपूर्वक पूजा-वन्दना की थी तथा इस स्थान के अन्य मन्दिरों के भी दर्शन किये थे। इस नरेश ने इस पुण्यतीर्थ को जो सनदें दी थीं वे कालान्तर में मैसूर के राजाओं द्वारा मान्य की गयीं।

लगभग १५५० से १७५० ई. के मध्य की दो शताब्दियों में विभिन्न वर्षों में लगभग तीस-चालीस यात्रा संघों के श्रवणबेलगोल पर आने के उल्लेख वहाँ के शिलालेखों में प्राप्त होते हैं। इनमें से अनेक यात्री उत्तरभारत के राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश आदि स्थानों से भी आये थे। कई बार ये उत्तरभारतीय संघ अपने भट्टारक गुरुओं के नेतृत्व में भी यहाँ यात्रार्थ आये थे।



आधुनिक युग : देशी राज्य

(लगभग १७५७ से १९४७ ई.)

मैसूर

१७६६-६७ ई. में राजमन्त्री नंजराज के आश्रित हैदरअली नामक सिपाही ने, जो बढ़ते-बढ़ते राज्य का सेनापति बन गया था, मैसूर राज्य पर स्वयं अपना अधिकार कर लिया था। उसका और उसके पुत्र टीपू सुल्तान का सारा जीवन अँगरेज़ों के साथ युद्ध करते ही बीता। इस सुल्तानी राज्य को १८०१ ई. में अँगरेज़ों ने समाप्त किया और पुराने राज्यवंश के राजकुमार इम्मडि कृष्णराज ओडेयर को गद्दी सौंप दी। राज्य की शक्ति, सम्पत्ति और क्षेत्र भी सीमित कर दिये गये थे। धर्मस्थल के जैन प्रमुख कोमार हेग्गडे ने इस नरेश के सम्मुख उपस्थित होकर पूर्ववर्ती कृष्णराज ओडेयर की सनद पेश की और प्रार्थना की कि जो ग्रामादि पूर्वकाल में बेलगोल की दानशाला के लिए दिये गये थे और बीच के अन्तराल में ज़ब्त कर लिये गये थे उनके लिए पुनः सनद जारी कर दी जाये। अस्तु मार्च २८, १८१० ई. के दिन राजमन्त्री पर्णिया ने राजा की अनुमति से उपरोक्त आशय की नवीन सनद जारी कर दी। इस नरेश के पौत्र और चामराज के पुत्र कृष्णराज ओडेयर के समय में अगस्त ९, १८३० ई. को श्रवण-बेलगोल के पीठाधीश तत्कालीन चारुकीर्ति पण्डिताचार्य को राज्य की ओर से एक नवीन विस्तृत सनद प्रदान की गयी जिसमें समस्त पूर्व प्रदत्त भूमियों, दानों आदि की पुष्टि की गयी थी। इसी नरेश ने १८२८ ई. के लगभग श्रीवत्सगोत्रीय शान्तपण्डित के पुत्र की प्रार्थना पर केलसूर के जिनमन्दिर का नवीनीकरण किया, उसे चित्रांकनों अथवा भित्तिचित्रादि से सज्जित किया और उसमें तीर्थंकर चन्द्रप्रभु, विजयदेव (पार्श्व) और ज्वालिनीदेवी की प्रतिमाएँ पुनः प्रतिष्ठित करायी थी। जब यही नरेश मैसूर के अपने रत्नजटित सिंहासन पर बैठा हुआ शासन कर रहा था तो १८२९ ई. में राज्य का एक प्रसिद्ध गजराज जंगल में भाग गया। कोई भी उसे पकड़ नहीं ला पा रहा था। तब जैन धर्मानुयायी देवनकोटे के अमलदार शान्तय्य के वीरपुत्र देवचन्द ने यह कार्य सम्पादन करके महाराज से एक गाँव की भूमि पुरस्कारस्वरूप प्राप्त की थी।

राजा देवराज अरसु—चामुण्डराय के वंशज, काश्यपगोत्री, बिलिकेरे के अनन्तराज अरसु (राजा) के प्रपौत्र, तोट के राज देवराज के पौत्र और सत्यमंगल के शासक चलुवैअरसु के पुत्र तथा मैसूर नरेश महाराज (इम्मडि) कृष्णराज ओडेयर के

प्रधान अंगरक्षक यह राजा देवराज अरसु दुर्धर्ष समरविजयी, उद्भट सभा-विजेता, विद्यारसिक, विद्वान्, धर्मज्ञ, सदाचारी, धर्मात्मा और राज्यमान्य वीर थे। जीवन के अन्तिम वर्षों में वह राज्यसेवा से अवकाश लेकर श्रवणबेलगोल में भगवान् गोम्मटेश के चरणों में रहने लगे थे। वहीं उन्होंने अपने प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ 'आत्मतत्त्वपरीक्षण' की संस्कृत भाषा में रचना की थी और उसी पुण्य भूमि में शक १७४८ सन् १८२६ ई. की फाल्गुन कृष्ण पंचमी रविवार के दिन, जबकि गोम्मटस्वामी का द्वादशवर्षीय महामस्तकाभिषेक हो रहा था वह स्वर्गस्थ हुए। इस उपलक्ष्य में उनके पुत्र पुट्ट देवराज अरसु ने गोम्मटस्वामी की वार्षिक पादपूजा के लिए एक सौ बारह (स्वर्णमुद्रा) भेंट की थी। गोम्मटस्वामी के आवधिक महामस्तकाभिषेक को मैसूर के राजे सदैव से अपना एक महान् राजकीय उत्सव एवं मेला मानते रहे हैं। उसमें बहुधा स्वयं भी उपस्थित हुए हैं और राज्य की ओर से सर्व प्रकार सहयोग-सहायता, सुविधा आदि तो प्राप्त होते ही रहे हैं।

महारानी रम्भा—पूर्वोक्त मैसूर नरेश कृष्णराज के पुत्र एवं उत्तराधिकारी महाराज चामराज की महिषी थी। वह बड़ी विदुषी, इतिहास की रसिक, विद्वानों की प्रश्रयदाता और जैनधर्म की पोषक थी। पण्डित देवचन्द्र ने अपना प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ 'राजावलिकथे' इसी महारानी को १८४१ ई. में समर्पित किया था।

देवचन्द्र पण्डित—१९वीं शती के पूर्वार्ध में मैसूर राज्य के प्रसिद्ध विद्वान् जैन पण्डित थे। इतिहास इनका प्रिय विषय था। यह राज्य में करणिक (लेखाधिकारी या एकाउण्टेण्ट) के पद पर प्रतिष्ठित थे। इनके पितामह का नाम भी देवचन्द्र था और पिता का नाम देवप्प था। पद्मराज और चन्दपार्य इनके दो सहोदर थे। देवचन्द्र पण्डित कनकपुर (मलेयूर) के निवासी थे और कनकगिरि के भगवान् पार्श्वनाथ इनके कुलदेवता थे। अँगरेज विद्वान् कर्नल मेकेन्जी जब १८०४ ई. में लक्ष्मणराव के साथ कनकगिरि का सर्वेक्षण करने आया था तो यह देवचन्द्र उसके सम्पर्क में आये और उन्होंने कर्नल को स्वरचित 'पूज्यपादचरिते' की प्रति भेंट की। वह इनकी विद्वत्ता एवं बहुविज्ञता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने राजा से उन्हें अपने सहयोगी एवं सहायक के रूप में माँग लिया। अतः इतिहास में यह 'कर्नल मेकेन्जी के पण्डित' के नाम से प्रसिद्ध हुए। सुप्रसिद्ध 'मेकेन्जी कलेक्शन्स' (मेकेन्जी संग्रह) के संकलन एवं निर्माण में इनका प्रभूत योगदान था, प्रायः वैसा ही जैसा कि उसी काल में राजस्थान में कर्नल जेम्सटाड के सहायक जैन यति ज्ञानचन्द का था। इन्हीं देवचन्द्र ने १८३८ ई. में अपनी जन्मभूमि मलेयूर में पवित्र कनकगिरि पहाड़ी स्थित चन्द्रप्रभबसदि के पश्चिम ओर की शिला पर अपने पूर्वजों की वंशावली उत्कीर्ण करायी थी। मैसूर नरेश मुम्मुडि कृष्णराज ओडेयर के आश्रित वैद्यसूरि पण्डित की प्रेरणा से इन्होंने कन्नडी भाषा का अपना प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ 'राजावलिकथे' लिखना प्रारम्भ किया और १८४१ ई. में महारानी रम्भा को समर्पित किया था। दक्षिण देश में प्रचलित शक संवत् को विक्रम संवत् मानकर

महावीर निर्वाण संवत् के वर्षों में १३५ की वृद्धि करनेवाली मान्यता के प्रमुख पोषकों में यह देवचन्द्र पण्डित भी थे।

१८५६ ई. में श्रवणबेलगोल के मठ में मठाधीश चारुकीर्ति गुरु के अन्तेवासी सन्मति सागर वर्णी ने धरणेन्द्र शास्त्री द्वारा तीर्थंकर अनन्तनाथ की मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी, जैसा कि उक्त प्रतिमा के प्रभामण्डल की पीठ पर अंकित लेख से प्रकट है। उक्त वर्णीजी ने १८५८ ई. में तंजोरनिवासी श्रावकों आदिनाथ एवं गोपाल से बाहुबलि की एक प्रतिमा, वहीं के श्रावक पेरुमाल से पंचपरमेष्ठि की प्रतिमा, श्रावक शान्तिरप्पा से चौदह तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ आदि प्रतिष्ठित करायी थीं।

कुमार वीरप्प—पैनगोंडा के सेनसंघाचार्य लक्ष्मीसेन के गृहस्थ-शिष्य, यिदगूर के पट्टणसेट्टि (नगरसेठ) वीरप्प का पौत्र और अन्नय्य सेठ का पुत्र कुमार वीरप्प हजूर-मोतीखाने (मैसूरनरेश के मुक्ताभण्डार) का अध्यक्ष था। उसका छोटा भाई तिम्मप्प था। इन दोनों भाइयों ने १८७८ ई. में शालिग्राम में एक नवीन जिनालय बनवाकर उसमें भगवान् अनन्तनाथ की प्रतिष्ठापना की थी।

उदयपुर (मेवाड़)

मेहता अगरचन्द बच्छावत—मेवाड़ोद्धारक भामाशाह बीकानेर के प्रसिद्ध मन्त्री कर्मचन्द बच्छावत के समधी थे। उनकी पुत्री कर्मचन्द के एक पुत्र के साथ विवाही थी। जब बीकानेर में बच्छावतों का संहार हुआ तो वह अपने मायके उदयपुर में थी और उसके पुत्र भोजराज की पत्नी अपने मायके किशनगढ़ में थी। भोजराज का पुत्र भाण था जो अपनी पितामही के पास उदयपुर चला आया। उसका पुत्र जीवराज हुआ जिसका पुत्र लालचन्द था। इसका प्रपौत्र पृथ्वीराज हुआ जिसके अगरचन्द और हंसराज नाम के दो पुत्र हुए। यह दोनों भाई उदयपुरराज्य में उच्च पदों पर प्रतिष्ठित हुए। राणा अरिसिंह द्वितीय ने अगरचन्द बच्छावत को माण्डलगढ़ का दुर्गपाल तथा उस जिले का शासनाधिकारी भी नियुक्त किया। उसके वंशज भी उस महत्त्वपूर्ण दुर्ग के क्रमागत क़िलेदार होते रहे। किन्तु वह स्वयं उक्त पद से उन्नति करते-करते राणा का एक प्रमुख मन्त्री बन गया। सिन्धिया के साथ हुए राणा के युद्ध में अगरचन्द ने भाग लिया, घायल हुआ और मराठों के हाथों बन्दी हुआ, किन्तु अपने हितू बावरी लोगों की चतुराई से उस क़ैद से निकल भागा। सिन्धिया ने जब उदयपुर का घेरा डाला तब भी वह राणा के साथ युद्ध में सबसे आगे था। अन्य अनेक युद्धों में उसने भाग लिया और अपनी शूरवीरता का परिचय दिया। अरिसिंह द्वितीय के उत्तराधिकारी राणा हमीरसिंह द्वितीय के राज्यकाल में आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के संकटों के बीच राज्य की परिस्थिति बड़ी विकट हो गयी थी। उसके सम्हालने में अगरचन्द बच्छावत का प्रशंसनीय योग रहा। हमीरसिंह के उत्तराधिकारी राणा भीमसिंह के समय में तो वह राज्य का प्रधान बन गया था। लगभग आधी शती पर्यन्त राज्य की और उसके तीन नरेशों

की निष्ठापूर्वक सेवा करके अच्छी वृद्धावस्था में यह कुशल राजनीतिज्ञ, प्रचण्ड युद्धवीर और स्वामिभक्त राजपुरुष १८०० ई. में स्वर्गस्थ हुआ। कहते हैं कि मृत्यु के कुछ पूर्व उसके पुत्र देवीचन्द ने अपने रहने के लिए एक सुन्दर आलीशान महल बनवाना शुरू किया था। मेहता को जब यह सूचना मिली तो तुरन्त पुत्र को पत्र लिखा कि "बेटा सच्चे शूरवीर तो रण क्षेत्र में क्रीड़ा किया करते है, वहीं शयन करते हैं, तब तुमने यह विपरीत मार्ग क्यों अपनाया ? क्या तुम्हारे हृदय में अपने वीर पूर्वजों की भाँति जीने और मरने की हौस नही है ? यदि तुम उनका अनुकरण करना चाहते हो और स्वदेश की प्रतिष्ठा बनाये रखने के इच्छुक हो तो इस महल का त्याग कर दो। घोड़े की पीठ पर बैठे-बैठे रोटी खाना और नींद आये तो घोड़े की जीन पर ही सोने की आदत डालो, तभी तुम अपनी कीर्ति की रक्षा कर सकोगे। हमारे पुरखों का पुरातन काल से यही ढंग रहता चला आया है" ऐसा उद्बोधन एक सच्चा कर्मठ वीरपुरुष ही दे सकता है।

मेहता देवीचन्द—अगरचन्द्र बच्छावत का ज्येष्ठ पुत्र था और उसकी मृत्यु के उपरान्त राजमन्त्री तथा जहाजपुर दुर्ग का शासक नियुक्त हुआ। कुछ दिन वह प्रधान भी रहा। उस युग में राजस्थान के राजपूत राज्यों में पेशवाओं के मराठे सरदार बड़ा हस्तक्षेप कर रहे थे, निरन्तर कूटनीतिक दावँपेच और छुटपुट युद्ध होते रहते थे। ऐसे ही एक चक्कर में शक्तावतों के सहायक मराठा बालेराव ने देवीचन्द्र को चूड़ावतों का पक्षपाती मानकर पकड़ लिया और बन्दीगृह में डाल दिया। राणा भीमसिंह ने यह सूचना पाते ही उसे छुड़ा लिया क्योंकि उस समय प्रधान या राजमन्त्री पद पर न होते हुए भी वह स्वामिभक्त वीर था और राणा उसका बहुत आदर एवं विश्वास करता था। एक बार जालिमसिंह झाला और मराठों के आगे विवश होकर राणा ने माण्डलगढ़ दुर्ग झाला के नाम लिख तो दिया किन्तु साथ ही एक ढाल और तलवार देकर एक सवार को तुरन्त दुर्गपाल मेहता देवीचन्द के पास माण्डलगढ़ भी भेज दिया। मेहता समझ गया कि राणा ने दबाव में आकर तो दुर्ग को उन लोगों को सौंप देने की लिखित आज्ञा दी है किन्तु ढाल और तलवार भेजकर अपनी वास्तविक इच्छा का भी संकेत कर दिया कि युद्ध किया जाये। अतएव देवीचन्द ने दुर्ग की रक्षा एवं सम्भावित युद्ध की पूरी तैयारी कर ली और दुर्ग को हाथ से न निकलने दिया। झाला सरदार विफलमनोरथ हुआ। जब १८२० ई. के लगभग कर्नल टाड ने अँगरेज कम्पनी के प्रतिनिधि के रूप में आकर उदयपुर की शासन व्यवस्था ठीक की तो देवीचन्द बच्छावत को पुनः राज्य का प्रधान बनाया गया। किन्तु दोहरे प्रबन्ध से सन्तुष्ट नहीं होने से उसने त्यागपत्र दे दिया था।

मेहता शेरसिंह—अगरचन्द बच्छावत का पौत्र, देवीचन्द का भतीजा और सीताराम का पुत्र था, राणा जवानसिंह ने उसे अपना प्रधान बनाया था, किन्तु एक वर्ष पश्चात् ही उसके स्थान में मेहता रामसिंह को उस पद पर नियुक्त कर दिया गया

क्योंकि शेरसिंह राज्य की आर्थिक स्थिति नहीं सुधार सका था। शेरसिंह को १८३१ ई. में पुनः प्रधान बनाया गया। किन्तु इस बार भी इस पद पर वह अधिक समय नहीं रह सका। जवानसिंह की मृत्यु हो गयी थी और उसके उत्तराधिकारी राणा सरदारसिंह ने मेहता शेरसिंह को पदच्युत करके बन्दीगृह में डाल दिया, क्योंकि उसपर अन्य राजकुमारों के साथ मिलकर इस राणा के विरुद्ध षड्यन्त्र करने का सन्देह था। क़ैद में भी उसके साथ कठोर व्यवहार किया गया था। अँगरेज़ पोलीटिकल एजेण्ट की सिफ़ारिस भी काम न आयी। अन्ततः दस लाख रुपये देने का वचन देकर मुक्त हुआ और प्राणरक्षा के लिए जोधपुर चला गया। सरदारसिंह के उत्तराधिकारी राणा सरूपसिंह ने १८४४ ई. में मेहता को मारवाड़ से बुलाकर पुनः उदयपुर राज्य का प्रधान बनाया। उसी वर्ष राणा ने शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में पोलीटिकल एजेण्ट से जो इकरारनामा किया था उसपर राज्य के अन्य प्रमुख उमरावों के साथ मेहता शेरसिंह के भी हस्ताक्षर हैं। शेरसिंह का पुत्र जालिमसिंह, जो देवीचन्द के मझले भाई उदयराम को गोद था, इस समय राज्य की सेवा में नियुक्त हो चुका था। राणा ने १८४७ ई. में उसे लावागढ़ पर अधिकार करने के लिए भेजा था किन्तु वह असफल रहा तो स्वयं शेरसिंह ने जाकर उसपर अधिकार किया और विद्रोहियों के सरदार चतरसिंह को बन्दी के रूप में लाकर राणा के सामने उपस्थित किया। राजा ने प्रसन्न होकर खिलअत, बीड़ा, ताजीम का अधिकार आदि से पुरस्कृत किया। इस राणा की इच्छापूर्ति के लिए अँगरेज़ों से लिखापढ़ी करके मेहता ने सरूपसाही रुपया भी चलवाया। शेरसिंह के ज्येष्ठ पुत्र मेहता सवाईसिंह ने राणा के लिए १८५० और १८५५ ई. मे विद्रोही भीलों का दमन किया था। शेरसिंह के पौत्र अजीतसिंह ने १८५१ ई. में सरकारी डाक को लूट लेने के अपराधी मीनों से युद्ध किया। अजीतसिह उस समय जहाजपुर का क़िलेदार था। स्वातन्त्र्य संग्राम (१८५७ ई.) में राणा ने अँगरेज़ों का पक्ष लिया था और प्रधान शेरसिंह को पोलीटिकल एजेण्ट की सहायतार्थ उसके साथ लगा दिया था किन्तु स्वयं मेहता से असन्तुष्ट ही रहा, विशेषकर उसके स्वाभिमानी स्वभाव एवं स्पष्टोक्तियों के कारण। अतएव उसने १८६० ई. में अँगरेज एजेण्ट के विरोध करने पर भी शेरसिह की जागीर ज़ब्त कर ली और जुर्माना लगा दिया था किन्तु उसे ये आज्ञाएँ वापस लेनी पड़ीं। सरूपसिंह के उत्तराधिकारी बालक राणा शम्भूसिंह की रीजेन्सी कौंसिल का सदस्य शेरसिंह ही था। नये राणा से भी उसकी नहीं पटी। इसी प्रकार चलता रहा और कुछ ही समय पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी।

मेहता गोकुलचन्द—मेहता देवीचन्द का पौत्र और सरूपचन्द का पुत्र था। प्रारम्भ में राणा सरूपसिंह ने उसके चचा शेरसिंह को हटाकर इसे प्रधान बनाया था और १८५९ ई. तक वह उस पद पर रहा। जब राणा शम्भूसिंह के समय में १८६३ ई. में नया मन्त्रिमण्डल बना तो गोकुलचन्द उसका सदस्य था। माण्डलगढ़ की क़िलेदारी तो इस वंश की कुल-क्रमागत थी, जब-जब और कोई पद या कार्य न होता तो इस वंश के

लोग माण्डलगढ़ ही चले जाते थे। ऐसा ही १८६६ ई. में गोकुलचन्द से किया, किन्तु १८६९ ई. में राणा ने उसे बुलाकर अपना प्रधान नियुक्त किया और उस पद पर १८७४–७५ ई. तक रहा। तदनन्तर माण्डलगढ़ चला गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई।

मेहता पन्नालाल—अगरचन्द बच्छावत के छोटे भाई हंसराज के ज्येष्ठ पुत्र दीपचन्द का प्रपौत्र था। खास कचहरी के नायब से उन्नति करके वह १८६९ ई. मे राणा शम्भूसिंह के समय महकमे खास का सचिव बना, जिसके अधिकार और कर्तव्य प्रायः वही थे जो पूर्वकाल में प्रधान के होते थे। प्रधान का पद अब समाप्त कर दिया गया था। किन्तु उसने अनेक शत्रु पैदा कर लिये थे जिनकी शिकायतों पर विश्वास करके राणा ने १८७४ ई. में उसे कुछ समय के लिए कर्णविलास महल में क़ैद भी कर दिया था। राणा की दाहक्रिया के समय मेहता की हत्या का भी प्रयत्न हुआ। अतएव वह उदयपुर को छोड़कर अजमेर चला गया। नये राणा सज्जनसिंह ने १८७५ ई. में उसे अजमेर से बुलाकर फिर से महकमाखास का कार्य सौंप दिया। लार्ड लिटन के १८७७ ई. के दिल्ली दरबार में मेहता पन्नालाल को 'राय' का खिताब मिला और १८८० ई. मे वह महद्राजसभा का सदस्य बना। सज्जनसिंह के राज्यकाल के अन्त तक वह राज्य का प्रधान (महकमेखास का सेक्रेटरी) बना रहा और उसके उत्तराधिकारी राणा फतहसिंह को गद्दी पर बैठाने में उसका पूरा हाथ था। इस राणा के राज्यारम्भ में ही १८८७ ई. में मलका विक्टोरिया की जुबिली के अवसर पर मेहता पन्नालाल को सी. आई. ई. उपाधि प्रदान की गयी। तीर्थयात्रा के विचार से १८९४ ई. में उसने राज्यसेवा से अवकाश लिया और कुछ वर्ष पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी कार्यकुशलता एवं व्यवहार से राजा-प्रजा, सामन्त-सरदार और अँगरेज अधिकारी सभी प्रायः सन्तुष्ट रहे। पन्नालाल का पुत्र फतेलाल राणा फतहसिंह का कुछ काल तक विश्वासपात्र रहा, और फतेलाल का पुत्र देवीलाल महकमा देवस्थान का अध्यक्ष भी रहा। इस प्रकार उदयपुर के बच्छावत वंश के अनेक पुरुषों ने मेवाड़ राज्य की प्रशंसनीय सेवा की। उनमें से जो अत्युच्च पद पर पहुँचे और विशेष उल्लेखनीय थे, उन्हीं का परिचय दिया गया है।

सोमचन्द गान्धी—१७६८ ई. में राणा भीमसिंह गद्दी पर बैठा और तदनन्तर चूड़ावत सरदारों ने उसको अपने क़ब्ज़े में कर लिया। जब राणा को द्रव्य की आवश्यकता होती तो कोष में नहीं है, यह कहकर मना कर देते थे। राजमाता ने राणा का जन्मोत्सव मनाने के लिए रुपया माँगा तो उसे भी यही उत्तर दे दिया। इसपर सोमचन्द गान्धी ने, जो अन्तःपुर की ड्योढ़ी पर काम करता था, राजमाता से कहा कि यदि उसे प्रधान बना दिया जाये तो सब प्रबन्ध कर देगा। अतएव उसे राज्य का प्रधान बना दिया गया। वह बहुत कुशल और चतुर था। उसने चूड़ावतों के शत्रु शक्तावतों और झाला सरदार को अपनी ओर मिला लिया और राणा पर चूड़ावतों का प्रभाव समाप्त करने में सफल हुआ। जयपुर और जोधपुर के नरेशों को उसने मराठों के विरुद्ध

भड़काकर उनकी सहायता से १७८७ ई. में लालसोठ के युद्ध में मराठों को पराजित किया। किन्तु २४ अक्टूबर १७८९ ई. में कतिपय विद्रोही सरदारों ने षड्यन्त्र करके राजमहल में ही उसकी हत्या कर दी। इस प्रकार इस राजनिष्ठ, लोकप्रिय, दूरदर्शी और नीतिकुशल मन्त्री सोमचन्द गान्धी का अन्त हुआ। उसके भाई सतीदास और शिवदास इस घटना का समाचार मिलते ही राणा के पास शिकायत करने गये। राणा सोमचन्द के हत्यारे रावत अर्जुनसिंह को कोई दण्ड तो नहीं दे सका किन्तु उसे बुरा-भला कहकर अपने सामने से हटा दिया। राणा की आज्ञा से सोमचन्द का दाहकर्म पीछोले की बड़ी पाल पर किया गया और वहाँ उसकी छत्री बनायी गयी।

सतीदास और शिवदास गान्धी—सोमचन्द की मृत्यु के उपरान्त राणा ने उसके भाई सतीदास गान्धी को प्रधान बनाया और शिवदास उसके सहायक के पद पर नियुक्त हुआ। इन्होंने अपने भाई का बदला लेने का संकल्प किया। सतीदास ने अपने सहायक भींडर के सामन्त की सेना लेकर उक्त रावत और चूड़ावतों की सेना के साथ अकोला में भीषण युद्ध किया, शत्रुओं को पराजित किया और सोमचन्द के हत्यारे रावत अर्जुनसिंह को पकड़कर मार डाला।

मेहता मालदास ड्योढ़ीवाल—राणा उदयसिंह के मन्त्री मेहता मेघराज ड्योढ़ीवाल की चौथी या पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था। मराठों को १७८७ ई. में लालसोठ के युद्ध मे पराजित करके राज्य के प्रधान सोमचन्द गान्धी ने मेहता मालदास को मेवाड़ और कोटा की संयुक्त सेना का अध्यक्ष बनाकर मराठों के विरुद्ध भेजा। मालदास ने वीरता एवं कुशलतापूर्वक कई युद्धों में मराठों को पराजित करके उन्हें मेवाड़ की सीमा से बाहर निकाल दिया। इसपर अहल्याबाई होल्कर और सिन्धिया की सेनाओं ने मेवाड़ पर चढ़ाई की तो उनके विरुद्ध अभियान में मालदास को ही पुनः सेना का अध्यक्ष बनाया गया। उस समय वह राज्य का प्रधान भी बन गया था किन्तु १७८८ ई. के मराठों के साथ हुए इस भीषण युद्ध में उसने वीरगति पायी। कर्नल टाड के अनुसार यह प्रधान मेहता मालदास और उसका नायब मौजीराम दोनों बुद्धिमान् और वीर थे। सम्भवतया मौजीराम भी जैन था।

मेहता नाथजी—इसके पूर्वज मूलतः सोलंकी राजपूत थे जो ११वीं शती के लगभग जैनधर्म अंगीकार करके भण्डसालीगोत्री ओसवाल हुए। इस वंश मे थिरुशाह भण्डसाली प्रसिद्ध हुआ। उसके एक वंशज चीलजी को महत्त्वपूर्ण राज्यसेवा के उपलक्ष्य में मेहता की पदवी मिली। उसका वंशज जालजी मेहता राणा हमीर की रानी का कामदार (निजी सचिव) था और उसके मायके से ही उसके साथ आया था। यहाँ आकर उसने और उसके वंशजों ने राज्य की बड़ी सेवा की और पुरस्कार स्वरूप जागीरें भी मिलीं जो वंश में परम्परागत चलती रहीं। नाथजी मेहता उदयपुर के निकटस्थ देवाली गाँव में रहता था जहाँ से वह कोटा चला गया और वहाँ के राजा की सेवा में रहते हुए कोटाराज्य से कुछ भूमियाँ, कुएँ आदि प्राप्त किये। तदनन्तर १८५० ई.

के लगभग वह उदयपुर राज्य के माण्डलगढ़ दुर्ग में चला आया और दुर्गरक्षक सेना का अधिकारी हुआ तथा नवलपुरा ग्राम जागीर में पाया। दुर्ग की कोट पर उसने एक बुर्ज बनवायी थी जो नाथबुर्ज कहलाती है और दुर्ग में एक जिनमन्दिर भी बनवाया था। नाथजी बड़ा वीर और साहसी था और अनेक युद्धों में उसने भाग लिया था।

मेहता लक्ष्मीचन्द—नाथजी का वीर पुत्र और सम्भवतया माण्डलगढ़ में उसका सहायक, तदनन्तर उत्तराधिकारी रहा। अपने पिता के साथ उसने कई युद्धों में भाग लिया था और अन्त में खाचरौल के युद्ध (घाटे) में वीरगति पायी थी।

मेहता जोरावरसिंह और जवानसिंह—मेहता लक्ष्मीचन्द की मृत्यु के समय उसके नन्हें बालक पुत्र थे। घर में धनाभाव था किन्तु उनकी माता बड़ी बुद्धिमती, कर्मठ और स्वाभिमानिनी थी। उसके भाई ने बहन और भानजों को अपने घर ले जाने का आग्रह किया तो उस वीरपत्नी ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि यहाँ अपने घर रहने पर तो उसके पुत्र अपने पिता के नाम से पुकारे जायेंगे और मामा के घर रहने से 'अमुक के भानजे हैं' इस रूप में पुकारे जायेंगे जो उसके श्वसुर के कुल-गौरव के विपरीत होगा। बड़ा कष्ट उठाकर उसने अपने पुत्रों का पालन-पोषण किया और बड़े होकर वे राज्यसेवा में नियुक्त हुए। जोरावरसिंह तो उदयपुर के दीवान मेहता रामसिंह की नाराजगी के कारण ब्यावर चला गया, वहीं उसकी मृत्यु हो गयी, उसका अनुज जवानसिंह बड़ा बुद्धिमान् और पुरुषार्थी था। राज्यसेवा में उसने प्रभूत उन्नति की। कहते हैं कि दस-बीस व्यक्तियों को साथ लिये बिना उसने कभी भोजन नहीं किया। कई राजपूत सरदार उसके साथ रहते थे। राणा से भी उसने कई बार सिरोपाव आदि प्राप्त किये थे और अपनी नवलपुरा की पैतृक जागीर भी, जो बीच में जब्त हो गयी थी, पुनः प्राप्त कर ली। वह माण्डलगढ़ में अपने पैतृक पद पर प्रतिष्ठित था। एक बार उसने अनेक सशस्त्र डाकुओं को उनकी बनी मे जाकर और भीषण युद्ध करके अकेले ही कुचल दिया था। मात्र ३९ वर्ष की आयु में इस वीर की मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र चत्रसिंह और कृष्णलाल भी साहसी थे, किन्तु धार्मिक प्रवृत्ति के सज्जन थे।

मेहता चत्रसिंह—भक्त और धर्मात्मा माने जाते थे। राणा शम्भूसिंह ने उन्हे मेवाड़ के प्रसिद्ध एकलिंगजी-मन्दिर का दारोगा नियुक्त किया था, जिसके लिए उन्हे ९० रुपया मासिक वेतन, निःशुल्क हवेली और सवारी के लिए घोड़ा मिला था। किन्तु देवद्रव्य समझकर उन्होंने वेतन का एक पैसा भी नहीं लिया। शम्भूसिंह की मृत्यु के उपरान्त ये विधवा रानी के कामदार नियुक्त हो गये। राज्य में इनकी पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। इनकी मृत्यु १९१६ ई. मे हुई।

इस प्रकार मेवाड़ (उदयपुर) राज्य में राणा फतहसिंह (मृत्यु १९३१ ई.) के समय तक अनेक राजमन्त्री और उच्च पदस्थ कर्मचारी जैनी होते रहे और उदयपुर के नगर सेठ भी प्रायः जैनी ही रहते रहे।

राव सूरतराम—सुप्रसिद्ध मुहनोत नैनसी के प्रपौत्र, करमसी के पौत्र और मेहता संग्रामसिंह के पुत्र भगवन्तसिंह के पुत्र थे तथा नागौर नरेश बखतसिंह के फ़ौज-बख्शी थे। जब १७५१ ई. में बखतसिंह (विजयसिंह) को जोधपुर का सिंहासन भी मिल गया तो यह उसके साथ जोधपुर चले आये और उस उपलक्ष्य में इन्हें दो ग्राम और तीन हज़ार रुपये पुरस्कार स्वरूप मिले। वह राज्यसेवा में बराबर बने रहे और १७६३ से १७६६ ई. तक राज्य के दीवान (प्रधान मन्त्री) रहे। उस काल में राज्य से पन्द्रह हज़ार रुपये की जागीर और प्राप्त की। इस बीच १७६५ ई. में इन्होंने मराठा सरदार खाजू के साथ युद्ध करके उसे पराजित किया और उसकी सैन्य-सामग्री को लूट लिया। दीवानगिरी से अवकाश प्राप्त कर लेने पर भी राव सुरतराम की प्रतिष्ठा पूर्ववत् बनी रही और १७७३ ई. में इन्हें मुसाहबी का अधिकार, 'राव' की पदवी, हाथी, पालकी और शिरोपाव तथा २१००० रुपये की अन्य जागीर राज्य से प्राप्त हुए। अगले वर्ष इनकी मृत्यु हो गयी।

मेहता सवाईराम—राव सुरतराम के पुत्र थे और उनकी मृत्यु के उपरान्त १७७४ ई. में इन्हें पिता के समस्त अधिकार, मुसाहिबी तथा जागीरों के पट्टे आदि मिले जिनका इन्होंने १७९२ ई. पर्यन्त उपभोग किया। ज्ञानमल, सवाईकरण, शुभकरण और फतहकरण नाम के उनके चार छोटे भाई थे।

मेहता सरदारमल—मेहता सवाईराम के पुत्र थे और १७९९-१८०० ई. में जोधपुर राज्य के दीवान रहे तथा २००० रुपये आय का एक ग्राम जागीर में प्राप्त किया था।

मेहता ज्ञानमल—राव सुरतराम के छोटे पुत्र थे और जोधपुर नरेश विजयसिंह और मानसिंह के दीवान रहे तथा महाराज की ओर से गींगोली के युद्ध में वीरतापूर्वक लड़े थे। राजा मानसिंह उनका बहुत विश्वास करता था। राजकीय प्रपंचों से दूर रहते हुए वह अपना कार्य १८२० ई. में अपनी मृत्युपर्यन्त प्रतिष्ठापूर्वक करते रहे।

मेहता नवलमल—मेहता ज्ञानमल के पुत्र थे और १८०४ ई. में इन्होंने अपने राजा के लिए सीरोही को विजय किया था। अल्पावस्था में ही इनकी मृत्यु, अपने पिता के सामने ही, १८१९ ई. में हो गयी थी।

मेहता रामदास—मेहता नवलमल का पुत्र था और १८२० ई. में अपने पितामह ज्ञानमल का उत्तराधिकारी हुआ था।

मेहता चैनसिंह—मेहता चैनसिंह भी मुहनोत वंश में ही उत्पन्न हुए थे और रूपनगर नरेश सरदारसिंह के मुख्य दीवान मेहता देवीचन्द के पुत्र या भतीजे थे। यह स्वयं १७९६ ई. में कृष्णगढ़ नरेश प्रतापसिंह के मुख्य दीवान बने थे और उसके उत्तराधिकारी कल्याणसिंह के पूरे राज्यकाल में उस पद पर बने रहे। यह ऐसे देशभक्त, स्वामिभक्त, कर्तव्यनिष्ठ और ईमानदार थे कि महाराज प्रतापसिंह कहा करते थे कि

'चैनसिंह बिना सब चोर मुसद्दी'। इनकी दीवानगीरी के समय में मराठों ने अनेक बार इनके राज्य पर आक्रमण किये, किन्तु इनकी दृढ़ता, वीरता और राजनीति के सम्मुख उन्हें सदैव मुँह की खानी पड़ी। इनकी मृत्यु १८०४ ई. में हुई।

गंगाराम भण्डारी—जोधपुर के प्रसिद्ध भण्डारी वंश में उत्पन्न गंगाराम भण्डारी कुशल राजनीतिज्ञ और वीर सेनानी था। वह महाराज विजयसिंह (१७५२–९२ ई.) के राज्यकाल में हुआ था और १७९० ई. में मराठों के साथ हुए मेड़ता के युद्ध में उसने बड़ी वीरता प्रदर्शित की थी।

लक्ष्मीचन्द्र भण्डारी—जोधपुर नरेश भीमसिंह (१७९२–१८०३ ई.) के उत्तराधिकारी मानसिंह (१८०३–४३ ई.) के समय में राज्य का दीवान रहा। इसे २००० रुपये आय की जागीर मिली थी।

पृथ्वीराज भण्डारी—महाराज मानसिंह के समय में जालौर का शासक था।

बहादुरमल भण्डारी—महाराज तख्तसिंह (१८४३-७३ ई.) के समय में राजा और प्रजा के भरसक हितसाधन में वह सदा संलग्न रहता था, इसी से राजा और प्रजा दोनों ही उससे प्रसन्न थे। नमक के ठेके के सम्बन्ध में उसने जो व्यवस्था की थी उससे मारवाड़ की जनता उसकी चिर-उपकृत हुई। इस लोकप्रिय राज्य मुत्सद्दी का सत्तर वर्ष की आयु में १८८५ ई. में स्वर्गवास हुआ।

किशनमल भण्डारी—बहादुरमल भण्डारी का पुत्र था और अर्थ व्यवस्था में अत्यन्त निपुण था। महाराज तख्तसिंह के समय में ही वह जोधपुर राज्य का कोषाध्यक्ष नियुक्त हो गया और महाराज सरदारसिंह के प्रायः पूरे राज्यकाल में उस पद पर बना रहा। वह अपने समय का बड़ा लोकप्रिय अर्थमन्त्री था।

सिन्धवी इन्द्रराज—जोधपुर नरेश मानसिंह अस्थिरचित्त व्यक्ति था। उसके राज्यकाल के प्रायः प्रारम्भ में, १८०४ ई. में ही, जोधपुर राज्य आन्तरिक कलह, फूट और षड्यन्त्रों में ग्रस्त हो गया। घर की फूट सदैव विनाशकारी सिद्ध हुई है। इस फूट के प्रताप से न जाने कितने घर बिगड़ गये, सम्पन्न प्रतिष्ठित परिवार नष्ट हो गये, शक्तिशाली महाराज्य स्वाहा हो गये और स्वतन्त्र देश पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ गये। उदयपुर के राणा भीमसिंह की रूपसी सुशीला राजकुमारी कृष्णा की मँगनी मानसिंह के पूर्ववर्ती जोधपुर नरेश भीमसिंह के साथ हो गयी थी, किन्तु उसकी मृत्यु हो गयी और जोधपुर के ही एक कुचक्री के प्रयत्न से उस राजकुमारी का सम्बन्ध जयपुर नरेश जगतसिंह के साथ निश्चित हो गया। इसपर उन्हीं कुचक्री सामन्तों ने मानसिंह को भड़काया कि 'सिंह का शिकार क्या स्यार ले जायेगा?' मानसिंह ने जगतसिंह को पत्र लिखा कि वह राजकुमारी के साथ सम्बन्ध तोड़ दे क्योंकि उसकी मँगनी जोधपुर नरेश से हो चुकी है, अतएव जोधपुरवाले ही उसे विवाह कर लायेंगे। जगत सिंह ने पत्र की अवहेलना की तो उन्हीं सरदारों के भड़काने से मूर्ख मानसिंह ने सेना लेकर जयपुर पर आक्रमण कर दिया, किन्तु ऐन युद्ध के समय जोधपुर के वे सरदार

तथा मानसिंह का कुटुम्बी बीकानेर का राजा भी अपनी-अपनी सेनाओं के साथ जयपुर की सेना में जा मिले। यह देखकर मानसिंह के दुख और आश्चर्य की सीमा न रही और युद्धक्षेत्र में पीठ दिखा, थोड़े से सरदारों और सैनिकों के साथ वह भागकर बीसलपुर पहुँचा। उसका बिचार जालौर में शरण लेने का था किन्तु उसके एक जैन कर्मचारी चैनमल संघवी ने उसे समझाया कि सीधे जोधपुर जाकर राजधानी में ही अपने सिंहासन, राज्य और प्राणों की रक्षा करें, अन्यत्र भटकने से सबसे हाथ धोना पड़ेगा। अतएव जोधपुर ही आकर राजा रक्षा के प्रयत्न में लगा, किन्तु शंकालुचित्त हो उठा था और जो बचे-खुचे विश्वस्त और राज्यभक्त सामन्त-सरदार थे उनपर भी सन्देह करने लगा था। उसने उनमें से भी अनेकों को दुर्ग से बाहर निकाल दिया। इन्हीं लोगों में इन्द्रराज सिंघवी भी था जो उसके पूर्ववर्ती दो राजाओं, विजयसिंह और भीमसिंह के समय में भी राजमन्त्री (दीवान) के पद पर रह चुका था। इसी बीच जयपुर नरेश जगतसिंह ने एक बड़ी सेना लेकर जोधपुर पर आक्रमण कर दिया था और राजधानी का घेरा डाल दिया था। जोधपुर के कई सरदार तो पहले ही ससैन्य उसके साथ थे, इन नवागन्तुकों को पाकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ, किन्तु यहीं वह धोखा खा गया। इन्द्रराज और उसके साथी अपने राजा द्वारा किये गये अपमान से क्षुब्ध तो हुए, किन्तु वे देशद्रोही नहीं थे। उन्होंने शत्रु-सैन्य में रहकर उसकी समस्त गतिविधि जान ली। जगतसिंह के प्रमुख सहायक अमीरखाँ पिण्डारी को फोड़ लिया और चुपके से एक दिन वहाँ से पलायन कर और कुछ सेना एकत्र करके स्वयं जयपुर पर आक्रमण कर दिया और उसे लूटा। समाचार मिलते ही भौंचक्का हुआ जगतसिंह अपने राज्य की रक्षा के लिए दौड़ा। मार्ग में ही इन्द्रराज के दल से मुठभेड़ हुई। जगतसिंह पराजित होकर जयपुर भाग गया और इन्द्रराज उससे जोधपुर राज्य की लूटी हुई सब सम्पत्ति एवं सामग्री छीनकर विजय-दुन्दुभि बजाता हुआ जोधपुर आया। मानसिंह अपनी भूल पर पछताया, जोधपुर में वीर इन्द्रराज का अपूर्व स्वागत किया, स्वयं दिल खोलकर उसकी छन्दबद्ध प्रभूत प्रशंसा की और उसे मारवाड़ के प्रधान सेनापति पद पर प्रतिष्ठित किया। इस समस्त घटना का एक अत्यन्त दुखद प्रसंग यह था कि मेवाड़ राज्य की जयपुर-जोधपुर और पिण्डारियों से रक्षा करने के लिए राजकुमारी कृष्णा ने विषपान करके अपना बलिदान दे दिया। मानसिंह ने अब बीकानेर के राजा से बदला लेने के लिए इन्द्रराज के नेतृत्व में एक बड़ी सेना और अन्य सरदारों को लेकर स्वयं प्रस्थान किया और बापरी के युद्ध में बीकानेर की सेना को पराजित किया। वह राजा भागकर बीकानेर की ओर चला गया तो इन्द्रराज ने उसका वहाँ भी पीछा किया और गजनेर में उसे पुनः युद्ध करने पर तथा पराजित करने के बाद सन्धि करने पर विवश किया और युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में फलौदी परगना तथा दो लाख रुपये उससे वसूल किये। मानसिंह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने राज्य के प्रायः सम्पूर्ण अधिकार इन्द्रराज को ही सौंप दिये। वह कहा करता था—'बैरी मारन मीरखाँ, राज काज इन्दराज, महतो

शरणोंनाथ रे, नाथ सँवारे काज।' परन्तु इन्द्रराज के इस उत्कर्ष से उसके पुराने शत्रु अत्यन्त विक्षुब्ध हुए और उसका नाश करने के षड्यन्त्र करने लगे। अन्ततः महाराज के मुँहलगे अमीरखाँ पिण्डारी को भड़काकर उसके पठानों द्वारा क़िले के भीतर झूठे झगड़े के मिस दिन दहाड़े वीर इन्द्रराज सिंघवी की हत्या करा देने में वे सफल हो गये। इस देशभक्त, स्वामिभक्त, युद्धवीर, कुशल राजनीतिज्ञ, राज्य के सर्वाधिकारी और अपने परमप्रियपात्र राज्यस्तम्भ की १८१६ ई. की चैत्र शुक्ल अष्टमी के दिन हुई इस हत्या से महाराज मानसिंह पर वज्रपात हुआ और वह राज्यकाल से उदासीन हो एकान्तवास करने लगा। काफ़ी समय पश्चात् स्वस्थ हो उसने राज्यकार्य में पुनः मन दिया लगता है, क्योंकि उसका राज्यकाल तो १८४३ ई. तक रहा।

धनराज सिंघवी—जयपुर के निकट टोंगा के युद्ध में सिंधिया को पराजित करके जोधपुर नरेश विजयसिंह के सेनापति भीमराज सिंघवी ने १७८७ ई. में अजमेर के मराठा सूबेदार अनवरबेग से अजमेर छीन लिया और उस क्षेत्र पर अपने राजा का अधिकार स्थापित कर दिया था। राजा ने साहसी वीर सेनानी धनराज सिंघवी को, जो सम्भवतया भीमराज का भाई या पुत्र था, अजमेर का सूबेदार नियुक्त किया। मराठों ने अपनी शक्ति संगठित करके १७९१ ई. में पुनः मारवाड़ पर भीषण आक्रमण किया और मेड़ता एवं पाटन के घोर युद्धों में मारवाड़ियों को पराजित किया। इसी बीच मराठों के सेनापति डीबोइन ने अजमेर पर आक्रमण करके उसका घेरा डाल दिया। किन्तु वीर धनराज ने डटकर मुक़ाबला किया और सफलता पूर्वक अजमेर की रक्षा करता रहा। उसके सामने डीबोइन की एक न चली। किन्तु पाटन की पराजय के बाद उसके राजा विजयसिंह ने उसे आदेश भेज दिया कि अजमेर को खाली करके जोधपुर लौट आये। स्वाभिमानी वीररत्न धनराज ऐसे अप्रतिष्ठाकारक समर्पण के लिए तैयार नही हुआ। अन्ततः उसने अपनी अँगूठी के हीरे को चाटकर आत्महत्या कर ली और दम तोड़ने से पूर्व अपने साथियों से चिल्लाकर कहा कि महाराज से जाकर कह दो कि धनराज राजाज्ञा का इसी रूप में पालन कर सकता था, उसके शव के ऊपर ही मराठे अजमेर में प्रवेश कर सकते थे, उसके जीवित रहते नहीं। पूर्वोक्त सिंघवी इन्द्रराज सम्भवतया वीर धनराज सिंघवी का ही पुत्र या निकट सम्बन्धी था।

बीकानेर राज्य

महाराज अनूपसिंह (१६६९-९८ ई.)—यह बीकानेर-नरेश बड़े विद्यानुरागी, उदार एवं युद्धवीर थे। इनके समय में खरतरगच्छाचार्य जिनचन्द्रसूरि (१६५४-१७०६ ई.) का बीकानेर से बड़ा सम्पर्क रहा और यह नरेश उनका बहुत आदर करते थे। इन दोनों के बीच पत्र-व्यवहार भी होता था। अतएव राज्य में जैनधर्म और जैनों की उत्तम स्थिति थी। राज्य से जैन गुरुओं आदि को अनेक पट्टे-परवाने आदि भी मिलते रहे हैं।

अमरचन्द सुराना—बीकानेर के एक प्रतिष्ठित ओसवाल कुल में उत्पन्न हुए थे और बीकानेर नरेश सूरतसिंह (१७८७-१८२८ ई.) के राज्यकाल में विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हुए। महाराज ने १८०४ ई. में इन्हें भटनेर के भट्टी सरदार जाब्ता खाँ के विरुद्ध सेना देकर भेजा था, अतएव अमरचन्द ने भटनेर पर आक्रमण किया और पाँच मास तक उस दुर्ग का घेरा डाले पड़े रहे। अन्ततः विवश होकर खान ने दुर्ग इन्हें सौंप दिया और अपने साथियों के साथ अन्यत्र चला गया। उनकी इस सफलता से प्रसन्न होकर महाराज ने इन्हें राज्य का दीवान बना दिया। जब १८०८ ई. में जोधपुर नरेश के सेनापति इन्द्रराज सिंघवी ने बीकानेर पर आक्रमण किया तो उसका प्रतिरोध करने के लिए सूरतसिंह ने अमरचन्द सुराना के नेतृत्व में सेना भेजी, किन्तु बापरी के उस युद्ध में इन्द्रराज विजयी हुआ। तथापि उक्त दोनों राज्यों में गजनेर में जो सन्धि हुई और जिसके अनुसार उक्त दोनों नरेशों में पूर्ववत् सौहार्द हुआ उसमें दोनों जैन सेनापतियों की उदाराशयता एवं दूरदर्शिता ही कार्यकारी हुई थी। अगले चार वर्ष अमरचन्द सुराना बीकानेर राज्य के उन विभिन्न ठाकुरों (सामन्तों) का दमन करने में व्यस्त रहा जो राजाज्ञा की अवहेलना करते थे और राजा की सत्ता की उपेक्षा करते थे। इस कार्य में दीवान ने आवश्यकता से अधिक कठोरता से कार्य लिया। अनेकों को मृत्यु के घाट उतारा, अनेकों को बन्दीगृह में डाला, अनेकों से कड़ा जुर्माना वसूल किया। राजा अवश्य बहुत प्रसन्न हुआ और उसे राजमहल में अपने साथ भोजन करने की प्रतिष्ठा प्रदान की। चूरु के ठाकुर शिवसिंह ने सिर उठाया तो १८१५ ई. में राजाज्ञा से अमरचन्द ने जाकर उसकी गढ़ी को घेर लिया, उसकी रसद बन्द कर दी और उसे अन्य प्रकार से त्रस्त किया। स्वाभिमानी ठाकुर ने झुकने के बजाय आत्महत्या कर ली और उसके दुर्ग पर दीवान का अधिकार हुआ। राजा ने प्रसन्न होकर उसे 'राव' की उपाधि, सिरोपाव और हाथी प्रदान करके पुरस्कृत किया। इसके बाद ही अमरचन्द के दुर्भाग्य का आरम्भ हुआ। उसने अनेक शत्रु उत्पन्न कर लिये थे जिन्होंने एक भारी षड्यन्त्र रचकर उसे अपराधी सिद्ध किया और फलस्वरूप पदच्युत एवं भारी अर्थदण्ड से दण्डित कराया। इतना ही नहीं, १८१७ ई. में उसपर यह झूठा आरोप लगाकर कि वह अमीरखाँ पिण्डारी से मिलकर राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहा है, उसे मृत्युदण्ड दिलाया गया।

जैसलमेर राज्य

मेहता स्वरूपसिंह—जैसलमेर के भाटी राजपूत वंश का राजा मूलराज (मूलसिंह) १७६१ ई. में गद्दी पर बैठा। उसने जैनधर्मानुयायी मेहता स्वरूपसिंह को अपना प्रधान मन्त्री बनाया। वह राजा का कृपापात्र, साहसी, पराक्रमी, शक्तिशाली, नीतिनिपुण, कुशल मन्त्री था। किन्तु इसी कारण अनेक लोग उससे ईर्ष्या करते थे, उसके शत्रु हो गये और उसका पराभव करने के लिए प्रयत्नशील हो गये। मन्त्री ने

युवराज रायसिंह का जेबखर्च नियमित कर दिया तो वह भी उसके शत्रुओं के दल में मिल गया। अन्ततः कुचक्रियों का चक्र चल गया और एक दिन भरे दरबार मेहता की हत्या कर दी गयी। राजा यह देखकर दुख और क्रोध से अधीर हो उठा, किन्तु आततायियों को कोई दण्ड न दे सका, उलटे उनसे भयभीत होकर महलों में चला गया। अब युवराज और उसके साथी सामन्तों की बन आयी और उन्होंने राजा को ही कारागार में डाल युवराज को गद्दी पर बैठा दिया। किन्तु लगभग तीन मास के उपरान्त ही एक वीर महिला की सहायता से राजा बन्दीगृह से मुक्त हुआ और पुनः अपने सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसने तत्काल युवराज तथा उसके साथी सामन्तों को राज्य से निर्वासित कर दिया।

मेहता सालिमसिंह—मेहता स्वरूपसिंह का पुत्र था जो अपने पिता की मृत्यु के समय केवल ११ वर्ष का किशोर था, तथापि राजा मूलराज ने पुनः राज्याधिकार प्राप्त करते ही होनहार सालिमसिंह को ही अपना मन्त्री बनाया। अल्प वय में ही सालिमसिंह बड़ा चतुर, साहसी, मितभाषी और नीतिकुशल था। अपने पिता की हत्या को वह नहीं भूला और शत्रुओं से प्रतिशोध लेने के अवसर की ताक में रहने लगा। शत्रु भी उससे चौकन्ने थे। जोधपुर नरेश के राज्याभिषेक के अवसर पर वह अपने राजा की ओर से उसका अभिनन्दन करने के लिए जोधपुर गया था। वापसी में उसके पिता के शत्रुओं ने उसकी हत्या के उद्देश्य से छल से उसे पकड़ लिया, किन्तु अपनी चतुराई के बल पर वह उनके चंगुल से निकल आया और सुरक्षित जैसलमेर जा पहुँचा। फिर भी साम की नीति का प्रयोग करने के लिए उसने निर्वासित सामन्तों को वापस बुलवाकर राजा मूलराज से उनकी जब्त की गयी जागीरें और अन्य सम्पत्ति पुनः दिलवायी। वे दुष्ट अब भी चुप न बैठे और राजा के पुत्र एवं पौत्रों का पक्ष लेकर राजा के विरुद्ध विद्रोहाग्नि प्रज्वलित करने और मेहता सालिमसिंह को नष्ट करने के लिए षड्यन्त्र रचने लगे। अब मेहता अधिक सहन न कर सका और उसने उक्त शत्रुओं को चुन-चुनकर मौत के घाट उतारकर अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध लिया। इसी मन्त्री सालिमसिंह ने राजा मूलराज के अँगरेज़ों के साथ सन्धि करने का विरोध किया था।

जयपुर राज्य

दीवान रतनचन्द साह—साहगोत्री खण्डेलवाल जैन सदाराम के पुत्र और साह बधीचन्द्र के अनुज थे। यह १७५६ ई. से १७६८ ई. तक जयपुर राज्य के दीवान रहे। कुशल राजमन्त्री होने के साथ ही साथ वह बड़े धर्मात्मा और विद्यानुरागी थे। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल्लजी इस समय जयपुर में ही निवास करते थे और अपने महान् साहित्य की रचना में संलग्न थे। दीवानजी उनके बड़े भक्त थे और उनके कार्यों के प्रशंसक थे। सन् १७६१ ई. में जब पानीपत के रणक्षेत्र में मराठों के भाग्य

का निर्णय हो रहा था तो जयपुर राजा के एक मुँहलगे पुरोहित श्याम तिवारी ने बड़ा साम्प्रदायिक उपद्रव मचाया और आमेर एवं जयपुर के कई जिनमन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उपद्रव की शान्ति पर दीवान रतनचन्द ने आमेर का मन्दिर पुनः बनवाया और जयपुर में एक विशाल मन्दिर अपने भाई बधीचन्द के नाम से बनवाया। इस मन्दिर के गुम्बद में स्वर्ण का दर्शनीय काम बना है, शास्त्रभण्डार भी समृद्ध है। यह मन्दिर शुद्धाम्नाय का बड़ा पंचायती मन्दिर है। जब १७६४ ई. में पण्डित टोडरमल्लजी भाई रायमल्लजी आदि की प्रेरणा से जयपुर में विशाल पैमाने पर इन्द्रध्वज पूजा-महोत्सव किया गया तो रतनचन्द और इनके साथी एक अन्य जैन दीवान बालचन्द उक्त महोत्सव के अग्रेसर थे। इन्होंने राज्य-दरबार से सब सुविधाएँ और बहुमूल्य सामान भी उत्सव के लिए सुलभ करा दिया था। सम्भव है कि इनके ज्येष्ठ भ्राता बधीचन्द भी कुछ काल दीवान रहे हों।

आरतराम बिन्दूका—नेवटाग्राम के निवासी थे और १७५७ ई. से १७७८ ई. तक राज्य के दीवान रहे। इन्होंने नेवटा में एक जिनमन्दिर बनवाया था और जयपुर की अपनी हवेली में भी चैत्यालय बनवाया था। इनके पिता का नाम ऋषभदास था।

बालचन्द छाबड़ा—१७६१ से १७७२ ई. तक राज्य के दीवान रहे। यह भी बड़े धर्मप्रेमी थे। श्याम तिवारी के १७६१ ई. के उपद्रवों से जिनायतनों की जो लूट-पाट और क्षति हुई थी उसकी पूर्ति इन्होंने प्रयत्नपूर्वक करायी और अगले वर्ष १७६२ ई. में राज्य की ओर से राज्य के ३३ परगनों के नाम यह आदेश जारी करा दिया कि जैन लोग निश्चिन्तता से अपने मन्दिर बनायें, देव-शास्त्र-गुरु की इच्छानुसार पूजा करें, कोई व्यक्ति किसी प्रकार उसमें बाधक नहीं होगा और मन्दिरों की सम्पत्ति जो कोई लूटकर ले गया हो वह सब उन्हें वापस करा दी जाये। अस्तु, इसके उपरान्त कई नये जिन-मन्दिर बने, उत्सव आदि हुए, विशेषकर १७६४ ई. का इन्द्रध्वज-पूजोत्सव, जिसमें यह अपने सहयोगी दीवान रतनचन्द के साथ अग्रणी थे। दुर्भाग्य से इन्हीं के समय में किन्तु इनके बिना जाने कतिपय धर्म विद्वेषियों ने १७६९-७० ई. में जैन जगत् की विभूति पण्डितप्रवर टोडरमल्लजी की चुपके से घृणित रूप में हत्या करा दी। उसका प्रतिकार तो कुछ न हो सका, किन्तु पुनर्निर्माण और उत्सव आदि होते रहे, यथा—१७६९ ई. में माधोपुर की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा। उसमें भी विद्वेषियों ने लूटमार मचायी। श्याम तिवारी को भी इन्ही के कहने से राजा ने राज्य से निर्वासित कर दिया बताया जाता है। इनके पूर्व सम्भवतया इनके पिता मौजीराम छाबड़ा भी राज्य के दीवान रहे।

नैनसुख खिन्दूका—मुकुन्ददास खिन्दूका के पुत्र थे और १७५७ ई. से १७७८ ई. तक राज्य के दीवान रहे प्रतीत होते हैं।

संघी नन्दलाल गोधा—महाराज मानसिंह के महामात्य और मोजमाबाद के प्रसिद्ध निर्माता साह नानू के वंशज तथा अनूपचन्द गोधा के पुत्र थे और १७६६ ई. से

१७७१ ई. तक राज्य के दीवान रहे। इन्होंने १७६९ ई. में माधोपुर में विशाल बिम्ब-प्रतिष्ठा करायी थी।

जयचन्द साह—दीवान रतनचन्द साह के पुत्र थे और १७६७ ई. तक राज्य के दीवान रहे थे।

संघी मोतीराम गोधा—दीवान नन्दलाल गोधा के पुत्र थे और १७६८ से १७७७ ई. तक राज्य में दीवान रहे। इन्होंने १७६९ ई. में राजा पृथ्वीसिंह के राज्य में माधोपुर में भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के उपदेश से बिम्ब-प्रतिष्ठा करायी थी।

भीवचन्द छाबड़ा—दीवान किशनचन्द छाबड़ा के पुत्र थे और १७६९ ई. से ही राज्य की सेवा में एक उच्च पद पर नियुक्त थे तथा १७९८ से १८०२ ई. तक दीवान भी रहे। इनकी मृत्यु १८१० ई. में हुई।

जयचन्द छाबड़ा—दीवान बालचन्द छाबड़ा के पाँच पुत्रों में सबसे बड़े थे और १७७२ ई. से १७९८ ई. तक दीवान रहे। यह बड़े धर्मात्मा एवं प्रभावशाली सज्जन थे।

अमरचन्द सोगानी—भयाराम के पुत्र थे और १७७२ ई. से १७७७ ई. तक दीवान रहे।

जीवराज संघी—१७७३ से १७८३ ई. तक दीवान रहे।

मोहनराम संघी—जीवराज संघी के पुत्र थे और १७७७ ई. से १७८० ई. तक दीवान रहे।

श्योजीलाल पाटनी खिन्दूका—दीवान रतनचन्द साह के पुत्र और दीवान अमरचन्द के पिता थे। यह १७७७ से १८१० ई. तक राज्य के दीवान रहे। बड़े वीर, धर्मात्मा, शास्त्रज्ञ और साहित्यप्रेमी सज्जन थे। जयपुर में मनिहारों के रास्ते का 'बड़े दीवान जी का मन्दिर' इन्हीं के द्वारा १७९२ ई. में बनवाया गया था। अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ भी इन्होंने करायी थीं।

गंगाराम महाजन—कालूराम महाजन के पुत्र थे और १७८३ से १७८८ ई. तक दीवान रहे।

भागचन्द—सीताराम के पुत्र थे और १७८५ से १७८९ तक दीवान रहे।

भगतराम बगड़ा—सुखराम बगड़ा के पुत्र थे और १७८५ से १८२८ ई. तक दीवान रहे। यह बड़े उदार सज्जन थे। इन्होंने पहाड़ी पर शान्तिनाथजी के खोह में लगभग तीन लाख रुपया लगाकर अनेक निर्माण-कार्य कराये थे जिनमें तिवारा-भर्तृहरि एवं शिवालय भी थे और १८०७ ई. में एक सुन्दर बावड़ी भी बनवायी थी।

राव भवानीराम—राव कृपाराम के भतीजे और फतहराम के पुत्र थे तथा १७८६ से १७९८ ई. तक दीवान रहे। साहित्यिक रुचि, चतुरविनोद के रचयिता और ज्योतिर्विज्ञ थे।

राव जाखीराम—राव भवानीराम के पुत्र थे। इन्होंने राज्य की काफ़ी सेवा

को, दीवान भी रहे प्रतीत होते हैं।

पण्डित सदासुख कासलीवाल—जयपुर निवासी डेडराज के वंशज दुलीचन्द के सुपुत्र थे। इनका जन्म १७९५ ई. के लगभग हुआ था। यह थे तो राज्य की सेवा में किन्तु किसी साधारण से पद पर अल्प वेतन में ही सन्तुष्ट रहकर कार्य करते थे। राज्यकार्य के अतिरिक्त इनका प्रायः पूरा समय जिनवाणी के पठन-पाठन, सैद्धान्तिक चर्चाओं, साहित्य के सृजन और धर्म एवं समाज की सेवा में ही व्यतीत होता था। इनकी शास्त्र-प्रवचन शैली इतनी मृदु, सरल और प्रभावक होती थी कि श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। रत्नकरण्ड-श्रावकाचार-वचनिका और अर्थ-प्रकाशिका (तत्त्वार्थ सूत्र की भाषावचनिका) इनकी प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय कृतियाँ हैं। पण्डितप्रवर जयचन्द छाबड़ा और मुन्नालाल साँगा इनके गुरु थे और पण्डित पन्नालाल संघी दूनीवाले, नाथूलाल दोसी, पारसदास निगोत्या, सेठ मूलचन्द सोनी आदि इनके भक्त शिष्य थे। सन्तोषी ऐसे थे कि राजा माधोसिंह ने इनके वेतन में वृद्धि करने का विचार प्रकट किया तो इन्होंने कहा कि महाराज, वेतन वृद्धि न करके यदि उन्हें समय से एक दो घण्टा पूर्व चले जाने की अनुमति प्रदान कर दें तो बड़ी कृपा होगी क्योंकि उस समय का आत्मसाधन और साहित्य सृजन में उपयोग किया जा सकेगा। राजा आश्चर्यचकित रह गये, प्रसन्न भी हुए, उनकी वेतन-वृद्धि भी कर दी और समय से पूर्व चले जाने की अनुमति भी दे दी। वृद्धावस्था में १८६४ ई. में इनके इकलौते सुयोग्य बीसवर्षीय पुत्र गणेशलाल का असामयिक निधन हो गया तो इन्हें बड़ा धक्का लगा। ऐसे में इनके भक्त अजमेर के सेठ मूलचन्द सोनी इन्हें अपने साथ अजमेर ले गये जहाँ यह उदासीन वृत्ति से धर्म और साहित्य की साधना में पुनः लग गये, किन्तु कुछ ही समय के उपरान्त इनका समाधिपूर्वक स्वर्गवास हो गया। मृत्यु से पूर्व जयपुर से अपने शिष्यों पन्नालाल संघी और भँवरलाल सेठी को बुलाकर कहा कि साहित्य का देश-देशान्तरों में प्रचार करने का प्रयत्न करो और एक उत्तम संस्कृत पाठशाला की भी स्थापना करो। गुरु की इच्छानुसार उन्होंने जयपुर में शास्त्रों की बड़े पैमाने पर प्रतिलिपियाँ करने का कारखाना स्थापित किया और पाठशाला भी। परिणामस्वरूप कुछ ही वर्षों में जयपुर के विद्वानों द्वारा रचित ग्रन्थों की सहस्रों प्रतियाँ दूर-दूर तक पहुँच गयीं।

संघई धर्मदास—ने १७९५ ई. में आमेर दुर्ग में भट्टारक भुवनकीर्ति के उपदेश से बिम्ब-प्रतिष्ठा करायी थी।

सदासुख छाबड़ा—जयचन्द छाबड़ा के पुत्र थे और १८०० से १८०७ ई. तक जयपुर राज्य में दीवान रहे।

अमरचन्द्र पाटनी—दीवान रतनचन्द साह के पौत्र और दीवान श्योजीलाल पाटनी के सुपुत्र थे तथा १८०३ से १८३५ ई. तक जयपुर राज्य के प्रसिद्ध दीवान रहे। यह बड़े धर्मात्मा, उदार, दयालु और दानी थे। अपनी हवेली के निकट इन्होंने एक विशाल जैनमन्दिर और उसके सम्मुख धर्मशाला बनवायी। मन्दिर का निर्माण-कार्य

१८१५ से १८२७ ई. तक बारह वर्ष चला, जिसमें उस युग में चौदह हजार रुपये व्यय हुए बताये जाते हैं। लकड़ी पर सोने के काम की सुन्दर समवसरण रचना भी बनवायी। इनका मन्दिर 'छोटे दीवानजी का मन्दिर' नाम से प्रसिद्ध है। जरूरतमन्दों के घर अन्न-वस्त्र आदि चुपचाप भिजवा दिया करते थे, पानेवाले को यह मालूम ही नहीं होता कि किसने यह कृपा की है। बहुधा लड्डुओं में मोहर (स्वर्णमुद्रा) रखकर निर्धन व्यक्तियों के घर भिजवा देते थे। मन्दिर में स्वयं अपने हाथ से झाड़ लगाते थे। नित्य देवपूजा का तो नियम था। अनेक व्यक्तियों को स्वाध्याय के नियम तथा व्रत आदि दिलवाये थे। पण्डित जयचन्द छाबड़ा के सुपुत्र पण्डित नन्दलाल से मूलाचार की वचनिका लिखायी। अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करायीं और स्वयं भी अच्छा शास्त्र-संग्रह किया। अनेक सामाजिक रूढ़ियों एवं प्रथाओं में भी सुधार किया। इनके दीवानकाल के अन्तिम वर्षों में जब जयपुर का राजा, सम्भवतया जगतसिंह का पुत्र एवं उत्तराधिकारी सवाई मानसिंह नाबालिग था तो अनेक राजनीतिक षड्यन्त्र चले। इसी प्रसंग में जनता ने एक अँगरेज़ अधिकारी को भ्रमवश मार दिया। परिणामस्वरूप अँगरेज़ों का प्रकोप राजधानी पर टूटा। दीवानजी को भय हुआ कि प्रजा का व्यर्थ संहार होगा। उन्होंने वीरतापूर्वक सारा अपराध अपने सिर ले लिया। अँगरेज़ों द्वारा गठित न्याय समिति ने इन्हें मृत्युदण्ड दिया और यह परोपकारी धर्मात्मा वीर पुरुष आत्मचिन्तन में लीन हो शान्तचित्त से फाँसी के तख्ते पर चढ़ गये और मृत्यु को आलिंगन कर अमर हो गये।

रामचन्द (रायचन्द) छाबड़ा—दीवान बालचन्द छाबड़ा के तृतीय पुत्र और दीवान जयचन्द छाबड़ा के छोटे भाई थे और बड़े वीर, कुशल राजनीतिज्ञ, धर्मात्मा एवं प्रभावशाली व्यक्ति थे। उदयपुर के राणा भीमसिंह की सुन्दरी कन्या कृष्णकुमारी के सम्बन्ध को लेकर जयपुर नरेश जगतसिंह और जोधपुर नरेश मानसिंह में संघर्ष हुआ तो दीवान रामचन्द्र ने जोधपुर के दीवान इन्द्रराज सिंघवी से मिलकर उसे शान्त करने का भरसक प्रयत्न किया था। किन्तु जोधपुर और जयपुर के कुचक्री सामन्तों ने जगतसिंह को उकसाकर जोधपुर पर आक्रमण करा दिया। दीवान भी राजा के साथ थे और परामर्श दिया था कि जोधपुरवालों से न उलझकर उदयपुर चले चलें और राजकुमारी से विवाह कर ले। किन्तु राजा न माना। जयपुर को अरक्षित पाकर इन्द्रराज और अमीरखाँ पिण्डारी ने जयपुर पर आक्रमण कर दिया। अब दीवान ने सलाह दी की जयपुर चलकर पहले अपनी राजधानी की रक्षा करे। राजा चला तो किन्तु सेना थकी हुई थी अतएव दीवान रामचन्द ने एक लाख रुपया देकर आक्रमणकारियों से पिण्ड छुड़ाया। दीवान रामचन्द (रायचन्द) बड़ी धार्मिक वृत्ति के भी थे। उन्होंने अनेक यात्रासंघ चलाकर 'संघई' उपाधि प्राप्ति की और दो लाख रुपये की लागत से जयपुर में तीन सुन्दर जिनमन्दिर बनवाये तथा १८०४ ई. में एक बहुत भारी बिम्ब-प्रतिष्ठा करायी जिसमें प्रतिष्ठित सहस्रों प्रतिमाएँ उत्तर भारत के जिनमन्दिरों में दूर-दूर तक पहुँचीं। यह प्रतिष्ठा आमेर के भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के उपदेश से सम्भवतया उन्हीं के

द्वारा करायी गयी थी। जूनागढ़ में भी उन्होंने प्रतिष्ठा करायी बतायी जाती है। रामचन्द के एक बड़े भाई हरिश्चन्द्र थे और दो छोटे भाई विष्णुचन्द और कृष्णचन्द थे, तथा उनकी अपनी भार्या का नाम रायादे था। राजा जगतसिंह रसिक प्रकृति का विलासी व्यक्ति था। रसकपूर नामक वेश्या पर अत्यधिक अनुरक्त था। श्याम तिवारी का एक वंशज शिवनारायण मिश्र अपने पूर्वज के अपमान का बदला भूतपूर्व दीवान बालचन्द छाबड़ा के पुत्र (रामचन्द के भतीजे) रूपचन्द से लेना चाहता था। वह उस गणिका का भाई बनकर राजा का कृपापात्र बना और अवसर देखकर एक दिन नशे में चूर राजा से आज्ञा दिला दी कि दीवान रामचन्द को पकड़कर जयगढ़ के क़िले में भेज दिया जाये और जीवित न आने दिया जाये। जब राजा को होश आया तो वह पछताया और दीवान को तुरन्त लाने की आज्ञा दी, किन्तु अपनी बात रखने के लिए यह भी कह दिया कि पहाड़ी के पीछे की ओर से रस्से के द्वारा उसे बाहर निकाल लाया जाये। किन्तु शत्रु वहाँ भी लगे थे। जब दीवान रासे के सहारे उतर रहा था तो रस्से को बीच में ही काट दिया गया और इस प्रकार १८०७ ई. में उस धर्मात्मा दीवान रामचन्द की अपमृत्यु हुई। इन्होंने अपने समकालीन पण्डित जयचन्द छाबड़ा को जीविकोपार्जन आदि अर्थचिन्ता से सर्वथा मुक्त करके सर्वार्थसिद्धि-वचनिका-जैसे ग्रन्थों की रचना करायी थी।

श्योजीलाल छाबड़ा—चैनराम छाबड़ा के पुत्र थे और १८०८ ई. तक राज्य में दीवान रहे। वह राजस्व वसूली के कार्य में अतिदक्ष थे, संस्कृत भाषा और ज्योतिष-शास्त्र के भी विद्वान् थे। इनकी हवेली के सामने का मार्ग आज भी 'श्योजीलाल का रास्ता' कहलाता है।

बखतराम—यह भी राजा जगतसिंह के समय में दीवान थे। जयपुर के चौड़े रास्ते में यशोदानन्दजी का जैनमन्दिर इन्होंने बनवाया था।

मन्नालाल छाबड़ा—'दीवान रामचन्द छाबड़ा के पुत्र थे और १८०९ से १८१२ ई. तक राज्य में दीवान रहे।

कृपाराम छाबड़ा—दीवान रामचन्द छाबड़ा के भतीजे थे और १८१२ से १८१८ ई. तक राज्य के दीवान थे। यह कुशल नीतिज्ञ और उच्चकोटि के सैन्य प्रशासक थे। राज्य के लिए इन्होंने एक बड़ी और शक्तिशाली सेना संगठित की थी, जिसमें दस हज़ार अच्छे सैनिक थे। इसी सेना को लक्ष्य करके कर्नल टाड ने लिखा है कि जगतसिंह के पास जितनी और जैसी सेना थी, किसी अन्य जयपुर नरेश के पास नहीं रही। शेखावटी प्रदेश के असन्तुष्ट सामन्तों को वश में करने के लिए दीवान रामचन्द ने इन्हें वहाँ भेजा था और इन्होंने बड़ी नीतिमत्ता के साथ सामन्तों का असन्तोष दूर करके उन्हें वश में कर लिया था। कृपाराम के पुत्र शिवजीलाल भी कुछ समय तक दीवान रहे।

लिखमीचन्द छाबड़ा—दौसा निवासी जीवनराम छाबड़ा के पुत्र थे और १८१२ से १८१७ ई. तक राज्य में दीवान रहे।

नोनदराम खिन्दूका—दीवान आरतराम खिन्दूका के पौत्र थे और १८१७ से १८२४ ई. तक राज्य के दीवान रहे।

लीखमीचन्द्र गोधा—भगतराम गोधा के पुत्र थे। यह भी १८१७ से १८२४ ई. तक दीवान रहे।

संघी झूँथा राम—१८२४ से १८३४ तक जयपुर राज्य के दीवान थे। यह कुशल राजनीतिज्ञ, प्रतिभाशाली, सूझबूझवाले, दृढ़निश्चयी राजपुरुष और कठोर प्रशासक थे। साथ ही स्वदेशभक्त एवं स्वतन्त्रताप्रेमी भी थे। इस युग में देशी राज्यों में अँगरेज लोग अपने पैर जमा रहे थे। और उचित-अनुचित हस्तक्षेप करते रहते थे। संघीजी नहीं चाहते थे कि राज्य अँगरेजों की दासता की बेड़ियों में जकड़ जाये। अँगरेजों को धन देकर वे उनके अनुचित हस्तक्षेप से राज्य की रक्षा करते रहे। राज्य की अरक्षित सीमाओं की सुरक्षा का भी उन्होंने प्रबन्ध किया और शेखावटी प्रान्त को भी, जो काबू से बाहर होता जा रहा था, वश में रखने का प्रयत्न किया। किन्तु भारत मे और विशेषकर देशी राज्यों में वह एक ऐसा सार्वभौमिक नैतिक पतन और स्वार्थ-परता का युग था कि जब कोई सच्चा ईमानदार देशभक्त और कुशल राजमन्त्री होता उसके अनेक विरोधी और शत्रु उत्पन्न हो जाते और उसके पतन के लिए षड्यन्त्र होने लगते। ऐसे ही षड्यन्त्रों का शिकार दीवान झूँथाराम संघी भी हुए और मिथ्या आरोप लगाकर उन्हें बन्दीगृह में डाल दिया गया। यह महाराज जयसिंह के प्रसिद्ध महामन्त्री मोहनदास के वंशज थे।

संघी हुकुमचन्द—यह दीवान संघी झूँथाराम के बड़े भाई थे और उन्ही के साथ-साथ १८२४ से १८३४ ई. तक राज्य के दीवान रहे। इनके पूर्वजों में महाराज जयसिंह के मुख्य मन्त्री मोहनदास के उपरान्त और भी कई व्यक्ति राज्य के दीवान रहे थे। संघी हुकुमचन्द सेना के मुसाहब थे और इन्हे राव बहादुर की उपाधि मिली थी। सम्भवतया झूँथाराम के साथ ही यह भी पदच्युत हुए। उन्होंने लक्ष्मण डूँगरी के निकट तीन नशियों के स्थान पर एक विशाल जिनमन्दिर बनवाया था जो संघीजी की नशियाँ के नाम से प्रसिद्ध हैं।

विरधीचन्द—संघी हुकुमचन्द के पुत्र थे और अपने पिता के समय में ही उन्होंने लगभग तीन वर्ष दीवानगीरी की थी।

चम्पाराम—भी इसी समय के लगभग जयपुर राज्य के दीवान थे, किन्तु शायद कारणवश पद का त्याग करके वृन्दावन में आकर रहने लगे थे। इन्होंने १८२५ में मूर्तिपूजा-पोषक जैन-चैत्य-स्तव की रचना की थी और १८२६ ई. में वृन्दावन के षरगराम से उसकी प्रतिलिपि करायी थी। उनके भानजे लालजीमल ने तो पुस्तक की प्रति उसकी रचना के दो मास बाद ही करा ली थी।

अमोलकचन्द खिन्दूका—दीवान नोनदराम के पुत्र थे और १८२५ से १८२९ ई. तक राज्य के दीवान रहे।

सम्पतराम खिन्दूका—दीवान आरतराम के पौत्र थे और १८३४ से १८३९ ई. तक राज्य के दीवान रहे।

मानकचन्द ओसवाल—१८४९ से १८५५ ई. तक राजा के दीवान थे।

मुंशी प्यारेलाल कासलीवाल—जयपुर राज्य में कई उच्च पदों पर रहे और १९१९ से १९२२ ई. पर्यन्त तीन वर्ष राज्य के राजस्व मन्त्री (रेवेन्यु मिनिस्टर) रहे।

भरतपुर राज्य

संघई फतहचन्द—भरतपुर में जाटों का राज्य था जिसने राजा सूरजमल के समय में बड़ी उन्नति की। उस काल में भरतपुर में चाँदुवाडगोत्री संघई केशोदास के पुत्र संघई मयाराम राज्य के पोतदार (खजांची) और महाराज के मोदी थे। उनके पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र संघई फतहचन्द उन पदों पर रहे। फतहचन्द के छोटे भाई पृथ्वीराज थे और जसरूप एवं जगन्नाथ नाम के दो पुत्र थे। सेठ फतहचन्द के आश्रित एवं सहायक पोतदार पण्डित नथमल विलाला थे। इनके पितामह साह जेठमल आगरे के जैसिंहपुर मोहल्ले में रहते थे और पिता सोमाचन्द एवं चचा गोकलचन्द भरतपुर में आ बसे थे। नथमल विलाला ने १७६७ से १७७८ ई. पर्यन्त अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें से सिद्धान्तसारदीपक की रचना इन्होंने १७६७ ई. में उक्त सेठ फतहचन्द के छोटे पुत्र जगन्नाथ की प्रेरणा से उसी के प्रबोध के लिए की थी। इसी समय के लगभग उन्होंने महावीरजी क्षेत्र (जयपुर राज्य का चाँदनगाँव) की संघ सहित यात्रा की थी।

सागवाड़ा के महारावल

वाग्वर (बागड़) देश का शाकपत्तनपुर (शाकवाट, सागवाड़ा) जैनधर्म का केन्द्र मध्यकाल के प्रायः प्रारम्भ से ही रहता आया है और १३वीं शती से तो वहाँ मूलसंघी भट्टारकों की गद्दी भी चली आ रही है। सागवाड़ा के महारावल जसवन्तसिंह ने १८३६ ई. में सागवाडा के नोगामी आटेकचन्द्र सुखचन्द तथा अन्य समस्त जैन महाजनों के आवेदन पर दो आज्ञापत्र (परवाने) जारी किये थे जिनमें से एक के अनुसार राज्य के समस्त घानियो को आदेश दिया गया था कि अपने कोल्हू और घानियाँ प्रत्येक पक्ष की द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी तिथियों मे बन्द रहेंगे क्योंकि उनके चलाये जाने में हिंसा होती है। दूसरे परवाने के अनुसार राज्य के समस्त कलवारों (कलालों) को आदेश दिया गया था कि प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को वे अपनी शराब निकालने की भट्टियाँ बन्द रखेंगे क्योंकि उनके कार्य में जीवहिंसा होती है। आज्ञा का उल्लंघन करने का दण्ड २५० रुपये जुर्माना निर्धारित किया गया। महारावल उदयसिंह ने, जो सम्भवतया जसवन्तसिंह के उत्तराधिकारी थे, साह माणकदास नोगामी, आदलीचन्द आदि सागवाड़ा के समस्त जैन महाजनों की प्रार्थना पर यह आदेशपत्र ३१

अगस्त १८५४ ई के दिन जारी किया था कि भाद्रपद मास में पर्यूषण के १८ दिनो में अर्थात् भाद्रपद कृष्ण द्वादशी से भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी पर्यन्त राज्य-भर में कोई भी व्यक्ति जीवहिंसा नहीं करेगा। बैलो आदि पर बोझ लादना और इन पशुओं को समय पर दाना-पानी न देना भी हिंसा में सम्मिलित किये गये।

इस प्रकार के राजकीय परवाने अन्य अनेक राजपूत राज्यो और ठिकानों में यदा कदा प्रचारित होते रहते थे।



आधुनिक युग : अँगरेज़ों द्वारा शासित प्रदेश

जगत्सेठ शुगनचन्द

मुर्शिदाबाद घराने के बंगाल के सुप्रसिद्ध जगत्सेठ फतहचन्द के पुत्र या पौत्र जगत्सेठ शुगनचन्द १७६५ ई. में विद्यमान थे। उसके पश्चात् वह कितने वर्ष और जीवित रहे तथा उनके वंशजों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है क्योंकि उस समय के कुछ ही वर्षों के भीतर इस प्रसिद्ध सेठ वंश का पतन हो गया। शुगनचन्द के पुत्र या पौत्र सम्भवतया डालचन्द थे जिनका मुर्शिदाबाद के नवाब से कुछ झगड़ा हो गया और वह जन्मभूमि का त्याग करके वाराणसी में आ बसे। उनकी धर्मपत्नी बीबी रतनकुँवर (जन्म १७७७ ई.) का मायका भी मुर्शिदाबाद में ही था। वह बड़ी विदुषी एवं श्रेष्ठ कवयित्री थी और उन्होंने 'प्रेमरत्न' नामक काव्य ग्रन्थ की रचना की थी।

शाह मानिकचन्द—गणिगोत्री ओसवाल शाह बुलाकीदास के पुत्र और हुगली नगर के निवासी थे। इन्होंने १७७२ ई. में राजगृह (राजगिरि) के रत्नगिरि पर्वत पर स्थित प्राचीन मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था और वहाँ पार्श्वनाथ भगवान के कमल सदृश चरण-युगल (चरण-चिह्नों) की स्थापना की थी।

कटक के मंजु चौधरी

बुन्देलखण्ड के झाँसी ज़िले की महरौनी तहसील में स्थित कुम्हेड़ी अपरनाम चन्द्रापुरी ग्राम में १७२० ई. के लगभग एक अति साधारण स्थिति के परवार जातीय जैन परिवार में मंजु का जन्म हुआ था। बाल्यावस्था में ही माता-पिता का निधन हो गया। शिक्षा-दीक्षा कुछ हुई नहीं थी और जो कुछ घर में था जुए के खेल में समाप्त कर दिया। नाते-रिश्तेदारों ने कोई सहारा नहीं दिया किन्तु हींग आदि के वणिज-व्यापार के लिए दूर-दूर परदेशों में जानेवाले कुम्हेड़ी के बनजारों का रक्त नसों में प्रवाहित था, साहस की कमी न थी। अतएव भाग्यपरीक्षा के लिए अकेले ही पाव-पयादे परदेश के लिए निकल पड़े। मार्ग में मेहनत-मजदूरी करते और एक दिन के अन्तर से दूसरे-दिन केवल दो रूखी रोटी खाकर महीनों निर्वाह करते हुए १७४०-४१ ई. के लगभग अन्ततः नागपुर जा पहुँचे। वहाँ छोटा-मोटा धन्धा शुरू किया। भाग्य ने पुरुषार्थ का साथ दिया, अच्छी स्थिति बना ली और कटक के राजा मुकुन्ददेव के दरबार में भी पैठ होने लगी। जब १७५० ई. के लगभग मराठा सरदार रघुजी भोंसले ने नागपुर पर अधिकार कर लिया और १७५१ ई.

में बंगाल के नवाब पर चढ़ाई करके पूरा उड़ीसा प्रान्त उससे छीन लिया तो मंजु भोंसले के मोदी बन गये और शीघ्र ही उसके रसद विभाग के अध्यक्ष भी। अपनी कार्यकुशलता से भोंसले के वह इतने विश्वासपात्र बन गये कि उसने इन्हें कटक के राजा के दरबार में अपना चौधरी नियुक्त कर दिया। अब मंजु चौधरी ने स्वदेश जाकर अपना विवाह किया–पत्नी का नाम नगीनाबाई था। बंगाल के नवाब अलीवर्दीखाँ को उड़ीसा प्रान्त का हाथ से निकल जाना बहुत अखर रहा था और भोंसला राजा इस समय अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण के समाचारों से अन्यत्र व्यस्त था। अतएव नवाब ने उड़ीसा पर चढ़ाई कर दी। कटक के राजा ने दरबार में बीड़ा रखा कि नवाब के आक्रमण का कौन निवारण करेगा। कोई भी राजपूत या मराठा सरदार तैयार नहीं हुआ। तब वीर मंजु चौधरी ने बीड़ा उठा लिया और सेना संगठित करके नवाब के प्रतिरोध के लिए चल पड़े। इस सदलबल दृढ़ विरोध को देख नवाब हताश हो वापस लौट गया। इस घटना से रघुजी भोंसला और राजा मुकुन्ददेव दोनों ही चौधरी से अत्यन्त प्रसन्न हुए और परिणामस्वरूप मंजु चौधरी राज्य के दीवान और वास्तविक कार्य-संचालक बन गये। राज्य की आय पचास लाख थी, जिसमें से बीस लाख वह नागपुर के भोंसला दरबार को भेजते और शेष में अपने कटक राज्य का कार्य कुशलता के साथ चलाते थे। राज्य की ओर से इन्हें जागीर भी मिली थी और नगर में उन्होंने एक नया बड़ा बाजार बसाया जो आज पर्यन्त चौधरी-बाज़ार कहलाता है। इन्होंने १७६० ई. के लगभग निकटवर्ती प्राचीन जैन तीर्थ खण्डगिरि पर एक विशाल जिनमन्दिर बनवाया था और स्वदेश से अपने तीन भानजों भवानी, तुलसी और मोती को भी अपने पास बुला लिया। भवानी दास तो इनके राज्यकार्य में भी इन्हें अच्छा सहयोग देने लगा। आमेर के भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति की प्रसिद्धि सुनकर चौधरी ने १७८० ई. में उन्हे कटक मे आमन्त्रित किया और यहाँ उन्होंने उसकी विदुषी एवं सुलक्षणा धर्मपत्नी की प्रेरणा से 'ज्येष्ठ-जिनवर-पूजा-व्रतकथा' की रचना की। सम्भवतया सेठानी ने उनके उपदेश से वह व्रत पूरा करके उसका उद्यापन भी किया था। दो वर्ष बाद जब चौधरी जन्मभूमि कुम्हेड़ी गये तो वहाँ भी उन्होंने १७८२ ई. में अचलसिंह प्रधान से 'पुण्यास्रव कथाकोश' की प्रति लिखायी थी। अपने धर्मकार्यों के कारण मंजु चौधरी ने 'पुण्याधिकारी' उपाधि प्राप्त की थी। अपने अभ्युदय में वह न अपनी जन्मभूमि को भूले, न नाते-रिश्तेदारों को और न निज धर्म को ही। कटक के इन प्रसिद्ध 'पुण्याधिकारी' मंजु चौधरी का निधन १७८५ ई. के लगभग हुआ लगता है।

भवानीदास चौधरी—उपनाम भवानी दादू मंजु चौधरी का भानजा था और उनके पद पर उनके उपरान्त प्रतिष्ठित हुआ। मंजु चौधरी का एकमात्र पुत्र लक्ष्मण अयोग्य और निकम्मा था अतएव नागपुर और कटक के दरबारों ने भवानी दादू को ही चौधरी का उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। यह भी नीति-कुशल, कार्यदक्ष और विद्या-प्रेमी था, मामा की 'पुण्याधिकारी' उपाधि भी इसके नाम के साथ प्रयुक्त होती थी।

उसने अपने दक्षिणी ब्राह्मण अनुचार गोपाल पण्डित से १७८७ ई. में 'पुण्यास्रव कथाकोश' की प्रति लिखायी थी। चौधरी के पुत्र लक्ष्मण ने अपना हक़ मारा जाने से क्षुब्ध होकर अँगरेज़ों की सहायता लेने का प्रयत्न किया। इन दिनों अंगरेज़ों की शक्ति और प्रभाव द्रुत वेग से फैलते जा रहे थे, किन्तु लक्ष्मण के सफल प्रयत्न होने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गयी। कहते हैं कि भवानी दादू ने विष द्वारा उसकी हत्या करा दी थी। स्वयं भवानी दादू की भी १८०० ई. के कुछ पूर्व ही निस्सन्तान मृत्यु हो गयी और उसका छोटा भाई तुलसी दादू चौधरी हुआ, किन्तु वह मंजु और भवानी जैसा योग्य नहीं था। सन् १८०३ ई. के अन्त के लगभग अँगरेज़ों द्वारा उड़ीसा दखल कर लिये जाने पर भोंसला राजा और कटक के मुकुन्ददेव के अधिकारों का अन्त हुआ और साथ ही तुलसी चौधरी की चौधराहट का भी अन्त हो गया। चम्पो बाई ने जो भवानी दादू या तुलसी दादू की पत्नी थी, १७८४ और १८०५ ई. में लला-बजाज द्वारा दो ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करायी थीं। जिनदास कवि ने १८०५ ई. में खण्डगिरि की ससंघ यात्रा और चौधरी परिवार द्वारा वहाँ कराये वार्षिक उत्सव का तथा मंजु चौधरी द्वारा निर्मापित शिखरबन्द मन्दिर का सुन्दर वर्णन किया था। तुलसी दादू की दो पुत्रियाँ थीं, जिनमें से छोटी मुक्ताबाई थी। उसकी पुत्री सोनाबाई का विवाह हीरालाल मोदी के साथ हुआ था, जिसने १८४० ई. में पचास धार्मिक रचनाओं के संग्रह की प्रतिलिपि करायी थी। उसकी भावज चूमाबाई ने उसी समय के लगभग खण्डगिरि का छोटा मन्दिर बनवाया था। हीरालाल की मृत्यु के पश्चात् सोनाबाई ने अपने देवर मल्यूबाबू के पुत्र ईश्वरलाल को गोद लिया। ईश्वरलाल और उनके पुत्र कपूरचन्द १९१२ ई. में विद्यमान थे और कपूरचन्द के पुत्र या पौत्र कुंजलाल चौधरी हुए।

राजा बच्छराज नाहटा—अवध के चौथे नवाब आसफुद्दौला (१७७५-१७९७ ई.) ने अपने पूर्वजों की राजधानी फैज़ाबाद का परित्याग करके लखनऊ को अपनी राजधानी बनाया था। तभी से लखनऊ के विस्तार, सौन्दर्य, वैभव और व्यापार की वृद्धि प्रारम्भ हुई और कुछ ही वर्षों में उसकी गणना भारतवर्ष के प्रसिद्ध एवं दर्शनीय नगरों में होने लगी। महानगरी दिल्ली की चकाचौंध भी उसके सामने फीकी पड़ने लगी। स्वभावतः अनेक अग्रवाल एवं ओसवाल जैन व्यापारी, जौहरी आदि भी बाहर से आकर यहाँ बसने लगे। सम्भवतया इन्हीं ओसवाल जौहरियों में बच्छराज नाहटा थे जो शीघ्र ही अपनी समाज के प्रमुखों में तथा राज्यमान्य भी हो गये और 'राजा' की पदवी से विभूषित हुए। सम्भव है कि वह नवाब के खास जौहरी तथा किसी उच्च पद पर भी प्रतिष्ठित हुए हों। उसी समय के लगभग खरतरगच्छाचार्य जिनचन्द्रसूरि की परम्परा के जिनअक्षयसूरि ने सोधीटोला के यतिछत्ता में अपनी गद्दी स्थापित की और पार्श्वनाथ स्वामी का मन्दिर बनवाया जो इस नगर का सर्व-प्राचीन श्वेताम्बर-मन्दिर है। इन कार्यों में राजा बच्छराज नाहटा का पूरा प्रयत्न एवं सहयोग रहा प्रतीत होता है। इसी राज्यकाल के अन्त के लगभग लखनऊ नगर के

श्रीसंघ ने, जिसमें ३६ श्वेताम्बर श्रावक-श्राविकाएँ सम्मिलित थे, एक सचित्र विज्ञप्ति-पत्र भेजकर दिल्ली से उक्त जिनअक्षयसूरि के गुरु भट्टारक जिनचन्द्रसूरि को सादर आमन्त्रित किया था। सम्भव है इस समय भी लखनऊ के श्रीसंघ के प्रमुखों में उक्त राजा बच्छराज नाहटा रहे हों।

राजा हरसुखराय—दिल्ली के मुग़ल बादशाह शाहआलम द्वितीय (१७५९-१८०६ ई.) के समय शाही खजान्ची और बादशाह के जौहरी नियुक्त हुए थे। बादशाही तो नाममात्र को ही रह गयी थी, किन्तु उसकी पद-प्रतिष्ठा अभी भी बहुत कुछ बनी थी, अतः शाही खजान्ची के पद की भी काफ़ी प्रतिष्ठा थी। यों राजा साहब का मुख्य व्यवसाय अनेक छोटी-बड़ी रियासतों के साथ लेन-देन और साहूकारे का था। विशेष बात यह थी कि वह बड़े धर्मात्मा, भारी मन्दिर निर्माता, निरभिमानी, उदार और दानी सज्जन थे। अनेक अभावग्रस्त सधर्मी बन्धुओं को यथोचित सहायता देकर उनका स्थितिकरण करने की, गुप्तदान देने की, सामाजिक मर्यादाओं और नैतिकता को प्रोत्साहन देने की, निज की ख्याति-मान से दूर रहने आदि की अनेक किंवदन्तियाँ उनके सम्बन्ध से प्रचलित हैं। उनके पूर्वज अग्रवाल जैन साह दीपचन्द हिसार नगर के प्रसिद्ध सेठ थे। मुग़ल सम्राट् शाहजहाँ (१६२७-५८ ई.) के समय में स्वयं बादशाह के निमन्त्रण पर वह दिल्ली (शाहजहानाबाद) में आकर बस गये थे। बादशाह ने उन्हें सात-पार्चे की खिलअत (शिरोपाव) देकर सम्मानित किया था और दरीबे के सामने चार-पाँच बीघे भूमि प्रदान की थी जिसपर उन्होंने अपने सोलह पुत्रों के लिए पृथक्-पृथक् हवेलियाँ बनवायी थीं। साह दीपचन्द की पाँचवीं या छठी पीढ़ी में राजा हरसुखराय हुए थे। इन्होंने बादशाह अकबर द्वितीय (१८०६-३६ ई.) के समय, १८०७ ई. में, दिल्ली के धर्मपुरे मोहल्ले का वह अत्यन्त भव्य, कलापूर्ण एवं मनोरम जिनमन्दिर निर्माण कराया था जो सात वर्ष में बनकर तैयार हुआ था और जिसमें उस समय लगभग आठ लाख रुपये लागत आयी थी। यह मन्दिर नयेमन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने उक्त मन्दिर पर कहीं भी अपना नाम अंकित नहीं कराया, अपितु उसमें बहुत साधारण-सा निर्माण-कार्य शेष छोड़कर मसलहत से उसके लिए समाज से सार्वजनिक चन्दा किया और मन्दिर को पंचायती बना दिया। प्रायः इसी घटना की पुनरावृत्ति उन्होंने उसी समय के लगभग अपने द्वारा निर्मापित हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र के विशाल जैन-मन्दिर के सम्बन्ध में की थी। वह स्थान घोर वन के मध्य उजाड़ एवं उपेक्षित पड़ा था। चारों ओर बहसूमा-परीक्षितगढ के गूजरों, नीलोहे के जाटों, गणेशपुर के तगाओं और मीरापुर के रांगड़ों का प्राबल्य था, जो बहुधा सरकश लुटेरे थे। जैनधर्म और जैनों के साथ उनकी कोई सहानुभूति नहीं थी। राजा हरसुखराय ने आड़े समय में गूजर राजा नैनसिंह को एक लाख रुपये ऋण दिये थे। वह लौटाने आया तो लेने से इनकार कर दिया और कह दिया कि यह रुपया श्री हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र के उद्धार के नाम लिख दिया गया है,

अतएव राजा साहब उन्हृण होना चाहें तो अपने संरक्षण में वहाँ जैन-मन्दिर बनाने दें। राजा सहर्ष तैयार हो गया और मन्दिर बन गया। पूर्ण होने पर सेठजी ने पूरे प्रदेश की समाज को एकत्रित किया, भारी मेला किया और नाममात्र का चन्दा करके मन्दिर समाज को समर्पित कर दिया। उन्होंने अन्य अनेक मन्दिर यत्र-तत्र बनवाये, किन्तु किसी के साथ अपना नाम सम्बद्ध नहीं किया। बहुधा लोग नाम के लिए धर्म करते हैं, किन्तु कीर्ति ऐसे ही उदारमना महानुभावों की अमर होती है जो निःस्वार्थ समर्पण भाव से ऐसे कार्य करते हैं।

राजा सुगनचन्द्र—राजा हरसुखराय के स्वनाम-धन्य सुपुत्र थे, उन्हीं-जैसे धर्मनिष्ठ, समाजनिष्ठ, निर्माता, उदारमना और दानवीर थे। कहते हैं कि इन दोनों पिता-पुत्रों ने विभिन्न स्थानों में कोई साठ-सत्तर जिनमन्दिर बनवाय थे। हस्तिनापुर का मन्दिर सम्भवतया लाला हरसुखराय के निधन के उपरान्त सेठ सुगनचन्द ने ही पूरा कराया था, बनाना उनके पिता के समय में १८०५ ई. के लगभग ही शुरू हो गया था। पिता के निधन के बाद सेठ सुगनचन्द को राजा की उपाधि मिली और शाही खजान्ची पद भी चलता रहा। उन्होंने भी किसी मन्दिर के साथ अपना नाम सम्बद्ध नहीं किया। इस काल में बादशाह की बादशाही लालक़िले के भीतर ही सीमित हो चुकी थी और वह अँगरेजों का पेन्शनदार सरीखे ही था। नगर पर अँगरेज अधिकारियों का शासन था, किन्तु राजा सुगनचन्द उस समय भी शाही खजान्ची बने रहे और अँगरेज अधिकारी भी उन्हें मानते थे। स्वातन्त्र्य-समर (१८५७ ई.) के कुछ पूर्व ही उनका स्वर्गवास हो गया लगता है। उनकी उदारता, साधर्मी-वात्सल्य, दानशीलता एवं समाज-निष्ठा के सम्बन्ध में भी अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि धर्मपुरे के मन्दिर के पूर्ण होने के उपरान्त जब समारोहपूर्वक उसकी प्रतिष्ठा की गयी तो मुसलमानों ने हमला करके सारा क़ीमती सामान लूट लिया, किन्तु इन सेठ द्वय के प्रभाव से बादशाह ने अपने हुक्म से वह सब सामान लुटेरों से वापस दिला दिया था। उस मन्दिर की संगमरमर की वेदी में पच्चीकारी का क़ीमती काम और उसकी सूक्ष्म तक्षणकला आज भी दर्शकों का मन मोह लेती है। दिल्ली का प्रथम शिखरबन्द जैन-मन्दिर भी यही है। मुग़लकाल में शिखरबन्द मन्दिर बनाने का निषेध था, विशेष शाही अनुमति प्राप्त करके ही सेठ साहब ऐसा कर सके थे। इसके अतिरिक्त दिल्ली के अन्य तीन मन्दिर और हिसार, पानीपत, आमेर, सांगानेर, सोनागिरि आदि स्थानों में इन सेठों ने सुन्दर जिन-मन्दिर बनवाये थे। अवध के नवाब वाजिदअली शाह ने सेठ सुगनचन्द्र का एक विशाल स्वर्णजटित चित्र बनवाकर उन्हें भेंट किया था।

चौधरी हिरदैसहाय—राजस्थान के किशनगढ़ राज्य के चौधरी रत्नपाल नामक जैन सामन्त अपने राजा से किसी कारण रुष्ट होकर बुन्देलखण्ड के चन्देरी नगर में आ बसे थे। कुछ का कहना है कि वह जयपुर राज्य के हिण्डौन नगर से आये थे। चन्देरी (चन्द्रगिरि, चन्द्रवती या चन्द्रावती) चन्देलकालीन प्राचीन नगर था और

इस काल में वीरसिंह बुन्देले के भाई रामशाह के वंशज बुन्देले राजपूतों के एक छोटे-से राज्य की राजधानी थी। रत्नपाल बोहरागोत्री खण्डेलवाल जैन थे और चन्देरी के राजा की सेवा में नियुक्त हो गये थे, तथा उसे प्रसन्न करके उन्होंने उससे जागीर भी प्राप्त की थी। उनके दो पुत्र थे जिनमें छोटा ताराचन्द मुसलमान होकर सम्राट् औरंगज़ेब का कृपापात्र हो गया और चन्देरी का फ़ौजदार नियुक्त हो गया, किन्तु निस्सन्तान ही मर गया। उसके बड़े भाई के वंशज चन्देरी के बुन्देले ठाकुरों के चौधरी चलते रहे। इनमें १९वीं शती के प्रारम्भ के लगभग चौधरी हिरदैसहाय हुए जिनकी 'चौधरी' के अतिरिक्त 'सवाई' और 'राजधर' उपाधियाँ भी थी। जब १८०६ ई. में दौलतराव सिंधिया ने चन्देरी पर अधिकार कर लिया तो उसने भी इन्हें इनके पैतृक पद पर प्रतिष्ठित रखा और नयी जागीरें भी दी। फतहसिंह और मर्दनसिंह सम्भवतया हिरदैसहाय के छोटे भाई या पुत्र थे और इनके साथ इनके राजकीय कार्यों में योग देते थे। फतहसिंह तो शायद फ़ौजदार भी नियुक्त हो गये थे। इस चौधरी परिवार के कार्यवाहक (कारिन्दा या गुमाश्ता) लाला सभासिंह थे जिन्होंने १८१६ से १८३६ ई. के बीच अनेक धर्मकार्य एवं निर्माण किये। उनमें भी इन चौधरियों का पूरा सहयोग था। स्वर्ण चौधरी हिरदैसहाय ने रामनगर में एक महान् पूजोत्सव एवं रथोत्सव कराया बताया जाता है।

सिंघई सभासिंह—बजगोत्री खण्डेलवाल जैन थे और चन्देरी के चौधरी सवाई राजधर, हिरदैसहाय तथा चौधरी फतहसिंह और चौधरी मर्दनसिंह के प्रधान कारकुन थे। इनकी धर्मपत्नी का नाम कमला था और यह बड़े कार्यकुशल, उदार और धर्मोत्साही थे। इन्होंने १८१६ ई. में चन्देरी से आठ मील दूर अतिशयक्षेत्र थूबौनजी (तपोवन) में एक विशाल जिनमन्दिर बनवाया था जिसमें भगवान् आदिनाथ की देशी पाषाण की ३५ फ़ुट उत्तुंग खड्गासन प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। उस प्रतिमा पर अंकित लेख में दौलतराव सिंधिया, उसके फिरंगी सेनापति कर्नल जीन बौप्टिस्ट, चौधरी सवाई राजधर हिरदैसहाय, चौधरी फतहसिंह, उनके गुमास्ते इन सभासिंह और उनकी भार्या कमला के नाम अंकित हैं। यह मूलसंघ-सरस्वतीगच्छ-बलात्कारगण-कुन्दकुन्दाम्नाय के अनुयायी थे। इन्हीं सभासिंह ने १८२७ ई. में ग्वालियर के भट्टारक सुरेन्द्रभूषण के अधीन सोनागिरि (स्वर्णगिरि, श्रमणगिरि) के भट्टारक विजयकीर्ति के शिष्य पण्डित परमसुख एवं पण्डित भागीरथ के उपदेश से उक्त सिद्धक्षेत्र सोनागिर पर समारोहपूर्वक पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करायी थी। कहते हैं कि दतिया के राजा ने, जिसके राज्य में सोनागिरि स्थित था, इनकी वेषभूषा देखकर इन्हें साधारण बनिया समझ उपेक्षा की तो इन्होंने मिट्टी के बर्तनों, दोना, पत्तलों आदि से ही भरकर सैकड़ों बैलगाड़ियों का ताँता लगा दिया। राजा को भूल मालूम हुई, खेद प्रकट किया और पूर्ण सहयोग का वचन दिया। सभासिंह बोले, 'महाराज मैं तराजू तोलनेवाला बनिया नहीं हूँ, मैं तो राजा-रईसों को तौलता हूँ। इन्होंने सोनागिरि में एक मन्दिर बनवाया था

और १८३६ ई. सोनागिर के भट्टारक हरचन्द्रभूषण के उपदेश से चन्देरी में सुप्रसिद्ध चौबीसी-मन्दिर बनवाया जिसमें चौबीस गर्भगृह हैं और प्रत्येक में एक-एक तीर्थंकर की पुराणोक्तवर्णी (दो श्याम, दो हरित, दो रक्त और सोलह तप्तस्वर्ण) की समान माप की, प्राय पुरुषाकार, पद्मासन, पाषाणमयी, कलापूर्ण एव मनोज्ञ प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की। चन्देरी की यह चौबीसी अभूतपूर्व है। कहते हैं कि अपनी प्रतिष्ठा में उन्होने ही सर्वप्रथम गजरथ चलाया था और संघाधिपति या सिंघई उपाधि प्राप्त की थी। तभी से बुन्देलखण्ड में यह प्रथा चली। चन्देरी को लेकर वर्षों से बुन्देलो और मराठो का विग्रह चल रहा था, जिसका अन्त १८३६ ई. की सन्धि द्वारा हुआ और सन्धि के कराने में चौधरी फतहसिंह के प्रतिनिधि यह सभासिंह प्रमुख थे।

बाबू शकरलाल—आरामनगर (आरा) निवासी, भट्टारक महेन्द्रभूषण की आम्नाय के, कनिल (कसल) गोत्री अग्रवाल जैन साहु दशनावरसिंह के पुत्र थे। स्वय इनके रतनचन्द्र, कीर्तिचन्द, गुपालचन्द और प्यारीलाल नाम के चार पुत्र थे। अँगरेज़ी राज्य था, जब १८१९ ई. में उस कारूष्यदेश (बिहार का भोजपुरी, प्रदेश) के मसाढ-नगर के जिनमन्दिर में इन बाबू शकरलाल ने अपने चारो पुत्रो सहित भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी।

साहु होरीलाल—प्रयाग (इलाहाबाद) निवासी, काष्ठासघी भट्टारक ललित-कीर्ति की आम्नाय के, गोयलगोत्री अग्रवाल-जैन सेठ रायजीमल के अनुज फेरुमल के पौत्र, मेहरचन्द और सुमेरचन्द के भतीजे तथा माणिकचन्द के पुत्र साहु होरीलाल ने अँगरेजबहादुर के राज्य मे कौशाम्बीनगर के बाहर जिनेन्द्र पद्मप्रभु के दीक्षा-कल्याणक-स्थल प्रभास-पर्वत पर १८२४ ई में पार्श्वनाथ-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी।

सालिगराम खजान्ची—राजा रामसिंह के पुत्र और सहारनपुर नगर के सस्थापक साहरनवीरसिंह के वशज थे और दिल्ली के अँगरेज अधिकारियो द्वारा १८२५ ई में सरकारी खजान्ची नियुक्त हुए थे, साथ ही ग्वालियर एव अलवर राज्यो के भी खज़ान्ची थे। उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके पुत्र धर्मदास भी सरकारी खज़ान्ची रहे।

मथुरा के सेठ—मुर्शिदाबाद (बगाल) के जगत्-सेठो का जिस काल में प्राय नामशेष हो रहा था उसी के लगभग मथुरा के सेठ घराने का उदय प्रारम्भ हुआ। जयपुर राज्य के मालपुरा गाँव में जिनदास नामक एक अति साधारण स्थिति के खण्डेलवाल श्रावक रहते थे। फतहचन्द और मनीराम उनके दो पुत्र थे जो जीविका की खोज में जयपुर चले गये। मनीराम वहाँ भी न टिके और परदेश के लिए निकल पड़े। मार्ग में एक धर्मशाला में एक साधारण-से लगनेवाले सज्जन को अत्यन्त रुग्ण अवस्था में छटपटाते देखकर इन्होंने मानवता के नाते उनकी सेवा-सुश्रूषा और यथाशक्य परिचर्या करके उन्हे अकाल-मृत्यु के मुख से बचा लिया। वह सज्जन वास्तव में ग्वालियर के सिंधिया नरेश के राज्यमान्य गुजराती सेठ राधामोहन पारीख थे। उनके स्वार्थी नौकर-चाकर उनकी दुरवस्था में उन्हें वहाँ छोड और उनका सब मालमत्ता लेकर चम्पत हो

गये थे। पारीखजी मनीराम से अत्यन्त उपकृत एवं प्रसन्न हो और उनका वृत्तान्त जान उन्हें अपने साथ ग्वालियर लिवा ले गये और उन्हें कपड़े के व्यवसाय में लगा दिया। सिंधिया राजा की महारानी बैजाबाई के पारीखजी विश्वस्त कृपापात्र और निजी जौहरी थे। उसने सेना द्वारा उज्जैन की लूट में प्राप्त विपुल द्रव्य इन्हें देकर मथुरा में मन्दिर बनवाने के लिए कहा, अतएव पारीखजी मनीराम को साथ लेकर मथुरा आ गये और यहीं बसकर साहूकारे का कारबार शुरू कर दिया और सब भार मनीराम पर डालकर स्वयं भगवद्भजन में लग गये। वह वैष्णव थे अतएव महारानी की और उनकी इच्छानुसार रानी द्वारा प्रदत्त द्रव्य से सेठ मनीराम ने मथुरा में द्वारकाधीश का सुप्रसिद्ध मन्दिर बनवाया। चौरासी पर जम्बूस्वामी का मन्दिर भी इन्होंने बनवाया था, और १८२५ ई में 'छहढाला' के कर्ता पण्डित दौलतराम को अपने पास बुलाकर रखा था। पारीखजी निस्सन्तान थे अतएव उन्होंने सेठ मनीराम के ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीचन्द को अपना उत्तराधिकारी बनाया। सेठ लक्ष्मीचन्द बड़े प्रतापी, प्रभावशाली, उदार, धार्मिक और व्यवसायचतुर थे। उनके समय में मथुरा के सेठ घराने का वैभव और प्रतिष्ठा अपने चरमोत्कर्ष पर थे। दूर-दूर उनकी ख्याति थी और उनकी हुण्डी सर्वत्र निस्संकोच सकारी जाती है। इस प्रदेश में अँगरेज कम्पनी का शासन जम चुका था और उसके सभी छोटे बड़े अधिकारी सेठजी का बड़ा सम्मान करते थे। उनके बलपौरुष, साहस, निरभिमानता एव आन-बान की कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। सन् १८५७ ई के विप्लव मे सेठजी ने एक ओर अँगरेजो की रक्षा और सहायता की तो दूसरी ओर विप्लवियो और अँगरेजो के उत्पीडन से मथुरा की जनता की भी भरसक रक्षा की। उस काल मे कुछ समय तक तो मथुरा नगर और आसपास के क्षेत्र पर सेठों का ही एकछत्र शासन रहा। शान्ति स्थापित होने पर अँगरेज सरकार ने भी उनकी सराहना की और जनता मे भी वह और अधिक लोकप्रिय हो गये। सेठ लक्ष्मीचन्द स्वयं जैनधर्म के परम श्रद्धालु थे, किन्तु उनके भाई राधाकिशन और गोविन्ददास वैष्णव गुरुओ के भक्त थे और उन्होने वृन्दावन निवासी रगाचार्य की प्रेरणा से, जब सेठ लक्ष्मीचन्द विशाल सघ लेकर तीर्थयात्रा के लिए गये हुए थे, वृन्दावन मे रगजी का अति विशाल वैष्णव-मन्दिर बनवाना शुरू कर दिया। यात्रा से लौटने पर सेठजी ने सब समाचार जानकर भी कुछ न कहा और अपने भाइयो की बात रखने के लिए मन्दिर का कार्य स्वयं अपनी देखरेख मे पूरा कराया और उमके तथा द्वारकाधीश के मन्दिर के रखरखाव के लिए जागीरें भी लगा दी। उनके सुपुत्र एवं उत्तराधिकारी सेठ रघुनाथदास भी प्रतिभासम्पन्न और जैन-धर्म के परम श्रद्धालु थे। चौरासी के मन्दिर में भगवान् अजितनाथ की विशाल प्रतिमा इन्होने ग्वालियर से लाकर प्रतिष्ठित की थी। चौरासी क्षेत्र का अष्ट-दिवसीय कार्तिकी मेला और रथोत्सव भी इन्होने ही प्रारम्भ किया था।

राजा लक्ष्मणदास—मथुरा के सेठ रघुनाथदास की निस्सन्तान मृत्यु होने पर उनके उत्तराधिकारी हुए। यह उनके चचा राधाकिशन के पुत्र थे और रघुनाथदास की

गोद हो गये थे। इनका जन्म १८५३ ई. में हुआ था। धर्म के विषय में इन्होंने अपने जन्म-पिता राधाकिशन के बजाय धर्मपिता सेठ रघुनाथदास का अनुकरण किया। अपने समय में आप जैन समाज के प्रमुख नेता थे। इन्होंने १८८४ ई. में भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा की स्थापना की, मथुरा में उसके कई अधिवेशन किये और उक्त अवसरों एवं कार्तिकी मेले पर समस्त आगत अतिथियों का वह प्रेमपूर्ण आतिथ्य करते थे। बड़े साधर्मीवत्सल थे। इनकी प्रेरणा से महासभा ने चौरासी क्षेत्र पर अपना महाविद्यालय भी स्थापित किया था। अँगरेज़ सरकार ने इन्हें 'राजा' और सी. आई. ई. की उपाधियों से विभूषित किया था, स्वयं वायसराय लार्ड कर्जन ने एक बार मथुरा आकर इनका आतिथ्य ग्रहण किया था। जयपुर, भरतपुर, ग्वालियर, धौलपुर, रामपुर आदि रियासतों के नरेशों से इनके मैत्री सम्बन्ध थे। जनसामान्य में भी लोकप्रिय थे, क्योंकि बिना किसी धार्मिक या जातीय भेदभाव के सभी जरूरतमन्दों की वह उदारतापूर्वक सहायता करते थे। बड़े राज्योचित ठाटबाट से रहते थे। आन-बान, मान-प्रतिष्ठा पूर्वजों से कुछ अधिक ही थी, किन्तु अनेक कारणों से जिनमें सरकार की नीति भी थी, इनकी आर्थिक स्थिति कुछ खोखली हो चली थी, बल्कि कलकत्ते की गद्दी के मुनीम की मूर्खता के कारण तो इनका व्यवसाय प्रायः फ़ेल ही हो गया। किन्तु राजा साहब ने अपने जीते जी ही सभी देनदारों का पैसा-पैसा चुकता कर दिया। फिर भी लाखों की सम्पत्ति बच रही। मात्र ४७ वर्ष की आयु में १९०० ई. में राजा लक्ष्मणदास का निधन हुआ। इनके पुत्र सेठ द्वारिकादास और दामोदरदास थे। द्वारिकादास की भी अल्पायु में मृत्यु हो गयी थी तो उनके उत्तराधिकारी छोटे भाई दामोदरदास हुए। उनके पुत्र सेठ मथुरादास थे किन्तु द्वारिकादास की सेठानी ने गोपालदास को अपना दत्तक पुत्र बनाया जिनके पुत्र भगवानदास हुए। मथुरा के सेठ घराने का पतन हो चुका था।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द—प्रसिद्ध जगत्सेठ के वंशज डालचन्द और उनकी विदुषी भार्या बीबी रतनकुँवरि के पौत्र और उत्तमचन्द के सुपुत्र थे। इनके पितामह के समय से वाराणसी ही इस परिवार का निवास-स्थान था। शिवप्रसाद बड़े मेधावी, सुशिक्षित, बहुभाषाविज्ञ, विविध विषयपटु एवं राजमान्य महानुभाव थे। काशीनरेश ईश्वरीनारायणसिंह, अवध के नवाब वाजिदअलीशाह आदि कई तत्कालीन नरेश इनका बड़ा मान करते थे। वह वायसराय की लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य नियुक्त हुए और १८७४ ई. में 'राजा' एवं सी. आई. ई (सितारेहिन्द) उपाधियों से विभूषित किये गये। पश्चिमोत्तर प्रान्त (वर्तमान उत्तरप्रदेश) में राजकीय शिक्षा विभाग की स्थापना होने पर वह पूरे प्रान्त के लिए सर्वप्रथम विद्यालय निरीक्षक (इन्सपेक्टर ऑफ़ स्कूल्स) नियुक्त हुए। प्रान्त के प्रारम्भिक गजेटियरों के निर्माण में अँगरेज़ अधिकारियों ने इनसे सहायता ली थी और जनरल कनिंघम-जैसे पुरातत्त्व सर्वेक्षक इन्हें अपना 'मेहरबान दोस्त' कहते थे। 'इतिहास-तिमिर-नाशक' आदि कई पुस्तकें भी इन्होंने लिखीं। अदालतों में हिन्दी का प्रवेश कराया, स्कूलों में हिन्दी शिक्षा की उचित

व्यवस्था करना, हिन्दी में धर्मोपयोगी एवं लोकोपयोगी पुस्तकों का निर्माण करना व कराना इत्यादि अपने कार्यों के कारण वह आधुनिक काल में हिन्दी प्रचार के सर्वप्रथम पुरस्कर्ता थे। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र उन्हें अपना गुरु मानते थे।

राय बद्रीदास—मूलतः लखनऊ के प्रसिद्ध जौहरियों के श्रीमाल वंश में उत्पन्न हुए थे। लखनऊ की नवाबी की डाँवाडोल स्थिति और अँगरेज़ों के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर १८५३ ई के लगभग यह सपरिवार कलकत्ता चले गये और वहाँ कुछ ही वर्षों में अपनी ईमानदारी, साख, व्यवसाय-पटुता एव अध्यवसाय के बल पर उस महानगरी के प्रमुख जौहरियो में गिने जाने लगे। सन् १८७१ ई. में वायसराय लार्ड मेयो ने इन्हे अपना 'मुकीम' नियुक्त किया और यह 'रायबहादुर' उपाधि से विभूषित किये गये। यह और इनका परिवार बडा धार्मिक था। यह बहुधा कलकत्ता की दादाबाडी में ठहरे यतियो के दर्शनार्थ आया करते थे। उस स्थान के निकट ही एक बडा तालाब था जिसमें लोग मछलियो का शिकार किया करते थे। यह देखकर दयाधर्म के पालक इन श्रावको को बडी ग्लानि होती थी। एक दिन इनकी धर्मप्राण जननी ने इनसे कहा कि यह जीव-हिंसा बन्द होनी चाहिए, और बस इन्होने वह पूरा क्षेत्र मुँह-माँगे दाम देकर खरीद लिया। इतना ही नही, उन्होने उस स्थान की भराई कराके वहाँ एक सुन्दर विशाल उद्यान लगाया जिसमें वह भव्य कलापूर्ण एव मनोरम जिन-मन्दिर बनाया जो 'गार्डन-टेम्पल' (उद्यान मन्दिर) के नाम से प्रसिद्ध है और तभी से देश-विदेश के पर्यटको के लिए दर्शनीय आकर्षण केन्द्र बना हुआ है। मन्दिर का निर्माण १८६७ ई मे पूर्ण हुआ और स्वगुरु कल्याणसूरि के उपदेश से उन्होने उसमें शीतलनाथ भगवान् की उपयुक्त प्रतिमा प्रतिष्ठित करने का निश्चय किया। ऐसी प्रतिमा की खोज मे राय बद्रीदास ने दूर-दूर की यात्रा की। अन्तत एक चमत्कार के परिणामस्वरूप आगरा मे एक स्थान की खुदाई कराने पर एक भूमिस्थ प्राचीन देहरे में वह प्रतिमा प्राप्त हुई। हर्षविभोर हो वह उस प्रतिमा को कलकत्ता लाये और स्वगुरु से उसे उक्त मन्दिर में प्रतिष्ठित कराया, अतएव यह मन्दिर शीतलनाथ-मन्दिर के नाम से भी प्रसिद्ध है। राय बद्रीदास नही रहे और उनके कुल में भी कोई है या नही, किन्तु इस मन्दिर ने उनकी कीर्ति को अमर कर दिया। बम्बई के सेठ माणिकचन्द्र की प्रेरणा और सहयोग से उन्होने एक अँगरेज़ द्वारा शिखरजी पर खोला गया सूअर का कारखाना बन्द करवा दिया था। उस युग के दिगम्बर एवं श्वेताम्बर, उभयसमाजो के नेताओ के परस्पर सौहार्द एव सहयोग का यह एक उदाहरण है।

डिप्टी कालेराय—सुल्तानपुर (जिला सहारनपुर) निवासी गर्गगोत्री अग्रवाल जैन दूदराज के वशज कूडेमल के तीन पुत्रो में से मझले पुत्र थे। १८०४ ई में इनका जन्म हुआ था। इनके पूर्वज पन्द्रहवी शती में उस कस्बे में आ बसे थे और सम्राट् अकबर के समय से इस वश के लोग कानूनगो होते आये थे, जमीदारी भी बना ली थी। इनके पिता कूडेमल को १८०३ ई में अँगरेज़ अधिकारियों ने परगने का कानूनगो

एवं चौधरी बनाया था और अन्त में तहसीलदार होकर १८२८ ई. में उनकी मृत्यु हो गयी थी। उनके पुत्र कालेराय ने दस रुपये की साधारण सरकारी नौकरी से जीवन आरम्भ किया और उन्नति करते-करते डिप्टी-कलक्टर बन गये तथा अन्त में पाँच सौ रुपया वेतन पाते थे। इन्होंने काफ़ी ज़मींदारी पैदा की, अनेक मकान, बाग़ आदि बनाये, कई जगह मन्दिर और धर्मशाला भी बनवायी। उत्तर प्रदेश और पंजाब के कई ज़िलों में इन्होंने राजस्व का बन्दोबस्त किया। बड़े ठाटबाट से रहते थे और अपने परिवारवालों एवं नाते-रिश्तेदारों की बराबर सहायता करते थे। सन् १८५७ ई. में राजकीय सेवा से अवकाश लिया और १८६० ई. में इनका निधन हुआ।

आजकल डिप्टी-कलक्टर का पद विशेष महत्त्व नहीं रखता किन्तु उस युग में और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ पर्यन्त एक भारतीय के लिए इस पद पर पहुँचना बड़ी बात समझी जाती थी। अतएव जैन डिप्टी-कलक्टरों की परम्परा में कालेराय के बाद मेरठ के डिप्टी उजागरमल, नहटौर के डिप्टी नन्दकिशोर, कानपुर के डिप्टी चम्पतराय आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

पण्डित प्रभुदास—बिहार प्रान्तस्थ आरानगर के अग्रवाल जैन सम्पन्न ज़मीदार थे, साथ ही बड़े धर्मनिष्ठ, संस्कृतज्ञ, शास्त्रज्ञ, चरित्रवान्, दानी, और उदारमना सज्जन थे। अपनी विद्वत्ता के कारण बाबू के स्थान में पण्डित कहलाने लगे थे। इन्होंने १८५६ ई. में वाराणसी में गंगानदी के भदैनी घाट पर सुपार्श्वनाथ का मन्दिर और धर्मशाला बनवायी थी और उसी समय के लगभग भगवान् चन्द्रप्रभु की जन्मभूमि चन्द्रपुरी में भी गंगातट पर जिनमन्दिर बनवाया था। छहढाला (१८३४) के रचयिता प्रसिद्ध आध्यात्मिक सन्त पण्डित दौलतरामजी (१८००-१८६६ ई.) के भी सम्पर्क में आये और उनका बहुत आदर करते थे। प्रभुदासजी इतने दृढ़व्रती थे कि चालीस वर्ष पर्यन्त निरन्तर एकाहारी रहे। उनका निधन चौंसठ वर्ष की आयु में हुआ। उनके एकमात्र पुत्र बाबू चन्द्रकुमार थे जिन्होंने कौशाम्बी में जिनमन्दिर बनवाया था, किन्तु ३१ (३४) वर्ष की अल्पायु में ही उनका देहान्त हो गया था।

सेठ मूलचन्द सोनी—अजमेर के खण्डेलवाल सोनीवंश में उत्पन्न यह एक सम्पन्न, प्रतिष्ठित, उदारमना, विद्वत्जनप्रेमी और धर्मिष्ठ सेठ थे। जयपुर के पण्डित सदासुखजी के वह भक्त-शिष्य थे और पुत्र-वियोग से सन्त्रस्त वृद्ध गुरुजी को १८६४ ई. में अपने साथ ले जाकर अजमेर में आदरपूर्वक रखा था। आगरा के पण्डित बलदेवदास पाटनीका भी सेठजी बड़ा आदर करते थे और उनके निमन्त्रण पर पण्डितजी बहुधा अजमेर जाते रहते थे। इस युग में उक्त सोनी घराने का अभ्युदय इनके समय में विशेष हुआ। महासभा के १८९३ ई. के मथुरा अधिवेशन के समय सेठ मूलचन्द्र विद्यमान थे। इसके सुपुत्र राय बहादुर नेमीचन्द्र भी बड़े धर्मात्मा और प्रभावशाली थे। अजमेर की कलापूर्ण सुन्दर सेठों की नशियों का निर्माण सेठ मूलचन्द ने १८६४ ई. में प्रारम्भ किया था और सेठ नेमीचन्द्र ने उसे पूरा कराया था। उनके सुपुत्र रायबहादुर टीकमचन्द सोनी

भी बड़े धर्मात्मा थे और महासभा के प्रमुखों में से थे। इन्होंने अनेक धर्मकार्य किये। इन्हीं के सुपुत्र वर्तमान सर सेठ भागचन्द सोनी हैं।

सेठ विनोदीराम सेठी—झालरापाटन के सेठी घराने के प्रमुख प्रसिद्ध व्यापारी और धर्मात्मा सज्जन थे। इनके सुपुत्र सेठ बालचन्द सेठी उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में जैन समाज के एक प्रसिद्ध राजमान्य, विद्याप्रेमी और धर्मिष्ठ व्यवसायी थे। विनोदीराम-बालचन्द मिल्स के निर्माता और झालरापाटन में सरस्वती भण्डार के संस्थापक थे। आगरा के पण्डित बलदेवदास पाटनी के भक्त और उनके शास्त्र-प्रवचनों के प्रमुख श्रोताओं में से थे। पण्डितजी की 'आत्मसार-प्रबोधशतक' पुस्तक उन्होंने ही १८९३ ई. में प्रकाशित करायी थी। उक्त पुस्तक में एक रेखाचित्र है जिसमें पण्डितजी शास्त्र-प्रवचन कर रहे हैं और उनके सम्मुख चार श्रोता विनयपूर्वक बैठे सुन रहे हैं, जिनमें से एक पर 'सेठ बालचन्दजी' अंकित है। सेठ बालचन्द के सुपुत्र रायबहादुर ताजिरुलमुल्क तथा मानिकपुर (झालावाड़ राज्य) के जागीरदार सेठ मानिकचन्द सेठी और सेठ नेमिचन्द सेठी झालरापाटन बम्बई आदि के ऐलक-पन्नालाल-सरस्वती-भण्डारों के संस्थापक, धर्म और विद्याप्रेमी यह सेठी बन्धु रहे हैं।

सेठ माणिकचन्द जे. पी. (१८५१-१९१४ ई.)—मेवाड़देश के भीडर राज्य के निवासी मन्त्रेश्वरगोत्री बीसाहूमड़ शाह गुमानजी १७८३ ई. में जन्मभूमि को छोड़कर सूरत नगर में आ बसे थे और वहाँ उन्होंने अफ़ीम का अपना पैतृक व्यापार शुरू कर दिया। यह धार्मिक एवं सात्त्विक वृत्ति के पुरुषार्थी व्यक्ति थे। हीराचन्द और बखतचन्द इनके दो पुत्र हुए। साह हीराचन्द ने व्यापार में अच्छी उन्नति की और समाज में भी अच्छी प्रतिष्ठा बना ली। उन्हीं के प्रयत्न एवं सक्रिय सहयोग से सूरत के चन्द्रप्रभु-मन्दिर का जीर्णोद्धार होकर १८४२ ई. में प्रतिष्ठा हुई थी। यह मन्दिर पूर्णतया ध्वस्त हो गया था और बड़ा मन्दिर कहलाता है। उनकी सुशीला एवं धर्मात्मा पत्नी बिजलीबाई थी जिससे उनके मोतीचन्द, पानाचन्द, माणिकचन्द और नवलचन्द नामक चार पुत्र और हेमकुमारी एवं मंछाकुमारी नामकी दो पुत्रियाँ हुई। इनमें से सेठ माणिकचन्द का जन्म १८५१ ई. की धनतेरस के दिन हुआ था। सूरत में व्यापार मन्दा पड़ गया तो १८६३ ई. में हीराचन्द सपरिवार बम्बई चले आये। यहाँ इनके चारों पुत्र मोती पिरोने का कार्य करने लगे और शनैः-शनैः उसमें दक्ष हो गये। इनमें भी माणिकचन्द सर्वाधिक दक्ष हुए और १८६४ ई. में ही इन लोगों ने बम्बई में अपना स्वतन्त्र मोतियों एवं जवाहरात का व्यापार जमा लिया। दो वर्ष के भीतर ही माणिकचन्द-पानाचन्द जौहरी नाम की फ़र्म प्रसिद्ध हो चली। अपनी मितव्ययिता, ईमानदारी, साख, कार्यकुशलता, व्यापार-चातुर्य और अध्यवसाय के बल पर फ़र्म ने अतिशय उन्नति की और विदेशों से सीधे व्यापार करने लगी। अब सेठ माणिकचन्द बम्बई के प्रधान जौहरी थे, अटूट धन था, अँगरेज़ सरकार से भी सम्मान मिला और यह आनरेरी 'जस्टिस ऑफ़ दी पीस' (जे. पी.) बना दिये गये। पूरा परिवार परम धार्मिक था और वह स्वयं तो अपने समय के

प्रायः सर्वमहान् संस्कृति-संरक्षक, समाज-सुधारक, विद्या-प्रचारक, उदार, दानवीर और धर्मिष्ठ थे। उन्होंने समाज में जागृति उत्पन्न करने के लिए पूरे देश का भ्रमण किया, स्थान-स्थान में स्वयं आर्थिक सहयोग और प्रेरणा देकर बोर्डिंग-हाउस (जैन छात्रावास) स्थापित कराये। अनेक छात्रवृत्तियाँ दीं। बम्बई प्रान्तिक महासभा, माणिकचन्द्र-परीक्षालय, माणिकचन्द्र जैन-ग्रन्थमाला, साप्ताहिक जैनमित्र आदि की स्थापना की। तीर्थों के उद्धार एवं संरक्षण में भी योग दिया, मन्दिर और धर्मशालाएँ भी बनवायीं, समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिए अभियान चलवाये, जिनवाणी के उद्धार के प्रयत्न किये, अनेक विद्वानों को प्रश्रय दिया और १९१४ ई. में 'दिगम्बर जैन डायरेक्टरी' प्रकाशित करायी। महान् कर्मठ धर्मसेवी एवं समाजसेवी सच्चे जैन मिशनरी ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद और अपनी सुपुत्री महिलारत्न मगनबेन के निर्माण का श्रेय सेठ माणिकचन्द्र को ही है। पण्डितप्रवर गोपालदास बरैया के विद्योत्कर्ष में भी उनका हाथ था। लगभग आठ लाख रुपये का दान उन्होंने अपने जीवन में किया। यह उदारमना साम्प्रदायिक संकीर्णता से दूर थे। दिनांक १६ जुलाई १९१४ ई. को रात्रि के दो बजे इन दानवीर सेठ माणिकचन्द जे. पी. का देहान्त हुआ। स्व. पण्डित नाथूराम प्रेमी के शब्दों में 'भारत के आकाश से चमकता हुआ तारा टूट पड़ा। जैनियों के हाथ से चिन्तामणि रत्न खो गया। समाज मन्दिर का एक सुदृढ़ स्तम्भ गिर गया।' यह वास्तव में उस काल के युग-प्रवर्तक जैन महापुरुष थे।

राजा चन्दैया हेगडे—मैसूर राज्य के दक्षिण कनारा प्रान्त में स्थित धर्मस्थल नामक कस्बे के निवासी बड़े धनवान् एवं धर्मात्मा श्रेष्ठी थे, राज्य में 'धर्माधिकारी' के पद पर प्रतिष्ठित थे और 'राजा' की उपाधि थी। वह वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ तक विद्यमान थे। उनके सुपुत्र धर्माधिकारी रत्नवर्म हेगडे थे। उन्होंने भगवान् बाहुबलि की ३९ फुट उत्तुंग विशालकाय खड्गासन मनोज्ञ प्रतिमा का निर्माण कराया है जिसे सुदक्ष शिलाकार रंजाल गोपालकृष्ण शेणो के नेतृत्व में २५ से १०० शिल्पकारों ने बनाया है। मूर्ति के बनाने में एक लाख रुपये की लागत आयी और उसे निर्माणस्थान से धर्मस्थल तक लाने में जहाँ उसे प्रतिष्ठित किया जाना है तीन लाख रुपये व्यय हुए हैं। बीच में रत्नवर्मजी का देहान्त हो जाने से अब उनके सुयोग्य पुत्र धर्माधिकारी वीरेन्द्र हेंगडे पिता के अधूरे कार्य को पूरा करने के लिए प्रयत्नशील हैं। गोम्मटेश की दक्षिण देशस्थ विशालकाय प्रतिमाओं में यह क्रम की दृष्टि से छठी और विशालता की दृष्टि से तीसरी मूर्ति होगी।

रा. ब. द्वारकादास—नहटौर (जिला बिजनौर) निवासी सेठ छोटामल के पौत्र और ला. धार्नसिंह के ज्येष्ठ पुत्र थे। धार्नसिंह बड़े धर्मात्मा, दयालु और दानी सज्जन थे। मृत्यु के समय उन्होंने सुपुत्र द्वारकादास को तीन शिक्षाएँ दी थी—नित्य व्यायाम करना, कभी भी किसी से भी कुछ उधार न लेना और न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना। द्वारकादास का जन्म १८५९ ई. में हुआ था। पिता की शिक्षाएँ उन्होंने गाँठ

बाँध ली थी और रुड़की कॉलेज से परिश्रमपूर्वक इन्जीनियरिंग पास करके सरकारी इन्जीनियर नियुक्त हो गये थे। उत्तर प्रदेश के कई जिलों में तथा कलकत्ता में उन्होंने सफलतापूर्वक कार्य किया। उनकी योग्यता एवं ईमानदारी की प्रशंसा राजा-प्रजा में सर्वत्र थी और वह अपने समय के अत्यन्त कुशल भारतीय अभियन्ता समझे जाते थे। फलस्वरूप १९०१ ई. में 'रायसाहब' और तदनन्तर 'रायबहादुर' उपाधियाँ मिलीं। बड़े दानी और धर्मात्मा थे, अनेक निर्धन छात्रों को छात्रवृत्तियाँ देते थे और अपने बंगाली आदि अनेक अजैन मित्रों को साहित्य देकर उन्होंने जैनधर्म के प्रति आकृष्ट किया था। अनेकों से मांस-मदिरा सेवन का आजन्म त्याग कराया था। महासभा के भी वर्षों सभापति रहे। उनके पुत्र नन्दकिशोर डिप्टी कलक्टर हुए और होनहार समाजसेवी पौत्र चन्द्रकिशोर थे जिनका मात्र ३८ वर्ष की आयु में १९५० ई. में एक दुर्घटना में देहान्त हो गया।

ला. गिरधरलाल—शाही खजान्ची राजा हरसुखराय के पौत्र और सेठ सुगनचन्द के पुत्र थे। सन् १८५७ ई. के विप्लव के उपरान्त यह सरकारी खजान्ची हुए तथा गवर्नर-जनरल और पंजाब के लेफ्टीनेण्ट गवर्नर के दरबारी रहे। दिल्ली की प्राचीन दिगम्बर जैन पंचायत के संस्थापक ने और धर्मपुरे के अपने पूर्वजों द्वारा निर्मापित नये मन्दिर में नित्य शास्त्र सभा किया करते थे। इनके वंशज दिल्ली में अभी भी विद्यमान हैं।

ला. ईशरी प्रसाद—दिल्ली के सरकारी खजान्ची ला. सालिगराम के वंशज और धर्मदास खजान्ची के पुत्र या अनुज थे। सरकार की ओर से यह १८७७ ई. में ओल्ड दिल्ली डिवीजन के खजान्ची नियुक्त हुए थे। वह दिल्ली बैंक व लन्दन बैंक के भी खजान्ची थे। नगरपालिका के सदस्य एवं कोषाध्यक्ष, आनरेरी मजिस्ट्रेट और वायसरीगल दरबारी भी थे। उनके उपरान्त १८७८ ई. में उनके छोटे भाई अयोध्याप्रसाद भी सरकारी खजान्ची रहे। तदनन्तर ला. ईशरीप्रसाद के सुपुत्र रायबहादुर पारसदास ने भी अपने पिता के समस्त पदों का उपभोग किया और अपने समय के दिल्ली के प्रमुख प्रतिष्ठित सज्जनों में से थे। उन्होंने एक जैन-सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची भी प्रकाशित की थी।

गुरु गोपालदास बरैया—आगरा निवासी एछियागोत्री बरैया-जातीय लक्ष्मणदास के सुपुत्र थे। घर की आर्थिक स्थिति अत्यन्त साधारण थी और प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा भी नाममात्र की थी। इनका जन्म १८६६ ई. में हुआ था और १९ वर्ष की आयु में अजमेर में रेलवे में साधारण-सी नौकरी कर ली। दो वर्ष के बाद (१८८७ ई. में) अजमेर के सेठ मूलचन्द नेमीचन्द सोनी के यहाँ उनके भवन निर्माण कार्य की देखभाल की नौकरी की जो छह या सात वर्ष चलती रही। इसी बीच विद्याव्यसन लगा, पण्डित बलदेवदासजी आदि विद्वानों का सम्पर्क मिला। शनैः-शनैः अपनी मेधा एवं अध्यवसाय के बल पर प्रकाण्ड पण्डित और उद्‍भट विद्वान् बन गये। कुछ वर्ष बम्बई

रहे। वहाँ भी प्रारम्भ में नौकरी की। किन्तु स्वतन्त्र मनोवृत्ति के स्वाभिमानी थे अतः व्यापार में पड़ गये। कई प्रयोगों के बाद ग्वालियर राज्य के मोरेना में आकर स्थायी रूप से बस गये। आर्थिक स्थिति भी सन्तोषजनक हो गयी, राज्य और समाज में प्रतिष्ठा बढ़ती गयी। आनरेरी मजिस्ट्रेट भी नियुक्त हो गये और मोरेना में अपने विद्यालय की स्थापना कर दी। स्वनिर्मित व्यक्तित्व के धनी बरैयाजी की धाक जैनाजैन विद्वज्जगत् में जम गयी। सार्वजनिक अभिनन्दन हुए, न्याय-वाचस्पति, वादिगजकेसरी और स्याद्वाद-वारिधि-जैसी उपाधियाँ मिलीं। अनेक उद्भट विद्वान् शिष्य तैयार कर दिये। समाज के प्रायः सभी गण्यमान्य विद्वानों एवं श्रीमानों की श्रद्धा के पात्र बने। अद्भुत विद्याव्यसनी, अगाध पाण्डित्य के धनी, प्रभावक वक्ता एवं शास्त्रार्थी, कई ग्रन्थों के रचयिता, कुशल-शिक्षक, प्रगाढ़ श्रद्धा से युक्त एवं दृढ़चारित्री, धर्म एवं समाजसेवी, निर्भीक, अटूट उत्साह और लगनवाले, कुशल पत्रकार (जैन मित्र के वर्षों सम्पादक रहे), प्रबुद्ध समाज-सुधारक, साथ ही स्वतन्त्रजीवी, सफल व्यापारी भी और आधुनिक युग में जैन जागृति के समर्थ पुरस्कर्ताओं में परिगणित गुरु गोपालदास बरैया का मात्र ५१ वर्ष की आयु में १९१७ ई. में निधन हुआ।

सेठ मथुरादास टडैया—ललितपुर जिला झाँसी के परवार जातीय टडैयागोत्री सेठ मुन्नालाल के सुपुत्र थे। जन्म १८७२ ई. में और स्वर्गवास १९१८ ई. में हुआ। अपने परिश्रम, नेकनीयती, मधुर स्वभाव एवं व्यापार-पटुता के कारण व्यापार में बड़ी उन्नति की, दसियों मण्डियों में इनकी गद्दी थी। साथ ही बड़े धर्मात्मा, साधर्मीवत्सल, अतिथिसेवी, दानी और निरभिमानी थे। अतएव बुन्देलखण्ड में तो लोकप्रिय हुए ही, समाज में दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गये और अँगरेज अधिकारी भी आदर करते थे। देते रहना और बदले में पाने की कुछ आशा न करना उन्होंने अपने जीवन में ढालने का सतत प्रयत्न किया। उनके सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं।

सर सेठ हुकमचन्द—दानवीर, तीर्थभक्त-शिरोमणि, जैनधर्मभूषण, जैन-दिवाकर, जैन सम्राट्, राय बहादुर, राज्यभूषण, रावराजा, श्रीमन्त सेठ, के. टी. आई. आदि विविध सार्थक उपाधियों से विभूषित और अपने जीवन में लगभग ८० लाख रुपये का दान करने तथा अनेक धार्मिक एवं सार्वजनिक संस्थाओं के जन्मदाता इन्दौर के सर्व-प्रसिद्ध सर सेठ हुकमचन्द का जन्म १८७४ ई. में और स्वर्गवास लगभग ८५ वर्ष की वृद्धावस्था में १९५९ ई. में हुआ। अत्यन्त कुशल व्यापारी, उद्योगी एवं व्यवसायी, अनेक देशी राज्यों के नरेशों के मान्य मित्र और वायसराय आदि अँगरेज अधिकारियों के आदर के पात्र, राजसी ठाट-बाट से जीवन बितानेवाले और अन्तिम कई वर्षों में उदासीन व्रती श्रावक के रूप में आत्मसाधन में लीन इन स्वनामधन्य, इस युग के राजर्षि का जीवन प्रायः पूरी अर्धशताब्दी पर्यन्त जैन समाज के जीवन में ओतप्रोत रहा है। मारवाड़ के लाडनूँ प्रदेश के मेंडसिल गाँव के निवासी पूसाजी अपने श्यामाजी एवं कुशलाजी नामक दो पुत्रों के साथ जन्मभूमि का त्याग करके १७८७ ई. में अहल्याबाई होलकर के राज्यकाल में

इन्दौर में आ बसे थे और वहाँ सर्राफे, अफ़ीम और लेन-देन का व्यापार प्रारम्भ किया था। श्यामाजी के तीन पुत्रों में ज्येष्ठ सेठ मानिकचन्द थे जिनके पाँच पुत्रों में से द्वितीय पुत्र सेठ सरूपचन्द थे। इन सरूपचन्द के ही सुपुत्र सर सेठ हुकमचन्द थे। इनके पुत्र रायबहादुर सेठ राजकुमारसिंह हैं और चचेरे भाई कल्याणमल के दत्तक पुत्र राय बहादुर कैप्टन सेठ हीरालाल हैं।

बाबू देवकुमार—आरा के प्रसिद्ध विद्वान् जमींदार पण्डित प्रभुदास के पौत्र और बाबू चन्द्रकुमार के सुपुत्र बाबू देवकुमार का जन्म १८७६ ई. में हुआ और निधन मात्र ३१ वर्ष की अल्पवय में १९०८ ई. में हो गया। पिता की मृत्यु के समय इनकी आयु मात्र ११ वर्ष की थी और जमींदारी एवं परिवार का बोझ कन्धों पर आ पड़ा था। तथापि साहस से काम लिया। बड़े सुशिक्षित, प्रबुद्ध, सरलचित्त, उदारमना, विद्याप्रेमी, धर्म और समाज के निःस्वार्थसेवी, बड़ी लगनवाले, चरित्रवान् एवं धर्मिष्ठ सज्जन थे। जिनवाणी के उद्धार और प्रचार की उत्कट भावना थी। जब १८९५ ई. मे दि. जैन महासभा ने अपना मुखपत्र जैनगजट चालू किया तो यही उसके सम्पादक हुए और अपनी मृत्यु पर्यन्त बने रहे। इन्होंने १९०५ ई. में वाराणसी के भदैनी घाट पर स्थित अपनी धर्मशाला में स्याद्वाद पाठशाला की स्थापना की जो आगे चलकर स्याद्वाद-महाविद्यालय के रूप में विकसित हुई। उसी वर्ष उन्होंने आरा में अपने सुप्रसिद्ध जैन सिद्धान्त भवन की स्थापना की जिसकी गणना देश के प्रमुख प्राच्य पुस्तकागारों में हुई। इसी संस्था की द्वैमासिक पत्रिका जैन-सिद्धान्त-भास्कर-जैनएण्टीक्वेरी है। महासभा के कुण्डलपुर अधिवेशन की १९०७ ई. में उन्होंने अध्यक्षता की और उसी वर्ष दक्षिण के जैन तीर्थों की यात्रा की और वहीं हस्तलिखित ग्रन्थों के संरक्षण, धवलादि महाग्रन्थों के उद्धार का संकल्प किया तथा संकल्प पूरा होने तक के लिए ब्रह्मचर्यव्रत अंगीकार किया। उन्होंने आरा में प्राथमिक पाठशाला और शिखरजी पर एक धर्मार्थ औषधालय भी स्थापित किया था। सरकार ने उन्हें आनरेरी मजिस्ट्रेट नियुक्त किया था। उनके होनहार प्रिय अनुज धर्मकुमार का १९०० ई. में असामयिक निधन हो गया था जिसका उन्हें बड़ा सदमा पहुँचा। धर्मकुमार की विधवा पत्नी बालिका चन्दाबाई को उन्होंने योग्य पण्डित नियुक्त करके संस्कृत भाषा तथा धर्मशास्त्रों की उत्तम शिक्षा दिलायी और आगे चलकर ब्रह्मचारिणी पण्डिता चन्दाबाईजी आरा के प्रसिद्ध बालाविश्राम की संस्थापिका (१९२१ ई.) एवं संचालिका हुईं। यह वृद्धा तपस्विनी आज भी एकनिष्ठता के साथ स्त्रीशिक्षा एवं समाज-सेवा में रत हैं। बाबू देवकुमार के निर्मलकुमार और चक्रेश्वरकुमार नाम के दो सुपुत्र हुए। बाबू निर्मलकुमार ने अपने देवतुल्य स्वर्गीय पिता के स्वप्नों को साकार करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया।

साहु चन्डीप्रसाद—धामपुर ज़िला बिजनौर निवासी प्रतिष्ठित, सम्पन्न एवं समाजसेवी सज्जन थे। इनका जन्म १८७२ ई. में हुआ। वह बीस वर्ष तक बराबर धामपुर की नगरपालिका के अध्यक्ष रहे। आनरेरी मजिस्ट्रेट भी पन्द्रह वर्ष रहे। किन्तु

स्वदेशी आन्दोलन के प्रभाव में उस पद से त्यागपत्र दे दिया और स्वातन्त्र्य आन्दोलन को सदा आर्थिक सहायता भी प्रदान करते रहे। धामपुर के चैत्यालय का शिखरबन्द मन्दिर के रूप में निर्माण कराया और एक कन्या पाठशाला की भी स्थापना की। अनेक लोकोपकारी कार्य किये। रा. ब. द्वारकादास, साहु जुगमन्दरदास, ला. जम्बूप्रसाद, ला. हुलासराय, ला. शिब्बामल आदि समाज के उस युग के प्रभावक सज्जनों के साथ मिलकर समाजसेवा करते रहे। उनके सुपुत्र देवकीनन्दन भी नगरपालिका और अहिच्छत्रातीर्थ की प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष रहे।

लाला मुन्नेलाल काग़ज़ी—लखनऊ निवासी नंनूमल के पौत्र और बंशीधर के पुत्र लाला मुन्नेलाल कागज़ी का जन्म १८६९ ई. में और निधन १९४४ ई. में हुआ। वह बड़े कुशल व्यापारी, व्यवहार-चतुर और धर्मिष्ठ सज्जन थे। स्वपुरुषार्थ द्वारा अत्यन्त साधारण स्थिति से उठकर उन्होंने पर्याप्त सम्पत्ति अर्जित की और धन का सदुपयोग भी किया। लखनऊ में एक विशाल धर्मशाला एवं जिनमन्दिर तथा एक चैत्यालय बनवाया, १९३६ ई. के दक्षिण यात्रासंघ, १९३९ ई. में लखनऊ की पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा और १९४४ ई. के परिषद् के लखनऊ अधिवेशन के आयोजकों में वह प्रमुख थे।

रायबहादुर सुलतानसिंह—तहसील सोनीपत के क़स्बे कोताना निवासी ग्योसिंहराय के पौत्र और निहालचन्द के पुत्र थे। यह प्रसिद्ध रईस एवं ज़मींदार घराना था। इनका जन्म १८७६ ई. में हुआ था। पिता की मृत्यु इनके शैशव में ही हो गयी थी, अतः पितामह ने लालन-पालन किया। वयस्क होने पर १८९८ ई. में इन्होंने कारबार स्वयं सँभाल लिया, दिल्ली को निवास बनाया और अपनी कार्य-कुशलता द्वारा पैतृक सम्पत्ति को इतना बढ़ाया कि कुछ ही वर्षों में दिल्ली के तत्कालीन साहूकारों में अग्रणी स्थान प्राप्त कर लिया, तथा दिल्ली, मेरठ, शिमला आदि अनेक स्थानों की इम्पीरियल बैंक की शाखाओं के खज़ान्ची हो गये। १९०२ ई. में दिल्ली नगरपालिका के सदस्य, १९०५ ई. में आनरेरी मजिस्ट्रेट, १९१० ई. में पंजाब लेजिस्लेटिव कौंसिल के मनोनीत सदस्य और रायबहादुर हो गये। इतने राज्य-मान्य होते हुए भी देशभक्त और कांग्रेस के मूक सेवक भी थे। उनके घर पर वायसराय, चीफ़ कमिश्नर, राजे-महाराजे आदि अतिथि होते थे तो स्वयं महात्मा गान्धी, मोतीलाल नेहरू, सरोजनी नायडू-जैसे सर्वोच्च नेता भी वहीं ठहरते थे। कांग्रेस वर्किंग कमेटी की बैठकें भी उनकी कोठी पर कई बार हुईं। बड़े भद्र-प्रकृति, अतिथि-सेवी, उदार, परोपकारी और लोकप्रिय थे। उनका निधन १९३० ई. में हुआ था। उनके सुपुत्र रघुवीरसिंह ने अपनी विशाल कोठी में एक आदर्श नर्सरी एवं मोन्टेसरी शाला स्थापित की थी? रायबहादुर सुलतानसिंह ने लाखों की पैतृक सम्पत्ति को बढ़ाकर करोड़ों की कर दिया था। बड़े ठाट से रहते थे, अँगरेज उन्हें 'किंग ऑफ़ कश्मीरी गेट' कहते थे, तो १९२१ ई. में महात्मा गान्धी ने अपना प्रथम उपवास इन्हीं की कोठी में किया था। धर्म से भी

लगाव था, १९०० ई. में चार सौ यात्रियों का संघ लेकर तीर्थयात्रा की थी और १९२३ ई. की दिल्ली की बिम्ब-प्रतिष्ठा की व्यवस्था में अग्रणी थे। बिना साम्प्रदायिक भेदभाव के दिल्ली की अनेक शिक्षा-संस्थाओं को प्रश्रय दिया। उनकी धर्मपत्नी सुशीलादेवी ने १९३० ई. आदि के कांग्रेस आन्दोलनों में सक्रिय भाग लिया, पुलिस की लाठियाँ खायीं, अखिल भारतीय महिला सम्मेलन की अध्यक्षा रहीं और दिल्ली में सरस्वती-भवन नाम की आदर्श महिलोपकारी संस्था स्थापित की।

दीवान बहादुर ए बी लट्ठे—महाराष्ट्र प्रदेश के प्रबुद्ध जैन जन-नेता थे। अँगरेज़ी शासन में उन्नति करके उन्होंने दीवान-बहादुर की उपाधि पायी तो देश-सेवा एवं कांग्रेस आन्दोलन में भाग लेकर बम्बई राज्य के प्रथम मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित हुए। जैनधर्म पर अँगरेज़ी में कुछ पुस्तकें भी उन्होंने लिखीं।

लाला जम्बूप्रसाद—सहारनपुर के प्रसिद्ध धर्मनिष्ठ एवं समाजसेवी उदारमना रईस लाला जम्बूप्रसाद का जन्म १८७७ ई. में हुआ था और १९०० ई में वह लाला उग्रसेन के दत्तक पुत्र के रूप में सहारनपुर की इस प्रसिद्ध जमींदारी स्टेट के स्वामी बने। लाला उग्रसेन भी धर्मात्मा थे और महासभा के संस्थापकों में से थे। प्रारम्भ में कुछ वर्ष जम्बूप्रसाद उक्त स्टेट के लिए हुई लम्बी मुकदमेबाज़ी में उलझे रहे। उससे निवृत्त होकर १९०७ ई में उन्होंने धर्म और समाज की सेवा में पूर्ण योग दिया। शिखरजी के मुकदमे का तो उन्होंने बीड़ा ही उठा लिया था। सहारनपुर में एक मन्दिर बनवाया, संस्कृत-विद्यालय स्थापित किया जिसमें न्यायाचार्य पण्डित माणिकचन्द्र ने वर्षों अध्यापन किया और जो अब एक उन्नत डिग्री-कॉलेज है। १९२३ ई में दिल्ली की पूजा में सम्मिलित होकर हाथी की सवारी और सचित्ताहार का आजन्म त्याग कर दिया। ब्रह्मचर्यव्रत १९२१ ई. में ही ले चुके थे। नित्य देव पूजा का नियम था। सरकार ने रायबहादुर आदि उपाधि देनी चाही तो अस्वीकार कर दी। किसी अफसर से मिलने नहीं जाते थे। पण्डित पन्नालाल न्यायदिवाकर और मेरठ के लाला धूमसिंह उनके अभिन्न साथी थे। उनकी तीर्थसेवा के लिए समाज ने उन्हें तीर्थ-भक्त-शिरोमणि की उपाधि प्रदान की थी। बड़े सुदर्शन तेजस्वी और धर्मात्मा सज्जन थे। उनका निधन १९२३ ई. में हुआ। उनके भाई दीपचन्द भी बड़े धर्मात्मा थे तथा धर्मप्रेमी मोहरसिंह खज़ान्ची के भतीजे और धूमसिंह के पुत्र रा ब अजितप्रसाद भी धार्मिक सज्जन थे। रायबहादुर हुलासराय भी लाला जम्बूप्रसाद के कुटुम्बी थे।

राजा बहादुरसिंह सिंघी—कलकत्ते के सेठ डालचन्द सिंघी के सुपुत्र प्रसिद्ध जौहरी, रईस और ज़मींदार थे, साथ ही बड़े धर्मप्रेमी एवं विद्याप्रेमी भी थे। इन्होंने सिंघी-ग्रन्थमाला की स्थापना की तथा अनेक धार्मिक एवं लोकोपयोगी कार्य किये। इन्हें सरकार से राजा की उपाधि प्राप्त हुई थी।

महिलारत्न मगनबेन—बम्बई के सुप्रसिद्ध समाज-हितैषी, दानवीर सेठ माणिकचन्द जे. पी. की सुशीला, मेधावी एवं अत्यन्त प्रिय पुत्री थीं। इनका जन्म

१८७९ ई. में हुआ, विवाह १८९२ ई. मे खेमचन्द के साथ हुआ, १८९७ ई. मे पुत्री केशरबेन का जन्म हुआ और दैवदुर्विपाक से १८९८ ई. मे मात्र १९ वर्ष की आयु में वह विधवा हो गयी। किन्तु सुयोग्य पिता की सुयोग्य सन्तान थी। पिता के सहयोग से विद्याध्ययन में मन लगाया, धर्म को सम्बल बनाया और नारी-जगत् की शिक्षा, सेवा एव उद्धार में जीवन अर्पण कर दिया। पण्डित लालन और लखनऊ के ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद ने उनके विद्याभ्यास में सहायता की और समाजसेवा की भावना को प्रोत्साहित किया। फल यह हुआ कि १९०६ ई. में उन्होने बम्बई में सुव्यवस्थित श्राविकाश्रम स्थापित किया और तदनन्तर भिन्न-भिन्न स्थानो में तीसियो श्राविकाश्रम स्थापित कराये और महिला-परिषदें स्थापित की। ललिताबाई और ककुबाई इनकी सहयोगिनी थी। काशी के १९१३ ई. के महोत्सव में इन्हे 'जैन-महिलारत्न' की उपाधि समाज ने प्रदान की, बम्बई प्रशासन ने आनरेरी जे. पी. बनाया, और १९३० ई मे इस जैन-महिलारत्न का स्वर्गवास हुआ। ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद और बैरिस्टर चम्पतराय इनकी अन्त्येष्टि मे सम्मिलित हुए थे।

सर मोतीसागर—दिल्ली के प्रसिद्ध रईस एव अपने समय के वर्चस्वी शिक्षा-शास्त्री रायबहादुर सागरचन्द के सुपुत्र मोतीसागर दिल्ली के एक सामान्य वकील के रूप मे जीवन प्रारम्भ करके अपने परिश्रम, नेकनीयती एव सद्य जात प्रतिभा के बल पर उस पेशे की चोटी पर पहुँच गये। रायसाहब, रायबहादुर, सर, डाक्टर आफ लॉ, दिल्ली विश्वविद्यालय के वाइसचान्सलर (उपकुलपति), दिल्ली और पजाब हाईकोर्टों के प्रमुख वकील, अन्तत पजाब होईकोर्ट के जज हुए। सफलता, लक्ष्मी और यश तीनो का ही प्रभूत उपयोग किया। सन् १८८० ई. के लगभग उनका जन्म हुआ था और १९३० ई. मे उनका देहान्त हुआ।

रायसाहब प्यारेलाल—वर्तमान शताब्दी मे दिल्ली के सर्वोच्च कोटि के वकील, महान् शिक्षा-शास्त्री, जननेता और जैन समाज के प्रमुख नेताओ मे से थे। सरकारी क्षेत्रों में भी उनका विशिष्ट मान था। रायबहादुर पारसदास, रायबहादुर सुलतानसिंह, सर मोतीसागर, रायबहादुर नन्दकिशोर, जो उत्तरप्रदेश शासन के सर्व-प्रथम जैन सम्भवतया भारतीय भी सुपरिन्टैण्डिग इन्जीनियर थे, रायबहादुर जगत-प्रकाश, जो भारत सरकार के सर्वप्रथम भारतीय डिप्टी आडीटर-जनरल तथा एका-उन्टेन्ट-जनरल हुए इत्यादि विभूतियो ने प्राय उसी युग को सुशोभित किया था।

कर्णचन्द नाहर—कलकत्ता के प्रसिद्ध वकील जैन पुरातत्त्व के प्रेमी एवं अन्वेषक, जैन लेखसग्रह, एथीटोम ऑव जैनिज्म आदि कई ग्रन्थो के प्रणेता, तीर्थ भक्त और समाजसेवी थे। उनके सुपुत्र विजयसिंह नाहर स्वातन्त्र्य सग्राम के सेनानी और पश्चिमी बगाल के मन्त्रिमण्डल के वर्षों तक सदस्य रहनेवाले समाजसेवी सज्जन हैं। उनका जन्म १८७५ ई और निधन १९३६ ई. में हुआ था।

जगमन्दरलाल जैनी—सहारनपुर के सम्पन्न अग्रवाल जैन परिवार में १८८१ में इनका जन्म हुआ था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त की और १९०२ ई. में वहीं से अँगरेजी साहित्य में प्रथम श्रेणी में एम. ए. परीक्षा पास करके उसी विश्वविद्यालय में अँगरेजी के प्राध्यापक और छात्रावास के वार्डन नियुक्त हो गये। तीन वर्ष पश्चात् १९०६ ई. में इंगलिस्तान चले गये और चार वर्ष पर्यन्त वहाँ के प्रसिद्ध आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अध्ययन किया। अन्य योग्यताओं के साथ बैरिस्टरी ऐसी चमकी कि एक मुकदमे की पैरवी प्रिवी-कौन्सिल में करने के लिए उन्हें लन्दन भेजा गया। तदनन्तर १९१४ ई. से १९२७ ई. में अपनी मृत्यु पर्यन्त वह इन्दौर राज्य के न्यायाधीश एवं व्यवस्था-विधि-विधायिनी-सभा के अध्यक्ष रहे। बीच में १९२०-१९२२ ई. तक दो वर्ष वह इन्दौर नहीं रहे थे, तो अँगरेजी सरकार ने उन्हें रायबहादुर की उपाधि और आनरेरी असिस्टेण्ट कलक्टरी आदि प्रदान की थी। राज्यकार्य के अतिरिक्त वह अपना सारा समय जैन साहित्य की साधना में लगाते थे। अँगरेजी जैन-गजट के उसके जन्मकाल १९०४ से लेकर अपनी मृत्यु पर्यन्त सम्पादक बने रहे। तत्त्वार्थसूत्र, आत्मानुशासन, पंचास्तिकाय, समयसार, गोम्मटसार जैसे महान् सैद्धान्तिक ग्रन्थों का अँगरेजी में उत्तम अनुवाद किया, अन्य भी कई पुस्तकें लिखीं। सैण्ट्रलजैन पब्लिशिंग हाउस, जैन लायब्रेरी (लन्दन) आदि की उन्होंने स्थापना की और मृत्यु से एक वर्ष पूर्व अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति जनहितार्थ तथा जैनधर्म की रक्षा एवं प्रचार के लिए ट्रस्ट कर गये। प्रसिद्ध कर्मवीर, जैन समाज के कर्मठ सेनानी आरा के कुमार देवेन्द्रप्रसाद, जैनधर्म के समर्पित प्रचारक ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद और लखनऊ के पण्डित अजितप्रसाद वकील उनके कार्यों में विशेष सहयोगी एवं सहायक रहे।

सेठ बालचन्द दोसी—शोलापुर के सेठ हीराचन्द दोसी के सुपुत्र सेठ बालचन्द दोसी का जन्म १८८२ ई. में अति साधारण आर्थिक स्थिति में हुआ था किन्तु १९५३ ई. में अपनी मृत्यु के समय वह करोड़ों की सम्पत्ति के स्वामी थे। भारतीय उद्योग के यह महान् स्वयंसिद्ध पुरुष भारतीय जहाज-उद्योग के पिता माने जाते हैं। आर्थिक अभ्युदय के ऐसे अध्वर्यु इतिहास में कम ही देखने में आते हैं। वह निस्सन्तान थे अतएव अपनी समस्त निजी सम्पत्ति का लोकहितार्थ ट्रस्ट भी कर गये। उनके भाई सेठ रतनचन्द आदि बम्बई के प्रसिद्ध व्यवसायी है।

राजा ध्यानचन्द—मेरठ का एक प्रायः निर्धन किन्तु साहसी युवक गत शताब्दी के अन्त के लगभग बम्बई चला गया। फ़ोटोग्राफ़ी का शौक़ था, उसे ही जीविका का साधन बनाया। संयोग से हैदराबाद के निजाम की दृष्टि में आ गया तो न केवल अपनी कला और व्यवसाय में ही अद्भुत उन्नति की, निजाम से 'मुसविरुद्दौला' और 'राजा' के ख़िताब प्राप्त कर लिये।

सर फूलचन्द मोधा—उत्तर प्रदेश के अँगरेज़ी शासन की सेवा में उन्नति करते-करते उस प्रान्त के सर्वप्रथम भारतीय लीगल रिमेम्ब्रेन्सर हुए और तदनन्तर कश्मीर नरेश

ने उनकी सेवाएँ उधार लेकर उन्हें अपना मन्त्री बनाया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ पूर्व ही उनकी मृत्यु हुई।

साहु सलेखचन्द के वंशज—साहु सलेमचन्द नजीबाबाद जिला बिजनौर के ख्याति प्राप्त, सम्पन्न जमींदार, साहुकार, धर्मात्मा एव दानशील सज्जन थे। लगभग ७५ वर्ष की आयु में अपनी मृत्यु पर्यन्त नीरोग, स्वस्थ और कर्मठ रहे। नियम धर्म के पक्के और उच्चकोटि के धर्मग्रन्थो के सतत स्वाध्यायी थे। जरूरतमन्दो की बहुधा गुप्त सहायता किया करते थे। जिले के प्रमुख सम्मानित व्यक्तियो में थे। उनके ही एक पौत्र नजीबाबाद के प्रसिद्ध रायबहादुर साहु जुगमन्दरदास थे, जिनका जन्म १८८४ ई. में हुआ था और निधन १९३३ ई में मसूरी में हुआ था। छह वर्ष तक वह जिलाबोर्ड के अध्यक्ष रहे, वर्षो दिगम्बर जैन महासभा के मन्त्री और दिगम्बर जैन परिषद् के कोषाध्यक्ष रहे। परिषद् के सहारनपुर अधिवेशन के सभापति भी हुए। हस्तिनापुर तीर्थ-क्षेत्र कमेटी के भी बराबर कोषाध्यक्ष रहे। प्राय सभी अखिल भारतीय जैन सस्थाओ, जैन नेताओ, विद्वानो और श्रीमानो से उनका सम्पर्क या सम्बन्ध था। स्थितिपालक भी थे और सुधारक भी राज्यभक्त थे और स्वदेश प्रेमी भी। बडे व्यवहार-कुशल, प्रतापी, प्रभावक, शानदार, मिलनसार और अतिथिसेवी थे। उनके सुपुत्र साहु रमेशचन्द टाइम्स आफ इण्डिया के मैनेजर है और भतीजे साहु शीतलप्रसाद है। इसी परिवार में साहु सलेखचन्द के पौत्र और साहु दीवानचन्द्र के सुपुत्र अद्यावधि बम्बई के सुप्रसिद्ध एव प्रतिष्ठित उद्योगपति तथा धर्मानुरागी एव विद्याप्रेमी साधर्मीवत्सल साहु श्रेयासप्रसाद है तथा वर्तमान जैन समाज के लोकप्रिय एव सर्वोपरि नेता, धर्म, सस्कृति और साहित्य के समर्थ सरक्षक, दानवीर, प्रबुद्धचेता, वर्तमान युग के शीर्ष स्थानीय जैन उद्योगपति साहु शान्तिप्रसाद जैन है।



उपसंहार

'कला, कला के लिए' के अनुकरण पर 'इतिहास, इतिहास के लिए' कहनेवाले लोग भी हैं, किन्तु 'कला' और 'इतिहास' में भारी अन्तर है। जब कि कला अधिकांशतया कल्पना प्रसूत होती है, इतिहास प्रमाणित अथवा विश्वसनीय तथ्यों पर आधारित होता है। उन तथ्यों को सुरुचिपूर्ण ढंग से सजाने में इतिहासकार की कला का उपयोग हो सकता है। तथ्यों की व्याख्या और उनका मूल्यांकन करने में भी वह एक सीमा तक स्वतन्त्र होता है। कला मनोरंजन के लिए होती है, किन्तु इतिहास का लक्ष्य मात्र मनोरंजन नहीं होता। उसकी उपयोगिता मनोरंजन से कहीं अधिक है। वह सोद्देश्य होता है।

वस्तुतः, जातीय स्मृति का नाम ही इतिहास है। यदि कोई जाति अपने इतिहास से अनभिज्ञ रहती है तो इसका अर्थ है कि उसने अपनी स्मृति खो दी है, अतएव अपना अस्तित्व भी भुला दिया है। ऐसी स्थिति में उसे एक नयी जाति के रूप में प्रकट होना पड़ता है जिसे सब कुछ नये सिरे से सीखना होता है। जातीयता की वास्तविक अनुभूति उसमें हो नहीं सकती। उसका इतिहास ही एक ऐसी वस्तु है जो उसे जातीयता की भावना की कुंजी प्रदान कर सकती है, क्योंकि 'वर्तमान' आकाश में से अकस्मात् नहीं टपक पड़ता—अतीत में से ही उसका उदय होता है। अतीत का विकसित मूर्त रूप ही वर्तमान है। अतएव वर्तमान को जानने, समझने और भोगने के लिए अतीत का, अर्थात् इतिहास का ज्ञान अनिवार्यतः आवश्यक है।

इतिहास के चित्रपट पर अतीत के जो चित्र उभरकर आते हैं वे प्रायः किसी न किसी महान् व्यक्ति पर केन्द्रित होते हैं। जैसा कि कार्लायल का कथन है 'विश्व का इतिहास, अर्थात् मनुष्य ने संसार में जो कुछ सम्पादन किया है उसका इतिहास, मूलतः उन महापुरुषों का ऐतिह्य है जो उक्त इतिहास के निर्माता रहे हैं।' प्रत्येक युग में जो महानुभाव अपने अध्यवसाय, दृढ़चरित्र, प्रतिभा एवं प्रभावक व्यक्तित्व के बल पर अपने समय के अन्य मनुष्यों से पर्याप्त ऊपर उठ सकें, वही जन-सामान्य या जनसमूह की आकांक्षाओं, अभिलाषाओं एवं लक्ष्यों के नियोजक, नियामक और शिल्पी बने, उन्हें मूर्तरूप प्रदान कर सके और उनकी यथाशक्य पूर्ति कर सके। इसीलिए इमर्सन-जैसे चिन्तक ने कहा था कि 'किसी भी इतिहास का विश्लेषण करें तो वस्तुतः एवं स्वभावतः वह कुछ एक दृढ निश्चयी, कर्मठ, सच्चे, ध्येयनिष्ठ एवं कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों का जीवन चरित्र ही सिद्ध होता है।'

इन महान् पुरुषों के चरित्र पढ़ने और जानने का एक सुफल यह होता है कि हमारे मानस-पटल पर अनेक भव्य, भद्र, अनुकरणीय, महान् व्यक्ति मूर्ताकार एवं सजीव हो उठते हैं। वे हमारे जीवन और व्यक्तित्व का अंग बन जाते हैं। काल और क्षेत्र के व्यवधान समाप्त हो जाते हैं। उनके और हमारे मध्य एक अद्भुत निकटता, एक सुखद एकत्व एवं अपनत्व स्थापित हो जाता है। उनकी सफलता और अभ्युदय पर हम हर्षित होते हैं, उनकी महत् उपलब्धियों से स्वयं को गौरवान्वित हुआ अनुभव करते हैं, उनके जीवन से शिक्षा, प्रेरणा और पथप्रदर्शन प्राप्त करते हैं, और उनके आदर्शों को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करते हैं। इतना ही नहीं, उनकी त्रुटियों, कमजोरियों, ग़लतियों, असफलताओं, कष्टों और विपत्तियों पर हमारा चित्त संवेदना और सहानुभूति से भर उठता है। परिणाम यह होता है कि हम मनुष्यमात्र में, समग्र मानवता में गहरी दिलचस्पी लेने लगते हैं, जो स्वयं में एक बड़ी भारी उपलब्धि है। इस प्रकार इतिहास का ज्ञान मनुष्य की स्वार्थपरता, अहंमन्यता, एकाकीपन और कूपमण्डूकता को समाप्त करके उसे संवेदनशील और सहिष्णु बना देता है। वह स्वयं को समग्र एवं त्रैकालिक जातीय जीवन का अभिन्न अंग समझने लगता है।

कुछ ऐसी ही भावनाओं से प्रेरित होकर तीर्थंकर भगवान् महावीर के समय (ईसा पूर्व ६००) से लेकर १९४७ ई. में इस महादेश द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति पर्यन्त, लगभग अढ़ाई सहस्र वर्षों में हुए कतिपय उल्लेखनीय महत्त्ववाले पुरुषों एवं महिलाओं के संक्षिप्त परिचय, युगानुसारी एवं क्षेत्रानुसारी योजना के अन्तर्गत कालक्रम से निबद्ध करने का विगत पृष्ठों में प्रयास किया गया है। लौकिक क्षेत्र में, अपनी-अपनी परिस्थितियों में उल्लेखनीय अभ्युदय प्राप्त करने तथा देश, जाति, धर्म, संस्कृति, साहित्य और कला के संरक्षण एवं अभिवृद्धि में यथाशक्य और यथावसर योग देने के कारण वे जैन इतिहास के, अतएव अखिल भारतीय इतिहास के भी सुदृढ़ स्तम्भ हैं। इनमें बड़े-बड़े चक्रवर्त्युपम सम्राट्, राजे-महाराजे, सामन्त-सरदार, प्रचण्ड युद्धवीर और सैन्य-संचालक, विचक्षण राजमन्त्री और कुशल प्रशासक, धनकुबेर सेठ, सार्थवाह, व्यापारी और व्यवसायी, धर्मप्राण राजमहिलाएँ एवं अन्य नारीरत्न, कलापूर्ण विशाल मन्दिरों के निर्माता, संघपति, दानवीर और धर्मात्मा गृहीजन सम्मिलित हैं। उनकी यह परिचयावलि संक्षिप्त और अनेक बार सांकेतिक एवं अपर्याप्त होते हुए भी, जानने योग्य, रुचिकर और उपयोगी होगी। अजैन तथा स्वयं जैन पाठकों की जैनों और उनके इतिहास तथा भारतीय इतिहास में जैनों के योगदानविषयक अनेक भ्रान्तियों का निरसन भी होगा।

अज्ञानवश कई इतिहासकार, अतएव उनके पाठक सामान्यजन भी, जैनों पर यह आरोप लगाते रहे हैं कि भारतवर्ष के पतन और ग़ुलामी के लिए जैन लोग उत्तरदायी हैं क्योंकि इनका अहिंसाधर्म मनुष्य को कायर, डरपोक और निःसत्त्व बना देता है। परन्तु जो इतिहास के जानकार हैं वह जानते हैं कि सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में शायद एक भी ऐसा उल्लेखनीय उदाहरण नहीं है जब किसी जैन नरेश, सेनापतियों या मन्त्री

के कारण किसी विदेशी शत्रु का उसके राज्य पर अधिकार हुआ हो। ऐसा भी शायद ही कोई दृष्टान्त मिले जब किसी प्रसिद्ध जैन सेनानी ने युद्ध में पीठ दिखायी हो। अपितु देशरक्षा के लिए मर मिटनेवाले जैनवीरों के उदाहरण इसी पुस्तक में अनेकों मिलेंगे। स्वधर्म पर दृढ़ रहते हुए, देश पर तन-मन-धन सहर्ष न्यौछावर करनेवाले जैन वीरों की यशोगाथा, इतिहाससिद्ध होते हुए भी, सामान्य इतिहास पुस्तकों में ऐसी रली-मिली होती है कि उसे चीन्हना बहुधा अति दुष्कर होता है।

यह भी ध्यातव्य है कि भारत के प्रमुख अजैन राज्यवंशों में से बहुभाग के अभ्युदय एवं उत्कर्ष में उनके जैन अधिकारियों, सेठों एवं प्रजाजन का विशेष योग रहा। मध्य एवं मध्योत्तरकाल में तो अनेक देशी राज्यों का अस्तित्व, विशेषकर राजस्थान में, उनके कुल-क्रमागत जैन मन्त्रियों, दीवानों, सेनानियों और सेठों के कारण ही बना रहा। और जब, जहाँ जैनों की उपेक्षा या अनादर हुआ, राज्य की अवनति और पतन भी शीघ्र ही हो गया।

सम्भवतया इसका मुख्य कारण यह रहा कि धर्मप्राण होते हुए भी एक जैन गृहस्थ राजनीति को धर्म से पृथक् रखता रहा। एक मुसलमान सुल्तान या बादशाह का नारा था दीन की रक्षा या तरक़्क़ी के लिए जेहाद (युद्ध) करो, एक हिन्दू नरेश गो-ब्राह्मण की रक्षा के लिए युद्ध करता था, किन्तु एक जैनवीर, यद्यपि धर्मरक्षा उसे भी इष्ट होती थी, देश की रक्षा, शत्रु के दमन या राज्य के उत्कर्ष के लिए युद्ध करता था। वह राजनीति को धर्म का रूप देने का ढोंग नहीं करता था, उसे गृहस्थ का एक परम कर्तव्य मानकर ग्रहण करता था। अतएव धर्म के लिए जैनों ने कभी युद्ध किया, धर्म और साधर्मियों पर किये गये भीषण अत्याचारों के प्रतीकारस्वरूप भी इतिहास में ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता।

वास्तव में यह एक भ्रान्ति है कि जैनधर्म या उसकी अहिंसा मनुष्य को कायर, डरपोक, भीरु या निर्बल बनाती है। अहिंसा तो वीरों का धर्म है। वह तो निडरता, निर्भयता की पोषक है। मनुष्य के जीवन को संयमित, नियमित एवं अनुशासित बनाकर वह उसे पुरुषार्थी, कर्मठ, निडर, दृढ़निश्चयी, सात्त्विक और कर्तव्य-परायण बना देती है, साथ ही उदार, दयालु, परोपकारी और क्षमाशील भी। वर्तमान युग के राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी ने भी अहिंसा के बल पर ही देश में अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न की थी और अन्ततः उसे स्वतन्त्र करा दिया था। हिंसा को प्रश्रय देने से तो मनुष्य क्रूर, डरपोक, विलासी, प्रमादी और अस्थिरचित्त बन जाता है। हिंसा से हिंसा पनपती है, और अहिंसा से अहिंसा एवं शान्ति।

पूर्वोक्त व्यक्ति-परिचयों में कहीं-कहीं कतिपय भूलें रही हो सकती हैं और अनेक ऐसे महानुभाव भी रहे हो सकते हैं जिनका समावेश इस पुस्तक में होना चाहिए था और नहीं हो पाया। किन्तु इन दोनों कमियों का प्रधान कारण आवश्यक साधनों का अभाव रहा, और किन्हीं अंशों में समयाभाव भी। विशेषकर आधुनिक युग सम्बन्धी

परिचयों में, क्योंकि वे अति निकट समय के हैं, ऐसा लग सकता है कि जिन महानुभावों का परिचय दिया गया, उन्हीं जैसे अनेक उल्लेखनीय व्यक्ति छूट गये हैं। इस सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ रही हैं। एक तो यह कि जो सज्जन १९वीं शती में जन्मे और स्वतन्त्रता प्राप्ति (१९०० ई.) के पूर्व ही दिवंगत हो गये, अथवा उनका कार्यकाल मुख्यतया उसी अवधि के भीतर समाप्त हो गया, उनका ही उल्लेख किया गया है। दूसरे, पुस्तक की मूल योजना के अनुसार साधु-सन्तों, शुद्ध साहित्यकारों, कलाकारों, समाज-सेवियों आदि का समावेश नहीं किया गया। लौकिक क्षेत्र में विशेष अभ्युदय प्राप्त करनेवाले सज्जनों तक ही सीमित रहने का प्रयत्न किया गया। तथापि जिन महानुभावों का परिचय साधनाभाव या असावधानी के कारण समाविष्ट नहीं हो पाया, उन्हें किसी प्रकार की गौणता प्रदान करने का लेखक का अभिप्राय कदापि नहीं है। अतएव ऐसे किसी भी अभाव को किसी भी सज्जन को अन्यथा भाव से नहीं ग्रहण करना चाहिए।

ध्यातव्य यह है कि विगत अढ़ाई सहस्र वर्षों में हुए जिन ऐतिहासिक पुरुषों और महिलाओं का परिचय पुस्तक में दिया गया है, वे जैन संस्कृति और जैन जाति के संरक्षकों, प्राणदाताओं और उन्हें गौरवान्वित बनाये रखनेवाले असंख्य जनों के उदाहरण मात्र हैं। जैन परम्परा और उसका इतिहास सप्राण एवं सचेतन है। वर्तमान जैन समाज में भी शिक्षा का अनुपात प्रायः सर्वाधिक और अपराध का प्रायः न्यूनतम है। उसका स्त्री समाज भी जागृत, सुशिक्षित और प्रगतिशील है। देश के स्वतन्त्रता संग्राम में सहस्रों आबाल-वृद्ध स्त्री-पुरुषों ने सक्रिय योग दिया, तन-मन-धन अर्पण कर दिया और प्रशंसनीय बलिदान किये हैं। वर्तमान में भी जैन समाज में सहस्रों सन्त, साधु-साध्वियाँ और लोक-सेवाव्रती हैं, उच्चकोटि के साहित्यकार, पत्रकार और कलाकार हैं, शिक्षा-शास्त्री, शिक्षा-संस्थाओं के संस्थापक, संचालक, व्यवस्थापक, प्राध्यापक और अध्यापक हैं, शीर्षस्थानीय चिकित्सक और वकील, बैरिस्टर एवं अभियन्ता हैं, प्रशासन के विविध वर्गों में केन्द्र एवं राज्यों के मन्त्रियों, विधायकों आदि से लेकर उच्चातिउच्च पदों पर तथा सामान्य पदों पर कार्य करनेवाले अधिकारी हैं, सेना के भी जल-थल-नभ तीनों ही विभागों में सेवा करनेवाले वीर सैनिक हैं, कृषक, शिल्पी और दस्तकार हैं तथा लाखों व्यापारी, व्यवसायी एवं उद्योगी हैं जिनमें से अनेक अपने क्षेत्रों में शीर्षस्थानीय हैं। गत शताब्दी के अन्त के लगभग (१८९७ ई. में) तो एक अधिकृत अँगरेज़ लेखक ने कहा था कि इस देश का आधा व्यापार जैनों के ही हाथ में है और उनकी दान-शीलता भी असीम है। स्वभावतः आज देश में जैनों द्वारा स्थापित एवं संचालित सहस्रों शिक्षा-संस्थाएँ, विद्यालय, महाविद्यालय, शोध-संस्थान, छात्रालय, छात्रवृत्तिफ़ण्ड, श्रुतभण्डार, पुस्तकालय, प्रकाशन संस्थाएँ, ग्रन्थमालाएँ, विविध भाषाओं की पत्र-पत्रिकाएँ, चिकित्सालय, औषधालय, पशु-पक्षी चिकित्सालय, पिंजरापोल, गोशालाएँ, अनाथालय, महिला-आश्रम, धर्मशालाएँ, रिलीफ़ सोसाइटियाँ आदि लोकोपकारी

सार्वजनिक संस्थाएँ विद्यमान हैं। और ये सब उपलब्धियाँ वर्तमान में अनेक कारणों से अपेक्षाकृत अत्यन्त अल्पसंख्यक समाज रह जाते हुए भी अनुपात में प्रायः अन्य समस्त समाजों से कहीं अधिक हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्वकाल की भाँति ही वर्तमान भारतीय जन-जीवन में जैनीजन प्रायः अग्रिम पंक्ति में हैं। उनका इतिहास उन्हें प्रेरणा देता रहेगा कि वह अग्रिम पंक्ति में बने रहें तथा प्रगतिपथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होते रहें।



सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

अगरचन्द भँवरलाल नाहटा —बीकानेर जैन लेखसग्रह, (कलकत्ता, १९५५)

—युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि (कलकत्ता, १९४६)

—मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि (कलकत्ता, १९७०)

अनन्त सदाशिव अल्तेकर —राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, (पूना, १९३४)

अयोध्याप्रसाद गोयलीय —राजपूताने के जैनवीर (दिल्ली, १९३३)

—जैन जागरण के अग्रदूत (वाराणसी, १९५२)

उपासकदशांग सूत्र —(अहमदाबाद)

उमराव सिंह टक —सम डिस्टिम्बिश्ड जैन्स (आगरा, १९१८)

कल्याणविजय मुनि —पट्टावली-पराग सग्रह (जालौर, १९६६)

कस्तूरचन्द कासलीवाल —राजस्थान के जैन भण्डारो की ग्रन्थसूची, ५ भाग, (म शो स , जयपुर)

कामताप्रसाद जैन —सक्षिप्त जैन इतिहास, ४ भाग (सूरत, १९४९)

—भगवान् महावीर (दिल्ली, १९५१)

—दी रिलीजन ऑफ तीर्थंकराज (अलीगज १९६४)

—सम हिस्टोरीकल जैन किंग्स एण्ड हीरोज (दिल्ली, १९४१)

के नीलकण्ठ शास्त्री —ए कम्प्रीहेन्सिव हिस्टरी ऑफ इण्डिया, भाग २ (मद्रास)

के भुजबलि शास्त्री —प्रशस्ति सग्रह, (आरा, १९४२)

कैलाशचन्द्र शास्त्री —दक्षिण भारत में जैन धर्म, (वाराणसी, १९६७)

कैलाशचन्द्र जैन —जैनिज्म इन राजस्थान, (शोलापुर १९६३)

कृष्णदत्त वाजपेयी —ब्रज का इतिहास, भाग–२ (मथुरा)

गुलाबचन्द्र चौधरी —पालिटिकल हिस्टरी आफ नर्दर्न इण्डिया फार्म जैना सोर्सेज (अमृतसर, १९५४)

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा —राजपूताने का इतिहास, ४ भाग

चिमनलाल जे शाह —जैनिज्म इन नर्दर्न इण्डिया (बम्बई, १९३२)

जिनविजय मुनि —राजर्षि कुमारपाल (वाराणसी, १९४९)

जुगलकिशोर मुख्तार एवं परमानन्द शास्त्री —जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, २ भाग (वी. से मं, दिल्ली)

जेम्स टाड —एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज आफ राजस्थान ।

जैन शिलालेख सग्रह, ५ भाग —(मा. च. ग्र., बम्बई)

ज्योतिप्रस द जैन —जैना सोर्सेज आफ़ दी हिस्टरी आफ एन्शेन्ट इण्डिया (दिल्ली, १९६४), जैनिज्म दी ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन (वाराणसी, १९५१), जैनियो की साहित्यसेवा और प्रकाशित जैन साहित्य (दिल्ली, १९५८), भारतीय इतिहास एक दृष्टि, द्वि. स (वाराणसी, १९६६) युग-युग में जैनधर्म (प्रेस मे), जैनिज्म थ्रू दी एजेज (प्रेस मे) रिलीजन एण्ड कल्चर आफ़ दी जैन्स (प्रेसमे), रुहेलखण्ड-कुमायूँ जैन डायरेक्टरी (काशीपुर, १९७०) हस्तिनापुर, (शि वि , लखनऊ, १९५५) तथा शताधिक ऐतिहासिक लेख-निबन्धादि ।

त्रिभुवनलाल टी० शाह —ऐन्शेन्ट इण्डिया ।

थामस, ई —दी अर्ली फेथ आफ अशोक, जैनिज्म (लन्दन, १८७७)

दर्शनविजय मुनि —पट्टावलि-समुच्चय, (वीरमगाम, १९३३)

दिगम्बर जैन डायरेक्टरी —(बम्बई, १९१४)

दिल्ली जैन डायरेक्टरी, —(दिल्ली १९६१ एव १९७०)

दी कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इण्डिया, ६ भाग

दी हिस्टरी एण्ड कल्चर आफ इण्डियन पीपुल ७ भाग —(भा वि भवन, बम्बई)

नाथूराम प्रेमी —जैन साहित्य और इतिहास, (बम्बई, १९५६) अर्ध-कथानक (बम्बई, १९५७)

पी बी देशाई —जैनिज्म इन साउथ इण्डिया (शोलापुर, १९५७)

पी. सी राय चौधरी —जैनिज्म इन बिहार (पटना, १९५६)

पूर्णचन्द नाहर —जैन लेख सग्रह, ३ भाग (कलकत्ता, १९१८-२९)

बी एस. राइस —मैसूर एण्ड कुर्ग फाम इन्सक्रिप्सन्स (लन्दन, १९०९)

भास्कर आनन्द सालतोर —मेडिवल जैनिज्म (बम्बई, १९३८)

भोगीलाल संडेसरा —वस्तुपाल का विद्यामण्डल (वाराणसी)
एम बी कृष्णाराव —गगाज आफ तलकाड, (मद्रास १९३६)
महावीर जयन्ती स्मारिका —(जयपुर, १९६२)
मुहणोत नैणसी की ख्यात —(ना प्र स , वाराणसी, १९२५-३४)
एम एस रामस्वामी आयंगर —स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म (मद्रास, १९२२)
—अकबर एण्ड जैनिज्म (मद्रास)
राधाकमल मुकर्जी —दी एकानोमिक हिस्टरी आफ इण्डिया
विन्सन्ट स्मिथ —आक्सपोर्ड हिस्टरी आफ इण्डिया (आक्सफोर्ड, १९२०)
शशिकान्त —खारवेल एण्ड अशोक (प्रिन्ट्स इण्डिया, दिल्ली)
शेषागिरि राओ —आन्ध्रकर्नाटक जैनिज्म (मद्रास, १९२२)
एस बी देव —हिस्टरी आफ जैनामोनाचिज्म (पना १९५६)
एस आर शर्मा —जैनिज्म एण्ड कर्नाटक कल्चर (धारवाड १९४०)
सत्यकेतु विद्यालकार —मौर्य साम्राज्य का इतिहास
शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी —दानवीर माणिकचन्द (बम्बई १९१९)
—प्राचीन जैन स्मारक (सूरत)
सूरजमल जैन —प्राचीन जैन इतिहास (सूरत १९३८)
हस्तिमल मुनि —जैनधम का मौलिक इतिहास भा १ (जयपुर, १९७१)
हीरालाल जैन —जैन इतिहास की पूर्वपीठिका (बम्बई, १९३९)
—भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योगदान (भोपाल १९६२)
जैन हितैषी, जैन सिद्धान्त भास्कर—जैना एटीक्वेरी, अनेकान्त, जैन-सन्देश-शोधाक, अँगरेजी जैन गजट, जैन-जर्नल, वीरवाणी, श्रमण आदि पत्रिकाओ की फाइलें ।

